प्रकाशक

श्री. गुलाबचन्द हिराचन्द दोशी,
जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर.

जीवराज जैन ग्रन्थमालाका परिचय

शोलापुर निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्द्रजी दोशी कई वर्षोंसे ससारसे उदासीन होकर धर्मकार्यमे अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन १९४० मे उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी की अपनी न्यायोपार्जित सपत्तिका उपयोग विशेषरूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमे करे। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोसे इस बातकी समतियोंका साक्षात् और लिखित सग्रह किया कि कौनसे कार्यमें सपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुटमतसचय कर लेनेके पश्चात् सन १९४१ के ग्रीष्मकालमें ब्रह्मचारीजीने तीर्थक्षेत्र गजपन्था (नाशिक) के शीतलवातावरणमे विद्वानोंकी समाज एकत्रित की, और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिये उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्समेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन सस्कृति तथा साहित्य के समस्त अगोंके सरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतु 'जैन सस्कृति सरक्षक सघ' की स्थापना की, और उसके लिये ३०,०००) तीस हजार के दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढती गई, और सन १९४४ में उन्होंने लगभग २,००,०००) दो लाखकी अपनी सपूर्ण सपत्ति सघको ट्रस्टरूपसे अर्पण की। इसी सघके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' का सचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी मालाका पञ्चम पुष्प है। श्रीब्रह्मचारीजी अब इस ससारमे नहीं है। वे पौष पौर्णिमा दिनाक १६।१।१९५७ के दिन सल्लेखना-मरणसे शान्तिपूर्वक स्वर्गस्थ हुए। उनकी आत्माको चिरशान्तिसुखका लाभ हो।

मुद्रक

श्री. फुलचन्द हिराचन्द शहा,
श्री वर्धमान छापखाना,
१३५, शुक्रवार पेठ, सोलापुर.

श्रीः

जीवराज जैन ग्रन्थमालायाः पञ्चमो ग्रन्थः ।

ग्रन्थमालायाः सपादकौ

डॉ. आदिनाथ उपाध्यायः डॉ. हीरालालो जैनः

नरेन्द्रसेनाचार्यविरचितः

सिद्धान्तसारसंग्रहः

[जीवाजीवादिसप्ततत्त्वप्रतिपादकः संस्कृतपद्यग्रन्थः]

षोडशपुरनिवासिना 'न्यायतीर्थ', 'आगमभक्तिपरायण' पदभूषितेन

फडकुलेइत्युपाह्वाधारिणा जिनदासशास्त्रिणा

पाठान्तरैः संयोज्य हिन्दीभाषान्तरेण सह संपादितः ।



सन १९५७

मूल्यं रूप्यकदशकम्

वीरनिर्वाणसवत् २४८३
विक्रमसवत् २०१३

:— संपादकीय

सिद्धान्तसारसंग्रहका प्रस्तुत संस्करण प्रथम बार ही प्रकाशित किया जा रहा है। विषयकी दृष्टिसे यह ग्रंथ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र व गोम्मटसारादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी परम्पराका है। इसमें सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय तथा जीवादि सात तत्त्वोंका स्वरूप विधिवत् सरल रीतिसे समझाया गया है जिसकी रूपरेखा विषयपरिचयसे जानी जा सकती है। संस्कृत पद्यात्मक इस ग्रंथके रचयिता आचार्य नरेन्द्रसेन हैं जिनका प्रतिष्ठादीपक नामक एक और ग्रंथ पाया जाता है तथा जिनका काल विक्रम संवत्‌की बारहवीं शतीका मध्यभाग सिद्ध होता है।

प्रस्तुत ग्रंथका संस्करण पं. जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले शास्त्री द्वारा तैयार किया गया है। उन्होंने मूल पाठ दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों परसे किया है, उसका हिन्दी अनुवाद भी किया है, प्रस्तावनामें विषयपरिचय, ग्रंथके कर्तृत्व व रचनाकालादिका विवेचन किया है, तथा अनुक्रमणिकादि भी तैयार की है जिसके लिये हम उनके अनुगृहीत हैं।

इस ग्रंथका संस्करण व प्रकाशन करानेमें संस्कृति संरक्षक संघके संस्थापक ब्रह्मचारी जीवराज भाईकी विशेष रुचि थी। किन्तु हमें अत्यन्त दुःख है कि ग्रंथका मुद्रणकार्य पूर्ण होनेसे पूर्व ही उनका स्वर्गवास हो गया। हमें आशा है कि अब भी इस ग्रंथके प्रकाशनसे स्वर्गीय आत्माको संतोष लाभ होगा।

इस ग्रंथमाला का जो यह संशोधन प्रकाशन कार्य विधिवत् चल रहा है उसमें संघकी ट्रस्ट कमेटी तथा प्रबन्ध समितिके समस्त सदस्योंका हार्दिक सहयोग ही प्रधानतः कारणीभूत है। इसके लिये हम उन सब के कृतज्ञ हैं। हमें विश्वास है कि इस ग्रंथके स्वाध्यायसे पाठकोंको जैन सिद्धान्तकी समस्त व्यवस्था समझनेमें सुलभता होगी।

संतोषभवन,
शोलापुर
३ । ६ । १९५७

ग्रंथमालाके सम्पादक-
आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये
हीरालाल जैन

सिद्धांतसारसंग्रहः



स्व. ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंदजी दोशी

संस्थापक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर

प्रस्तावना

१. ग्रन्थका नाम

प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य है। इन्होने इस ग्रन्थके पहिले अध्यायके चौथे श्लोकमे ' तत्वार्थसग्रह वक्ष्ये ' इस चरणसे जीवादिक सप्त तत्त्वार्थोका सग्रह कहनेकी प्रतिज्ञा की है। ग्रन्थके प्रत्येक परिच्छेदकी पुष्पिकामे ' सिद्धान्तसारसग्रह ' नामसे इस ग्रन्थका उल्लेख किया है। ' सिद्ध: अन्त: निश्चयो यस्य स सिद्धान्त ' ऐसी सिद्धान्त शब्दकी निरुक्ति है। तदनुसार जीवादिक सप्ततत्त्वोका निश्चय प्रमाण और नयोके द्वारा करके, उसका सारसग्रह इस ग्रन्थमे किया है। इसलिये इसका ' सिद्धान्तसारसग्रह ' यह सार्थक नाम है।

२. विषयपरिचय

इस ग्रन्थके बारह परिच्छेदोमे क्रमशः निम्नोल्लेखित विषय है।

पहिले परिच्छेदमें सम्यग्दर्शनका सुविशद वर्णन है। " रत्नत्रयधर्मसे मनुष्य जीवन सफल होता है। तथा वह समन्तभद्राचार्यके वचनके समान प्राप्त करना कठिन है। " ऐसा ग्रन्थकारने लिखा है। " रत्नपरीक्षक रत्नकी परीक्षा कर उसे ग्रहण करते है। वैसे धर्मकी भी परीक्षा कर उसे ग्रहण करना चाहिये। " " कुलक्रमसे प्राप्त हुए कुष्ठरोगको मनुष्य जैसे औषध सेवनसे नष्ट करते है वैसे कुलक्रमसे प्राप्त हुए अधर्मको भी विवेकी पुरुष छोडते है। कुलधर्मको नहीं छोडनेसे यशोधरादिक राजाओके समान अविवेकी लोक दुर्गतिको प्राप्त हुए है। " यहा हिंसात्मक कुलधर्मका आश्रय करनेसे यशोधर राजाको दुर्गतिमे भ्रमण करना पडा यह दृष्टान्तमे दिखाया है, जिससे मिथ्या कुलधर्मकी त्याज्यता सिद्ध होती है।

तदनन्तर सम्यग्दर्शन और उसके आनुषङ्गिक सवेग निर्वेगादिक गुणोका उल्लेख कर सम्यग्दर्शनसे नरकतिर्यग् गति, भवनत्रिकदेवपद, स्त्रीत्व, नपुसकत्व आदिकी प्राप्ति नहीं होती है ऐसा दिखाया है।

सम्यग्दर्शनके बिना चारित्रकी प्राप्ति नही होती, सम्यग्दृष्टिजन गुणोको ग्रहण करते है। साधर्मिकोके दोषोको ग्रहण नही करते तथा उनके ऊपर अवर्णवाद कदापि नही करते है। इस प्रकारसे वर्णन कर प्रथम दर्शनाराधना पूर्ण की है।

द्वितीय परिच्छेदमें सम्यग्ज्ञानके मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय तथा केवल ऐसे पाच भेदोका विशद विवेचन है। पहिले तीन ज्ञान मिथ्यात्वके उदयसे कुज्ञान होते है और सम्यक्त्वसे सम्यग्ज्ञान होते है। जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके सदाचारको चारित्र कहते है। चारित्रका मूल कारण सम्यग्ज्ञान है।

आचार्य नरेन्द्रसेनने इस अध्यायके अन्तिम श्लोकमे प्रथमादि आठ विभक्तियोमे ज्ञान शब्दका प्रयोग कर अपनी रचनाचातुरी व्यक्त की है।

तीसरे परिच्छेदमें ग्रन्थकारने सामायिकादि पाच चारित्रोंका उल्लेख किया है। तदनन्तर पाच पापोसे विरक्त होना यह व्रतका लक्षण कहा है। हिंसादिक पाच पापोसे इस लोक और पर लोकमें दु.खकी प्राप्ति होती है। देव, अतिथि, मन्त्रसाधन तथा यज्ञादिकके लिये जो प्राणिहिंसा की जाती है वह अहिंसा नहीं हिंसा ही है। हिंसा करनेवाले जीव बालमृत्युसेही मरते हैं। एकेन्द्रियावस्थासे पञ्चेन्द्रियावस्थातक जितने क्षुद्रजन्म और मरण हैं वे सब हिंस्र प्राणियोंको ही प्राप्त होते हैं।

" यज्ञमे जो हिंसा होती है वह मन्त्रसे पवित्र होनेसे पापका कारण नहीं है " ऐसे याज्ञिक विचारका खण्डन करते हुए ग्रन्थकारने उसको एक छोटेसे वाक्यमे उत्तर दिया है अर्थात् " यदि ता प्रवर्तयेन्मन्त्रः पापात्मा च कथ न हि । " अर्थात् यदि वह मन्त्र हिंसाका प्रवर्तन करनेवाला है तो वह भी पापमन्त्र ही है। इसके अनन्तर असत्य, चोरी आदि पापोका वर्णन कर सत्यादि व्रतोकी जैनागमसे अविरुद्ध आत्महितकारिता दिखलाई है।

कर्मनोकर्मका सग्रह आत्मा प्रतिसमय करता है, परतु वह किसीने नहीं दिया है, अत यह चोरी है, इस शकाका उत्तर आचार्यने यह दिया है " कर्मनोकर्मके ग्रहणमे दानादानादि व्यवहार नहीं होता अत. इसमे चोरीका प्रसग नही। अन्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेसे उनका ग्रहण स्वय ही होता रहता है "।

शून्यगृह, नगर, ग्रामादिकमे प्रवेश करने परभी साधुओके मनमे प्रमत्तयोग न होनेसे उन्हे चोरीका दोष नहीं लगता। ब्रह्मचर्य व्रतका रक्षण करनेके हेतुसे साधुगण रसयुक्त पुष्टिकारक, कामोत्पत्ति करनेवाला आहार ग्रहण नहीं करते।

धनधान्यादिकोमे साधुओको ममत्वबुद्धि न होने पर भी उनके मनमे " ज्ञानदर्शनादिक मेरे है " ऐसा सकल्प उत्पन्न होता है अत उन्हे परिग्रहदोष क्यो नहीं होता इस शकाका उत्तर आचार्यने यह दिया है " ज्ञानदर्शनादिक भाव आत्माके स्वभाव तथा सत्यसुखके हेतु होनेसे त्याज्य नहीं हैं। अत. उनकी परिग्रह सज्ञा नहीं है। किन्तु कर्मोदयवश आत्मामे जो रागद्वेष तथा परपदार्थोमे ममत्वभाव उत्पन्न होते है वे परिग्रहरूप होनेसे त्याज्य हैं। इस प्रकार साधुगण पाच पापोंके त्यागी होनेसे महाव्रती हैं। हिंसादिक पाच पापोका त्याग कर जो साधु चारित्र पालते है उनको आत्माका शुद्धस्वरूप प्राप्त होता है।

चतुर्थ परिच्छेदमें माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योका त्याग करनेसे अहिंसादि भावोको अणुव्रतपना तथा महाव्रतपना प्राप्त होता है यह बतलाया गया है।

मिथ्यात्वशल्यके वर्णनमें कहा गया है कि जीवादि पदार्थोको सर्वदा और सर्वथा नित्य एव अनित्य, गुणोंसे सर्वथा भिन्न वा अभिन्न आदि मान्यता प्रमाण सिद्ध नहीं होनेसे श्रद्धामें विपरीतता आती है। तथा आत्मादिक पदार्थोमे जो कर्मबन्ध, ससार–भ्रमणादिक दिखते है वे सिद्ध नहीं होते

और व्रतोका पालन, दोषत्याग, गुणकी प्राप्ति आत्माकी कथंचिन्नित्यानित्यता जीवतत्त्व नहीं मान-नेसे सिद्ध नहीं होगे । इसलिये मिथ्यात्व शल्यका त्याग करना चाहिये ।

इसी मिथ्यात्व शल्यके प्रकरणमे ग्रन्थकारने बौद्धोका क्षणिकवाद, चार्वाकका जडवाद, साख्यका प्रकृतिवाद व अकर्तृत्व, मीमासकका असर्वज्ञत्ववाद, वेदोका अपौरुषेयत्ववाद, नैयायिक वैशेषिकका ईश्वरसृष्टिकर्तृत्व तथा श्वेताम्बरोका कवलाहार व स्त्रीमुक्ति इन मान्यताओका खण्डन किया है।

तदनन्तर मायाशल्य और निदान शल्यके भेद देकर प्रशस्त निदान--अन्यभवमे जिन-धर्मकी प्राप्तिके लिये योग्य देश, काल, क्षेत्र, भव तथा भाव और ऐश्वर्यकी चाह करना योग्य है ऐसा दिखाया है । इस प्रकार तीन निदानोका वर्णन त्यक्तव्यकी दृष्टिसे इस परिच्छेदमें किया है । जो मुनिराज गुरुवचनरूपी संडसीसे ये तीन शल्य अपने हृदयसे निकालकर फेक देते है उनका चारित्र निर्मल होता है तथा वे स्वर्गवैभवको भोगकर मोक्षको प्राप्त करते है ।

पांचवें परिच्छेदमें जीवका ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग लक्षण बताकर नयोकी अपेक्षासे मूर्तिकत्व, अमूर्तिकत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, व्यापकत्व, देहप्रमाणत्व आदिक भावोका विवेचन आचार्यने किया है । तथा जो आत्माको सर्वथा अमूर्तिक, सर्वथा शुद्ध, सर्वथा व्यापक, सर्वथा अकर्ता आदि स्वरूप मानते है उनका खण्डन किया है । पाच प्रकारके ससार परिवर्तनके अनन्तर ससारी जीवके त्रस स्थावरादि भेदोका खुलासा ग्रन्थकारने किया है । विग्रह-गतिमे जीवका स्वरूप दिखाकर चार गतिओमे चौरासी लाख योनियोमे जीवके परिभ्रमणका वर्णन किया है । त्रसस्थावर जीवोके आयु, गुणस्थान, तथा मार्गणाओका वर्णन कर पञ्चमाध्यायकी समाप्ति की है ।

छट्ठे परिच्छेदमें·अधोलोकस्थित सप्तनरकोमे नारकियोके देहोकी ऊचाई, उत्कृष्ट जघन्य आयु तथा लेश्याओका वर्णन किया है ।

सातवें परिच्छेदमें मध्यलोकका वर्णन है। इस लोकमे असख्यात द्वीप तथा सागर एक दूसरेको वेष्टित करते हुए स्थित है । ठीक मध्यमे जम्बूद्वीप है । उसे लवणसागरने घेरा है । उसको धातकी खण्डने, उसे कालोद समुद्रने, कालोदको पुष्करद्वीपने–उसको पुष्करवर–समुद्रने इस प्रकार घेरकर द्वीपसमुद्र मध्यलोकमे स्थित है ।

सर्व द्वीपसमुद्रोके बीचमे जम्बूद्वीप एक लाख योजन विस्तारका गोलथाली के समान है । इसमे हिमवदादिक छह पर्वत, और भरतादिक सप्त क्षेत्र है । भरतक्षेत्र मेरुपर्वतके दक्षिणमें है । वह विजयार्धपर्वत और गगा-सिधु दो नदियोसे विभक्त होनेसे षट्खण्ड हुआ है । जिसे पाच म्लेच्छखण्ड तथा एक आर्यखण्ड कहते है । आर्यखण्ड भरतक्षेत्रके बीचमे है । इस जम्बूद्वीपमे भरत, विदेह और ऐरावत ये तीन क्षेत्र कर्मभूमि है तथा हैमवत, हरि, रम्यक, हैरण्यवत, देवकुरु और उत्तरकुरु ऐसी छह शाश्वत भोगभूमिया है ।

देहके सीता तथा सीतोदा नदी, वक्षारपर्यंत तथा विभंगा नदियोसे बत्तीस विभाग हुए कहते है। वह प्रत्येक देश पाच म्लेच्छखण्ड तथा एक आर्यखण्ड ऐसे छहो विभा- । भरतखण्डके समान एक विजयार्ध और दो नदियोसे इन बत्तीस देशोमे छह छह ।

ई द्वीपोमे पाच मेरुसबधी पाच भरत, पाच विदेह और पाच ऐरावत ऐसी पद्रह । विदेहक्षेत्रके आर्यखडोमे सदा मोक्षमार्ग चालू है। परतु पाच भरत तथा पाच र्सर्पिणीके चतुर्थ कालमे तथा उत्सर्पिणीके तीसरे कालमे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती है। भोगभूमिका स्वरूप इन क्षेत्रोको प्राप्त होता है। ग्रथकारने इन ढाई द्वीपोमे नदी, नुष्य, उनकी आयु, इत्यादिक अनेक विषयोका खूब विस्तारसे वर्णन किया है।

आठवे परिच्छेदमें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा स्वर्गीयदेवोके इन्द्रादि दशभेद, दि आयुभेद, लेश्या देहोत्सेवआदि का वर्णन है। ज्योतिष्क देवोके भ्रमणसे यहा दिवस, रात्रि, घटिका, मास, वर्षादि विभागरूप व्यवहार कालका प्रवर्तन हो रहा है। न सूर्य चन्द्रके ग्रह, नक्षत्र, तारकादि परिवारका भी वर्णन ग्रन्थकारने किया है। गमा अर्थात् लौकान्तिक देव, सौधर्म स्वर्गका इन्द्र, उसकी पट्टमहिषी-शची, सौध- पाल सोम, कुबेर, यम, वरुण तथा ईशान, दक्षिणेन्द्र ये सब स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्यभव उसी भवमे कर्मक्षयसे मुक्त होते है। मुक्तजीवोको जरामरणवर्जित अव्याबाध ऐसा सौख्य प्राप्त होता है। देव तथा नारकियोंके चार, पशुओको पाच, तथा मनुष्योको स्थान है। इस प्रकार वर्णन कर इस अध्यायकी समाप्ति आचार्यने की है।

नौवे परिच्छेदमें अजीव आस्रव तथा बन्धतत्त्वका वर्णन किया गया है। पुद्गल, धर्म, श और कालद्रव्योको जीवन गुणरहित होनेसे अजीव कहते है। कालद्रव्य एक प्रदे- और अन्यद्रव्य बहुप्रदेशी है। बहुप्रदेशी द्रव्योको तथा पुद्गलाणुओको 'अस्तिकाय' एक पुद्गलाणु अन्य पुद्गलाणुसे तथा स्कन्धसे जब मिल जाता है तब वह बहुप्रदेशी उस समय उसको काय कहते हैं।

जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि ये चार स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। ये पुद्गलकी ही अवस्थाविशेष ी स्वतन्त्र द्रव्य नहीं, भावमन जो कि ज्ञानस्वरूप होनेसे जीवमे अन्तर्भूत है और द्रव्य- द कमलाकार पुद्गलावस्था-विशेषरूप होनेसे पुद्गलमे अन्तर्भूत है।

वायु, मन तथा जलादिकोमे पुद्गलपनाकी सिद्धि युक्तिसे आचार्यने दिखायी है।

शब्द आकाश गुण है ऐसा अन्यवादी कहते है परतु शब्दभी पुद्गल है क्यो कि, मे संहननादि धर्मोके साथ अभिधानादि धर्म है। जो कि पुद्गलके सिवाय अन्यत्र उप- ते है। आकाशके समान यदि शब्द अमूर्तिक होता तो वह श्रवणयोग्य नही होता।

उसमे भाषात्मकता नहीं आ सकती । दिशाकाभी आकाशमे अन्तर्भाव होता है क्योकि आकाशके प्रदेशोमेही चन्द्र सूर्यादिके उदयादिसे पूर्व पश्चिमादि व्यवहार होते है । अत जैनागममें छहही द्रव्य कहे है ।

पुद्गलादि द्रव्योको लोक कहते है उनको आश्रय देनेवाले आकाशको लोकाकाश कहते है । तथा जहा ये द्रव्य नहीं है केवल आकाशही है उसे अलोकाकाश कहते है । ऐसे आकाश-द्रव्यके दो भेद है ।

धर्मादि द्रव्योके गतिहेतुत्वादिक लक्षण कहकर उनके उपकारोका वर्णन कर ससारी जीवको पहचाननेके हेतु जो प्राणापान है वे वायु अर्थात् पुद्गलद्रव्यके अवस्थाविशेष हैं यह बतलाया गया है । तदनन्तर आस्रवतत्त्वका वर्णन किया गया है ।

आत्मामे कर्मके आगमनको आस्रवतत्त्व कहते है । वह मन, वचन तथा कायके स्पदनसे होता है । इस स्पन्दनको योग कहते है । और उससे प्राणिहिंसनादि अशुभ कार्य तथा देवपूजनादि शुभकार्य होनेसे उनको क्रमसे अशुभयोग तथा शुभयोग कहते है । आस्रवके इन्द्रिय, कषाय, अविरति तथा क्रियाओसे पाच, सोलह, बारा और पचीस ऐसे क्रमसे भेद होते है । कषायरहित जीवके आस्रवको ईर्यापथ और कषायसहित जीवके आस्रवोको सापरायिक कहते हैं ।

ज्ञानावरणादिक कर्मास्रवोके विशेष कारणोका वर्णन करनेके अनतर बन्धतत्त्वका और सवरतत्त्वका सक्षेपसे वर्णन कर नौवा अध्याय समाप्त किया है ।

दशवे अध्यायमें सविपाका और अविपाका निर्जराका वर्णन है । ससारी प्राणीके आत्मप्रदेशके साथ बधे हुए कर्मके निषेक प्रतिसमय उदयमे आकर अपना फल देकर खिर जाते हैं । उसको कालकृत निर्जरा अथवा सविपाका निर्जरा कहते है । यह निर्जरा चतुर्गतिके प्राणियोको होती है । उस समय रागद्वेष उत्पन्न होनेसे नये कर्म बधते हैं । दूसरी अविपाका निर्जरा वीतराग मुनियोके कर्मका उदयकाल प्राप्त होनेके पूर्वही तपश्चरणसे होती है । इस निर्जराके समय आत्मा रागी द्वेषी मोही नहीं होता । तपश्चरणको उपक्रम कहते है । इसके प्रभावसे होनेवाली निर्जराको औपक्रमिकी निर्जरा कहते हैं ।

इसके अनन्तर तपकी निरुक्ति और उसके हेतु दिखाकर वृत्तिपरिसख्यानादि बाह्य तपोका वर्णन आचार्यने किया । तदनन्तर अभ्यन्तर तपोमेसे पहिले प्रायश्चित्त तपका अतीव विस्तारसे १५० श्लोकोमे वर्णन किया है ।

यह प्रायश्चित्त तप मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका दोषानुसार आचार्यके पास जाकर अपना दोष कह कर धारण करते है । काल, क्षेत्र आदिकी अपेक्षासे तथा तीव्र मन्दादि परिणामोकी अपेक्षासे प्रायश्चित्त अनेक प्रकारसे न्यूनाधिक धारण करना पडता है । जो दोष मुनिसे

हुआ नही दोष क्षुल्लक ऐलकसे होनेपरभी प्रायश्चित्त समान नहीं होता। दोष लगनेसे चारित्र नष्ट होता है। उसके नाशसे कर्मनाश नहीं होता। कर्मके सद्भावसे मुक्ति प्राप्त नही होती। अतएव दोषके नाशार्थ मुनिवर प्रायश्चित्त तप करते है। कोई दोष कायोत्सर्गसे नष्ट होते है। जिनवन्दनाको जाते समय ईर्यापथशुद्धिमें यदि असावधानता होगी तो कायोत्सर्गसे वह दोष नष्ट होता है। मलोत्सर्ग करनेपर कायोत्सर्गसे शुद्धि होती है। एक कायोत्सर्गमे नौ पचनमस्कार होते है। कौनसा दोष कितने कायोत्सर्गोंसे नष्ट होता है इस विषयका विवेचन कायोत्सर्गके प्रकरणमे है। कुछ दोष प्रतिक्रमणसे नष्ट होते है जैसे जू, खटमल आदिक जन्तुओको मुनि पकडे तो प्रतिक्रमणसे उनकी शुद्धि होती है। उष्णकालमे दोषका प्रायश्चित्त जघन्य होता है। वर्षाकालमे मध्यम तथा शीतकालमे उत्कृष्ट होता है।

इस प्रायश्चित्ततपके आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना पारचिक ऐसे दश भेद है। इनका आचार्यने खुलासा इस विभागमे किया है। इस प्रकार दसवे अध्यायमे निर्जरा और प्रायश्चित्तका वर्णन आचार्यने किया है।

ग्यारहवे अध्यायमें आचार्यने आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानका वर्णन कर शुक्लध्यानसे सब कर्मोका नाश होनेसे मोक्षप्राप्ति होनेका प्रतिपादन किया है। इस अध्यायके प्रारम्भमें विनयतपका वर्णन करते हुए आचार्यने उसके चार भेदोका निरूपण किया है।

तदनतर वैयावृत्त्यतपके कथनमे आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि दशविध मुनियोका वर्णन किया है। उनकी सेवाशुश्रूषा करना महापुण्य-प्राप्तिका कारण है।

स्वाध्यायसे व्रतोका निरतिचार पालन होता है। स्वाध्यायमे मन, नेत्र आदिक इन्द्रियोके लगनेसे सयमकी प्राप्ति होती है। स्वाध्यायसे धर्म और शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है जिससे कर्मका क्षय होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

स्वाध्यायके अनन्तर ध्यानका लक्षण लिखकर आर्तरौद्र ध्यानके भेदोका वर्णन किया है। ये ध्यान ससारभ्रमणके कारण है। इसलिये इनको अप्रशस्त कहते है। धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान प्रशस्त है। इनमे जीवको स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है। आर्तध्यान मिथ्यात्वगुणस्थानसे लेकर प्रमत्तगुणस्थानतक होता है। तथा रौद्रध्यान मिथ्यात्वसे लेकर सयतासयतान्त-पाचवे गुणस्थानतक होता है।

धर्मध्यानके चार भेदोमेसे पहिला भेद आज्ञाविचय है। उपदेशके अभावसे, जीवादि तत्त्वोंके सूक्ष्मस्वरूपका ज्ञान अपनी स्थूलबुद्धीसे नहीं होता अत सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रमाण मानकर तत्त्वोंके अर्थका निश्चय करना आज्ञाविचय कहलाता है। अपायविचय – जो मिथ्यादृष्टि जीव सर्वज्ञकी आज्ञा न मानकर रत्नत्रयमार्गसे हट गये है– च्युत हुए है उनको किसप्रकार रत्नत्रयमार्गमे लगाना चाहिये इसप्रकारके चिन्तनको अपायविचय धर्मध्यान कहते है। विपाकविचय – ज्ञानावरणादिक

कर्मोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावादिकारणोसे विपाक होता है तथा उनका नानाविध फल मिलता है ऐसा बार बार चिन्तन करना विपाकविचय है। लोकसंस्थान विचय– लोककी आकृतिका बार-बार विचार करनेको सस्थानविचय कहते है। ये चार प्रकारके धर्मध्यान अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसयत नामक सातवें गुणस्थानतक होते है। ये चार धर्मध्यान योगियोको अनन्तानन्त सुखकी प्राप्तिके कारण हैं।

शुक्लध्यानके पृथक्त्ववितर्क सवीचार, एकत्ववितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियासपाति, तथा समुच्छिन्नक्रिय ऐसे चार भेद हैं, पहिले दो भेद श्रुतकेवलिको होते है। उत्तर दो भेद सयोग-केवलीको तथा अयोगकेवलीको होते है। शुक्लध्यानके इन चार भेदोका ग्रथकारने विस्तारसे वर्णन किया है। इन चार ध्यानोसे यथाख्यात चारित्रकी प्राप्ति होती है। यह चारित्र साक्षन्मोक्षका कारण है।

ज्ञानावरणादि आठ कर्मोका नाश होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिकर्म है। इनसे ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व तथा शक्तिका घात होनेसे इन्हे घातिकर्म कहते हैं। बन्धके कारणभूत मिथ्यात्वादिकोका नाश होनेसे तथा संपूर्णतया कर्मनिर्जरा होनेसे मोक्ष होता है। उस समय शरीरोका अभाव होकर अनन्तसौख्यादिक–भावयुक्त आत्मा बन जाता है। इस अवस्थाका कभीभी नाश नहीं होता।

इस अध्यायके अन्तमे समन्तभद्राचार्यके वचनोकी प्रशसा की है। आचार्यके वचन भव्योको भ्रान्तिरहित करते है। उनके वचन सुननेवालोको दो-तीन भवोसे मुक्तिप्राप्ति होती है। तथा जो मन, वचन, कायसे भक्ति करता है उसे इच्छितसिद्धि शीघ्र होती है।

बारहवे परिच्छदमें प्रथमत पचपरमेष्ठियोका स्वरूप लिखा है। तदनन्तर संक्षेपसे अनु-प्रेक्षाओका स्वरूप लिखा है। तदनन्तर ग्रन्थकारने पडित-पडितादि पाच मरणोका उनके भेदप्रभेदोके साथ विशदतया वर्णन किया है। पडितपडितमरण– क्षायिकज्ञानादि नवकेवललब्धियोके धारक केवली इस मरणसे कर्ममुक्त होते है। पण्डितमरण– महाव्रत, समिति, गुप्तियोके पालकमुनियोको यह प्राप्त होता है। रत्नत्रयपरिणतबुद्धिको पण्डा कहते हैं। मुनियोमे रत्नत्रयपरिणतबुद्धि होनेसे उनको पण्डित कहना योग्यही है। बालपण्डितमरण– सयतासयतके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं। बालमरण– सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान ये दो गुण जिनमे हैं किन्तु जो सर्वथा चारित्ररहित है, उनको बाल कहते हैं। उनके मरणको बालमरण कहना चाहिये। बालबालमरण– मिथ्यादृष्टियोके मरणको बालबालमरण कहते है। आवीचिमरणादि और भी भेद हैं। सब मिलकर सत्रह प्रकारके मरण है।

सन्यासमरणके विषयमे आचार्य नरेन्द्रसेन ऐसा कहते है– आयुष्यका क्षय होनेसे प्राणी मरता ही है। उस समय वह अधीर हो या धैर्यवान् हो मरणसे अपनेको नहीं बचा सकता। इस-लिये धैर्य धारणकर प्राणत्याग करनेसे उसके ससारदु:खका नाश होता है। सन्यास मरणके समय

जो क्रियाकाण्ड किया जाता है उसके चालीस अधिकार हैं। उनका वर्णन अतिविस्तारसे शिवकोट्याचार्यने मूलाराधनामे किया है। परंतु उनके केवल यहा आचार्य नरेन्द्रसेनजीने नाम दिये हैं। उनके आधारसे आराधना की जानी चाहिये अन्यथा प्राणी मिथ्यात्वाराधनासे हीन हो जावेगा।

जब संयमको नष्ट करनेवाला असाध्य महाव्याधि उत्पन्न होता है, अतिशय भयंकर दुर्भिक्ष उत्पन्न होता है. अथवा निःप्रतीकार उपसर्ग होता है तब वह साधु सल्लेखनाके योग्य होता है। मरणभय छोडकर, मनको शान्तिमे रखकर कान्दर्पी, किल्बिषी आदिक पांच अशुभ भावनाओंको छोडकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यादिकोंकी भावना करनी चाहिये जिससे वह साधु शुभगतिको प्राप्त होता है। इस प्रकार वर्णन कर ग्रन्थकारने अन्तमे सज्जन-दुर्जनका वर्णन कर ग्रन्थरचनाके विषयमे अपनी लघुता प्रगट की है।

३. ग्रन्थकारकी आचार्यपरंपरा, काल व रचना।

ग्रन्थकारने इस ग्रन्थके अन्तमे जो प्रशस्तिपद्य दिये हैं उनके प्रारभके दो श्लोकोंमे लाडबागड संघकी उत्पत्तिका उन्होंने इसप्रकार उल्लेख किया है। श्रीवर्धमान जिनेश्वरके इन्द्रभूत्यादि ग्यारह गणधरोंमेंसे मेदार्य नामके दसवे गणधर थे वे जिस देशमे थे वहां की भूमि उनके प्रभावसे स्वर्गतुल्य हुई थी तथा वहाके लोग हार केयूरादि भूषणोंसे समृद्धभूषित होनेसे वे लाट (लाट) हुए और उनसे बागडोंकी उत्पत्ति हुई जिससे यह संघ लाडबागड (') नामसे प्रसिद्ध हुआ।

लाडबागड संघकी उत्पत्तिके विषयमें 'धर्मरत्नाकर' श्रावकाचारके रचयिता श्रीजयसेनाचार्यकाभी यही अभिप्राय है। श्रीजयसेनाचार्यने धर्मरत्नाकरके अन्तमे जो प्रशस्ति लिखी है उसके 'भञ्जन्वादीन्द्रमान' 'यत्रास्पद विदधती' 'उत्पत्तिस्तपमा' ये तीन श्लोक नरेन्द्रसेनाचार्यकी प्रशस्तिमेंभी पाये जाते है।

धर्मरत्नाकरकी प्रशस्तिमे धर्मसेन, शान्तिषेण, गोपसेन और भावसेन. ऐसे आचार्योंके क्रमसे नाम दिये है। जयसेनाचार्य भावसेनाचार्यके शिष्य थे। जयसेनाचार्यने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंका उल्लेख करके धर्मरत्नाकरकी प्रशस्ति–समाप्ति की है। इस प्रशस्तिके आगे नरेन्द्रसेनाचार्यने अपने पूर्ववर्ती ब्रह्मसेन, वीरसेन तथा गुणसेन इन तीन और आचार्योंका उल्लेख किया है। प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता नरेन्द्रसेन गुणसेन आचार्यके शिष्य हुए हैं।

गुणसेन आचार्यके नरेन्द्रसेनके समान गुणसेन, उदयसेन और जयसेन ऐसे अन्य तीन शिष्य थे। प्रथम गुणसेनके पट्टपर ये द्वितीय गुणसेन आरूढ होकर आचार्यपद भूषित करने लगे। इसप्रकार नरेन्द्रसेनाचार्यकी प्रशस्ति है।

श्रीजयसेनविरचित धर्मरत्नाकरका समय।

जिन्होंने धर्मरत्नाकरकी रचना की वे जयसेनाचार्य नरेन्द्रसेनाचार्यके पूर्ववर्ती है। उन्होंने

अपना ग्रन्थ ' सवलीकरहाटक ' नामक ग्राममे वि. स. १०५५ मे रचकर पूर्ण किया है। इसका खुलासा आगेके श्लोकमे उन्होने किया है।—

बाणेन्द्रियव्योमसोममिते संवत्सरे शुभे । ग्रन्थोऽय सिद्धता यात' सवलीकरहाटके ॥

इसमे बाण और इन्द्रियशब्द पाच अंकके वाचक है, व्योमशब्द शून्यका तथा सोमशब्द एक अंकका। अत. धर्मरत्नाकर ग्रन्थ वि स. १०५५ मे रचा है ऐसा सिद्ध होता है। इसके पश्चात् उक्त तीन आचार्यो अर्थात् ब्रह्मसेन, वीरसेन और गुणसेनका काल यदि हम १०० वर्षभी मानले तो नरेन्द्रसेनाचार्यका काल लगभग वि. स ११५० सिद्ध होता है। सिद्धातसारके अन्त परीक्षणसेभी उसकी रचनाका यही काल सिद्ध होता है।

इस ग्रन्थमे ' शब्दकी नित्यता, वेदकी अपौरुषेयता, केवलिकवलाहार, स्त्रीमुक्ति, ईश्वरका सृष्टिकर्तृत्व आदिविषयोके खण्डनमे प्रभाचन्द्राचार्य तथा अनन्तवीर्याचार्यद्वारा दी हुई युक्तियोका आश्रय लिया गया है। उसके कुछ उदाहरण—

१] देवैर्दीप्तगुणैर्विचार्य विविधवत्सङ्ख्यातते सग्रहात् । [अनन्तवीर्याचार्य]

१] देवैर्दीप्तगुणैर्दृष्टमिष्टमत्राभिनन्दतु [नरेन्द्रसेनाचार्य]

२] न चाध्यक्षमशेषज्ञविषय, तस्य रूपादिनियतगोचरचारित्वात् । सम्बद्धवर्तमानविषयत्वाच्च । न चाशेषवेदी सबद्धो वर्तमानश्च । न च सर्वज्ञसद्भावाविनाभाविकार्यलिङ्ग वा सपश्याम. । तज्ज्ञप्ते. पूर्वं तत्स्वभावस्य तत्कार्यस्य वा तत्स्वभावाविनाभाविनो निश्चेतुमशक्यत्वात् । नाप्यागमात्तत्सद्भाव' स हि नित्यो ऽनित्यो वा तत्सद्भाव भावयेत् । न तावन्नित्य तस्य अर्थवादरूपस्य कर्मविशेप सस्तवनपरत्वेन पुरुषविशेषावबोधकत्वायोगात् । अनादेरागमस्यादिमत्पुरुषवाचकत्वाघटनाच्च । नाप्यनित्य आगमः सर्वज्ञ साधयेत् । तस्यापि तत्प्रणीतस्य तन्निश्चयमन्तरेण प्रामाण्यानिश्चयादितरेतराश्रयत्वाच्च । प्रमेयरत्नमाला अ. २ रा पृष्ट २२

२] वदन्त्यन्ये न सर्वज्ञो वीतरागो ऽस्ति कश्चन । प्रमाणपञ्चकाभावादभावेन विभावित ॥
तथा ह्यध्यक्षतः सिद्धि. सर्वज्ञे नोपजायते । रूपादिनियतानेकविषयत्वेन तस्य च ॥
सम्बद्धवर्तमानत्वपरत्वान्नास्य साधकम् । तत्प्रत्यक्षमसवद्धवर्तमानत्वत सदा ॥
नैवानुमानत. सिद्धि. सर्वविद्विषया क्वचित् । यल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमान प्रजायते ॥
स्वभावकार्यरूप वा न तल्लिङ्ग विलोक्यते । ततस्तस्य कुत. सिद्धिरनुमानुपपत्तित. ॥
आगमादपि नो सिद्धिर्जायते सर्ववेदिनः । स च नित्यो ह्यनित्यो वा तत्स्वभावं विभावयेत् ॥
नानित्यो ऽनादिरूपत्वादर्थवादप्ररूपणात् । आदिमत्पुरुषेणास्य वाचकत्वविरोधत. ॥
तदुक्तानुक्तभेदाभ्यामनित्यो नास्य साधक. । अन्योन्याश्रयतस्तस्य प्रामाण्याभावतस्ततः ॥

— सिद्धान्तसारसग्रह अ. ४ पृष्ट ८१–८२

हमने यहा एक विषयमेही नरेन्द्रसेनाचार्यके पद्योंमे अनन्तवीर्याचार्यके उपर्युक्त गद्यांशका अनुकरण दिखाया है। इसीतरह वेदकी अपौरुषेयता आदिक विषयोके विकल्पोके खण्डनमण्डनमेभी अनन्तवीर्याचार्यका अनुकरण स्पष्ट दिखाई देता है। अतः अनन्तवीर्याचार्यके उत्तरवर्ती ये नरेन्द्र-सेनाचार्य हुए है ऐसा निश्चय अयुक्त नहीं है।

श्रीप्रभाचन्द्राचार्य भोजराजाके राज्यमे अर्थात् धारानगरीमे रहते थे। उन्होंने भोजराजाके समयमे परीक्षामुख नामक ग्रन्थकी 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक टीका रची है। भोजनृपका समय इतिहासज्ञोने वि. स. १०७० से ११११० पर्यन्त माना है। अत प्रमेयकमलमार्तण्डकी रचना १०७० से ११११० के बीचमे हुई होगी। तथा अनन्तवीर्याचार्यने प्रमेयकमलमार्तण्डका समीचीनरीतीसे अध्ययनकर तदनन्तर प्रमेयरत्नमाला बनाई है। अत. प्रमेयरत्नमालाकार उनके उत्तरवर्ती तथा सिद्धान्तसारसङ्ग्रहकर्तासे पूर्ववर्ती सिद्ध होते है।

नरेन्द्रसेनाचार्यका प्रतिष्ठादीपक।

नरेन्द्रसेनाचार्यने 'सिद्धान्तसारसङ्ग्रह' तथा 'प्रतिष्ठादीपक' ऐसे दो ग्रन्थ रचे है। प्रतिष्ठादीपकके अन्तमे 'इति श्रीपण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनाचार्यविरचितः प्रतिष्ठादीपकः समाप्तः' ऐसा उल्लेख है। तथा—

सर्वग्रन्थानुसारेण सक्षेपाद्रचित मया। प्रतिष्ठादीपकं शास्त्र शोधयन्तु विचक्षणा. ॥

ग्रन्थारम्भमे मगलश्लोक इस प्रकार है—

विश्वविश्वम्भराभारधारिधर्मधुरन्धर.। देयाद्वो मङ्गल देवो दिव्य श्रीमुनिसुव्रतः॥
नमस्कृत्य जिनाधीश प्रतिष्ठासारदीपकम्। वक्ष्ये बुद्धयनुसारेण पूर्वसूरिमतानुगम्॥

इस प्रतिष्ठासारदीपकमे जिनमूर्ति, जिनमंदिर आदिकोके निर्माणमे तिथि, नक्षत्र, योग आदिकका विचार करना चाहिये ऐसा कहकर किस तिथ्यादिकोमे इनकी रचना करनेमे रचयिताका शुभाशुभ होता है इत्यादि वर्णन किया है। यह ग्रन्थ साडेतीनसौ श्लोकोका है। इस ग्रन्थके अन्तमे प्रशस्ति नहीं है। इस ग्रन्थमे स्थाप्य, स्थापक, और स्थापना ऐसे तीन विषयोका वर्णन हैं। पञ्चपरमेष्ठी तथा उनके पञ्चकल्याण और जो जो पुण्यके हेतुभूत है वे स्थाप्य है। यजमान इन्द्र स्थापक है। मत्रोंसे जो विधि की जाती है उसे स्थापना कहते है। तीर्थंकरोके पञ्चकल्याण जहा हुए है ऐसे स्थान तथा अन्य पवित्रस्थान, नदीतट, पर्वत, ग्राम, नगरादिकोके सुदरस्थानोमे जिनमंदिर निर्माण करने चाहिये।

आरभसे हिंसा होती है, हिंसासे पाप लगता है, तोभी जिनमंदिर बान्धनेमे किये जानेवाले आरभने महापुण्य प्राप्त होता है, जिनधर्मकी स्थिति जिनमंदिरके बिना नहीं रहती। तथा जिनमंदिर मुक्तिप्रासादमें प्रवेश करनेमे सोपानके समान सहायक है। अतः जिनमदिरकी रचना करनी चाहिये ऐसा हेतु आचार्यने प्रदर्शित किया है। वे ऐसा कहते है—

यद्यप्यारम्भतो हिंसा हिंसायाः पापसम्भव. । तथाप्यत्र कृतारम्भो महत्पुण्य समश्नुते ॥
निरालम्बनधर्मस्य स्थितिर्यस्मात्तत सताम् । मुक्तिप्रासादसोपानमाप्तैरुक्तो जिनालय ॥

इस प्रतिष्ठा ग्रन्थकी रचना देखनेसे आचार्य ज्योतिःशास्त्रमे निष्णात थे ऐसा सिद्ध होता है । अस्तु ।

प्रस्तुत सिद्धान्तसारसग्रहकी प्रेसकापी, अनुवाद, सशोधन आदि दो प्रतियोंसे किया है। एक प्रति यहाके गुरुकुलके पुस्तकालयमे थी। तथा दूसरी आमेर भाण्डारमे थी। दोनो प्रतिया प्राय: शुद्ध है ।

यदि अनुवादमे जहा कहीं प्रमादवश दोष लग गया हो उसे सुधार लेनेकी व सूचना देनेकी मै विद्वान् पाठकोंसे प्रार्थना करता हू ।

सिद्धान्तसारसंग्रहका विषयानुक्रम

पृष्ठसख्या

आठवा परिच्छेद १६८–२०३

पृष्ठसंख्या

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।



श्रीनरेन्द्रसेनाचार्यविरचितः

सिद्धान्तसारः

भूर्भुवःस्वस्त्रयीनाथं त्रिगुणात्मत्रयात्मकम्। त्रिभिः प्राप्तपदं त्रेधा वन्दे त्रुटितकल्मषम्॥ १
नित्याद्येकान्तविध्वंसि मतं मतिमतां मतम्। यस्य स श्रीजिनः श्रेयान्श्रेयांसि वितनोतु नः॥ २
श्रीमतो वर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम्। देवैर्दीप्तगुणैर्दृष्टमिष्टमत्राभिनन्दतु॥ ३

जिन्होने पापोको–ज्ञानावरणादि चार घातिकर्मोको नष्ट किया, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्‌चारित्ररूप तीन गुणोसे युक्त है, अर्थात् ये तीन गुण जिनके स्वभाव है तथा जो अर्हत्केवलित्व, गणधरकेवलित्व और सामान्यकेवलित्वको धारण करते है, जो क्षायिक, औदयिक तथा पारिणामिक भाव धारण करते हैं, जिन्होने रत्नत्रयकी पूर्णतासे कैवल्यपद धारण किया है, जो भू (अधोलोक) भुवर् (मध्यलोक) तथा स्वर् (स्वर्गलोक) के स्वामी-त्रिलोकनाथ हैं ऐसे अर्हत्परमेष्ठीको मैं मन, वचन तथा शरीरके द्वारा वन्दन करता हू॥ १॥

भावार्थ–जिनेश्वरमे नव केवललब्धिरूप अनन्तज्ञानादिकक्षायिक भाव है। भव्यत्व, जीवत्वरूप पारणामिक भाव है। मनुष्यगति, तीर्थकरत्व, परमशुक्ललेश्या आदि शुभकर्मोका उदय होनेसे औदयिक भाव है। ऐसे तीन भाव होनेसे जिनेश्वर त्रयात्मक है। कर्मोके क्षयसे होनेवाले भावको क्षायिक भाव, कर्मके क्षय, उपशम, उदयादिके विना होनेवाले जीवभावको पारिणामिक भाव तथा कर्मके उदयसे होनेवाले भावको औदयिक भाव कहते है॥ १॥

जिनका अनेकान्तरूप मत[3] नित्याद्येकान्तमतोका निरसन करता है, तथा जो बुद्ध्यादिऋद्धियोके धारक गणधरादिकोको मान्य है, जो अनेकान्तनायक, दुर्जन–कठिन घातिकर्मोको जीतने-

१ आ. प्रातपर धाम. २ आ. श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्रस्य.

३ जीवादिक वस्तु सर्वथा नित्य–एकस्वरूप–अपरिगामी समझनेवाला जो मत उसे नित्यैकान्त कहते है। जीवादिक वस्तुओंको सर्वथा क्षणिक माननेवाला मत अनित्यैकान्त है। गुण गुणी सर्वथा भिन्न माननेवाला भेदैकान्त मत है तथा उनको सर्वथा अभिन्न माननेवाला अभेदैकान्त मत है।

जैनीं द्विसप्तति नत्वातीतानागतवर्तिनीम् । तत्त्वार्थसंग्रहं वक्ष्ये दृष्ट्वागमपरम्पराम् ॥ ४
श्रीमतो जिननाथस्य वचोऽनन्तगुणं यत. । कथं तत्र मतिं कुर्वन्न यास्याम्युपहास्यताम् ॥ ५
अथवा तत्र भक्तिर्मे यदि स्यात्सहकारिणी । तदा कार्यमिद किञ्चित्सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ६
अथ श्रीजिनसिद्धान्तभक्तिभारवशीकृतः । ततोऽहमपि मूढात्मा करिष्ये स्तुतिमात्मन' ॥ ७

वाले, श्रीके–अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख तथा शक्तिरूप अनन्तचतुष्टयके धारक है वे जिन-ऋषभादिक तीर्थंकर आराधक भव्य ऐसे हम लोगोका कल्याण करे ॥ २ ॥

श्रीसे अनन्तचतुष्टयरूपी अन्तरगलक्ष्मी और समवसरण, प्रातिहार्य आदि बहिरग लक्ष्मीसे शोभनेवाले, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावोको सपूर्णतया जाननेवाले अर्थात् सर्वज्ञ, श्रीवर्धमान भगवान्का शासन–स्याद्वादमत उज्ज्वल सम्यग्दर्शनादिक गुणोके धारक गणधरदेवोने जाना है अर्थात् द्वादशागरूप द्रव्यश्रुतको उन्होने अपने मनमे धारण किया है । प्रभुका यह शासन भव्योको इष्ट–प्रिय है, अतएव यह नित्य वृद्धिगत होवे ॥ ३ ॥

[तत्त्वसग्रहकथन–प्रतिज्ञा] भूतकालीन, भविष्यत्कालीन तथा वर्तमानकालीन ऐसे बाहात्तर जिनेन्द्रोको नमस्कार कर, तथा गौतमादिगणधरोसे चली आई हुई आगम-परपराको देखकर मै 'तत्त्वार्थसग्रह' नामक ग्रथकी रचना करता हूँ । जिसका दूसरा नाम 'सिद्धान्तसग्रह' भी है ॥ ४ ॥

भावार्थ – गत उत्सर्पिणी–कालचक्रके तृतीय आरेमे– दुषमसुषमामे निर्वाण, सागर आदिक चोवीस भूतकालीन तीर्थकर हो चुके है । तदनतर इस अवसर्पिणी–कालचक्रके चतुर्थ आरेमे ऋषभादिवर्धमानान्त चोवीस तीर्थकर हुए । इस समय वीरजिनेशका शासन चल रहा है । आगामी उत्सर्पिणी कालचक्रके तृतीय आरेमे पद्मनाभादि अनन्तवीर्यतक चौवीस तीर्थकर होनेवाले है ॥ ४ ॥

अनन्तचतुष्टयमे विराजमान जिनेश्वरका वचन (आगम) अनतगुणोसे भरा हुआ है । इस लिये उसमे अपनी बुद्धि प्रवृत्त करनेवाला मै उपहासको क्यो नहीं प्राप्त होऊगा ? अर्थात् गणधरादिकोकेद्वारा निर्मित आगमकी रचना करनेमे मै प्रवृत्त हुआ हू इस लिये मेरा उपहास होगा तोभी मेरे अन्तःकरणमे जो आगमभक्ति वास करती है वह इस रचनामे मुझे सहायक होगी, जिससे मेरा यह कार्य कुछ सिद्ध होगा ॥ ५–६ ॥

जिनेश्वरकथित सिद्धान्तोंमें मेरी उत्कट भक्ति होनेसे मै मूढ होकरभी उनका कथन करूगा । यह मैने अपनीही स्तुति की है ऐसा आप समझे ॥ ७ ॥

ससारसागरे भीमे दुःखकल्लोलसंकुले । संतो रत्नानि गृह्णन्ति परे मज्जन्ति लोष्टवत् ॥ ८
तत्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयं हितम् । तद्वन्त सर्वदा संत' कथयन्ति जिनेश्वरा. ॥ ९
लब्धं जन्मफलं तेन सार्थकं तस्य जीवितम् । येनावाप्तमिदं पूतं रत्नत्रयमनिन्दितम् ॥ १०
श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम् । प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्व तथा पुन. ॥ ११
सुदुर्लभमपि प्राप्त तत्कर्मप्रशमादिह । न ये धर्मरता मोहाद्धा हता हन्त ते नरा ॥ १२
धर्मादवाप्तसत्सौख्या न धर्मं कथितं पुनः । शतशोऽपि विजानन्ति ये ते किं न विजातय ॥ १३
विषयेषु रता दीना यथा क्लिश्यन्त्यहर्निशम् । धर्मार्थं क्लिश्यतां तद्वत्क्षणेनापि न किं सुखम् ॥ १४
स्वर्गापवर्गसौख्यानां कारण परमं मत । धर्म एव सतां मान्यो मन्यन्ते तमतो बुधा ॥ १५

जो सम्यग्दृष्टि सज्जन है वे नाना दु खरूप तरगोसे भरे हुए भयानक ससारसमुद्रमे सम्यग्दर्शनादि गुणरत्नोको ग्रहण करते है परतु जो दुर्जन है वे उसमे मिट्टीके डेलेके समान डूबते है ॥८॥

[रत्नत्रयसे जीवितसाफल्य] इसलिये इस ससारमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयही आत्माका हित करता है। जो भव्यजीव इसे धारण करते है उन्हे जिनेश्वर सज्जन कहते है। जिसने यह पवित्र और प्रशसनीय रत्नत्रय प्राप्त किया है उसे मनुष्यजन्मका फल प्राप्त हुआ और उसका जीवित सार्थक हुआ है ॥ ९–१० ॥

[समन्तभद्राचार्यके वचनकी दुर्लभता] जैसे प्राणियोको मनुष्यजन्म दुर्लभ है वैसे गणधरतुल्य समन्तभद्राचार्यका पूर्वापरविरोधादि दोषोसे रहित वचनभी दुर्लभ है। परन्तु कुछ अशुभकर्म शान्त होनेसे उनका सुदुर्लभ वचन पाकरभी जो मनुष्य मिथ्याकर्मके उदयमे धर्मम तत्पर नहीं होते है। हा ! वे मोहसे मारे गये है ॥ ११–१२ ॥

पूर्वार्जित धर्मसे जिन्हे उत्तम सुख प्राप्त हुआ है ऐसे मानव, धर्माचार्यसे धर्मस्वरूप सौ बार कहा जानेपर भी उसे नहीं जानते हैं वे क्या विजाति नहीं है ? वि-पक्षीके जाति-जातिवाले नहीं है ? अर्थात् ऐसे मनुष्य पक्षियोके समान है ॥ १३ ॥

[धर्मसेही सुख–प्राप्ति] विषयासक्त दीन लोग विषय–प्राप्तिके लिये जैसे हमेशा दु ख सहते है धर्मके लिये यदि वे वैसा दु ख एक क्षणतकभी सहेगे तो क्या वे सुखी नहीं होगे ? धर्म, स्वर्ग और मोक्षसुखका प्रधान कारण है। सज्जनोको धर्मही मान्य होता है अत विद्वान् लोग उसे मानते है उसका स्वीकार करते हैं ॥ १४–१५ ॥

१ आ सम्यग्दर्शनसज्ञान २ आ प्राप्य

तं परीक्ष्यात्र गृह्णन्ति प्रेक्षावन्तः प्रयत्नतः । वञ्चनाभयतो रत्नं यथा रत्नपरीक्षकः ॥ १६
अधर्मोऽपि मतो धर्मो मत्यज्ञानादिदोषतः । अत एवं परीक्ष्येमं न गृह्णन्ति महाधियः ॥ १७
हेयोपादेयबुद्धीनां सतामानन्दवर्तिनाम् । न पारम्पर्यतो धर्मः प्रमाणं जातु जायते ॥ १८
कुलायातमपि त्याज्यमवद्यमतिनिन्दितम् । मूर्खापवादमात्रोक्तदोषोऽनन्तगुणा गुणाः ॥ १९
धर्मे धर्मफले रागो द्वेष [रागं द्वेषं] स्तदितरे महान् । यः करोति नरः प्राज्ञः सफलं तस्य जीवनम् ॥२०
सर्वसौख्याकरं सम्यगैश्वर्यमविनिन्दितम् । लब्ध्वा सन्तस्त्यजन्त्येव कुलदौःस्थित्यमञ्जसा ॥ २१
कुलजोऽकुलजो वापि धर्मो ग्राह्यः सतां मतः । न च पक्षवशादेष लभ्यते केनचित्क्वचित् ॥ २२
कुलायात महाकुष्ठं सर्वाङ्गानां विनाशकम् । नीरोगत्वं समासाद्य त्यज्यते किं न धीमता ॥ २३
कुलधर्मरता दीना विचारातिगता भुवि । के के न दुर्गतिं प्राप्ता यशोधरनृपादयः ॥ २४
गुरूणां गुरुबुद्धीनां निःस्पृहाणामनेनसाम् । विचारचतुरैर्वाक्यैः सोऽपि संगृह्यते बुधैः ॥ २५

[परीक्षापूर्वक धर्म–ग्रहण] जैसे रत्नपरीक्षक वञ्चनाकी भीतिसे परीक्षा करके रत्नग्रहण करते है वैसेही बुद्धिमान् लोग धर्मकी परीक्षा कर प्रयत्नसे उसे ग्रहण करते हैं। कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ज्ञानके द्वारा लोग अधर्मको भी धर्म समझते है। इसलिये महाबुद्धिमान् लोग अधर्मकी परीक्षा कर उसे छोड देते है। ग्राह्याग्राह्यका निर्णय करनेवाले लोग कुलपरपरासे चले आये धर्मको ऑख मीचकर कभीभी ग्रहण नहीं करते है। उसे प्रमाण नही मानते है। कुलपरपरासे जो अतिशय निन्द्य द्यूतादिक पाप चले आये है उनको छोडनाही चाहिये। और मूर्खके अपवाद वचनकाही जिसमे दोष है ऐसा अनन्त गुणवाला धर्म नही छोडना चाहिये ॥ १६–१९ ॥

[विवेकी जीवन सफल] जो धर्ममे तथा धर्मसे प्राप्त सुखादिक फलोमे प्रीति रखता है तथा अधर्म और उसके फलको त्याज्य समझता है वह पुरुष प्राज्ञ–विवेकी समझना चाहिये उसका जीवनही सफल है ॥ २० ॥

[अप्रमाण कुलधर्मकी हेयता] सर्व प्रकारके सुख देनेवाला वैभव प्राप्त होनेपर सज्जन कुलपरपरासे चले आये दारिद्र्यको शीघ्रही छोडते है। सज्जन जो धर्म मानते है वह कुलपरपरासे प्राप्त हो या न हो उसे ग्रहण करना चाहिये। ऐसा प्रशसनीय धर्म किसी दुष्पक्षवश होनेसे कही नही मिलेगा। आरोग्य प्राप्त होनेपर आनुवंशिक तथा हाथ पाव आदिक अवयवोको गलानेवाले महाकुष्टरोगको क्या विद्वान् नही छोडेगे? तात्पर्य-कुलपरपरासे आया हुआ अधर्म भी कुष्ठरोगके समान छोडनाही चाहिये। कुलधर्मका पालन करनेवाले, दीन, विचारहीन ऐसे यशोधर राजा आदि कितनेही लोग दुर्गतिको प्राप्त हुए ॥ २१–२४ ॥

[गुरु कैसे हो ?] जो निःस्पृह और पापरहित है, और जो हेयादेय समझनेवाली विशाल बुद्धिके धारक है, ऐसे गुरुओ के विचारचतुर उपदेशोसे बुधजन धर्मको–आत्महितकर धर्मको ग्रहण करते है। सत्यपदार्थ स्वरूप जाननेवाले गुरुओका दुर्लभ उपदेश सुननेवाले ससारी

१ आ गुणाः २ आ मात्रोऽत्र दोषः ३ आ जीवितम्

वैभवं सकलं लोके सुलभं भववर्तिनाम् । तत्त्वार्थदर्शिनां दृष्ट्वा[1] गुरूणां दुर्लभं वचः ॥ २६
अज्ञानान्धतमस्तोमविद्ध्वस्ताशेषदर्शनाः । भव्या पश्यन्ति सूक्ष्मार्थान्गुरुभानुवचोंऽशुभिः ॥ २७
मिथ्यादर्शनविज्ञानसन्निपातनिपीडनात् । गुरुवाक्यप्रयोगेण सर्वे मुञ्चन्ति मानवाः ॥ २८
संसारार्णवमग्नानां कर्मयादोऽभिभाविनाम् । भविनां भव्यचित्तानां तरण्ड गुरवो मता. ॥ २९
भववार्द्धिं तितीर्षन्ति सद्गुरुभ्यो विनापि ये । जिजीविषन्ति ते मूढा नन्वायुःकर्मवर्जिताः ॥ ३०
अन्तर्मुहूर्तकालेऽपि विविधासु च योनिषु । भ्रमन्ति भविनो नित्य गुरुवाक्यविमोचिन. ॥ ३१
सर्वशास्त्रविदो धीरा. सर्वसत्त्वहितंकरा. । रागद्वेषविनिर्मुक्ता गुरवो गरिमान्विता' ॥ ३२
सद्दृष्टिज्ञानसद्वृत्तरत्नत्रितयनायकै' । कथित. परमो धर्मः कर्मकक्षक्षयानल. ॥ ३३
श्रद्धानं शुद्धवृत्तीनां देवतागमलिङ्गिनाम् । मौढ्यादिदोषनिर्मुक्तं दृष्टि दृष्टिविदो विदुः ॥ ३४
अष्टादशमहादोषविमुक्तं मुक्तिवल्लभम् । ज्ञानात्मपरमज्योतिर्देव वन्दे जिनेश्वरम् ॥ ३५

जीवोंको इस जगतमे सपूर्ण वैभव सुलभतासे प्राप्त होता है । अज्ञानरूप अधकारसमूहसे वस्तुओको अवलोकन करनेकी जिनकी शक्ति नष्ट हुई है ऐसे भव्य जीव गुरुरूपी सूर्यके वचनकिरणोसे सूक्ष्म पदार्थोंको देखते है । गुरूपदेशके प्रयोगसे सर्व मनुष्य मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानरूपी सन्निपात-ज्वरकी पीडासे मुक्त हो जाते है । ससारसमुद्रमे डूबे हुए, तथा कर्मरूपी मगर मत्स्यादिकोसे पीडित हुए भव्यजीव जो कि भव्यचित्त–रत्नत्रयप्राप्ति योग्य मनके धारक है उन्हे गुरु नौकाके समान ससार–तारक होते है ॥ २५–२९॥

सद्गुरुके विनाभी जो ससारसमुद्रसे तैर जानेकी इच्छा करते है वे मूढ जीव आयुकर्मसे रहित होकर भी जीनेकी इच्छा करते है । जिन्होने गुरूपदेशका उल्लघन किया है वे लोग अन्त-र्मुहूर्त कालमेभी सतत अनेक योनियोमे क्षुद्रभव धारण कर भ्रमण करते है । (वे क्षुद्रभव छ्यासठ-हजार तीनसौ छत्तीस होते है) ॥ ३०–३१ ॥

वे सद्गुरु सर्वशास्त्रोके ज्ञाता, धीर, सर्व प्राणियोको हितका उपाय कहनेवाले, रागद्वेष-रहित, तथा सत्य, अहिसा, शील आदि गुणोके गौरवको धारण करते है ॥ ३२ ॥

[परमधर्म] रत्नत्रयधारी सद्गुरूओने सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रात्मक उत्तम धर्म कहा है जो कि कर्मवनको दग्ध करनेके लिये अग्नि के समान है ॥ ३३ ॥

[सम्यग्दर्शनका स्वरूप] सम्यग्दर्शनके ज्ञाता शुद्धस्वभावको धारण करनेवाले जिनदेव. उन्होने कहा हुआ आगम-शास्त्र और शुद्ध आचारणवाले गुरु इन विषयमे लोकमूढतादि-दोषोसे रहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है ॥ ३४ ॥

[देवका स्वरूप] जो क्षुधा, प्यास, वृद्धावस्था, रोग आदि अठारह दोषोंसे सर्वथा-रहित, जो कर्मोंका नाश कर मुक्तिपति हुए है, जो सर्वोत्कृष्ट अप्रतिहत केवलज्ञानरूप प्रकाशके

---

१ आ दिष्ट्वा.

श्रीजिनेन्द्रवचोऽनेकरचनारुचिरं महत्। आगमो[1] गमको गम्यः सतामानन्ददायकः ॥ ३६
बाह्याभ्यन्तरभेदेन निर्ग्रन्थं ग्रन्थसंयुतम्। कर्मणां[2] लघुमप्युच्चैर्गुरुं हि गुरवो विदुः ॥ ३७
षोढानायतनं मूढत्रयं शङ्कादिकाष्टकम्। मदाष्टकममी दुष्टा दोषाः सद्दर्शनोज्झिताः ॥ ३८
मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रत्रितयं तथा। तद्वन्तः पुरुषाः प्राहुरनायतनमीरितम् ॥ ३९
कामक्रोधमहालोभमानमायाविनोदिनान्[3]। देवान्दैत्यादिदुर्वृत्तान्[4]मन्यते मूढदृष्टिकः ॥ ४०
वीतरागं सरागं च निर्ग्रन्थं ग्रन्थसंयुतम्। सगुणं निर्गुणं चापि समं पश्यन्ति दुर्धियः ॥ ४१
मूढात्मानो न जानन्ति को वन्द्यो वन्दकश्च कः। गूथभुक्ता गवा नो चेद्वन्दन्ते गां कथं नराः ॥ ४२

धारक है ऐसे जिनेश्वर परमार्थ (सच्चे) देव है, उनको मै वंदन करता हूं ॥ ३५ ॥

[आगमलक्षण] जिसको गणधरादि यति जानते है, जो सज्जनोंको आनन्द देता है, जो अनेक रचनाओंसे सुन्दर और महान् है ऐसे जिनेन्द्रवचनको आगम कहते है। वह भव्योंको जीवादि–वस्तुओंका स्वरूप दिखलाता है ॥ ३६ ॥

[गुरुका लक्षण] धनधान्यादिक दश प्रकारके बाह्य परिग्रह तथा क्रोधादिक अन्तरंग चौदह परिग्रहोंके त्यागी, अर्थात् निर्ग्रन्थ, तथा जो ग्रन्थसे--आगमसे युक्त है अर्थात् स्वपरमतके ज्ञाता है, जो कर्मभार नष्ट होनेसे लघु हुए है अर्थात् मोहकर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मोंका क्षयोपशम होनेसे सम्यग्ज्ञानादि गुणोंसे जो भारी हुए है उच्च हुए है, उनको गणधरदेव कहते है ॥ ३७ ॥

[सम्यग्दर्शनके दोष] छह अनायतन, तीन मूढताएं, शंकादिक आठ दोष, और आठ गर्व ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष है। क्योंकि ये सम्यग्दर्शनको मलिन करते है ॥ ३८ ॥

[अनायतनस्वरूप] मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र ये तीन तथा इनके धारक अर्थात् मिथ्यादृष्टि पुरुष, मिथ्याज्ञानी पुरुष, तथा मिथ्याचारित्रवाला तपस्वी, इन छहोंको विद्वानोंने अनायतन कहा है। ये छह वस्तुयें सम्यग्दर्शनके आयतन- आश्रयस्थान नहीं है, क्यों कि इनके संसर्गसे सम्यग्दर्शन मलिन होता है ॥ ३९ ॥

[कुदेवस्वरूप] जिसकी दृष्टि-श्रद्धा मूढ हो गई है ऐसा विवेकहीन पुरुष जिनमें काम, क्रोध, महालोभ, गर्व, कपट और विनोद, हास्य, रति आदिक दोष है ऐसे दुराचारी दैत्यादिकोंको देव समझता है। ऐसी श्रद्धासे सम्यग्दर्शन मलिन होता है ॥ ४० ॥

विवेकहीन पुरुष वीतराग जिनदेवको तथा सराग हरिहरादिकोंको, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरहित जैनगुरुको और परिग्रहधारी मिथ्यात्वी गुरुको, गुणसहित तथा गुणरहित पुरुषोंको समान देखते है ॥४१॥

मूर्खपुरुष वन्दने योग्य कौन है और अवन्द्य कौन है इनका भेद नहीं जानते। यदि उनको भेदज्ञान होता तो विष्ठा भक्षण करनेवाली गौको वे कैसा वन्दन करते ? ये मूढ लोग पृथ्वी, अग्नि,

१ आ आगमो गम्यगमकः. २ आ कर्मणो ३ आ घनान्। ४ आ देव्यादिदुर्वित्तान्.

पृथिवीं ज्वलनं तोयं देहली पिप्पलादिकम् । देवतात्वेन मन्यन्ते ये ते चिन्त्या विपश्चिता ॥ ४३
पाखण्डिनः प्रपञ्चाढ्यान्मिथ्याचारविहारिणः । रण्डाश्चण्डाश्च मन्यन्ते गुरूश्च गुरुमोहिनः ॥ ४४
हिंसाद्यारम्भकत्वेन सर्वसत्त्वदयावहान् । समयान्मन्यते मूढः सत्य स समयेष्विह ॥ ४५
यं यं दुष्टमदुष्टं वा पुरः पश्यति मानवम् । तं तं नमति मूढात्मा मद्यपायीव निस्त्रपः ॥ ४६
एकेनैव हि मौढ्येन जीवोऽनन्तभवी भवेत् । अपरस्य द्वयस्येह फलं किमिति संशयः ॥ ४७
ज्ञानं कुलं बलं पूजां जातिमैश्वर्यमेव च । तपो वपुः समाश्रित्याहङ्कारो मद इष्यते ॥ ४८
शङ्काकाङ्क्षान्यदृष्टीनां प्रशंसा संस्तवस्तथा । विचिकित्सेति ये दोषास्तेऽपि वर्ज्याः सुदृष्टिभिः ॥ ४९

पानी, देहली, पीपल आदिकोंको देव समझते है। इनका विचार विद्वान् करे अर्थात कुदेव तथा सुदेवादिकोका स्वरूपभेद जानकर अपना सम्यग्दर्शन निर्मल रखे ॥ ४२–४३ ॥

[गुरुमूढता] गुरुके स्वरूपको न जाननेवाले पुरुष मिथ्याचारित्रधारियोको गुरु समझते है। जटाजूट रखना, पचाग्नितप करना, नदीमे स्नान करना इत्यादिक मिथ्याचार है। मिथ्यात्वीगुरु हिंसा तथा आरंभोमे तत्पर रहते है। विधवा स्त्रीको रण्डा कहते है तथा जिनके परिणाम क्रूर, हिंसामय होते है, जो यज्ञमे पशुवधका उपदेश देते है उनको चण्ड कहते है ऐसे लोगोको गुरु समझना गुरुमूढता है ॥ ४४ ॥

[समयमूढता] जिनमे हिंसादिक आरंभोका वर्णन होनेसे जो सम्पूर्ण प्राणियोको भय उत्पन्न करते है, ऐसे शास्त्रोको जो मानते है और उनकी श्रद्धाको आदरणीय समझते है, वह उनकी समयमूढता है। मद्यपायी के समान निर्लज्ज और मूढ मनुष्य अपने आगे आये हुए जिस किसी मनुष्यको देखता है, वह दुष्ट हो चाहे अदुष्ट, उसको वंदन करता है ॥ ४५–४६ ॥

एक मूढताहीसे यह जीव अनन्त संसारमे घूमनेवाला होता है फिर अन्य दो मूढताओका फल क्या मिलेगा ऐसा मनमे संशय उत्पन्न होता है। ॥ ४७ ॥

[आठ प्रकारके मद] ज्ञान, पितृवंश, शक्ति, मातृवंश, धनधान्यादिक संपत्ति, लोगोमे प्राप्त होनेवाली मान्यता, तप और शरीर–सौंदर्य, इनके आश्रयसे जो अहंकार उत्पन्न होता है उसे गर्व कहते है [ऐसे गर्वसे धार्मिक लोगोका अनादर करनेसे सम्यग्दर्शन मलिन होता है] ॥ ४८ ॥

[शङ्कादिक दोष] शंका, कांक्षा, अन्यमिथ्यादृष्टियोकी प्रशंसा, संस्तव, तथा विचिकित्सा ये दोषभी सम्यग्दृष्टियोसे त्याज्य है। देव, गुरु और शास्त्रोका जो सत्यस्वरूप है वह वही है या अन्यथा है ऐसा मनमे जो संशय उसे शंका कहते है। कांक्षा-जो कर्मपरवश है, नाशशील है, जिसके बीचमे दुःखकी उत्पत्ति है ऐसे पापकारण सुखमे अभिलाषा होना कांक्षा है। विचिकित्सा–स्वभावतः अपवित्र परंतु रत्नत्रयसे पवित्र ऐसे धार्मिकोके शरीरकी ग्लानिकर उनके गुणोमे प्रेम न करना विचिकित्सा है। अन्यदृष्टिप्रशंसा–मिथ्यादृष्टियोके ज्ञान और चारित्रको मनमे अच्छा समझना। अन्यदृष्टि-

एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं श्रद्धान तत्त्वगोचरम् । दर्शनं दर्शनीयाश्च कथयन्ति यतीश्वराः ॥ ५०
निसर्गाधिगमाभ्यां च तद्द्वेधा कथितं जिनैः । उपशमादिभेदेन पुनस्त्रेधोपलभ्यते ॥ ५१
प्रागुपात्तेन भावेन स्वात्मन्यात्मात्मना पुनः । स्वभावं लभते शुद्धं दर्शनं तन्निसर्गजम् ॥ ५२
यत्प्रमाणनयैरन्तःप्रस्फुरज्ज्योतिरुज्ज्वलम् । सम्यक्त्वं लभते जीवोऽधिगमात्तन्निगद्यते ॥ ५३

सम्स्तव–मिथ्यादृष्टियोके विद्यमान अविद्यमान गुणोकी वचनसे स्तुति करना । इन दोषोसे रहित ऐसी जो तत्त्वविषयक श्रद्धा उसे दर्शनीय अर्थात् गुणसुदर और शरीरसुदर ऐसे मुनिनाथ गणधर सम्यग्दर्शन कहते है ॥ ४९–५० ॥

[सम्यग्दर्शनके दो और तीन भेद] जिनदेवोने सम्यग्दर्शन निसर्ग-सम्यग्दर्शन और अधिगमसम्यग्दर्शन ऐसा दो प्रकारका कहा है । पुन. वह उपशमादिभेदसे तीन प्रकारका उपलब्ध होता है । अर्थात् उसके औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन, तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ऐसे तीन भेदभी होते है । ॥ ५१ ॥

[निसर्ग सम्यग्दर्शन] यह आत्मा अपने आत्मामे अपने आत्माके द्वारा जो पूर्वभवमे ग्रहण किये हुए भावसे अपना शुद्ध दर्शन स्वभाव प्राप्त करता है उसे निसर्ग सम्यग्दर्शन कहते है ॥५२॥

[विशेषार्थ–दर्शनमोहकी मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, तथा सम्यङ्मिथ्यात्व ये तीन प्रकृतिया और चारित्रमोहकी अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ मिलकर सात प्रकृतियोके उपशमादि होनेपर परोपदेशके विना आत्माकाही आत्मामे आत्माके द्वारा जो श्रद्धान होता है उसे निसर्गसम्यक्त्व कहते है ।

इस निसर्गसम्यक्त्वमे गुरुका उपदेश कारण पडता है परतु उपदेश देनेमे गुरुको प्रयत्न नही करना पडता है । क्योकि जिसमे सम्यक्त्व उत्पन्न होनेवाला है उसे पूर्वभव सुनना, वेदनाका अनुभव, धर्मश्रवण, जिनप्रतिमाका अवलोकन, महामहोत्सव देखना, महर्द्धि प्राप्त आचार्योकी वन्दना इत्यादि कारणोसे मन खेदके विना जीवादिक–पदार्थोमें यथार्थ श्रद्धा प्राप्त होती है । परतु अन्तरग कारण दर्शनमोहादि सप्तप्रकृतियोके उपशमादिक यदि नही हो तो उपर्युक्त बाह्य कारण मिलनेपरभी वह प्राप्त नही होगा ॥ (य. ति. च. ६ आश्वास)

[अधिगमजसम्यग्दर्शन] गुरुसे प्रमाण–नयद्वारा जीवादि पदार्थोका कहा गया स्वरूप सुनकर जो जीव उसका मनन-चिन्तन करता है, तब उसके मनमे वृद्धिंगत होनेवाली उज्ज्वल ज्योति अर्थात् सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है । गुरूपदेशपूर्वक होनेसे उसे अधिगमसम्यक्त्व कहते है ॥ ५३ ॥

१ आ. त्रेधोपगम्यते २ आ. सुभाव.

शुद्धाशुद्धविमिश्राणां तथानन्तानुबन्धिनाम् । चतुर्णां हि कषायाणां प्रशमात्प्रथमं भवेत् ॥ ५४
दृग्घातिनां क्षयाज्ज्ञेयं क्षायिकं क्षीणकल्मषैः । क्षायोपशमिकं तावदुभयेनोभयात्मकम् ॥ ५५
सप्तानां प्रकृतीनां च क्षयात्क्षायिकमुत्तमम् । साध्यं साधनभूतं तु पूर्वं द्वयमुदाहृतम् ॥ ५६

अधिगमजमे अन्तरग कारण दर्शनमोहादिकोका उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम होनेसे बाह्य कारणरूप गुरुका बारबार उपदेश होता है। सशयादिक–दोष–रहित जीवादि पदार्थ जानना प्रमाण है तथा वस्तुके नित्यत्वादि धर्मोमेसे एकधर्मको जानना नय है। नय जिस धर्मको जानता है उसे मुख्यता और अन्यधर्मोको गौणता प्राप्त होती है। प्रमाण पूर्ण वस्तुको जानता है अत उसमे गुणमुख्यताका प्रश्नही नही ॥ ५३ ॥

[वचनभेद, नयवाद और परसमय] जितने वचनभेद है उतने नयवाद है। जितने नयवाद है उतने परसमय है। ब्रह्मवाद, भेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद आदिक परसमय है। ये परसमय वस्तुओको सर्वथा नित्य, अनित्य, एक अनेकरूप मानते है इस लिये मिथ्या है। परतु जब सर्वथा पक्ष छोडकर कथञ्चित्पक्षसे वस्तुको कथञ्चित् नित्यानित्यादि रूप मानेगे तब उनमे सत्यता-प्रामाणिकता आती है। उनका मिथ्यापना नष्ट होता है ॥ १ ॥

[उपशम सम्यग्दर्शन] सम्यक्त्व, मिथ्यात्व तथा मिश्र-सम्यङ्मिथ्यात्व इन तीन दर्शनमोह-प्रकृतियोका तथा अनतानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोका जब उपशम होता है तब जैसे कतक–द्रव्यसे मैला पानी निर्मल होता है वैसा सम्यग्दर्शनभी निर्मल होता है। उस पहले सम्यग्दर्शनको औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते है।

विशेषार्थ– मिथ्यादर्शन अनत ससारका कारण है इसलिये उसे ‘अनत’ कहते है। उसके संबधी जो कषाय है उन्हे अनतानुबधी कहते है। मिथ्यात्व प्रकृति सम्यग्दर्शनको नष्ट करती है। सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति जीवमे एक समयमे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनो परिणाम उत्पन्न करती है। तथा सम्यक्त्वप्रकृति जीवमे सम्यग्दर्शनको तो प्रगट करती है परतु चलमलिनादिदोषोको साथ जोड देती है। परतु इन सातो प्रकृतियोके पूर्ण उपशमसे प्रगट हुए सम्यक्त्वमे ये दोष नही रहते है। ऐसे सम्यग्दर्शनको उपशम सम्यग्दर्शन कहते है। इसमे जीवादितत्त्वोका श्रद्धान निर्मल होता है ॥ ५४ ॥

[क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन] सम्यग्दर्शन–घाती सातो प्रकृतियोका पूर्ण नाश होनेसे प्रकट हुआ सम्यग्दर्शन सदा निर्मल रहता है। ऐसे सम्यग्दर्शनमे शकादिक दोष नही रहते है। प्रक्षीण–पापवाले जिनदेव उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते है। क्षय और उपशम होनेसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उभयात्मक होता है। अनतानुबधी चार कषाय, मिथ्यात्व तथा सम्यङ्-मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियोका उदयाभावी क्षय होनेसे तथा आगामिकालमे उदयमे आनेवाली इन प्रकृतियोका उपशम होनेसे और सम्यक्त्व प्रकृतिके देशघातिस्पर्धकोका उदय होनेसे जो तत्त्वार्थमे श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन या वेदक सम्यग्दर्शन कहते है ॥ ५५–५६ ॥

लब्धपञ्चेन्द्रियो जीवस्तथा कालादिलब्धिकः । भव्यश्च लभते साक्षाद्दर्शनं न तथा परः ॥ ५७
कल्याणपञ्चकं यस्माल्लभ्यते क्षणतोऽपि सत् । सिद्धौ निदानभूतं तु दर्शनं किं न दुर्लभम् ॥ ५८

उपर्युक्त सात प्रकृतियोका क्षय होनेसे उत्तम क्षायिकसम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। इसका कभी भी नाश नहीं होनेसे यह सावनन्त है। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन साधन-भूत है। अर्थात् इनकी उत्पत्ति नहीं होगी तो क्षायिक सम्यग्दर्शन कदापि नहीं होगा। प्रथमतः ससारीजीवोको औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। तदनतर क्षायोपशमिक होता है। इसके अनतर क्षायिक होता है। क्षायिककी उत्पत्तिमे ये दोनो सम्यक्त्व साधन है और क्षायिक सम्यक्त्व साध्य-रूप है ॥ ५५–५६ ॥

[सम्यग्दर्शन किस जीवको उत्पन्न होता है?] जिसको स्पर्शनादि पांच इंन्द्रियोकी प्राप्ति हुई है तथा जिसे कालादिलब्धिया प्राप्त हुई है, ऐसे भव्यको साक्षाद्दर्शन प्रगट होता है। पचेन्द्रिया और कालादिलब्धिया नहीं प्राप्त होनेपर भी भव्यता रहती है तथापि वह अकेली सम्यग्दर्शनको प्रगट नहीं कर सकती। [विशेष स्पष्टीकरण-अनादि मिथ्यादृष्टि जीवको सम्यग्दर्शनकी प्रतिबधक प्रकृतियोका उपशम कालादिलब्धिया प्राप्त होनेसे होता है। कर्मोसे घिरी हुई भव्य आत्मा अर्धपुद्गलपरिवर्तन–अवशिष्ट रहनेपर प्रथमसम्यक्त्वकाल प्राप्ति-योग्य होती है। पुद्गलपरिवर्तनके कर्मद्रव्य पुद्गलपरिवर्तन तथा नोकर्मद्रव्यपुद्गलपरिवर्तन ऐसे दो भेद है। उनमेसे किसी एकको भी अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल कहते है। जिसका ससारमे रहनेका काल इससे अधिक होगा उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। यह प्रथम काललब्धि है।]

२ कर्मस्थितिकाललब्धि—जीवमे जब कर्म उत्कृष्ट स्थितिके अथवा जघन्यस्थितिके होते है तब उसको प्रथम सम्यक्त्व नहीं होता अर्थात् जिस जीवमे बध्यमान कर्मसमूह विशुद्ध परिणामोंसे अन्त कोटिकोटिसागरोपमप्रमाणवाला होता है तथा पूर्वबद्ध कर्म जिसमेसे संख्यात सागरोपमसहस्र कम होकर अन्त कोटिकोटीकी स्थितिमे आता है उसको उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेकी योग्यता प्राप्त होती है।

३ भावापेक्षासे उसको काललब्धि अर्थात् भव्यता, पचेन्द्रियपना, पर्याप्तकता, प्राप्त हुई है ऐसे सर्व विशुद्ध जीवको सम्यग्दर्शन होता है। इतरोको नहीं। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमे जातिस्मरण, गुरूपदेश, वेदनानुभवादिक अनेक कारण पडते है ॥ ५७ ॥

जिस सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे क्षणमे अन्तर्मुहूर्तमे त्रिलोकवन्द्यकल्याणपचककी प्राप्ति होती है अर्थात् तीर्थकरपदका बध होनेसे गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष ऐसी पचकल्याणोकी

१ आ. [illegible] न परो नर २ आ लभते.

-ज्ञानचारित्रयोराद्यं तन्मूलत्वात्तयोर्द्वयोः । दर्शनं दर्शनाधारा निगदन्ति गदातिगा ॥ ५९
तस्याणुव्रतनामापि विद्यते न कदाचन । दृग्विशुद्धिर्न यस्यास्ति किं पुनस्तन्महाव्रतम् ॥ ६०
तप्तोऽपि तीव्रतपसा ग्लप्तदेहः प्रतिक्षणम् । दर्शनेन विशुद्धात्मा नरो वेद्यस्य वेदक ॥ ६१
पदार्थानखिलांल्लोके यथार्थान्नैव पश्यति । कुदृष्टिरत एवादौ दृग्विशुद्धिर्विधीयते ॥ ६२
न दर्शनसमं किञ्चिद्विद्यतेऽपि जगत्त्रये । यस्य स्पर्शनमात्रेण संसृतिं हन्ति मानव ॥ ६३
दृष्टिं विना गतिं पूतां गच्छतोऽप्यतियत्नतः । चरित्रेऽप्यस्खलद्वृत्तेरधःपातो भवेद्ध्रुवम् ॥ ६४

प्राप्ति होती है तथा मोक्षप्राप्तिके लिये जो कारण है वह सम्यग्दर्शन क्या दुर्लभ नहीं है ? अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना दुर्लभ है । प्राप्त होनेपर यदि वह नहीं छूटेगा तो जीवको अवश्य मोक्ष-प्राप्ति कर देता है ॥ ५८ ॥

ज्ञान और चारित्रके आदिमे सम्यग्दर्शन है क्यो कि वह उन दोनोका मूल है । अर्थात् ज्ञान और चारित्रको सम्यग्दर्शनसेही समीचीनपना प्राप्त होता है । जब सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है उसी समय ज्ञानको और चारित्रको सम्यक्पना आजाता है ससाररोगको उल्लघन करनेवाले, सम्यग्दर्शनको आधारभूत ऐसे गणधरादिक मुनीश ऐसा कहते है ॥ ५९ ॥

सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे रहित अर्थात् मूढता, मद, अनायतन, और शकादिकोसे मलिन हुए भव्योको नाममात्रभी अणुव्रत नहीं फिर महाव्रत कैसे प्राप्त होगा ? अर्थात् सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे हिंसादि पापोका एकदेश त्याग अथवा सपूर्ण त्याग होता है अन्यथा नहीं ॥ ६० ॥

[तपसेभी सम्यग्दर्शनकी श्रेष्ठता] तीव्र तपसे तप्त होनेसे जिसका देह क्षीण हुआ है ऐसा मुनिराज जब सम्यग्दर्शनसे निर्मल होता है तब उसे आत्माका अनुभव आता है । अर्थात् सम्यग्दर्शनसेही आत्मानुभूति होती है तपसे नहीं । अकेला तप शरीरको क्षीण करेगा परतु वह आत्माको आत्मानंदसे वचित रखता है अत. सम्यग्दर्शन तपसे श्रेष्ठ है ॥ ६१ ॥

मिथ्यात्वके उदयसे कुदृष्टिको कारणविपर्यास, स्वरूपविपर्यास, तथा भेदाभेदादि–विपर्यास होते है जिनसे वह सपूर्ण पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप नहीं जान सकता है । इस लिये दर्शनविशुद्धि प्रथम कही है । तात्पर्य–दर्शनविशुद्धिसे स्याद्वाददृष्टि उदित होती है जिससे भव्यात्मा आत्मानुभवके साथ वस्तुओकी कथचित् नित्यानित्यात्मकता जान सकता है ॥ ६२ ॥

इस जगत्त्रयमे सम्यक्त्वके समान कोई अमूल्य पदार्थ नहीं है, क्यो कि इसको धारण करनेसे मनुष्य ससारनाश करता है । तात्पर्य–सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर नष्ट होनपरभी मनुष्य दीर्घ ससारवाला रहता नहीं । क्यो कि उसका ससार अर्धपुद्गलपरिवर्तन कालतक रहता है, अनतर वह मुक्त होता है । और यदि सम्यक्त्व नष्ट नहीं हुआ तो वह पुरुष थोडे भव धारण कर मुक्त होता है ॥ ६३ ॥

सम्यग्दर्शनके विना देव गति प्राप्त होनेपरभी तथा चारित्रमे अतिप्रयत्नसे अप्रतिहत प्रवृत्ति करने पर भी निश्चयसे मुक्त होता नहीं । तात्पर्य–सम्यक्त्वरहित जीव चारित्रके बलसे

प्राणिनः संसृतेर्दुःखमनन्तमनतिक्रमम्। न क्रामन्ति क्रियायुक्ता अपि दर्शनवर्जिताः॥ ६५
ज्ञानं सच्चरणं वापि येनोज्झितमनिन्दितम्। अज्ञानमचरित्रं च भववृद्धिकरं भवेत्॥ ६६
दर्शनं परमो धर्मो दर्शनं शर्म निर्मलम्। दर्शनं भव्यजीवानां निर्वृतेः कारणं परम्॥ ६७
शासनं जिननाथस्य भवदुःखैकनाशनम्। यस्याधिवासनामेति स कृती कृतिनां वरः॥ ६८
सद्रत्नमिदमत्युद्‌घ हृदये गुणसंयुतम्। यो दधाति श्रियो रामाः स्वत एव श्रयन्ति तम्॥ ६९
धर्मे धर्मफले शास्त्रे साधौ संगविवर्जिते। निश्चलो योऽनुरागोऽयं संवेगः स निगद्यते॥ ७०
मातृपितृमित्रकलत्राद्याः सर्वे संयोगसंभवाः। मुक्त्वा रत्नत्रयं पूतमिति निर्वेदमादिशेत्॥ ७१

नवमग्रैवेयकतक जाता है परंतु वह भवसमुद्रमें भ्रमण करता है। सम्यग्दर्शनके साथ अप्रतिहत चारित्र पालनेवाले मुनिराज सर्वार्थसिद्धिमें जाकर दूसरे भवमें मुक्त भी होते हैं ॥ ६४ ॥

जो जीव सम्यग्दर्शनरहित हैं वे कितना भी घोर चारित्र पालें, तथापि जिसका उल्लंघन-नाश करना शक्य नहीं है ऐसे अनंत सांसारिक दुःखोंका पार वे नहीं लगा सकते। तात्पर्य-सम्यग्दर्शन नावके समान है उसका आश्रय छोडकर जो केवल चारित्र ही पालता है वह मुक्त नहीं होता। जैसे नौकाका आश्रय छोडकर आजतक समुद्रके दूसरे किनारेको अपने बाहुओंके द्वारा कोई भी नहीं जा सका ॥ ६५ ॥

[सम्यक्त्वरहित ज्ञान तथा चारित्र, अज्ञान और अचारित्र है] सम्यग्दर्शनसे रहित ज्ञान और निर्मल चारित्र प्रशंसायुक्त होनेपर भी अज्ञान और अचारित्र होते हैं, तथा संसारवर्धक होते हैं ॥ ६६ ॥

इस लिये सम्यग्दर्शन परम-उत्कृष्ट धर्म है। सम्यग्दर्शनही निर्मल सुख है। तथा वह भव्य जीवोंको मुक्तिका उत्तम कारण है ॥ ६७ ॥

संसार दुःखोंका मुख्यतया अन्त करनेवाला यह जिनेश्वरका शासन जिसके हृदयमें रहता है वह विद्वद्गणमें श्रेष्ठ है। जिसके मनमें एकवार सम्यग्दर्शनकी वासना उत्पन्न होती है वह नर सर्वजनोंमें श्रेष्ठ होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ६८ ॥

निःशंकादिक अष्टगुणोंसे युक्त यह सम्यग्दर्शन एक उत्कृष्ट रत्न है। इसे जिसने अपने हृदयमें धारण किया है उसके पास चक्रवर्ति आदि सर्व प्रकारकी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ६९ ॥

[संवेगका लक्षण] रत्नत्रयरूप धर्म, अभ्युदयनिश्रेयसादि प्राप्तिरूप धर्मफल, जिनेश्वर कथित तथा गणधरादि–प्रणीत शास्त्र, परिग्रहरहित रत्नत्रयाराधक मुनिवर्ग इनमें जो स्थिर अनुराग उत्पन्न होता है उसे संवेग कहते हैं ॥ ७० ॥

[निर्वेगका लक्षण] रत्नत्रयरहित पुरुषको उन्मत्त मित्र, पुत्र, और स्त्री आदिक सर्व सामग्री मिथ्या कर्मके संयोगसे प्राप्त होती है। सिर्फ रत्नत्रयही आत्माका स्वभाव है ऐसा चिन्तन निर्वेगका लक्षण है ॥ ७१ ॥

[निन्दाका लक्षण] जब आत्मा कषायसे व्याकुल होता है तब वह सज्जननिन्द्य कार्य करता है। परंतु जब कषायका वेग कम होता है तब मैंने अयोग्य कार्य किया है ऐसा जो मनमें अनु-

कषायाकुलितो जीवः कार्यमार्यविनिन्दितम् । कृत्वानुतीयते चान्ते सा निन्दा निन्द्यनाशिनी ॥ ७२
जातेऽत्र दुष्कृते घोरे रागद्वेषादिदोषतः । आलोचना मता गर्हा गुरूणामग्रतो बुधैः ॥ ७३
कालुष्यकारणे जाते दुर्निवारे गरीयसि । नान्तः क्षुभ्यति कस्मिश्चिच्छान्तात्मासौ निगद्यते ॥ ७४
देवे संघे श्रुते साधौ कल्याणादिमहोत्सवे. । निर्व्याजाराधना ज्ञेया भक्तिर्भव्यार्थसाधिका ॥ ७५
चतुर्विधस्य संघस्य वैयावृत्त्यमगर्हितम् । अन्नौषधादिभिर्दिव्यं वात्सल्यमभिधीयते ॥ ७६
कर्मपाकभवानेकदुःखानुभवभाविषु । जीवेष्वार्द्रतमो भावोऽनुकम्पा कथिता जिनैः ॥ ७७
गुणाञ्जनप्रयोगेण सद्दृष्टिर्निर्मलीकृता । यथाभिलषितं देशं प्राणिनं प्रापयत्यसौ ॥ ७८

ताप होता है उसे निन्दा कहते है । यह निन्दा नामक सम्यक्त्वगुण निन्द्य-पापका नाश करनेवाला है ॥ ७२ ॥

[गर्हाका लक्षण] रागद्वेषादिदोषोके अधीन होकर जब घोर पाप उत्पन्न होता है तब गुरुके आगे उसकी आलोचना करना यह सम्यक्त्वका ' गर्हा ' नामक गुण है, ऐसा बुद्धिमान लोग मानते है । अपने दोषोका स्वय अनुताप करना निन्दा है तथा गुरुके आगे अपने दोषोका पश्चात्तापपूर्वक वर्णन करना गर्हा है ॥ ७३ ॥

[प्रशमका लक्षण] कोई दुर्निवार तथा बडा कलुषताका कारण उत्पन्न होनेपर जिसका मन क्षुब्ध होता नहीं, वह भव्यजीव शान्तात्मा अर्थात् प्रशमगुणका धारक है ऐसा विद्वान् कहते है ॥७४॥

[भक्तिगुण] दोषरहित जिनदेव, मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप चार प्रकारका सघ, रत्नत्रयाराधक मुनि, तथा गर्भजन्मादि पाच कल्याणोका महोत्सव इत्यादि प्रसगोमे सम्यग्दृष्टि अन्त.करणपूर्वक इच्छा और कपटरहित जो आराधना करता है वह उसका भक्तिनामक गुण कहा जाता है। यह गुण भव्य अर्थकी अर्थात् पुण्यफलरूप सपत्तिकी प्राप्ति करनेवाला है । परिणामोकी निर्मलतासे जो देवादिकोपर अनुराग किया जाता है उसे भक्ति कहते है ॥ ७५ ॥

[वात्सल्यगुण] अन्न, औषध आदिके द्वारा चार प्रकारके सघकी जो प्रशसनीय सेवाशुश्रूषा मनवचनकायसे की जाती है उसको वात्सल्यगुण कहते है ॥ ७६ ॥

[अनुकम्पागुण] असातवेदनीय, और अन्तरायादि अशुभकर्मोके उदयसे प्रगट हुए दारिद्र्य. रोग, चिन्ता वगैरेह दु खोसे पीडित हुए जीवोपर दयार्द्र भाव उत्पन्न होना उसे जिनेश्वर अनुकम्पाभाव कहते है । परपीडाको देखकर मानो वह पीडा अपनेकोही हो रही है ऐसा समझ उसे दूर करना अनुकपागुण है ॥ ७७ ॥

इन आठ गुणरूपी अजनप्रयोगसे सम्यग्दर्शनरूपी नेत्र जब निर्मल होता है तब वह जीवको अभिलाषितस्थानके प्रति लेजाता है ॥ ७८ ॥

१ आ तपते.

द्रव्यं क्षेत्रं सुधी. कालं भवं भावं विविच्य यः । सद्दर्शनमहारत्नमादत्ते स विदंग्रणीः ॥ ७९
सम्यक्त्वेन विशुद्धात्मा भवी सं भवति क्षम. । ग्रहीतु चरण चारु तद्विनां न मनागपि ॥ ८०
निर्दूपणा सती दृष्टिर्ददाति विपुलं फलम् । सुविशुद्धं यथा क्षेत्रं कर्षितं हि कुटुम्बिना ॥ ८१
उपस्थितं कियद्भूरि कर्मणां पाकहेतुजम् । सुदृष्टिः साधुदोष न पश्यतीति महाद्भुतम् ॥ ८२
विद्यमानं महादोपं परकीयं महाधियः । प्रकाशयन्ति नो जातु स्वासिद्धिमुपलिप्सवः ॥ ८३
निमज्जन्ति भवाम्भोधौ यतीनां दोपतत्पराः । किं चित्रं यद्भवेन्मृत्युः कालकूटविषाशनात् ॥ ८४
भुक्त्वा दु.खगतान्युच्चै. सर्वासु श्वभ्रभूमिषु । निगोतेऽभिंपतन्त्येते यतिदोषपरायणाः ॥ ८५

जो भव्यजीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा अपने परिणामोका विवेकपूर्वक विचार-कर सम्यग्दर्शनमहामणिको ग्रहण करता है वह विद्वानोमे अग्रणी (श्रेष्ठ) होता है ॥ ७९ ॥

[सम्यग्दृष्टिको चारित्रग्रहण–योग्यता] जिसका आत्मा सम्यग्दर्शनसे निर्मल हुआ है ऐसा ससारीजीव उत्तम-निर्दोपचारित्र ग्रहण करनेके लिये पात्र होता है । यदि सम्यग्दर्शन-प्राप्ति नहीं हुई हो तो वह चारित्रग्रहण करनेकोभी असमर्थ है । जैसे किसानोद्वारा खेत हलसे कर्पित होनेपर वह विपुल धान्य देता है वैसा निर्मल सम्यग्दर्शन जीवको विपुल सुखसपत्ति देता है ॥ ८०–८१ ॥

[सम्यग्दृष्टि दोपदृष्टि नही है] अनेक विपुल कर्मके उदयरूपी कारणको पाकर साधुमे उत्पन्न हुए दोपको सम्यग्दृष्टि नहीं देखता यह महाश्चर्य है ॥ ८२ ॥

आत्मसिद्धिकी इच्छा करनेवाले महाबुद्धिमान महापुरुप दूसरेके विद्यमान महादोपोको कभीभी प्रगट नही करते । तात्पर्य-उनके पास जब अपराधी पुरुप (मुनि या श्रावक) आकर अपना दोप कहते है तब वे गुरु–आचार्य उसको अपने हृदयमे रखते है, किसीसे नहीं कहते । यदि कहेगे तो जैनधर्म की निंदा होगी और बडी अप्रभावना होगी, अतः वह उपगूहनागके धारक उस अप-राधीको योग्य प्रायश्चित्त देकर उसके व्रतोकी शुद्धि करते है । इसतरह सम्यग्दर्शनके उपगूहन अथवा उपबृंहण अगका पालन करते है ॥ ८३ ॥

[दोपग्रहण ससारवर्धक है] जो यतियोके दोपग्रहणमे तत्पर होते है वे ससार–समुद्रमे डूबते है । योग्य ही है कि कालकूट विपको भक्षण करनेसे मृत्यु प्राप्त होती है । इसमे क्या आश्चर्य है ॥ ८४ ॥

जो यतियोके दोपग्रहणमे तत्पर होते है, उनके विद्यमान अथवा अविद्यमान दोपोको जगतमें फैलाते हैं वे दोपभावनासे तीव्र और बहुत पापसग्रह करके सपूर्ण नरकभूमियोमे उत्पन्न होकर वहा भयंकर दुःखोका अनुभव लेते है । तथा पुन वे निगोदमे जाते है ॥ ८५ ॥

१ आ. [illegible] २ आ. सभवति ३ आ. तद्दत ४ आ. कुटुम्बिनः ५ आ. निपतन्त्येते.

विज्ञायेति महादोषान्देवतागमलिङ्गिनाम् । नापलापं प्रजल्पन्ति मनागपि विपश्चित. ॥ ८६
षट्स्वधोभूमिभागेषु भावनव्यन्तरेषु च । ज्योतिर्नपुंसकस्त्रीषु सद्दृष्टिर्नैव जायते ॥ ८७
मिथ्यात्वकारणेष्वेषु तिर्यगादिषु जातु न । उत्पद्यते च सद्दृष्टिर्बद्धायुश्चेन्न तिष्ठति ॥ ८८
मिथ्यात्वान्धतमो घोरं हत्वा सम्यक्त्वभानुना । स्वैमार्गे गच्छतां प्राप्ति. स्वसिद्धिर्निलये सताम् ॥ ८९
निरयनगरावासायासप्रकाशपरम्परम्परा । परिचयपरां वृत्ति हत्वा नरो निलये कृतः ।
वहुगुणगणैरन्तःस्फूर्जत्प्रबन्धपटीयसीम् । नटयति पुरः सिद्धिं शुद्धः सुदृष्टिविभूषितः ॥ ९०

दोपग्रहणका फल जानकर जिनदेव, जिनागम तथा जैनमुनि इनके असत्य दोपोका अल्पभी वर्णन विद्वान् नहीं करते ॥ ८६ ॥

[सम्यग्दृष्टि कहा उत्पन्न नहीं होते] पहला नरक छोडकर सम्यग्दृष्टि जीव शर्करा प्रभादि महातम प्रभान्त छह नरकभूमियोमे नहीं जन्मते है। भवनवासी, व्यन्तर, तथा ज्योतिष्क देवोमे सम्यग्दृष्टि जन्मग्रहण नहीं करता तथा नपुंसक और स्त्रियोमे वह उत्पन्न नहीं होता। तात्पर्य– जिसको नरकायुका बध होनेपर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता वह जीव पहले नरकमेही उत्पन्न होता है। देवायुर्बन्ध होनेपर सम्यग्दर्शन जिसको प्राप्त हुआ है वह जीव सौधर्मादि स्वर्गोमे महर्द्धिक देव होता है ॥ ८७ ॥

जिनको मिथ्यात्व कारण है ऐसे एकेन्द्रिय विकलत्रयमे सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते। तिर्यगायुका वध होनेपर सम्यग्दर्शन जिसको प्राप्त हुआ है ऐसा मनुष्य भोगभूमीका पुलिंगी तिर्यंच होकर जन्म लेता है। तथा मनुष्यायुका वध होनेपर जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ ऐसा कर्मभूमिज मनुष्य अथवा पचेन्द्रिय सज्ञी तिर्यंच भोगभूमीमे पुरुष होकर उत्पन्न होता है। स्त्रीपर्यायमे उसकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ ८८ ॥

सम्यक्त्वरूपी सूर्यके द्वारा मिथ्यात्वरूप गाढ अधकारका नाशकर मोक्षमार्गमे जानेवाले महापुरुषोंको आत्मसिद्धिका घर ऐसा जो मोक्ष उसकी प्राप्ति होती है ॥ ८९ ॥

[शुद्ध सम्यग्दृष्टिके आगे मोक्षलक्ष्मी नाचती है] निर्मल परिणामवाला तथा सम्यग्दर्शन भूपित पुरुष नरक-नगरमे निवास करनेसे उत्पन्न हुई खेदकी प्रकाश-परम्पराके परिचयकी प्रवृत्तिको नष्ट कर तथा स्वर्गमे रहकर अनेकगुणसमूहोसे अन्त करणमे वृद्धिगत हुआ जो परिचय उससे अतिशय चतुर ऐसी सिद्धि-लक्ष्मीको अपने आगे नचाता है ॥ ९० ॥

१ आ. वा पुनः २ आ. सुमार्गे ३ आ निलयीकृतः

आद्यामाराधना तां विशदतरगुणग्राममुक्तां सुगुप्तो। दृष्टि सद्दृष्टिहृष्टः कलयति कलिताशेपतत्त्वैकसत्त्वः।
योऽसौ भुक्तोत्तमाङ्गस्फुरदमलरमारम्यलीलामलोल.। कल्याणानां क्षणेनावहति सुरपतेरर्चनामर्चनीयः॥ ९१

इति श्रीसिद्धान्तसारसग्रहे आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते सम्यग्दर्शननिरूपणे प्रथम. परिच्छेद ॥ १

जो मिथ्यात्वसे दूर रहा है, जो सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे आनदित हुआ है, जिसने सपूर्ण जीवादितत्त्वोका मुख्य अस्तित्वगुण जाना है तथा उत्तम शरीरसे सुदर और निर्मल ऐसी लक्ष्मीकी लीलाका भोग लिया है, जो निरिच्छ है ऐसा पुरुप अतिशय निर्मल सवेगादिकी गुणसमूहसे युक्त सम्यग्दर्शनाराधनाको धारण करता है। जिससे वह पूज्य महात्मा इन्द्रके द्वारा की जानेवाली पचकल्याण पूजाको उत्सवके साथ धारण करता है॥ ९१ ॥

आचार्य श्रीनरेन्द्रसेनविरचितसिद्धान्तसारसग्रहमे सम्यग्दर्शनका निरूपण करनेवाला पहिला परिच्छेद समाप्त हुआ।

१ आ नरेन्द्रसेनविरचिते सिद्धान्तसारसग्रहे प्रथम. परिच्छेद ।

[द्वितीयोऽध्यायः]

सम्यग्ज्ञानं परंज्योतिः स्वपरार्थावभासकम् । आत्मस्वभावमाभाव्यं भावयन्ति भवातिगाः ॥ १
बोधो बुद्धिस्तथा ज्ञानं प्रमाणं प्रमितिः प्रमा । प्रकाशश्चेति नामानि मन्यन्ते मुनयोऽन्वयात् ॥ २
ज्ञानं प्रमाणमित्येतन्मन्यन्ते न मनागपि । नैयायिकादयो दर्पात्सन्निकर्षादिवादिनः ॥ ३
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः सन्निकर्षादिवादिनाम् । अप्रमेया भवन्त्येव तत्सम्बन्धाद्यभावत. ॥ ४

[दूसरा अध्याय]

[सम्यग्ज्ञानका लक्षण]—सम्यग्ज्ञान यह आत्माका स्वभाव है । यह उत्कृष्ट प्रकाशस्वरूप है, अर्थात् इससे अपना स्वरूप आत्मा जानता है तथा परपदार्थका स्वरूप जानता है । जिन्होने ससारका नाश किया है ऐसे सिद्धपरमेष्ठी अनुभवन-योग्य इस ज्ञानकी भावना करते है अर्थात् वे सतत केवलज्ञानमय है। उनका ज्ञान प्रतिसमय अनन्तानन्त पदार्थोको तथा उनके त्रिकाल-वर्ती अनतानन्त पर्यायोको साथ जानता है। सम्यग्ज्ञानको बोध, बुद्धि, ज्ञान, प्रमाण, प्रमिति, प्रमा, प्रकाश ऐसे नाम सबमे अर्थकी अन्वयता (सार्थकता) होनेसे मुनि मानते है । अर्थात् ये सब नाम ज्ञानके एकार्थवाचक है । ज्ञानकेही ये नाम है । दीपक जैसा अपनेको और घटादि पदार्थोको प्रकाशित करता है वैसा ज्ञानभी स्व और परस्वरूप जानता है ॥ १—२ ॥

नैयायिकादिक दर्पसे सन्निकर्षादिकोको प्रमाण मानते है । उन्होने ' ज्ञान प्रमाण है ' ऐसा अल्पतयाभी नही माना है । तात्पर्य—नैयायिक और यौग सन्निकर्षको प्रमाण मानते है। साख्य इन्द्रियवृत्तिको प्रमाण मानते है । मीमासक ज्ञातृव्यापारको प्रमाण मानते है । बौद्ध निर्विकल्पज्ञानको प्रमाण मानते है । इस प्रकार सन्निकर्षादिकोको प्रमाण माननेवाले नैयायिकादिकोने ज्ञानको प्रमाण नहीं माना है । परतु सन्निकर्षादिक विना ज्ञानकेभी होते है और वे अचेतन है । अचेतन पदार्थोमें जाननेका सामर्थ्य नहीं है । अन्यथा घटपटादिक पदार्थभी जमीन आदिके साथ सम्बन्ध होनेसे—सन्निकर्ष होनेसे जानेगे । परतु उनमे वह जाननेका धर्म सन्निकर्षसेभी उत्पन्न हुआ नहीं दीखता । तथा सन्निकर्ष जगतके सभी पदार्थोके साथ नहीं होता है, क्योकि सूक्ष्मादि पदार्थोका इद्रियोसे सबध नहीं होता है ऐसा आचार्य कहते है ॥ ३ ॥

सन्निकर्षादिवदियोको सूक्ष्मपदार्थ, अन्तरितपदार्थ, दूरपदार्थ अप्रमेय होते है क्योकि उनके साथ सम्बन्धादिकोका अभाव है ॥ ४ ॥

विशेषस्पष्टीकरण—आत्मा, इन्द्रिय, मन और घटादिक पदार्थ इनका सबध होनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है । ऐसे सबधको सनिकर्ष कहते है । जैसे घटमे रूपका ज्ञान होता है, यहा आत्माका मनसे सबध होता है, मनका नेत्रेन्द्रियके साथ सबध होता है और नेत्रका घटरूपके साथ सबध होता है तब यह घट काला है, यह घट पीला है इत्यादि ज्ञान होता है । अत ज्ञान सन्निकर्षसे

तदभावे ह्यनिष्टोऽपि सर्वज्ञाभाव इष्यते । तेषामतो वचश्चारु तदीयं न कदाचन ॥ ५
तदेतत्कथमित्येवं शङ्कनीयं न धीधनैः । न ह्यतीन्द्रियविज्ञानं सर्वज्ञं साधयन्ति ते ॥ ६

होता है। उपर्युक्त घटका रूपज्ञान चक्षु.सन्निकर्षसे हुआ। सुखादिकमे त्रिसन्निकर्षज ज्ञान है। आत्माका मनसे सबंध होता है और मनका सुखसे संबंध होकर सुख जाना जाता है। योगिओको आत्मा और मनका संबंध होनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा सन्निकर्षवादी कहते है।

आचार्य इसका खंडन इस प्रकार करते है–सन्निकर्ष होनेसेही यदि ज्ञान होता, तो घटके समान आकाशादिकके साथभी चक्षुका संबंध है तथापि वह सन्निकर्ष आकाशविषयक ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है। सन्निकर्ष संशयादिकोमेभी होनेसे ऐसे सन्निकर्षकोभी प्रमाण मानना पडेगा। कज्जलसे नेत्रका सनिकर्ष होनेपरभी कज्जल–विषयक ज्ञान वह उत्पन्न नहीं करता है। आम्रफलके रूपके साथ चक्षुका जैसा सम्बंध है, वैसा उसके रसके साथभी है, तोभी रसका ज्ञान नहीं होता है। अतः सन्निकर्ष ज्ञानका असाधारण कारण नहीं है, इसलिये वह प्रमाण नहीं है। सन्निकर्षसे ज्ञान होता, तो उसमे क्रमवर्तिपना मानना पडेगा परन्तु एकही समयमे चन्द्रका और शाखाका ज्ञान होता है। तथा सन्निकर्ष होनेसे यदि ज्ञान हो जाता तो सूक्ष्म परमाणुकाभी ज्ञान होना चाहिये क्योंकि आपने उसके साथ चक्षुरिन्द्रिय सन्निकर्ष माना है। सन्निकर्षसे यदि ज्ञान होता है तो व्यवहित पदार्थोंका ज्ञान नहीं होना चाहिये परंतु भूमिके अन्तर्गत पदार्थोंको उनके साथ सन्निकर्ष न होने-परभी अञ्जनसहित नेत्र देखता है। तथा सूक्ष्म-परमाणु, देशान्तरित–मुट्ठीमे रखा हुआ पदार्थ, दूरार्थ-मेरु आदिक, कालान्तरित–रामरावणादिक सन्निकर्ष वादियोको अप्रमेय होंगे अर्थात् उनके साथ इन्द्रियोंके सम्बन्धादिकोका अभाव है ॥ ४ ॥

नैयायिक, यौग, सांख्योने संपूर्ण पदार्थोंको जाननेवाला अर्थात् सर्वज्ञ माना है परंतु सन्निकर्षको प्रमाण माननेसे संपूर्ण पदार्थोंके साथ आत्मा, इन्द्रिय और मनका सम्बंध होना शक्य नहीं है, अतः सर्वज्ञाभाव होगा, जो कि उनको अनिष्ट है। सन्निकर्ष वर्तमानकालीन पदार्थोंकाही हो सकता है, वहभी जगतके संपूर्ण पदार्थोंके साथ होना नितरां असंभव है। ऐसी अवस्थामे वर्तमान कालीन पदार्थभी–संपूर्णतया नहीं जाने जाते है। भविष्यत्कालीन पदार्थ–उत्पन्न होनेवाले होनेसे वर्तमान कालीन इंद्रियोंका उनके संबंध होना असंभव है, भूतकालीन पदार्थ नष्ट होनेसे इंद्रियोंके साथ सम्बद्ध होही नहीं सकते है, अतः भूतभविष्यके संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान न होनेसे नैयायिका-दिकोंके मतमे सर्वज्ञत्वका अभाव होगा। इसलिये सन्निकर्षवादी नैयायिकादिकोंका सन्निकर्षवाद सुंदर–प्रामाणिक नहीं है ॥ ५ ॥

नैयायिकादिकोने सर्वज्ञ माना है अतः आप सर्वज्ञाभावका दोष उनको क्यो देते है ऐसीभी बुद्धिमानोको शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अतीन्द्रिय ज्ञानवाले सर्वज्ञको वे सन्निकर्षवादी सिद्ध

न हीन्द्रियादिविज्ञानं सूक्ष्माद्यर्थावभासकम् । तेषामनवभासेषु क्व सर्वज्ञ कुतः प्रमा ॥ ७
ततश्च ज्ञानमेवैतत्प्रमाणमभिधीयते । तत्र विप्रतिपन्ना ये न ते तत्त्वार्थदर्शिन ॥ ८
मतिज्ञानं श्रुतंज्ञानमवधिज्ञानमुत्तमम् । मनःपर्ययविज्ञानं कैवल्यमिति पचधा ॥ ९
भावान्तरगता भावि सम्यग्ज्ञानगता ह्यमी । सामान्येनावगन्तव्या विशेषेण पुनः परैः[3] ॥ १०

नहीं कर सकते है । इन्द्रियादिकोसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान सूक्ष्म, अन्तरित और दूरके पदार्थोको नहीं जानता है, और वे नहीं जाने गये तो सर्वज्ञ और उसका ज्ञान कैसे सिद्ध होगा ? ॥ ६–७ ॥

भावार्थ—अतः सन्निकर्षमे प्रमाणता नहीं है ज्ञानही प्रमाण है । इन्द्रियोमे और मनमे जो जाननेका सामर्थ्य आया है वह आत्माके ज्ञानगुणसे आया है। उसके साहाय्यसे आत्मा जानता है। सामर्थ्य होनेसेही पदार्थका स्वरूप आत्मासे जाना जाता है, वह सामर्थ्य यदि नही होता तो सन्निकर्षका होना व्यर्थ पड जाता । अत. योग्यताही साधकतम है, सन्निकर्प नही है । वह योग्यता प्रतिबधक-ज्ञानावरणादि-कर्मोका आवरण हट जानेसे उत्पन्न होती है, इसलिये योग्यता प्रतिबन्धकापायरूप है । योग्यता होनेसे स्वपरार्थावभासक नान होता है और वह नही होनेसे नहीं होता है । अत वह योग्यता साधकतम है । जैसी कुल्हाडी वृक्षको काटनेमे साधकतम है, उसके बिना वृक्ष नहीं काटा जाता। वैसी योग्यता होनेपर पदार्थज्ञान होता है। उसके विना वह उत्पन्न नही होता है । इसलिये ज्ञानको जैनाचार्योने प्रमाण माना है । ज्ञानके विपयमे जो मूढ है वे जीवादिकतत्वोको नहीं जानते है । यहातक ज्ञानकोही प्रमाण मानना चाहिये ऐसा विवेचन आचार्यने किया ॥ ८ ॥

[सम्यग्ज्ञानके भेद]—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ऐसे सम्यग्ज्ञानके पाच भेद कहे है। स्पष्टीकरण—सम्यग्ज्ञानमे सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नहीं रहते है। सशयमे अनेक कोटियोका अवलबन होता है, परतु कोईभी कोटि निश्चित नहीं रहती है। इसलिये वह ज्ञान प्रमाणरूप नहीं है। विपर्यय—कुछ सादृश्यसे एक वस्तुमे उससे भिन्न स्वरूप वस्तुका निर्णय होना, जैसे चादीमे चमकीलापन देखकर सीपके तुकडेमे चादीका भ्रम होनेसे उसे चादी कहना व जानना। अनध्यवसाय— यह कुछ है ऐसा ज्ञान होना यानी पदार्थकी विशेषता ज्ञात न होना । ऐसे तीन ज्ञानोको अप्रमाण ज्ञान कहते है । " प्रकर्षेण सशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्व येन तत्प्रमाणम् " सशयादिक जिसमे उत्पन्न नही होते है ऐसा वस्तुका जो यथार्थ निर्णय उसे सम्यग्ज्ञान कहते है । उपर्युक्त पाचही ज्ञान सशयादिकोसे रहित होते है ॥ ९ ॥

ये पाच भेदयुक्त ज्ञान अपने अपने विपयको जाननेवाले है। और भावी सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिभी इससे होती है, ये सम्यग्ज्ञानके पाचभेद सामान्यसे कहे है । विशेपसे पुन दुसरे अनेक भेद होते है ॥ १० ॥

१ आ. श्रुत २ आ भावा ३ आ. परे

मतिज्ञानं भवेत्पूतमिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवम् । षट्त्रिंशत्त्रिशतभेदं[1] भव्यसत्त्वसुखावहम् ॥ ११
अवग्रहेहावायानां धारणायाश्च भेदतः । मतिज्ञानमिदं दिव्यं चतुर्विधमुदीरितम् ॥ १२
सम्यग्ज्ञानार्थयोराद्यसङ्ग्रहोऽवग्रहो मतः । तत्तद्विशेषकाङ्क्षायामीहामीहाविदो विदुः ॥ १३
विशेषव्यवसायात्मा स त्ववायो निगद्यते । अर्थाविस्मृतिरूपं तु धारणाज्ञानमञ्जसा ॥ १४
बहुश्च बहुधा क्षिप्रश्चानुक्तोऽनिसृतो ध्रुवैः । सेतरैश्चापि भिन्नः सोऽवग्रहो द्वादशप्रमः ॥ १५

[मतिज्ञानके कारण और भेद]—मतिज्ञान पवित्र है वह इन्द्रियों और—मनसे उत्पन्न होता है। उसके तीनसौ छत्तीस भेद हैं और वह भव्य-प्राणियोंको सुखदायक है। क्योंकि उससे हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार होता है। नेत्रसे घटपटादिका ज्ञान होता है यह नेत्रमतिज्ञान है। स्पर्शनेन्द्रियसे जो पानी, अग्नि आदिका स्पर्श होनेसे ठंडा और उष्ण आदि ज्ञान होता है, उसे स्पर्श मतिज्ञान कहते हैं। इसतरह रसनेन्द्रियादिकसे मधुरतादिकोंका ज्ञान होता है। मनसेभी मतिज्ञान होता है॥ ११ ॥

[मतिज्ञानके चार भेद]— अवग्रह मतिज्ञान, ईहा मतिज्ञान, अवाय मतिज्ञान और धारणा मतिज्ञान ऐसे मतिज्ञानके चार भेद हैं। सम्यग्दर्शनके साथ उत्पन्न होनेसे इसे दिव्य कहते हैं॥१२॥

सम्यग्ज्ञान और पदार्थका जो पहिला संग्रह उसे अवग्रहमतिज्ञान कहते हैं। विषय घटादिक पदार्थ और विषयी—उनको ग्रहण करनेवाले स्पर्शनादिक इन्द्रिया इनका संयोग होनेपर जो प्रथमज्ञान होता है, उसको अवग्रह कहते है। यह अवग्रह दर्शनपूर्वक होता है। अर्थात् विषय और विषयीका संबंध होनेपर दर्शन—वस्तुका सामान्यावलोकन होता है जिसमें घट पट इत्यादि प्रकार प्रतिभासित नहीं होते है। केवल यह वस्तु है ऐसा प्रतिभास होता है उसको दर्शन कहते है। उसके अनन्तर जो प्रथम ग्रहण होता है वह पहिला अवग्रहज्ञान है। जैसे यह मनुष्य है ऐसा प्रथमज्ञान हुआ। इसके अनन्तर मनुष्यके विशेष जाननेकी इच्छा होनेपर ईहामतिज्ञान होता है, ऐसा ईहाका स्वरूप जाननेवाले आचार्य कहते है। जैसे यह मनुष्य दाक्षिणात्य है या उत्तरीय है अर्थात् दक्षिणदेशका है या उत्तरदेशका रहनेवाला है ऐसा संशय होनेपर उसके निरसनके लिये यह उत्तरदेशका होगा ऐसी भवितव्यताप्रतीति उत्पन्न होती है उसे ईहामतिज्ञान कहना चाहिये ॥ १३ ॥

ईहामें जिस विशेषका भवितव्यतारूपसे ज्ञान हुआ था उसका जो निश्चय होता है उसे अवाय कहते हैं। और अवायसे जाने हुए विषयका कालान्तरमेभी विस्मरण न होना ऐसा जो ज्ञान उसे परमार्थसे धारणामतिज्ञान कहते हैं। जैसे यह मनुष्य उत्तरदेशवासीही है ऐसा उसके वेषभूषाभाषादिकसे निर्णय होना अवायमतिज्ञान है। तदनन्तर उस उत्तरदेशवासी मनुष्यको कालान्तरसे देखनेपर पहले देखी, जानीहुई बातको न भूलना यह धारणा—मतिज्ञान है॥ १४ ॥

[अवग्रह मतिज्ञानके बारा भेद]— बहुअवग्रह, बहुविधावग्रह, क्षिप्रावग्रह, अनुक्तावग्रह, अनिसृतावग्रह, ध्रुवावग्रह ऐसे छह भेद और उसके विरुद्ध छह भेद होते है इसप्रकारसे एकाव-

१ आ त्रिशती २ आ. आद्य. ३ आ. स्वनुक्तो

बहूनां ग्रहणं यत्र समानां समधर्मिणाम् । प्रक्षयोपशमादेप वह्ववग्रह इष्यते ॥ १६
एकस्यैव पदार्थस्य बहूनां न कदाचन । ग्रहादवग्रहः प्राज्ञैरबहुः परिकीर्तितः ॥ १७
प्रकारैर्विविधैर्यत्र सदर्थग्रहणं भवेत् । असौ बहुविधो ज्ञेयोऽवग्रहो गेहवर्जितैः ॥ १८
एकेनैव प्रकारेण यत्रार्थावग्रहो भवेत् । एकप्रकारमाख्यान्ति मुनयस्तमवग्रहम् ॥ १९
ज्ञानावरणवीर्यस्य क्षयोपशमसभवात् । शीघ्रमर्थग्रहो यत्र स क्षिप्रावग्रहाभिधः ॥ २०
चिरकालेन यश्चार्थं गृह्णाति बहुदुःखतः । स चिरावग्रहोऽभाणि सुचिरन्तनपौरुषैः ॥ २१
उन्मीलत्पुद्गलद्रव्यं गृह्यतेऽसकलं यतः । अवग्रहं गृह्णातीता गृणन्ति तमनिःसृतम् ॥ २२
तद्विपक्षं क्षमावन्तो निःसृतावग्रहं विदुः । अभिप्रायवशाद्गृह्णन्ननुक्तः पुनरुच्यते ॥ २३
उक्तावग्रहमाख्याति यदुक्ते सत्यवग्रहः । प्रजायते पदार्थस्य कर्मणां प्रशमक्षयात् ॥ २४
कालान्तरे पदार्थस्य यथार्थग्रहणं ध्रुवम् । अध्रुवस्तु भवेत्सोऽयमयथार्थावभासनम् ॥ २५

ग्रह, एक प्रकारावग्रह, अक्षिप्रावग्रह, उक्तावग्रह, निःसृतावग्रह और अध्रुवावग्रह ऐसे छह भेद है। दोनो मिलकर अवग्रह-मतिज्ञानके बारह भेद होते है ॥ १५ ॥

[बहु अवग्रह और एकावग्रह]- समानधर्मवाले अनेक पदार्थोका ग्रहण जिसमे होता है वह बहुअवग्रह है। इसके विरुद्ध एकावग्रह है अर्थात् एकपदार्थकाही जो अवग्रह होता है अनेकोका कदापि नहीं होता है उसे एकावग्रह कहते है। विद्वान् लोग इसे अबहु अवग्रहभी कहते है। ॥ १६-१७ ॥

[बहु विधावग्रह और एकविधावग्रह]- अनेक प्रकारोके, अनेक धर्मोके, अनेक पदार्थोका अनेक प्रकारोसे जहा अवग्रह होता है उसे गृहत्यागीमुनि बहुविधावग्रह कहते है। जहा एकप्रकारके अनेक पदार्थोका अवग्रहज्ञान होता है उसे मुनि एकप्रकारावग्रह कहते है ॥ १८-१९ ॥

[क्षिप्रावग्रह और अक्षिप्रावग्रह]- अवग्रहमतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेसे पदार्थको शीघ्र जानना क्षिप्रावग्रह है, और चिरकालसे बहुत कष्टसे जो पदार्थोका अवग्रहज्ञान होता है उसे अक्षिप्रावग्रह कहते हैं। ऐसा पुरातन पुरुषोने-गणधरादि देवोने कहा है ॥ २०-२१ ॥

[अनिःसृतावग्रह और निःसृतावग्रह]-पानी आदिकमेंसे ऊपर आया हुवा असकल पुद्गल देखकर सपूर्ण पदार्थका ज्ञान होना अनिःसृतावग्रह है। अर्थात् एक वस्तुका कुछ अश देखकर इतर अशोसहित सपूर्ण पदार्थका ज्ञान होना अनिःसृतावग्रह है ऐसे गृहत्यागी मुनि कहते है। इसके

१ आ. समानासम. २ आ. सोऽय ३ आ. पूरुषैः ४ आ. भावस्य ५ आ. नात्

ईहादयोऽपि विज्ञेया बह्वादिक्रमभेदतः । प्रत्येकं द्वादश प्राज्ञैस्त्रयस्त्रुटितकल्मषैः ॥ २६
प्रत्येक द्वादशाप्येते करणैर्मनसा हताः । सप्ततिद्वर्यधिका तेषामेकैकं प्रति जायते ॥ २७
अष्टाशीत्यधिकं तावच्छतद्वयमुदीरितम् । तन्मतिज्ञानमर्थस्यावग्रहादिविशेषितम् ॥ २८

विरुद्ध अवग्रहको क्षमावान्मुनि नि.सृतावग्रह कहते है । अभिप्रायसे जानना वह अनुक्तावग्रह कहा जाता है ॥ २२–२३ ॥

[उक्तावग्रह, ध्रुवाग्रह और अध्रुवावग्रहोका वर्णन] — शब्दद्वारा कहनेपर जो पदार्थका प्रथम ज्ञान होता है उसे उक्तावग्रह कहते है । पदार्थका यथार्थ अवभासन न होना अर्थात् कम जादा अवभास होना अध्रुवावग्रह है। भावार्थ-बहु बहुविधादिक अवग्रह मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम अधिक होता है तब होते है, और मंद क्षयोपशम होनेसे एकावग्रह, एकविधावग्रह, अक्षिप्रावग्रह, आदि अवग्रह होते है। ध्रुवावग्रह और धारणामे क्या अन्तर है ? क्षयोपशमकी प्राप्तिके समयमे परिणामोकी निर्मलता सतत होनेसे प्राप्त हुए क्षयोपशमसे पहिले समयमे जैसा अवग्रह हुआ है वैसाही बार बार द्वितीयादिसमयोमे होता रहता है। वह न्यून नहीं होता है और अधिकभी नहीं होता है। ऐसे अवग्रहको ध्रुवावग्रह कहते है। और जब विशुद्ध परिणाम और सक्लेश परिणामोका मिश्रण होता है तब जो मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है उससे उत्पन्न हुआ अवग्रह कभी बहुत पदार्थोका होता है तो कभी अल्पोंका होता है। कभी कभी बहुविधोका और कभी एकविधका होता है। ऐसा न्यूनाधिकभाव होनेसे अध्रुवावग्रह होता है। तथा धारणासे जाना गया पदार्थ कालान्तरमे भी विस्मृत नहीं होता है उसकी याद रहती है उस अविस्मृतिके कारणज्ञानको धारणा कहते है। ऐसे अवग्रहके भेदोका वर्णन किया है ॥ २४–२५ ॥

[ईहादिकोका बह्वादिक्रमसे भेद प्रतिपादन]–जिनका पाप नष्ट हुआ है ऐसे विद्वानोके द्वारा ईहा, अवाय और धारणाके बारह बारह भेद जानने योग्य है। बहुईहा, बहुविधईहा, क्षिप्रेहा, अक्षिप्रेहा इत्यादिरूपसे बारह भेद होते है। बहुअवाय, बहुविधावाय, क्षिप्रावाय इत्यादि बारह भेद अवायके होते है। तथा धारणाके बहुधारणा, बहुविधधारणा, क्षिप्रधारणा, अक्षिप्रधारणा आदि धारणाकेभी बारह भेद होते हैं। स्पर्शनादिक पाच इंद्रियाँ और मन इनसे गुणित करनेपर अवग्रहादिकोके बहत्तर बहत्तर भेद होते है। स्पर्शनावग्रहके बारह भेदके समान रसनेन्द्रियावग्रहके बारह भेद होते है। घ्राणावग्रह, चक्षुरिन्द्रियावग्रह, और कर्णावग्रहकेभी बारह बारह भेद मिलकर साठ भेद इन्द्रियावग्रहोके होते है। इनमे मनोवग्रहके बारह भेद मिलानेसे अवग्रहोके बहत्तर भेद होते है। ईहाके, अवायके और धारणाकेभी पाच इंद्रियाँ और मनसे गुणित करनेपर बहत्तर प्रकारकी ईहा, बहत्तर प्रकारका अवाय और बहत्तर प्रकारकी धारणा होती है। सब मिलकर दोसौ अठ्यासी भेद मतिज्ञानके अवग्रहादि विशेषोसे होते है ऐसा जिनेश्वरने कहा है॥ २६–२७–२८ ॥

व्यञ्जनं व्यञ्जितं प्राज्ञैरव्यक्त शब्दसम्भवम् । तस्यावग्रह एवास्ति न परे त्वविशेषतः ॥ २९
चक्षुर्मनो विना तावदिन्द्रियैर्गुणितश्च सन् । स द्वादशविकल्पोऽपि बह्वादिभिरितीरितः ॥ ३०
अष्टाधिका भवेत्तावच्चत्वारिंशत्समासतः[1] । व्यञ्जनावग्रहस्येति षट्त्रिंशत्त्रिशताधिकम् ॥ ३१
मतिज्ञानस्य ये भेदा गदिता भेदकोविदैः । ते सर्वे भव्यजीवस्य जायन्ते नापरस्य च ॥ ३२
अर्थव्यञ्जनभेदेन सत्पदार्थावबोधकम् । इन्द्रियानिन्द्रियोत्पन्न तन्मतिज्ञानमीरितम् ॥ ३३
ऋद्धिबुद्धिप्रवृद्ध च प्रवृद्धजनपूजितम् । क्वचिदासन्नभव्यस्य[2] स्यात्तदावरणक्षयात् ॥ ३४
सा कोष्ठबीजसंभिन्नश्रोतृपादानुसारिणी । ऋद्धिबुद्धिर्भवेत्तस्य सद्वृद्धेः कारणं परा ॥ ३५

जिनको अठारह प्रकारकी बुद्धि-ऋद्धि प्राप्त हुई है, ऐसे गणधरदेवोने अव्यक्त शब्दादिकोसे उत्पन्न हुआ जो अव्यक्त अवग्रहज्ञान उसको व्यञ्जनावग्रह कहा है। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और कर्णेन्द्रियसे जो अस्पष्टावग्रह होता है वह बह्वादिक पदार्थोकी अपेक्षासे बारह बारह प्रकारका होता है। अत. उपर्युक्त चार इन्द्रियोसे अस्पष्ट अवग्रहके अडतालीस भेद होते है। दोसौ अठासी भेदोमे ये व्यजनावग्रहके अडतालीस भेद मिलानेपर तीनसौ छत्तीस भेद होते है।

भावार्थ—जैसे मट्टीके नये घडेपर पानीके दो तीन बिंदु डालनेपर वह घडा गीला नही होता है, पुनः पुनः सिंचित करनेपर गीला हो जाता है। इस प्रकार कान, नाक, स्पर्शन और जिह्वा ऐसे चार इन्द्रियोसे शब्दादि-परिणत पुद्गल दो तीन आदि समयोमे जब ग्रहण किये जाते है तब व्यक्त नहीं होते है। पुन: पुन: अवग्रह होनेपर वे व्यक्त होते है। इसलिए व्यक्तग्रहणके पूर्वमे व्यजनावग्रह है और व्यक्तग्रहण होनेपर अर्थावग्रह है। अव्यक्तग्रहण होनेपर उसके ईहा, अवाय और धारणा नहीं होते है। यह व्यजनावग्रह चक्षु और मनको छोडकर शेष चार इन्द्रियोद्वारा होता है ॥२९-३०-३१

भेद जाननेवालोने मतिज्ञानके जो भेद कहे है वे सब भव्य जीवको सम्यग्दृष्टिको होते है मिथ्यादृष्टिको नहीं होते है। अर्थावग्रह, व्यजनावग्रह आदि भेदोसे युक्त और जीवाजीवादि पदार्थोका ज्ञान करानेवाली इन्द्रिया और मनसे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान वह मतिज्ञान है ऐसा मुनीश्वरोने कहा है ॥ ३२–३३ ॥ अबुद्धि–मतिज्ञानका वर्णन समाप्त।

[बुद्धिऋद्धिरूपमतिज्ञानका वर्णन]– कभी कभी आसन्न भव्यजीवको बुद्धिऋद्धि प्राप्त होनेसे वृद्धिगत हुआ और वृद्ध-ज्ञानी मुनीश्वरोके द्वारा पूजा गया ऐसा मतिज्ञान प्राप्त होता है। वह उसके आवरणके तीव्र क्षयोपशमसे प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

यह ऋद्धियुक्तबुद्धि कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, संभिन्नश्रोतृबुद्धि और पादानुसारिणीबुद्धि इस-प्रकार चार प्रकारकी है। यह किसी आसन्न भव्यको होती है। यह उत्तम वृद्धिका उत्तम कारण है ॥३४–३५॥

१ आ. प्रमाणतः २ आ. भव्ये

यस्यामवगतानेकग्रन्थार्थानामवस्थितिः । अविनष्टाप्रकीर्णानां कोष्ठे संभृतधान्यवत् ॥ ३६
कोष्ठबुद्धिर्मताशेषविशेषार्थावभासिनी । बीजबुद्धिः पुनर्ज्ञेया विविधागमपारगैः ॥ ३७
भव्यक्षेत्रे यथा बीजमुप्तं कालादियोगतः । अनेकधा भवेद्वृद्धसमृद्धिसम्पादकं नृणाम् ॥ ३८
तथैकबीजभूतार्थसंग्रहादर्थदर्शिनी । अनेकधा मता सेयं[1] बीजबुद्धिर्महात्मनाम् ॥ ३९
एकस्यापि पदस्यादावन्ते ग्रन्थस्य बोधतः । यस्यां ग्रन्थाववोधोऽसौ बुद्धिः पादानुसारिणी ॥ ४०
यत्सामान्यविशेषात्माभेदो भवति चानयोः । अत एवेदमत्युद्ध बुद्धिद्वयमुदाहृतम् ॥ ४१
द्वादशयोजनायामचक्रवर्तिचमूध्वनिम् । मनुष्यकरभादीनां संकरादिकैर्वर्जितम्[2] ॥ ४२
यस्यां शृणोति भव्यात्मा निर्मलीकृतमानसः । संभिन्नश्रोतृबुद्धि. सा गीता गानविचक्षणैः ॥ ४३

[कोष्ठबुद्धिऋद्धिका वर्णन]– जैसे भांडागारमे अर्थात् धान्यागारमे गेहूँ, उडद आदि अनेक प्रकारका धान्य नष्ट नहीं हो और आपसमे मिश्र न हो ऐसा अलग अलग स्थापन किया जाता है वैसे जो ऋद्धि प्राप्त होनेपर जाने गये अनेक ग्रथोका अवस्थान, अविनाश और अमिश्रतारूपसे होता है ऐसी बुद्धिऋद्धिको कोष्ठबुद्धि कहते है । तात्पर्य यह है, कि अनेक ग्रथोका ज्ञान और उनके प्रकरण जो जैसे है वैसे कोष्ठबुद्धिवाले मुनियोके हृदयमे रहते है । कुछ ज्ञान उन ग्रथोका नष्ट होना अथवा कुछ किसी विषयमे मिल जाना इत्यादि दोष उनमे नहीं रहते है । यह कोष्ठबुद्धि सपूर्ण विशेष अर्थोको प्रकाशित करनेवाली होती है ॥३६–३७॥

[बीजबुद्धिऋद्धिका वर्णन]– जैसे उत्तम खेतमे बोया हुआ बीज वर्षाकालादिकके सयोगसे अनेक प्रकारसे वृद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् उससे खूब धान्यवृद्धि होती है, एक बीजसे हजारो धान्यके दाने प्राप्त होते है, वैसे एक बीजाक्षरसे उत्पन्न हुआ जो अर्थसग्रह उससे अनेक प्रकारके अर्थ यह बीजऋद्धि महात्माओको दिखाती है। इसप्रकार इसका स्वरूप है ॥३८–३९॥

[पादानुसारिणीऋद्धिका स्वरूप]– ग्रथके प्रारभमे एक पद अथवा ग्रथके अन्तमे एक पदका ज्ञान होनेपर सपूर्ण ग्रथका ज्ञान ऋद्धिधारक मुनीश्वरको जिससे होता है वह पादानुसारी बुद्धिऋद्धि है ॥४०॥ इस ऋद्धिके सामान्य और विशेष अर्थका प्रतिपादन होता है। अतः इस ऋद्धिको सामान्य पदानुसारिणी और विशेष पदानुसारिणी कहते है । ये दो अतिशय उत्तम बुद्धिऋद्धिया है ऐसा मुनीश्वरोने कहा है ॥ ४१ ॥

[सभिन्नश्रोतृबुद्धिका वर्णन]– बारा योजन दूरतक चक्रवर्तिका सैन्य रहता है और उसमें मनुष्य, हाथी, घोडे, ऊट, बैल आदिकोके शब्द होते रहते है । जिसका अन्त करण निर्मल है ऐसा भव्यात्मा उन शब्दोको सकरादिदोष–रहित अलग अलग जिस ऋद्धिकी प्राप्ति होनेसे सुनता है उसे चतुरोने सभिन्नश्रोतृबुद्धि नामकी ऋद्धि कहा है । ४२–४३॥

१ आ. सैषा २ आ. विवर्जितम्

यत्किञ्चिज्ज्ञातमज्ञातं बुद्धिशास्त्रानुसारतः । तन्मयोक्तमहं वन्दे मतिज्ञानस्य लब्धये ॥ ४४
तत्पूर्वं च श्रुतज्ञानमनेकद्वादशप्रभम् । श्रुतावरणवीर्यस्य क्षयोपशमतो भवेत् ॥ ४५
अङ्गाङ्गबाह्यभेदेन द्विविधं तदुदीरितम् । अक्षरानक्षरत्वेन पुनर्द्वेधोपलभ्यते ॥ ४६
अङ्गबाह्यमनेकं च दशवैकालिकादिकम् । अङ्गं द्वादशधा प्रोक्तं श्रुतज्ञानज्ञकोविदैः ॥ ४७
आचाराङ्गं सूत्रकृतं स्थानाङ्ग समवायतः । व्याख्याप्रज्ञप्तिरित्येवं ज्ञातृधर्मकथा तथा ॥ ४८
उपासकाद्यध्ययन अन्तकृद्दशमुत्तमम् । अनुत्तरदशं चेति प्रश्नव्याकरण पुन ॥ ४९
पूतं विपाकसूत्रं तु दृष्टिवादश्च पञ्चधा । अङ्गं द्वादशधा चैतच्छ्रुतज्ञान हि नामत ॥ ५०
परिकर्म च सूत्रं तु प्रथमाद्यनुयोगत । पूर्वकृतं चूलिका च दृष्टिवादस्तु पचधा ॥ ५१
पूर्वगतं हि विज्ञेयं चतुर्दशविध बुधै. । चतुर्दशगुणस्थानप्रापक प्रगुणात्मनाम् ॥ ५२
उत्पादपूर्वसन्नाम परमग्रायणीयकम् । तृतीय वीर्यवादं च चतुर्थं ह्यस्तिनास्तिकम् ॥ ५३
सम्यग्ज्ञानप्रवादं च पञ्चमं पञ्चमप्रदम् । षष्ठं सत्यप्रवादं स्यात्सत्यसौख्यविधायकम् ॥ ५४
पूर्वमात्मप्रवाद च सप्तमं चाष्टमं पुन । कर्मप्रवादपूर्वं तत्प्रत्याख्यानं तत. परम् ॥ ५५
विद्यानुवाद दशम पर कल्याणनामकम् । प्राणावाय प्रभापूत ख्यात द्वादशसंख्यया ॥ ५६

बुद्धि और शास्त्रके अनुसरणसे मैने जो कुछ ज्ञात, अज्ञात पदार्थोंको जाना है वह मैने कहा है । मतिज्ञानकी प्राप्तिके लिये मै मतिज्ञानको वदन करता हू ॥४४॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है । उसके दशवैकालिक, उत्तराध्ययनादि अनेक भेद और आचाराङ्गादि बारह भेद है । यह श्रुतज्ञान श्रुतावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है । यह श्रुतज्ञान अग व अगबाह्य नामसे दो प्रकारका है । पुन. अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत ऐसे भी दो प्रकार इसके है । ऐसा श्रुतज्ञान जाननेवाले विद्वान कहते है ॥४५--४६॥

[अगज्ञानके बारा भेद]—आचाराग, सूत्रकृत, स्थानाग, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरदश, प्रश्नव्याकरण, पवित्र विपाकसूत्र, और दृष्टिवाद ऐसे अगज्ञानके बारह भेद है । दृष्टिवादके पाच भेद है । पूर्व, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग और चूलिका। पूर्वगत श्रुतज्ञानके उत्पादपूर्व अग्रायणीयादिक चौदा भेद है। ये चौदा भेद गुणवानोके चौदह गुणस्थानोकी प्रसिद्धि करनेवाले है ॥४७—५२ ॥

[चौदह पूर्वोके नाम] — पहिला उत्पादपूर्व, दूसरा अग्रायणीय, तीसरा वीर्यानुवाद, चौथा अस्तिनास्तिवाद, सम्यग्ज्ञानप्रवाद पाचवा पूर्व है, यह पचमगति देनेवाला है। छट्ठा सत्यप्रवाद सत्यसुख—मुक्तिसुख उत्पन्न करनेवाला है । सातवे पूर्वका नाम आत्मप्रवाद, कर्मप्रवादपूर्व आठवा है। नौवा प्रत्याख्यानपूर्व और दसवा विद्यानुवादपूर्व, ग्यारहवा कल्याणनामक पूर्व है। प्रभासे पवित्र प्राणा-

---

१ आ. ज्ञान स्वलब्धये २ आ. ह्यनेक ३ लातल्ये. ४ आ स्थान च

क्रियाविशालमत्युद्‍घ त्रयोदशकमुत्तमम् । लोकाग्रविन्दुसारं[1] च चतुर्दशकमञ्जसा ॥ ५७
जलस्थलगता मायागता रूपगता तथा । आकाशादिगता चेति चूलिका पञ्चधा स्मृता ॥ ५८
चन्द्रादित्यनदीद्वीपव्याख्याप्रज्ञप्तिरुज्ज्वला । जम्बूद्वीपादि-प्रज्ञप्तिः परिकर्मापि पञ्चधा ॥ ५९
अष्टादशसहस्रा[2] च पदसंख्या विराजते । यत्याचरणरूपस्य तदाचाराङ्गमिष्यते ॥ ६०
ज्ञानादिविनयादीनां क्रियाणां यत्प्ररूपकम् । पदानां च सहस्राणि षट्त्रिंशत्सूत्रकृन्मतम् ॥ ६१
एकाद्येकोत्तरस्थानं जीवादीनां प्ररूपकम् । स्थानं पदसहस्राणि चत्वारिंशद्‍द्विरुत्तरा ॥ ६२

वायपूर्व वारहवा है । अत्युत्तम क्रियाविशालपूर्व तेरहवा है और परमार्थरूप चौदहवा पूर्व लोकाग्रविन्दु-सार नामका है ॥ ५३–५७ ॥

[पच चूलिकाओके नाम]– दृष्टिवादका चूलिका नामकभेद है । इसके पाच भेद हैं। उनके नाम १ जलगता, २ स्थलगता, ३ मायागता, ४ रूपगता और ५ आकाशगता ॥ ५८ ॥

[परिकर्मके भेद] -- चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, नदीद्वीपसागरप्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति और पाचवी जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ऐसे परिकर्मके पाच भेद है ॥ ५९ ॥

[आचारादिकअङ्गोकी पदसख्या]– मुनियोके आचरणोंका प्रतिपादन करनेवाले आचाराङ्गकी सख्या अठारह हजार है। भावार्थ – इस अगमे किसप्रकार आचरण करना चाहिये ? किस तरह खडा होना चाहिये ? कैसे बैठना चाहिये ? किस प्रकारसे सोना चाहिये ? किस तरह भाषण करना चाहिये ? किस तरह भोजन करना चाहिये ? किस तरह पापका वध होता है ? इत्यादि प्रश्नोके उत्तर—यत्नपूर्वक आचरण करे, यत्नपूर्वक खडा हो, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक शयन करे, यत्नपूर्वक भाषण करे, यत्नपूर्वक भोजन करे । इस तरहके आचरणसे पापबध नहीं होता है। इत्यादि प्रश्नोत्तररूप विवेचन आचारागमे है ॥ ६० ॥

सूत्रकृतागकी पदसख्या छत्तीस हजार प्रमाण है । इसमे ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र-विनय और उपचारविनय ऐसे विनयोका तथा ज्ञानविनय आदि निर्विघ्न अध्ययनका अथवा प्रज्ञापना, कल्पाकल्प, छेदोपस्थापना आदि व्यवहारधर्मोका तथा स्वसमय और परसमयोका स्वरूप सूत्रोद्वारा बताया है ॥ ६१ ॥

स्थानागमे बियालीस हजार पदोकी सख्या है। इस अगमे सपूर्ण द्रव्योके एकसे लेकर अनेक विकल्पोका प्रतिपादन किया है। जैसे सामान्यकी अपेक्षासे जीव–द्रव्यका एकही विकल्प–स्थान होता है। ससारी और मुक्तकी अपेक्षासे जीवके दो भेद है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी अपे-क्षासे तीन भेद हैं, चार गतियोकी अपेक्षासे चार भेद है, इत्यादि वर्णन जीवका है। वैसेही पुद्गलकाभी

१ आ तु २ आ. सहस्रैश्च

धर्माधर्मैकजीवानां द्रव्यतो गगनस्य च । जम्बूद्वीपादिभावानां कालचक्रस्य सूचकम् ॥ ६३
समवायाभिधं पूतं क्षायिकादिनिरूपणात् । चतुःषष्टिसहस्रैकलक्षसंख्यापदप्रमम् ॥ ६४
प्रश्नानां हि सहस्राणि षष्टिर्या गणनायकैः । जीवः किमस्ति नास्तीति तीर्थेशापुरतः कृता ॥ ६५
अष्टाविंशतिसहस्रैर्लक्षद्वयपदप्रमा । व्याख्याप्रज्ञप्तिरित्येवं कथिता जिननायकैः ॥ ६६
षट्पञ्चाशत्सहस्राणि पञ्चलक्षपदप्रमा । कथा तीर्थकृदादीनां ज्ञातृधर्मकथाऽकथि ॥ ६७
सप्ततिश्च सहस्राणां लक्षैकादशशोभनम् । श्रावकाध्ययनं नाम श्रावकाचारसूचकम् ॥ ६८
प्रतितीर्थं यतीनां च संसारान्तकृतां सताम् । घोरोपसर्गयुक्तानां दशानां प्रतिपादकम् ॥ ६९
त्रयोविंशतिलक्षाणि सहस्रास्त्वष्टविंशतिः । अन्तकृद्दशमाख्यातं पदानि पदकोविदैः ॥ ७०

एक, दो, तीन आदि विकल्पोके आश्रयसे वर्णन किया है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन द्रव्योकाभी एकादि विकल्पोंसे वर्णन किया है ॥ ६२ ॥

चौथे समवायाङ्गकी पदसख्या एक लाख चौसठ हजार है। इसमे द्रव्योके सादृश्यका वर्णन द्रव्य, क्षेत्रादिकी अपेक्षासे है। जैसे धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, जीव और लोकाकाश इनकी प्रदेश-संख्या असख्यात होनेसे प्रदेशसाम्य है। जबूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि विमान और सप्तमनरकके बिल एक लक्ष योजन प्रमाण है। क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक केवलज्ञान आदि अन्योन्य समान है। उत्सर्पिणी कालके समान अवसर्पिणी काल दश कोडाकोडी सागर प्रमाण है। इत्यादि वर्णन पवित्र समवायागमे है ॥६३-६४॥

व्याख्याप्रज्ञप्ति अगमे पदसंख्या दो लाख अठाईस हजार है। इस अगमे जीव है? अथवा नहीं? वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य है? नित्य है या अनित्य है, एक है या अनेक है इत्यादि साठ हजार प्रश्न गणधरोने किये और तीर्थकरोने उनके उत्तर दिये। ऐसा इस अगका जिन-नायकोने वणन किया है ॥ ६५–६६ ॥

ज्ञातृधर्म-कथामे पाच लक्ष छप्पन हजार पद सख्या है। इस अगमे जीवादि वस्तुओका स्वभाव, तीर्थकरोका माहात्म्य, तीर्थकरोकी दिव्यध्वनिका समय तथा माहात्म्य, उत्तम क्षमादि दशधर्म, तथा रत्नत्रयधर्मका स्वरूप बताया है। तथा तीर्थकर, गणधर, इन्द्र आदिकी कथा उपकथाओका वर्णन है ॥ ६७ ॥

श्रावकाध्ययन नामक सातवे अंगकी सुंदरपद-सख्या ग्यारह लाख सत्तर हजार है। इसमे श्रावकाचारका वर्णन है अर्थात् श्रावकोके सम्यग्दर्शनादिक ग्यारह प्रतिमासबधी व्रत, गुण, शील, आचार, तथा दूसरे क्रियाकाण्ड और उनके मत्रादिकोका सविस्तर वर्णन है ॥ ६८ ॥

अन्तकृद्दशागमे तेईस लाख अठ्ठाईस हजार पदसख्या है। इसमे प्रत्येक तीर्थकरके समयमे जो दश दश मुनि चार प्रकारके घोरोपसर्ग सहन कर ससारके अन्तको प्राप्त हुए उनका वर्णन है ॥ ६९–७० ॥

तीर्थं प्रति मुनीनां च जितघोरोपसर्गिणाम् । अनुत्तरोपपादानां दशानां हि प्ररूपकम् ॥ ७१
चत्वारिंशच्च चत्वार. सहस्रा नवतिस्तथा । लक्षाणां द्व्यधिका चैतदनुत्तरदशं मतम् ॥ ७२
नष्टमुष्ट्यादिकादीनां प्रश्नानां परतो भुवाम् । सर्वेषां हि तदर्थानां सूचकं शुचिवर्तिनाम्[1] ॥ ७३
लक्षाणां नवतिस्त्रीणि सहस्राश्चापि षोडश । पदानां पूतवृत्तीनां प्रश्नव्याकरणं स्मृतम् ॥ ७४
सुकृतानां दुष्कृतानां कर्मणां पाकसूचकम् । सर्वं विपाकसूत्रं तु कथितं तथ्यवेदिभिः ॥ ७५
कोट्येकपदसख्यं तदशीतिश्चतुरुत्तरा । लक्षाणां च मतं मान्यैर्मथिताशेषकल्मषैः ॥ ७६
कोटीचतुष्टयं तावल्लक्षा' पंचदशाधिका. । द्विसहस्रैः पदानां च सख्या चैकादशाङ्गिका ॥ ७७
द्वादशाङ्गस्य भेदा ये प्रोक्ताः पञ्च विधानत । परिकर्मादयस्तेषां पदसङ्ख्या निगद्यते ॥ ७८
सहस्रै पञ्चभि साकं लक्षा. षट्त्रिंशदायता. । चन्द्रप्रज्ञप्तिरुद्गीता चन्द्रायुर्गतिसूचिका ॥ ७९

अनुत्तरौपपादिक दशांगमे प्रत्येक तीर्थंकरके समयमे चार प्रकारके देव, मनुष्य, पशु और अचेतनकृत दारुण उपसर्ग सहन कर दश दश मुनि अन्त समयमे समाधिके द्वारा अपने प्राणोका त्याग कर विजय आदि पाच अनुत्तर विमानोमे उत्पन्न हुए उनका सविस्तर वर्णन है । इस अंगकी पदसख्या बानवे लाख चवालीस हजार है ॥ ७१–७२ ॥

प्रश्नव्याकरण नामक दसवे अगमे नष्ट-मुष्टयादिकके पवित्र प्रश्न और उनके सर्व अर्थोका कथन है । इसमे पवित्र पदसख्या तिरानवे लक्ष सोलह हजार है । दूतवाक्य, नष्ट, मुष्ट, चिन्ता आदि अनेक प्रकारके प्रश्नोके अनुसार तीन कालसबधी धनधान्यादिका लाभालाभ, सुख-दुःख, जीवनमरण, जय-पराजय आदि फलोका वर्णन है । और प्रश्नोके अनुसार आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेजनी इन चार कथाओका वर्णन है ॥ ७३–७४ ॥

विपाकसूत्र नामक ग्यारहवे अगमे सत्यस्वरूप जाननेवालोने पुण्य और पापोके फलोका वर्णन किया है अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार शुभाशुभ कर्मोकी तीव्र मद, मध्य आदि अनेक प्रकारकी अनुभागशक्तिके फलदानरूप विपाकका वर्णन है । इस अगकी पदसख्या एक कोटि चौरासी लाख की है ऐसा सपूर्ण पापोका नाश करनेवाले मुनियोने कहा है । पूर्वोक्त ग्यारह अगोकी पदसख्या चार कोटि पद्रह लक्ष दो हजार की है ॥ ७५–७७ ॥

[परिकर्मादिकोकी पदसख्या] – द्वादशाङ्गके अर्थात् बारहवे दृष्टिवाद नामक अङ्गके जो आगमके अनुसार परिकर्मादिक पाच भेद कहे है उनकी पदसख्या अब हम कहते है ॥ ७८ ॥

चन्द्रप्रज्ञप्तिकी पदसख्या छत्तीस लक्ष पांच हजार है और इसमे चन्द्रकी आयु और गतिका वर्णन है अर्थात् चन्द्रमासबधी विमान, आयु, परिवार, ऋद्धि, गमन, हानि, वृद्धि, पूर्णग्रहण, अर्द्धग्रहण, चतुर्थांश ग्रहण आदिका वर्णन है ॥ ७९ ॥

---

१ आ. शौचवर्तिनाम्

त्रिसहस्रपञ्चलक्षा. पदानां परिमाणता । प्रज्ञप्तिः सूर्यपूर्वेय तद्भवादिप्ररूपिका ॥ ८०
पदानां त्रीणि लक्षाणि सहस्रा. पञ्चविंशति. । जम्बूद्वीपस्य प्रज्ञप्तिस्तद्गतार्थप्ररूपिका ॥ ८१
सहस्राणां च षट्त्रिंशद्विपञ्चाशच्च लक्षका. । द्वीपसागरप्रज्ञप्तिस्तत्स्वरूपप्रकाशिका ॥ ८२
जीवाजीवादिभावानां रूपित्वारूपसूचिका । व्याख्याप्रज्ञप्तिरित्येव जायते पदसङ्ख्यया ॥ ८३
लक्षाणां सदशीतिः स्याच्चतुर्भिरधिका पुन । षट्त्रिंशच्च सहस्राश्च विचित्रक्रमसंयुता ॥ ८४
जीवस्य कर्मनोकर्मकर्तृत्वादिप्ररूपकम् । सर्वगत्वानुमातृत्वप्रभृतीनां निवेदकम् ॥ ८५
सर्वाश्चर्यकर वीर्यधुर्यविद्याप्ररूपकम् । पदान्यष्टाधिकाशीतिर्लक्षाणां सूत्रमक्षयम् ॥ ८६
त्रिषष्टिपुरुषाणां य प्रबन्ध' प्रवणो महान् । प्रथमानुयोग. पञ्चसहस्रैर्भणित. पदै. ॥ ८७
नवति' पञ्चभि सार्ध कोटीनां हि तथा पुन । पञ्चाशल्लक्षपञ्चैव पदानि परिमाणत. ॥ ८८
ध्रौव्योत्पादव्ययनेकधर्मार्थानां प्रकाशकम् । श्रुतं पूर्वगतं गीतं श्रुतशास्त्रविचक्षणै ॥ ८९

सूर्यप्रज्ञप्तिमे पदसख्या पाच लक्ष और तीन हजार है । इसमे सूर्यसबधी भव, आयु, परिवार, गति, ग्रहण आदिका वर्णन है ॥ ८० ॥

जबूद्वीप प्रज्ञप्तिकी पदसख्या तीन लाख पचीस हजार है । इसमे जबूद्वीपके मेरु, कुलाचल, हृद, क्षेत्र, कुड, वेदिका, वन, व्यन्तरोके निवासस्थान, महानदी आदिका वर्णन है ॥ ८१ ॥

द्वीपसागर—प्रज्ञप्तिकी पदसख्या बावन लाख छत्तीस हजार है । इसमे असख्यात द्वीप और समुद्रोका तथा वहाके अकृत्रिम चैत्यालयोका वर्णन है ॥ ८२ ॥

व्याख्याप्रज्ञप्तिमे जीव अजीवादिकोके भावोका वर्णन है । रूपित्व, अरूपित्वसे युक्त जीव अजीव द्रव्योका वर्णन है । अनतरसिद्ध तथा परम्परासिद्धोका तथा दूसरी वस्तुओका भी वर्णन है । इसकी पदसख्या चौरासी लाख छत्तीस हजार है ॥ ८३--८४ ॥

दृष्टिवादके सूत्रनामक भेदमे जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मोका तथा नोकर्मका भी कर्ता है इत्यादिक निरूपण है । तथा यह सूत्र आत्मा ज्ञानसे सर्व पदार्थोको जाननेसे व्यापक है, वह अतीन्द्रिय पदार्थोको अनुमानसे छद्मस्थावस्थामे जानता है इत्यादि निरूपण करता है । और सब जीवोको आश्चर्यचकित करनेवाला सामर्थ्य और श्रेष्ठ विद्याओका निरूपण इसमे है । इसकी पदसख्या अठ्यासी लक्ष प्रमाण है ॥ ८५--८६ ॥

प्रथमानुयोगमे चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलिभद्र ऐसे त्रेसष्ट महापुरुषोके महान् चरितोका वर्णन किया है । इसकी पाच हजार पदसख्या है ॥ ८७ ॥

उत्पादादि चौदह पूर्वोकी पदसख्याका प्रमाण पचानवे कोटी पचास लक्ष और पाच है । उत्पाद, ध्रौव्य, व्यय इत्याद्यनेक धर्मयुक्त पदार्थोका प्रकाशक यह पूर्वज्ञान है ऐसा श्रुत—शास्त्रमे निपुण आचार्योने कहा है ॥ ८८—८९ ॥

१ आ. प्ररूपिका २ आ निषेधकम् ३ आ. वर्य

या पूर्वं पञ्चधा प्रोक्ता चूलिका भेदकोविदैः। तद्भेदान्स्फुटभेदेन निगदामि यथाक्रमम् ॥ ९०
कोटिद्वयं तथा लक्षा नवैकान्नवतिस्तथा। सहस्राणां शतं द्वन्द्व पदानि परिकीर्तिता ॥ ९१
जलस्तम्भनहेतूनां मन्त्रादीनां प्रकाशिका। जलपूर्वगता चेय चूलिका गदिता जिनै. ॥ ९२
एतान्येव पदान्युक्ता चूलिकास्थलसांगमे। भूगता कारणानेकमन्त्रतन्त्रादिसूचिका ॥ ९३
इन्द्रजालाद्यनेकार्थक्रियाकाण्डप्ररूपिका। एतत्पदप्रमाणैव मायादिर्गदिता सताम् ॥ ९४
व्याघ्रसिंहादिसद्रूपमन्त्रतन्त्रप्रकाशिका। इयन्त्येव पदान्युक्ता सुरूपा गदिता जिनै. ॥ ९५
आकाशगतिसद्धेतुमन्त्रतन्त्रावबोधिका। आकाशादिगता ज्ञेया पूर्वसङख्यापदप्रमा ॥ ९६
पूर्वेषु हि गतं पूतमत. पूर्वगत मतम्। तच्चतुर्दशधा प्रोक्तं निगदामि यथापदम् ॥ ९७
ध्रौव्योत्पादव्ययानेकसाधुधर्मप्रकाशकम्। जीवस्योत्पादपूर्वं तत्कोट्येकपदपूर्वकम् ॥ ९८
अङ्गानामग्रभूतार्थनिवेदनपरं वलम्। लक्षा. षण्णवतिः पूत पूर्वमग्रायणीयकम् ॥ ९९

भेदज्ञोने पाच प्रकारकी चूलिकाये कही हैं उनके भेदोका स्पष्टतया मैं यथाक्रम वर्णन करता हू ॥ ९० ॥

[पचचूलिका] – जलगताचूलिकाकी पदसख्या दो कोटी नौ लाख नवासी हजार दो सौ है। इस चूलिकामे जलस्तभनके कारणमत्रोका वर्णन है तथा अग्निस्तम्भन, अग्निभक्षण, अग्निमे वैठना और अग्निप्रवेश तथा तदर्थ तपश्चरण आदिका वर्णन है। स्थलगतचूलिकाकेभी इतनेहि पद हैं। इस चूलिकामे मेरु, कुलाचलभूमि आदिमे प्रवेश, शीघ्रगमन आदिके कारण मत्रतत्रादिक हैं। मायागताचूलिकामे इन्द्रजालादि अनेक अर्थोके क्रियाकाण्डोका निरूपण किया है। इसकी भी पदसख्या जलगतचूलिकाके समान ही है। रूपगताचूलिकामे वाघसिंहादिके रूप धारण करनेके मत्र-तत्रका वर्णन है। इसकी पदसख्याभी उपर्युक्त जलगतचूलिकाके समान हैं। आकाशगतचूलिकामे आकाशगमनके कारण मत्रतत्र आदिका वर्णन है। इसकी पदसख्याभी जलगताके समान है॥९१–९६॥

[चौदह पूर्व] दृष्टिवादका पूर्व नामक चौथा भेद है उसके उत्पादपूर्वगतादिक चौदह भेद आचार्यने कहे है। सर्व जीवादिक अर्थोंमे जो चला गया है इसलिये उसे पूर्वगत कहते हैं। यह पूर्वगत पवित्र ज्ञान है। उसके चौदह भेद उनकी पदसख्याके साथ मै (नरेन्द्रसेनाचार्य) कहता हू ॥९७॥

उत्पादपूर्वकी पदसख्या एक कोटि प्रमाण है। उसमे जीवके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि अनेक धर्मोका स्वरूप कहा है तथा मुनियोके धर्मोका वर्णन किया है ॥ ९८ ॥

अग्रायणीय पूर्वकी पदसख्या छ्यानवे लाख प्रमाण हैं। इस पवित्र पूर्वमे अगोके प्रधानभूत पदार्थोका वर्णन करनेका सामर्थ्य है– अर्थात् सातसौ सुनय तथा दुर्णय, पञ्चास्तिकाय, षड्द्रव्य, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ आदिका वर्णन है ॥ ९९ ॥

---

१ आ गामेने २ आ. सख्य ३ सो. सर्वेषु ४ आ. सख्यकम् ५ आ. वरम् ६ आ. आग्रायणीयका

पदानां सप्ततिर्लक्षा यस्य संख्या प्रकीर्तिता। वीर्यानुवादवीर्यस्य श्रीजिनादेर्निरूपकम्॥ १००
षष्टिलक्षपदोपेतं षट्पदार्थोपवर्णकम्। अस्तिनास्तिसहाधर्मैरस्तिनास्तिप्रवादकम्॥ १०१
एकोनकोटिसंख्यातपदं सूर्यांशुनिर्मलम्। ज्ञानप्रवादमाख्यातं ज्ञानभेदादिसूचकम्॥ १०२
वागङ्गुलिप्रकाराणां शुभाशुभवचस्तथा। सूचकं सत्यवादं च कोटीषडधिका पदम्॥ १०३
षड्विंशतिश्च कोटीना पदानां प्रतिपादकम्। आत्मप्रवादं जीवस्य कर्तृत्वादेर्मतं सताम्॥ १०४
अशीतिलक्षकोट्येकपदसंख्यं हि कर्मणाम्। निर्जराबन्धमोक्षादिसूचकं कर्मवादकम्॥ १०५
समस्तद्रव्यपर्यायप्रत्याख्यानादिसूचकम्। प्रत्याख्यानं हि लक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा॥ १०६
क्षुद्रविद्या महाविद्याः सप्तपंचशतानि याः। पृथुविद्यानुवादं तद्यत्र तासां निरूपणम्॥ १०७

वीर्यानुवादकी पदसख्या सत्तर लाख प्रमाणकी कही है। इसमे श्रीजिनेश्वर, गणधर आदिके वीर्यका वर्णन है॥ १०० ॥

अस्तिनास्ति-प्रवादमे छह लाख पद है। यह पूर्व जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके अस्तिनास्ति धर्मोका वर्णन करता है॥ १०१ ॥

ज्ञानप्रवादपूर्वकी पदसख्या एक कम एक कोटि प्रमाणकी है। यह पदसख्या सूर्य-किरणके समान उज्ज्वल है और इसमे मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्य तथा केवलज्ञान ऐसे पाच सम्यग्ज्ञानोका और कुमति, कुश्रुति तथा कुअवधि ऐसे तीन अज्ञानोका स्वरूप, सख्या और फलोका वर्णन है॥ १०२ ॥

सत्यप्रवादपूर्वमे एक कोटि और छह पद है। इस पूर्वमे वचन और उत्सेधागुलादिकोके प्रकार कहे है तथा शुभ और अशुभ वचनके भेद और गुप्तिओका वर्णन है॥ १०३ ॥

आत्मप्रवादपूर्वमे छब्बीस कोटि पद है। इसमे आत्माके कर्तृत्वादि अनेक धर्मोका वर्णन किया है जो कि सज्जनोको मान्य है॥ १०४ ॥

कर्मप्रवादमे पदोका प्रमाण एक कोटि अस्सी लाखका है। इसमे कर्मोकी निर्जरा, बध, मोक्ष, उदय, उदीरणा आदिका कथन है॥ १०५ ॥

प्रत्याख्यानपूर्वमे चौरासी लाख पदसख्या है और इसमे समस्त द्रव्यपर्यायोका प्रत्याख्यान-त्यागका वर्णन है, अर्थात् नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पुरुषके सहननादिकी अपेक्षासे सदोष वस्तुका त्याग, उपवासकी विधि, पाच समिति, तीन गुप्ति आदिका वर्णन है॥ १०६ ॥

विद्यानुवादपूर्वमे सातसौ क्षुद्रविद्या और पाचसौ महाविद्याओका वर्णन अर्थात् उनका सामर्थ्य, स्वरूप, मत्रतत्र, पूजाविधान तथा सिद्ध विद्याओका फल, और अन्तरिक्ष, भौम, अग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यजन, छिन्न ऐसे आठ निमित्तोका वर्णन है। जिनका विज्ञान असख्यप्रमाण है ऐसे तत्त्वज्ञ विद्वानोने इसकी पदसख्या एक कोटी दश लाख प्रमाणकी कही है॥१०७-१०८॥

१ आ. सख्य तु २ आ. वाचागुप्ति ३ आ. स्वतः ४ आ. तत्व

दशलक्षाधिककोटी पदानि प्रतिपादितम् । संख्या यासख्यविज्ञानैस्तत्त्वविद्भिर्मनीषिभिः ॥ १०८
कल्याणनामधेयं तद्यत्कल्याणप्ररूपकम् । षड्विंशतिश्च कोटीनां अर्हदादिमहात्मनाम् ॥ १०९
कोटीत्रयोदश प्राज्ञैः प्राणावाय पदानि तत् । प्राणापानविभागायुर्वेदमन्त्रादिवादकम् ॥ ११०
छन्दोऽलङ्कारशास्त्राणां क्रियाणा प्रतिपादकम् । क्रियासाधनमाम्नात नवकोटिपदप्रमम् ॥ १११
लोकाग्रसाधनानेकव्याकर्णनपरं वरम् । कोटीद्वादशपञ्चाशल्लक्षा लोकाग्रबिन्दुकम् ॥ ११२
निगद्य पदसंख्यानं पूर्वाणां गणितप्रियैः । अशेषाणाममीषां च वस्तुसंख्या निगद्यते ॥ ११३
दश चतुर्दशाष्टौ च क्रमादष्टादशाधिका । द्वादश द्वादश प्राज्ञैस्ततः षोडश विंशति ॥ ११४
त्रिंशत्पञ्चदश ख्याता वस्तुसख्या दशस्वपि । त्रिलोकाग्रपदप्राप्तिहेतुभूता मनस्विभिः ॥ ११५
तत. सर्वेषु पूर्वेषु दशकं दशक मतम् । वस्तूनां वस्तुत प्राज्ञैर्यावदन्त्यं भवेत्पुनः ॥ ११६
सर्वेषामिह पूर्वाणा वस्तुसंख्या समासतः । शत च नवभि पच गदितागमकोविदैः ॥ ११७

कल्याण नामक पूर्वमे तीर्थकरादिके गर्भावतारादि कल्याण, उनके कारण पुण्यकर्म, षोडश भावना आदिका तथा चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रोके चारका, ग्रहण, शकुन आदिके फलोका वर्णन है। इसकी पदसख्या छब्बीस कोटि प्रमाण है ॥ १०९ ॥

प्राणावायपूर्वकी पदसंख्या विद्वानोने तेरा कोटि प्रमाण बताई है। इसमे प्राणापानोका विभाग तथा आयुर्वेद-मन्त्रवादोका वर्णन है ॥ ११० ॥

क्रियाविशालपूर्वमे छद शास्त्र और अलकार शास्त्रका विवेचन है, तथा पुरुषोकी बाह-त्तर कला, स्त्रियोकी चौसठ कला शिल्पादि विज्ञान, गर्भाधानादिक क्रिया, तथा नित्यनैमित्तिक क्रियाओका वर्णन है। इसकी पदसख्या नौ कोटि प्रमाणकी है ॥ १११ ॥

लोकाग्रबिन्दुपूर्वमे लोकाग्र-मोक्षको साधनेके कारण और मोक्षके सुखका वर्णन किया है तथा लोकका स्वरूप, छत्तीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बीज, आदिका वर्णन है। इसकी पद-सख्या बारह कोटि पचास लक्ष प्रमाणकी है ॥ ११२ ॥

जिनको गणित प्रिय है ऐसे विद्वानोने पूर्वोकी पदसख्या इस प्रकार कही है। अब इन समस्त पूर्वोमे जो वस्तुसख्या है, उसका वर्णन वे करते है ॥ ११३ ॥

[पूर्वोकी वस्तुसख्या]— उत्पादपूर्वसे विद्यानुवाद पूर्वतक दसपूर्वोमे वस्तुओका जो प्रमाण क्रमसे विद्वानोने कहा है वह इस प्रकार है—दस, चोदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पद्रह। तदनतर आगेके चार पूर्वोमे त्रैलोक्यके अग्रकी—मोक्षकी प्राप्तिमे कारणभूत ऐसी वस्तु-सख्या विद्वानोने दस, दस, दस, दस कही है। चौदह पूर्वोमे वस्तुसख्या एकसौ पिचानवै है। ऐसे वस्तु नामक अधिकार चौदह पूर्वमे कहे है ॥ ११४–११६ ॥

[सर्व प्राभृतसख्या] — अधिक कान्ति जिनकी है ऐसे गणधरादि महापुरुष प्रत्येक वस्तुमे बीस बीस प्राभृत है ऐसा कहते है ॥ ११७ ॥

१ आ सख्यया २ आ क्रियाविशालमाख्यात ३ आ. व्यावर्णन ४ आ. संख्या ता ५ आ. धिकादश ६ आ. मनस्विनाम्

१०, १४, ८, १८, १२, १२, १६, २०, ३०, १५, १०, १०, १०, १०, वस्तुसंख्या १९५
विंशतिर्विंशतिर्यावत्प्राभृतान्यत्र कोविदाः। वस्तु वस्तु प्रतिवादो निगदन्त्यधिकप्रभाः॥ ११८
शतद्वयं तदेवास्मादशीतिसहितं तत. । शतं षष्ट्युतं गीतं त्रिशती षष्टिसंयुता ॥ ११९
द्विशती द्विशती पश्चाच्चत्वारिंशत्समन्विता। तथा विंशतिसंयुक्तं शतत्रयमुदीरितम्॥ १२०
चत्वारिंशच्छतान्यस्मात्षट्शतानि ततःपरम्। शतत्रयं च सर्वेषु द्विशती द्विशती पुनः॥ १२१
कोटीनां च शतं पूतं तथा द्वादश कोटयः। लक्षास्त्र्यशीतिपञ्चाशत्सहस्रा चाष्टभि सह ॥ १२२
पदानि पंच चैवेदं द्वादशाङ्गं श्रुतं सताम्। वन्द्यं वन्देऽहमप्युच्चैस्तस्य लब्धिवशीकृत ॥ १२३
पदं च त्रिविधं ज्ञेयं सर्वश्रुतनिबन्धनम्। अर्थमध्यप्रमाणादिभेदतो भिन्नकल्मषै ॥ १२४
अर्थ्यमर्थसमाप्तिश्च प्रमाणं चाष्टभिः पदम्। अक्षरैरक्षराख्यानं कथितं तथ्यवेदिभि ॥ १२५
अङ्गश्रुतपदं चैतन्मध्यम मध्यभागतः। तस्य वर्णाश्च विज्ञेया मानतो मानशालिभि ॥ १२६
शतं षोडश कोटीनां चतुस्त्रिशच्च लक्षका.। अशीतिस्त्र्यधिका. सप्त सहस्रा.शतमष्टकम्॥ १२७
अष्टाशीतिश्च सद्वर्णा मध्यमस्येह मध्यमाः। पदस्याङ्गप्रविष्टस्य श्रुतस्य गदिता जिनै ॥ १२८
अङ्गप्रविष्टमाख्याय ख्यापितं यद्यतीश्वरै.। अङ्गबाह्यं श्रुतं सम्यङ्[३]निगदन्ति गदातिगा ॥ १२९

दोसौ, दोसौ अस्सी, एकसौ साठ, तीनसौ साठ, दोसौ चालीस, दोसौ चालीस, तीनसौ बीस, चारसौ, छहसौ, तीनसौ, दोसौ, दोसौ दोसौ, दोसौ, सब मिलकर प्राभृतसख्या १९५ वस्तुओमे ३९०० सौ होती है ॥ ११९–१२१ ॥

[द्वादशागोकी पदसख्या] — एकसौ बारह कोटी, तिरासी लक्ष, अट्ठावन हजार, पाच इतनी द्वादशागोकी पदसख्या है। यह द्वादशागश्रुतज्ञान विद्वन्मान्य है। उसकी प्राप्तिके वश होकर मैं इस वन्द्य श्रुतज्ञानको अत्यादरसे वन्दन करता हू ॥ १२२–१२३ ॥

[पदभेदोका वर्णन] जिन्होने पापविनाश किया है ऐसे जिनेश्वरोने पदके तीन भेद कहे हैं। अर्थपद, मध्यपद, और प्रमाणपद। ये तीनो पद सब श्रुतज्ञानके कारण है। जिससे अर्थ-समाप्ति होती है उसे अर्थपद कहते है जैसे सफेद गौको रस्सीसे बाधो, अग्निको लाओ, ये अर्थपद है। आठ आदि अक्षरोसे जो उत्पन्न होता है उसे प्रमाणपद कहते है। अर्थात् प्रमाणयुक्त अक्षर जिसमे है उसको सत्य जाननेवाले विद्वान प्रमाणपद कहते है। अगश्रुतके पदको मध्यपद कहते हैं, क्यो कि प्रमाणपद और अर्थपदके बीचमे इसकी गणना की है। ज्ञानशाली विद्वान उनके वर्णोकी सख्या ऐसी समझते है—सोलह सौ चौतीस कोटि, तिरासी लक्ष, सात हजार, आठसौ अठ्यासी इतने वर्ण एक मध्यम पदमे रहते हैं। इस प्रकार जिनेश्वरने अगप्रविष्ट श्रुतज्ञानके पदके अक्षर कहे हैं ॥ १२४–१२८ ॥

[अगबाह्य श्रुतज्ञानके भेद] — यहा तक यतीश्वरोने अगप्रविष्टका वर्णन करके समाप्त किया है। ससाररोगसे रहित जिनेश्वर अगबाह्य श्रुतज्ञानका सम्यङ् निरूपण करते हैं ॥ १२९ ॥

---

१ आ. स्तावत् २ आ. प्रायो ३ आ. निगदामि गदातिग

सामायिकं स्तवश्चेति वन्दना सप्रतिक्रमम्[1]। वैनयिकं तथा पूतं कृतिकर्म ततः परम् ॥ १३०
दशवैकालिकं तस्मादुत्तराध्ययनं पुनः। कल्पादिव्यवहारं च कल्पाकल्पमकल्पकम् ॥ १३१
महाकल्पं ततस्तावत्पुण्डरीकाख्यमुत्तमम्। महादि-पुण्डरीकं तदशीतिगमिति स्फुटम् ॥ १३२
चतुर्दशविधं पूतं प्रकीर्णकमिदं विदुः। नामतो देशना यासु कथञ्चित्कथयामि तत् ॥ १३३
नियतानियतः कालो यतीनां समयः स्मृतः। तत्र या समया तत्र भवं सामायिकं विदुः ॥ १३४
चतुर्विंशतितीर्थानां प्रातिहार्यादिवर्णनम्। यत्र तत्कथितं प्राज्ञैश्चतुर्विंशतिसंस्तवम् ॥ १३५
एकैकशो जिनानां च यत्र नामादिकीर्तनम्। वन्दनानामतो ज्ञेयं प्रकीर्णकमनिन्दितम् ॥ १३६
संवत्सरचतुर्मासपक्षाहोरात्रिका पुनः। ईर्यापथोत्तमार्थाश्च[2] प्रतिक्रान्तिस्तु सप्तधा ॥ १३७
कथ्यते यत्र भव्यानां कर्मणः क्षपणक्षमा। प्रतिक्रान्तिप्रकीर्णं तत्साधुवर्गैकसेवितम् ॥ १३८

सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, पवित्र कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, अशीतिग, इन नामोंके चौदह पवित्र प्रकीर्णक बाह्य श्रुत कहे गये है। इनके उपदेशके लिये कुछ निरूपण मैं करता हू ॥१३०-१३३॥

[चौदह प्रकीर्णकोका वर्णन] – सामायिक-यतियोका जो नियत और अनियत काल है उसे समय कहते हैं उसमे जो हुआ है उसको सामायिक कहते है। सामायिकके नियतकाल सामायिक और अनियतकाल सामायिक ऐसे दो भेद है। स्वाध्यायादिकोको नियतकाल सामायिक कहते है। ईर्यापथादिकोको अनियतकाल सामायिक कहते है ॥ १३४ ॥

चतुर्विंशतिसस्तव–चौवीस तीर्थकरोके प्रातिहार्यादिकोका वर्णन जिसमे किया है उसको बुद्धिमानोने चतुर्विंशतिस्तव कहा है। ऋषभादि वर्धमानान्त चौवीस तीर्थकरोके नाम, लांछन, जन्म-समयके दस गुण, केवलज्ञान होनेपर दश अतिशय, देवकृत चौदह अतिशय, उनका वर्ण, उनकी उचाई, उनके वश इत्यादि वर्णन इसमे आता है। प्राज्ञ उसे चतुर्विंशति स्तुति कहते है ॥ १३५ ॥

वदना–एकेक जिनेश्वरके नामादि गुणोका कीर्तन करना उसे वदना कहते है। यह स्तुत्य प्रकीर्णक है ॥ १३६ ॥

प्रतिक्रमणके सावत्सरिक, चातुर्मासिक, पाक्षिक, दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक और उत्तमार्थ ऐसे सप्त भेद है। यह प्रतिक्रमण भव्योके कर्मका नाश करनेमे समर्थ है। यह प्रतिक्रान्ति नामका प्रतिक्रमण-प्रकीर्णक कीर्तिके अधिपति जिनेश्वरोने कहा है? गमनादि कार्य-करनेके समय जो दोष लगते हैं वे मेरे मिथ्या होवे पुनः मैं नहीं करूगा ऐसा कहना उसे प्रतिक्रमण कहते हैं ॥ १३७–१३८ ॥

---

१ आ. सप्रतिक्रमा २ आ. था च

ज्ञानदर्शनचारित्रतपोविनयसूचकम् । वैनयिकप्रकीर्णं तत्कीर्तितं कीर्तिनायकैः ॥ १३९
दीक्षाग्रहणपूर्वायाः क्रियायाः प्रतिपादनात् । कृतिकर्म मतं तज्ज्ञैः कृतकर्मविनाशकम् ॥ १४०
द्रुमपुष्पितपूर्वैर्यैद्दशभिस्त्वधिकारकैः । सूचकं साधुवृत्तानां दशवैकालिकं मतम् ॥ १४१
सहनं ह्युपसर्गाणां तत्फलादिनिवेदकम् । उत्तराध्ययनं ध्यानध्येयाधारैरुदीरितम् ॥ १४२
यतिकल्पसमाचारप्रच्यवो चित्तमुत्तमम् । प्ररूपयत्प्रायश्चित्तं तत्कल्पव्यवहारकम् ॥ १४३
कालविशेषमाश्रित्य योग्याचारप्ररूपकम् । यतीनामुदितं तज्ज्ञै[1] कल्पाकल्पप्रकीर्णकम् ॥ १४४
दीक्षाशिक्षादिषट्कालसाधुवृत्तप्ररूपकम् । प्रकीर्णकं प्रकृष्टैस्तन्महाकल्पं प्रकल्प्यते ॥ १४५
भवान्तरविशेषस्य हेतुभूतं तपोविधेः । ख्यापकं पुण्डरीकाख्यमसंख्यसुखकारकम् ॥ १४६
सर्वाप्सरोगणानां यज्जन्महेतुप्ररूपकम् । महादिपुण्डरीकं तद्भणितं भणितिप्रियै. ॥ १४७

वैनयिक– ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार ऐसे पाच विनयोका वर्णन जिसमे है, वह वैनयिक प्रकीर्णक है, उसका कीर्तिनायक मुनिओने वर्णन किया है ॥ १३९ ॥

कृतिकर्म–दीक्षाग्रहणपूर्वक क्रियाका प्रतिपादन इसमे होनेसे इसका कृतिकर्म यह नाम है। यह कृतिकर्म किये हुए पापकार्योका नाश करनेवाला है ॥ १४० ॥

द्रुमपुष्पित अध्याय जिसके पूर्वमे है, ऐसे तेरा अध्यायोका मुनियोके आचरणका जो सूचक प्रकीर्णक है उसे दशवैकालिक कहते है। अनेक उपसर्ग-देवकृत मनुष्यकृत, पशुकृत और अचेतनोपसर्ग ऐसे उपसर्गोको सहन करना और उसके फल आदिका प्रतिपादक ऐसे प्रकीर्णकको, ध्यान और ध्येयके आधारभूत आचार्योने उत्तराध्ययन कहा है ॥ १४१–१४२ ॥

यतियोके योग्य आचरणको कल्प्य कहते है। उसका वर्णन करनेवाला तथा उस आचरणसे भ्रष्ट होनेपर उससे उत्तम प्रायश्चित्त कहनेवाला जो प्रकीर्णक उसे उसके ज्ञाता विद्वान् कल्प्यव्यवहार कहते है ॥ १४३ ॥

विशेष कालके आश्रयसे मुनियोके योग्य आचारोका प्रतिपादन करनेवाले प्रकीर्णकको कल्प्याकल्प्य प्रकीर्णक कहते है। दीक्षा काल, शिक्षाकाल, गणपोषण काल, आत्म–संस्कार काल, भावना काल और उत्तमार्थ काल ऐसे षट्कालसबधी मुनियोके आचरणको निरूपण करनेवाले प्रकीर्णकको श्रेष्ठोने महाकल्प्य कहा है ॥ १४४–१४५ ॥

अन्यजन्मविशेषके अर्थात् भवनवासी, व्यन्तरादि देवजन्मविशेषके कारणभूत तपश्चरणका वर्णन करनेवाले प्रकीर्णकको पुण्डरीक कहते है, यह असख्य सुखको देनेवाला है ॥१४६॥

सर्व अप्सरासमूहकी उत्पत्ति कैसी होती है इसका निरूपण करनेवाला जो प्रकीर्णक उसे व्याख्यान-प्रिय आचार्योने महापुण्डरीक कहा है ॥ १४७ ॥

---

१ आ. कारणम्

दोषाणां स्थूलसूक्ष्माणां प्रायश्चित्तं प्ररूपयत्[1]। अशीतिगं प्रकीर्णं तद्वय:सत्त्वाद्यपेक्षया ॥ १४८
अङ्गाङ्गबाह्यभेदा ये श्रुतस्यावगता मया । प्रोक्ता स्वबुद्धितः सर्वे यच्छन्तु विपुलां श्रियम् ॥ १४९
परं विंशतिभेदं यत्पर्यायाद्यभिधानतः । श्रुतं तदपि वक्ष्येऽहं यथाशक्ति यथागमम् ॥ १५०
पर्यायश्चाक्षरं ज्ञानं पदं संघात इत्यपि । प्रतिपत्त्यनुयोगाभ्यां विकल्पाः षडमी श्रुते ॥ १५१
प्राभृतप्राभृतं प्राभृद्वस्तु पूर्वं चतुर्थकम् । इत्येवं मिलिता सर्वे विकल्पा दश शोभना. ॥ १५२
तेषां समासभेदा ये तावन्त परिकीर्तिताः । तैः समस्तैर्भवेत्सर्वं श्रुतं विंशतिभेदभाक् ॥ १५३
नित्य[2]निगोदजीवस्य पर्याप्तस्यादिमक्षणे । जायते यच्च विज्ञानं तत्पर्याय इति श्रुतम् ॥ १५४

पुरुषोकी आयु, शक्ति, उनका प्रमाद, अथवा ज्ञाताज्ञातादिक भाव इनकी अपेक्षासे स्थूल और सूक्ष्म दोषोका प्रायश्चित्त निरूपण करनेवाले प्रकीर्णकको ' अशीतिग ' कहते हैं ॥१४८॥

श्रुतज्ञानके जो अंगप्रविष्ट और अङ्गबाह्यके भेद मैने जाने है वे अपनी बुद्धिके अनुसार सर्व कहे है, वे मुझे विपुल अनतज्ञानादि लक्ष्मीको देवें ॥ १४९ ॥

[श्रुतज्ञानके वीस भेद] उत्तम-श्रुतज्ञानके पर्याय, पर्याय समास आदि वीस भेद हैं। मै यथाशक्ति–यथामति और आगमानुसार उसकाभी वर्णन करता हू ॥ १५० ॥

पर्यायश्रुत, अक्षरश्रुत, पदश्रुत, संघातश्रुत, प्रतिपत्तिश्रुत, अनुयोगश्रुत ऐसे श्रुतज्ञानमे छह विकल्प है। प्राभृत, प्राभृतप्राभृत, वस्तु, और चौथा भेद पूर्व ये और ऊपरके हितकर सर्व भेद मिलकर दस भेद श्रुतज्ञानके है। इन दस भेदोंके समासभेदभी उतनेही कहे है। और उन सपूर्ण भेदोसे यह श्रुतज्ञान वीस भेदवाला होता है । उनके नाम इस प्रकार हैं–पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, सघात, सघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृत, प्राभृत-समास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत-प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व, पूर्वसमास ॥ १५१–१५३ ॥

[पर्याय नामक श्रुतज्ञान किसे होता है ?] अपर्याप्त नित्य निगोदका जो जन्मका प्रथम क्षण उसमे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे पर्यायश्रुत कहते है । वह श्रुतज्ञान सबसे जघन्य है, परतु वह हमेशा प्रकाशयुक्त प्रगट होता है, उसके ऊपर कदापि आवरण आता नहीं । जगदीश्वर अर्थात् जिनेश्वर उसके ज्ञानको जानते है । तात्पर्य–पर्यायावरण कर्मके उदयका फल पर्यायज्ञानमे हो जाय तो ज्ञानोपयोगका अभाव होनेसे जीवकाभी अभाव हो जायगा । इस लिये पर्यायावरण कर्मका फल उसके आगेके ज्ञानके प्रथम भेदमेही होता है। इसलिये कमसे कम पर्यायरूप ज्ञान जीवके अवश्य पाया जाता है । तथा वह ज्ञान हमेशा निरावरण और प्रकाशमान रहता है। सूक्ष्म निगोदी

---

१ आ. अशीतिकम् । २ आ. नित्यं

मर्वज्ञानजघन्यं तत्सुप्रकाशं निरावृति । निरावृतपरिज्ञानो जानाति जगदीश्वर. ॥ १५५
तदेवासंख्यभागेन वर्धमानं तत परम् । प्रागक्षरश्रुतात्सर्वं पर्यायादिसमासभाक् ॥ १५६
एकाक्षरस्य विज्ञानमक्षरश्रुतमुच्यते । द्वित्र्याद्यक्षरवृद्ध्या तु तत्समासं पदावधि ॥ १५७
पदज्ञान भवेत्तद्धि यत्त्रिधा पदसंभवम् । पदादक्षरवृद्ध्या तु समासपदपूर्वकम् ॥ १५८
संघात. कथ्यते पथ्य सहस्रैकपदप्रमः । तत्समासस्तु विज्ञेयः प्रतिपत्त्यवधिर्बुधै ॥ १५९

लब्ध्यपर्याप्त जीवके अपने २ जितने भव (छह हजार बारह) सभव है उनमे भ्रमण करके अन्तके अपर्याप्त शरीरको तीन मोडोद्वारा ग्रहण करनेवाले जीवके प्रथम मोडेके समय जघन्य ज्ञान होता है ॥ १५४–१५५ ॥

[पर्यायसमासश्रुत] – सूक्ष्मनिगोदी लब्ध्यपर्याप्तिक जीवको जो पर्यायश्रुत ज्ञान है वही असख्यात भागसे बढता बढता जाता है, तब उसमे असख्यात स्थान बढते है, तब एक अक्षर श्रुतज्ञान होता है। उसके पूर्व और पर्यायश्रुत ज्ञानके ऊपर जितने ज्ञानके भेद होता है वे सब पर्यायसमास ज्ञान कहलाते है ॥ १५६ ॥

[अक्षरश्रुत] – एक अक्षरका जो ज्ञान उसे अक्षरश्रुत कहते है। इसके ऊपर दो अक्षरज्ञान बढता है, तीन अक्षरज्ञान बढता है, ऐसी अक्षरज्ञानोकी वृद्धि पदज्ञानके पूर्वतक होती है। यह लब्ध्यक्षर ज्ञान सूक्ष्मनिगोदी अपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमे स्पर्शन इन्द्रिजन्य-मति ज्ञानपूर्वक होता है। लब्धिनाम श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका है और अक्षर नाम अविनश्वरका है इसलिये इस ज्ञानको लब्ध्यक्षर कहते है। क्यो कि इस क्षयोपशमका कभी विनाश नहीं होता है, कमसे कम इतना क्षयोपशम जीवके रहता ही है। एक अक्षरके ऊपर जो पदतक ज्ञान बढता है, उसे अक्षरसमास ज्ञान कहते हैं अन्तिम अक्षर समासके ऊपर एक अक्षर बढनेपर पदनामक ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १५७ ॥

[पद तथा पदसमास] जो ज्ञान तीन प्रकारके पदोसे उत्पन्न होता है, उसे पदज्ञान कहते है। वे पद तीन हैं—अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद (इनका वर्णन पहले आया है)। इस पदज्ञानके जो एकाक्षरादि वृद्धि होती है वह सब पद समास ज्ञान समझना चाहिये इस तरह अक्षरोकी वृद्धि होते होते दुसरा पदज्ञान होता है। तदनतर तीसरा, चौथा, पाचवा ऐसे पदज्ञान होते होते पदके ऊपर और सघातके पूर्व जितने ज्ञानके भेद होते है वे सब पदसमासके भेद समझने चाहिये ॥१५८॥

[सघात और संघातसमास] – एक हजार पदप्रमाण ज्ञानको हित करनेवाला सघातज्ञान कहते है। इसके अनतर अर्थात् सघातज्ञानके अनतर और प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञानके पूर्व जितने ज्ञानके

---

१ आ. निरावृत २ आ. द्वित्र्या.

संख्यातानेकसंघातप्रमाणं प्रतिपत्तिकम् । अनुयोगावधिः पूतस्तत्समासो निगद्यते ॥ १६०
अनुयोगो मतस्तावत्तत्संख्याप्रतिपत्तिक. । अनुयोगसमासस्तु यावत्प्राभृतप्राभृतम् ॥ १६१
सुसंख्यातानुयोगैस्तु प्राभृतं प्राभृतं मतम् । प्राभृतप्राभृतादूर्ध्वं समास' प्राभृतावधि ॥ १६२
प्राभृतप्राभृतैस्तावच्चतुर्विंशतिभिः परम् । प्राभृतं वस्तुमर्यादा[1] समासोऽस्य निगद्यते ॥ १६३

विकल्प होते है वे सब संघातसमास ज्ञानके भेद होते है । तात्पर्य--यह संघात नामक श्रुतज्ञान चार गतिमेसे एक गतिके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले अपुनरुक्त मध्यम पदोका समूह रूप है । एक पदके ऊपर क्रमसे अक्षरोकी वृद्धि होते होते संख्यात हजार पदोकी वृद्धि होनेपर संघात ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १५९ ॥

[प्रतिपत्ति और प्रतिपत्ति समास श्रुतज्ञान] -- संघातज्ञानके ऊपर अनेक संघातश्रुतज्ञानोकी वृद्धि होनेपर प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है । और अनुयोग ज्ञानकी उत्पत्ति जहांसे होती है, उससे पूर्वतक होनेवाले जितने ज्ञान विकल्प है, वे सर्व प्रतिपत्तिसमास श्रुतज्ञान समझने चाहिये । भावार्थ-चार गतियोमेसे एक गतिका निरूपण करनेवाले संघात श्रुतज्ञानके ऊपर पूर्वकी तरह क्रमसे एक एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार संघातकी वृद्धि हो जाय तब एक प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान होता है । संघात और प्रतिपत्ति श्रुतज्ञानके मध्यमे जितने ज्ञानके विकल्प होते है उतनेही संघात समासके भेद होते है । यह प्रतिपत्तिक ज्ञान नरकादिक चार गतियोका विस्तृत स्वरूप जाननेवाला है ॥ १६० ॥

[अनुयोग और अनुयोगसमास] -- प्रतिपत्तिक ज्ञानके ऊपर पुन संख्यातो प्रतिपत्तिक ज्ञानकी वृद्धि होनी चाहिये अर्थात् प्रतिपत्तिक ज्ञानके ऊपर पूर्वकी तरह एक एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्तियोकी वृद्धि होती है, तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है । इसके अनतर और प्राभृतप्राभृतज्ञानके पूर्व जितने अनुयोग ज्ञानके विकल्प होते है उसे अनुयोग समास कहते है। इस अनुयोग श्रुतज्ञानके द्वारा चौदह मार्गणाओका विस्तृत स्वरूप जाना जाता है॥ १६१॥

[प्राभृतप्राभृतश्रुत तथा प्राभृतप्राभृतसमास ।] -- संख्यात अनुयोग होनेपर प्राभृत-प्राभृतश्रुतज्ञानकी उत्पत्ति होती है । प्राभृतप्राभृतके ऊपर और प्राभृतश्रुतके पूर्वमे जो ज्ञानविकल्प होते हैं वे सब प्राभृतप्राभृतसमास कहे जाते है । तात्पर्य--चौदह मार्गणाओका निरूपण करनेवाले अनुयोग ज्ञानके ऊपर पूर्वोक्त क्रमानुसार एक एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब चतुरादि अनुयोगाकी वृद्धि होजाय तब प्राभृतप्राभृतका श्रुतज्ञान होता है ॥ १६२ ॥

[प्राभृत और प्राभृतसमास श्रुतज्ञान ।] -- प्राभृतप्राभृत ज्ञानके ऊपर पूर्वोक्त क्रमसे एक एक अक्षरोकी वृद्धि होते होते जब चौवीस प्राभृतप्राभृतोकी वृद्धि होती है तब एक प्राभृत श्रुतज्ञान होता है । प्राभृतश्रुतके ऊपर और वस्तुज्ञानके पूर्वमे जो जो ज्ञानविकल्प होते है उसे

१ आ. मर्यादः

विंशतिप्राभृतं वस्तु श्रुतं श्रुतविचक्षणाः । कथयन्ति समासोऽपि तस्य पूर्वावधिर्बुधाः ॥ १६४
दशादि वस्तु संख्यातं पूर्वं पूर्वविदो विदुः । तत्समासो भवेत्सर्वं श्रुतस्कन्धावधिर्महान् ॥ १६५
यथा ज्ञातं मया प्रोक्तं श्रुतज्ञानं विकल्पतः । समस्तश्रुतलब्धिर्मा करोतु ध्वस्तकल्मषम् ॥ १६६
अधो बहुतरो येन विषयो धीयते स्वत[1] । सोऽवधिर्विविधो बोधो बोधशुद्धधियां मतः ॥ १६७

प्राभृतसमास कहते है । उत्कृष्ट प्राभृतप्राभृतसमासके भेदमे एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे प्राभृतश्रुतज्ञान होता है ॥ १६३ ॥

[वस्तुश्रुत और वस्तुसमासश्रुत ।] — वीस प्राभृतोकी वृद्धि होनेपर वस्तु नामक श्रुतज्ञान होता है। ऐसा श्रुतज्ञान—चतुर कहते है। वस्तु नामक ज्ञानके ऊपर अक्षरादिवृद्धिके अनुसार पूर्व-ज्ञानके पूर्व जितने विकल्प होते है, वे सब वस्तुसमासके भेद समझने चाहिये ॥ १६४ ॥

[पूर्वश्रुत और पूर्वसमासश्रुत ।] — दश, चौदह, आठ आदि वस्तुओसे क्रमसे उत्पादादि पूर्वज्ञान उत्पन्न होते है ऐसा पूर्वश्रुतज्ञानी आचार्य कहते है । जो महान् श्रुतस्कन्धकी अवधि है तब तक पूर्वसमासश्रुतज्ञान होता है, जैसे दश वस्तुओसे उत्पादपूर्व होता है । इसके अनन्तर अग्रायणीय श्रुतज्ञानके पूर्व उत्पादपूर्वसमास होता है ऐसा आगेभी समझना चाहिये ॥ १६५ ॥

जैसे मैने जाने थे वैसे इस श्रुतज्ञानके भेद मैने कहे है । यह सपूर्ण श्रुतज्ञानकी लब्धि (ऋद्धि) मुझे पापरहित करे ॥ १६६ ॥

[अवधिज्ञानका विवरण ।] — जिस ज्ञानके द्वारा नीचेका रूपी द्रव्य अधिक व्यवस्थापित किया जाता है—जाना जाता है और जिसके अनेक भेद है उसे अवधिज्ञान कहना चाहिये, ऐसा निर्मल ज्ञानी आचार्योका मत है । भावार्थ—अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे अधोगत द्रव्य-रूपी पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे नियत होकर जिसके द्वारा जाना जाता है, ऐसा जो विकल प्रत्यक्ष ज्ञान उसे अवधिज्ञान कहते है । अवधि शब्दका सीमा, मर्यादा ऐसाभी अर्थ है । इस अर्थकी अपेक्षासे इसे सीमाज्ञान, मर्यादाज्ञान ऐसाभी कहते है । यह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा धारण करता है । अर्थात् अवधिज्ञानका क्षयोपशम जितना अधिक होगा उसकी उतनी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा बढती है, और अधिक अधिकतर रूपी द्रव्य उसका विषय होता है । इस ज्ञानावरणके क्षयोपशमके तरतमरूप असख्य भेद है । इसलिये यह अवधिज्ञान असख्य प्रकारका है । यह ज्ञान मतिज्ञानके समान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न नहीं होता है अथवा श्रुतज्ञानके समान मनसे उत्पन्न नहीं होता है, परतु यह आत्मासे उत्पन्न होता है, इसको प्रकाश, अधकार आदिकी आवश्यकता नहीं है, बाह्य रूपी पदार्थोंका इद्रिय और मनके साथ सबध होकर

१ आ. बोधि

क्षयोपशमहेतुश्च भवप्रत्यय इत्यपि । आद्यौ[1] नारकदेवानां शेषाणां षड्विधः पुनः ॥ १६८
अनुगाम्यननुगामी वर्धमानस्तथेतरः । अवस्थिताभिधानोऽपि ततोऽयमनवस्थितः ॥ १६९

यह उत्पन्न नहीं होता है । इस अवधिज्ञानके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ऐसे तीन भेद हैं । देशावधिके अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित ऐसे छह भेद हैं । परमावधिज्ञानके अनवस्थित और हीयमान भेदोंको छोडकर अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान और अवस्थित ऐसे चार भेद हैं । तथा सर्वावधिके अनुगामी, अननुगामी और अवस्थित ऐसे तीन भेद हैं ॥ १६७ ॥

[देशावधिज्ञानके भेद और स्वामी ।] – यह देशावधिज्ञान क्षयोपशमजन्य और भव-प्रत्यय भेदसे दो प्रकारका है । पहिला भेद भवप्रत्यय अवधिज्ञानरूप है । वह देव और नारकियोंको प्राप्त होता है और क्षायोपशमिक अवधिज्ञान बाकीके जीवोंको अर्थात् मनुष्य और पशुओंको प्राप्त होता है । तात्पर्य–देवनारकियोंको जब पर्याप्तावस्था प्राप्त होती है तब उनको भवप्रत्यय अवधिज्ञान प्रगट होता है ।

भावार्थ–देव और नारकी अपने उत्पन्न होनेके स्थानमें उत्पन्न होनेपर अन्तर्मुहूर्तमें छह पर्याप्तियोंसे–आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इनसे–परिपूर्ण होते हैं और "मैं यहां कैसे आया, मैंने पूर्वजन्ममें कौनसा शुभाशुभ कृत्य किया था इत्यादि रूपसे जब विचार करता है तब उसे यह भवप्रत्यय अवधिज्ञान प्राप्त होता है। जिनेश्वरकोभी भवप्रत्यय अवधि रहता है। वह देव नारकियोंके समान उनके सर्व अंगमेंसे उत्पन्न होता है। जो क्षयोपशमज अवधिज्ञान मनुष्य और पशुओंको उत्पन्न होता है, उसे गुण-प्रत्यय ऐसाभी नाम है। सम्यग्दर्शनादि निमित्त प्राप्त होनेपर जिनका कर्म उपशान्त और क्षीण हो गया है उन्हें यह प्राप्त होता है । अवधिज्ञान क्षयोपशमसेही प्राप्त होता है । परंतु भवकी प्रधानतासे देव-नारकियोंको यह प्राप्त होनेसे इसे भव-प्रत्यय कहते हैं । जैसे पक्षियोंके कुलमें जन्म होनेसे विना शिक्षणके पक्षियोंको आकाशगमन गुण प्राप्त होता है, वैसे देव और नारकावस्था प्राप्त होनेपर उनको अवधिज्ञान प्राप्त होता है। मनुष्य और पशुओंकोभी पर्याप्ताव-स्थामेंही सम्यग्दर्शनादि गुण प्राप्त होनेपर गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान प्राप्त होता है । जो असंज्ञिपशु होते हैं उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त नहीं होता । अर्थात् संज्ञि और पर्याप्तक मनुष्य और पशुओंको अवधिज्ञानकी योग्यता होती है ॥ १६८ ॥

[गुणप्रत्यय देशावधिके छह भेदोंके नाम ।] – अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित ऐसे छह भेद गुण-प्रत्यय देशावधिज्ञानके समझने चाहिये ॥ १६९ ॥

---

१ आ. आद्यो.

भास्करस्य प्रकाशो वा गच्छन्तमनुगच्छति । अनुगामी स विज्ञेयः परो यो नानुगच्छति ॥ १७०
काष्ठनिर्मन्थजो वह्निः शुष्कपत्रगतः पुनः । समिद्धेन्धनमासाद्य प्रवृद्धो जायते पुनः ॥ १७१
तथा जातोऽवधिः पूतोऽवधिज्ञानावृतिक्षयात् । वर्धते वर्धमानोऽसौ वर्धमाननिबन्धतः[1] ॥ १७२
सम्यग्दर्शनसज्ज्ञानसच्चारित्रविशुद्धितः । आ असंख्येयलोकेऽपि[2] वृद्धिमान् वर्धमानकः ॥ १७३
संक्लिष्टपरिणामेन शुध्दद्दष्ट्यादिहानितः । अङ्गुलासंख्यभागोऽयं हीयमानः सहीनकः ॥ १७४
समुत्पन्नप्रमाणाद्यो हीयते नापि वर्धते । भवक्षयावधिः शुद्धो लिंगवत्स त्ववस्थितः ॥ १७५
चीयतेऽपचयं याति यश्चोत्पन्नस्तथाविधात् । सम्यग्रत्नत्रयाद्वायुप्रेरितोर्मिसमूहवत् ॥ १७६

[अनुगामी और अननुगामी देशावधिज्ञान ।]— सूर्यका प्रकाश जैसे सूर्यके साथ जाता है वैसे जो अवधिज्ञान एकक्षेत्रसे अन्यक्षेत्रमे, एकभवसे अन्य भवमे आत्माके साथ जाता है उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते है । जो अवधिज्ञान आत्माके साथ क्षेत्रान्तरमे और भवान्तरमे नहीं जाता है उसे अननुगामी देशावधिज्ञान कहते है । तात्पर्य—जैसे मूर्ख मनुष्यको प्रश्न पूछनेपर उसका उत्तर नहीं मिलता है वैसे जो अवधिज्ञान स्वस्थानमे और पूर्वभवमेही रहता है, स्थानातर और भवान्तरमे नही जाता है उसे अननुगामी कहते है ॥ १७० ॥

[वर्धमान देशावधिज्ञान ।] — अरणी नामक दो लकडियोको एक दूसरीपर घिसनेसे उत्पन्न हुआ और शुष्क पत्रोके सयोगसे वृद्धिगत हुआ तथा लकडियोसे भडकता हुआ अग्नि खूब बढता है वैसे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे जो पवित्र अवधिज्ञान उसके कारणोकी वृद्धि-गत होनेसे बढता है उसको वर्धमान अवधिज्ञान कहते है । यह अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी विशुद्धिवृद्धि होनेसे बढते बढते असख्यात लोकतक बढता है ॥१७१—१७२॥

[हीयमान अवधिज्ञान ।] — जब सक्लेश परिणामसे निर्मल सम्यग्दर्शनादि गुणोकी हानि होती जाती है, तब जो अवधिज्ञानभी सम्यग्दर्शनादिकोके साथ कम कम होता हुआ अगुलके असंख्यात भागपर्यन्त घटता है, उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते है ॥ १७४ ॥

[अवस्थित अवधिज्ञान ।]— जो अवधिज्ञान जितने प्रमाणसे उत्पन्न हुआ है उससे कमभी नहीं होता और बढताभी नहीं। जितना उत्पन्न हुआ है उतनाही रहता। उसे अवस्थित अवधि-ज्ञान कहते है । वह शरीर पर उत्पन्न हुए तिलमापादि चिह्नोके समान भवक्षय होनेतक हानिवृद्धि रहित एकरूप रहता है । उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं ॥ १७५ ॥

[अनवस्थित अवधिज्ञान ।] — सम्यग्रत्नत्रय बढनेसे जो बढता है और कम होनेसे कम होता है, वह अवधिज्ञान अनवस्थित है । वायुसे प्रेरित होनेसे लहरीसमूह जैसे हीनाधिक होता है

[1] आ. निवेदितः। [2] आ. लोकेभ्यो.

सोऽनवस्थित इत्येवं कथितस्तथ्यवेदिभिः । जिनेन्द्रैर्जितकर्मौघैरघविध्वंसकारिभिः ॥ १७७
देशावधि प्रपूतात्मा द्वितीयः परमावधिः । सर्वावधिस्तृतीयोऽसौ देशाद्यर्थप्रदर्शकः ॥ १७८
देशावधिस्तु सर्वेषां परौ चान्त्यैकदेहिनाम् । महर्षीणां मतौ पूतौ स्वामित्वमिति निश्चितम् ॥ १७९
परमानसगार्थस्य पर्ययणादिदं महत् । मनःपर्ययविज्ञानं ज्ञायते ज्ञानकोविदैः ॥ १८०
तद्भेदावृजुवैपुल्यमती मतिमतां मतौ । मनःपर्ययविज्ञानं गतौ साधुगतिप्रदौ ॥ १८१

वैसे यह अवधिज्ञान कमजादा होता है । इसलिये जिन्होंने कर्मसमूहपर विजय पायी है और पाप-विनाश जिन्होंने किया है, जो सत्य पदार्थ स्वरूप जानते हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवानने इसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहा है ॥ १७६–७७ ॥

[अवधिज्ञानके तीन भेद ।] — पहिला पवित्र देशावधिज्ञान, दूसरा पवित्र परमावधिज्ञान और तीसरा पवित्र सर्वावधिज्ञान ऐसे इसके तीन भेद हैं और ये देशादि अर्थोको प्रगट करनेवाले हैं । देशावधिज्ञान चारो गतियोके सञ्ज्ञीपर्याप्तक प्राणियोंको उत्पन्न होता है । परमावधि और सर्वावधि ये दो पवित्र अवधिज्ञान चरमशरीर-धारक महर्षियोको होते है । इस प्रकार अवधिज्ञानके स्वामित्वका निश्चय किया है ।

तात्पर्य–देशावधिज्ञान मनुष्यको असख्यात द्वीपसमुद्रोको जाननेवाला होता है । उसका कालभी असख्यात वर्षोका होता है । द्रव्य-कार्मण द्रव्यविषय होता है । यह अवधिज्ञान शख, कमल आदिक शरीरलाछनोसे जोकि नाभिके ऊपर भागपर रहते है उनसे उत्पन्न होता है । तथा जो विभगावधिज्ञान है, वह नाभिके नीचे गिरगिट, मर्कट आदि चिह्नोसे उत्पन्न होता है । इस-प्रकार अवधिज्ञानका वर्णन हुआ है ॥ १७८–१७९ ॥

[मन पर्ययज्ञानका स्वरूप ।]–अन्य व्यक्तिके मनमे स्थित पदार्थको जाननेसे यह मन.पर्यय-ज्ञान महान् है ऐसा ज्ञाननिपुण आचार्य जानते हैं । भावार्थ–मन.पर्ययज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे सस्कृत अपने मनके द्वारा अन्य व्यक्तिके मनका जो पदार्थ चिन्तन किया जाता है, अथवा चिन्तित हुआ होगा अथवा चिन्तन किया जायगा ऐसे पदार्थको मुनि जानते है । उसके जाननेका नाम मनःपर्यय है । यह ज्ञान मतिज्ञान नहीं है क्योकि मतिज्ञानावरण क्षयोपशमयुक्त मन इस पदार्थको नहीं जानता है । वह मतिज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है । परतु यह मन पर्ययज्ञान प्रत्यक्ष है । मनशब्दका अर्थ मनमे स्थित जो भाव-पदार्थ अर्थात् वस्तुविषयक विचार उसे मन कहना चाहिये । उसे पर्ययण–स्पष्ट जानना मन.पर्यय कहते हैं ॥१८०॥

[मन.पर्ययके दो भेद ।] — इस मतिज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति ऐसे दो भेद बुद्धि-शाली आचार्योके मान्य है । और ये दोनो मन पर्ययके लक्षणको प्राप्त हुये है तथा शुभगति देने-वाले हैं ॥ १८१ ॥

---

१ आ. विगानगतौ

विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः प्रकीर्तितः । ज्ञानाराधनतन्निष्ठैराराध्यैस्तस्य लब्धये ॥ १८२
क्षयादुपशमाज्जातः कर्मणामात्मनो महान् । यः प्रसादो विशुद्धिः सा कथिता[1] शुद्धमानसैः ॥ १८३
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालात् भावतस्तु चतुर्विधा । विशुद्धिस्तारतम्येन पुनर्नानात्वमश्नुते ॥ १८४
कर्मद्रव्यस्य योऽनन्तभागः सर्वावधेर्महान् । स सूक्ष्मात्सूक्ष्मविज्ञानैर्विषयो जिननायकैः ॥ १८५
तस्यानन्तविभागस्य योऽन्त्यो भागः स इष्यते । विषयो विषयातीतैः ऋजुपूर्वमतेर्महान् ॥ १८६
तस्याप्यनन्तभागस्य पुनर्भागस्तथान्तिम । विपुलादिमतेर्ज्ञेयो विषयः शुद्धमानसैः ॥ १८७
जघन्येन च गव्यूतिपृथक्त्वं क्षेत्रतो मतम् । ऋजुपूर्वमतेर्मान्यैरुत्कर्षाद्योजनानि तत् ॥ १८८
द्वितीयस्य जघन्येन योजनानि[2] पृथक्त्वकम् । मानुषोत्तरशैलान्तमुत्कर्षेण समादिशेत् ॥ १८९

[ऋजुविपुलमतिमे विशेषता ।] — ज्ञानकी आराधना कर उसमे तत्पर रहनेवाले पूज्य मुनियोने उसकी प्राप्तिके लिये विशुद्धि और अप्रतिपात इन दोनोमे विशेषता कही है ॥ १८२ ॥

मन:पर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो मनमे सक्लेशरहित प्रसन्नता उत्पन्न होती है वह विशुद्धि है ऐसा शुद्ध मनवाले आचार्योने कहा है। वह विशुद्धि द्रव्यविशुद्धि, क्षेत्रविशुद्धि, कालविशुद्धि और भावविशुद्धि ऐसे चार भेद धारण करती है। ऋजुमति ज्ञानकी अपेक्षा विपुलमतिज्ञानकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे विशुद्धि अधिक है—विशुद्धतर है। कार्मणद्रव्यका अतिम अनतवा भाग जो कि सर्वावधिज्ञानने जाना था उसके पुनः अनन्तभाग करके जो अनन्तवा भाग आता है, वह ऋजुमति—मन पर्ययका ज्ञेय होता है। उसकोभी अनतबार अनतसे भागनेपर जो द्रव्य अनन्तवा आजाता है, वह विपुलमति मन:पर्ययका ज्ञेय—विषय समझना चाहिये। इस प्रकार विपुलमतिकी विशुद्धता ऋजुमतिकी अपेक्षासे विशुद्धतर होकर अनेक प्रकारोको धारण करती है ॥ १८३-१८४॥

कर्मद्रव्यका जो अनन्तवा सूक्ष्म भाग माना गया है वह सर्वावधिज्ञानका विपय है ऐसा सूक्ष्मज्ञानी जिनेश्वरने कहा है। उसको फिर अनन्तसे अनन्तबार भागनेपर जो अन्त्य अनन्तवा भाग माना जाता है वह पचेन्द्रिय-विपय-विरक्त मुनियोसे ऋजुमतिका महत्त्वशाली विपय माना है। उसकोभी पुन. अनन्तबार भागनेसे जो अन्तिम भाग आता है वह विपुलमतिमन.पर्ययका विपय है ऐसा विशुद्ध मनवाले महर्पियोने माना है ॥ १८५–१८७ ॥

[ऋजुमति और विपुलमतिकी क्षेत्रविशुद्धि ।] — पूज्य ऐसे ऋजुमतिमन.पर्ययका जघन्यक्षेत्र क्षेत्रकी अपेक्षासे गव्यूतिपृथक्त्व है अर्थात् तीन कोसके ऊपर और नौ कोसके भीतर है अर्थात् इतने क्षेत्रमे लोगोके मन स्थित विचारोको ऋजुमतिवाले मुनि जानते है। और उत्कर्षसे तीन योजनके ऊपर और नौ योजनोके भीतर लोगोके मन.स्थित पदार्थोको-विचारोको जानते है ॥ १८८ ॥

विपुलमति मन.पर्यय ज्ञानका क्षेत्र जघन्यत तीन योजनके ऊपर और नौ योजनके भीतर है। और उत्कर्पसे मानुपोत्तर पर्वतके अन्ततक अर्थात् उस पर्वतके भीतर है, बाहर नही है ॥१८९॥

१ आ गदिता २ आ. योजनादि

कालतश्च जघन्येन जीवानामात्मनः पुनः । भवान्तराणि जानाति द्वित्राण्यृजुमतिर्महान् ॥ १९०
उत्कर्षेण तु सप्ताष्ट भवान्गत्यादिभेदतः । प्ररूपयति शुद्धात्मा विशुद्धतरभावतः ॥ १९१
सप्ताष्टौ च जघन्येन विपुलादिमतिर्महान् । भवान्गृह्णात्यसंख्यातानुत्कर्षेणातिशुद्धितः ॥ १९२
सूक्ष्मसूक्ष्मतरस्तावद्भावोऽपि द्वितये सतः । सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तैर्द्वितयज्ञैर्महर्षिभिः ॥ १९३
अपातिपातितस्तावद्विशिष्टो विपुलर्द्धिमान् । स्वामिनां वर्धमानेन चारित्रेण विशेषतः ॥ १९४
विशुद्धिक्षेत्रसत्स्वामिविषयेभ्यो विशेषतः । अवधेर्विशिष्टश्चैव मनःपर्यय इष्यते ॥ १९५
लोकालोकप्रकाशात्मा केवलज्ञानमुत्तमम् । केवलं जायते यस्मादशेषावरणक्षयात् ॥ १९६

[कालकी अपेक्षा दोनो मनःपर्यय ज्ञानोकी विषयविशुद्धि ।] — कालकी अपेक्षासे जघन्यतः महान् शुद्धस्वरूप ऋजुमतिज्ञान जीवोके और अपने दो तीन भव जानता है । और उत्कर्षसे गति आगतिके अपेक्षासे सात आठ भव जानता है । महान् विपुलमति जघन्यसे सात आठ भव अपने और अन्योके जानता है, तथा उत्कर्षसे अत्यंत विशुद्धता होनेसे अपने और अन्योके असख्यात भव गति–आगतिसे जानता है ॥ १९०–१९२ ॥

[भावकी अपेक्षासे दोनो ज्ञानोमे विशेपता ।] — भावकी विशुद्धता दोनो ज्ञानोमे सूक्ष्म सूक्ष्मतर है अर्थात् ऋजुमतिकी जो भावकी अपेक्षासे विशुद्धता है, उससेभी अधिक विशुद्धता विपुलमतिकी है, ऐसा सर्व रागद्वेषादि द्वद्वोसे रहित इन दोनो ज्ञानोको जाननेवाले महर्षियोने माना है । ॥ १९३ ॥

[अप्रतिपाती और प्रतिपातीकी अपेक्षासे विशेपता ।] – विपुलर्द्धि मनःपर्ययके धारक मुनि क्षीणकषाय गुणस्थानमे सर्व कषायोका घात करते है। इसलिये वे सयमशिखरसे नीचे नहीं गिरते हैं। परतु ऋजुमति मनःपर्ययवाले मुनि उपशातकषायमे चारित्रमोहोदय होनेसे सयमशिखरसे च्युत होते है। विपुलमति मनःपर्ययवाले मुनि बढते हुए चारित्रके कारण ऋजुमतिवाले मुनियोसे श्रेष्ठ होते है ॥ १९४ ॥

[अवधि और मनःपर्ययज्ञानमे विशेपता ।] — विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय इनकी अपेक्षासे अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमे विशेष विशेपता है अर्थात् अवधिज्ञानसे मनःपर्ययज्ञान विशिष्ट माना गया है ॥ १९५ ॥

स्पष्टीकरण– विशिष्ट सयमगुण जिसमे होता है उस मुनीश्वरकोही मनःपर्यय होता है। मनुष्योमें मनःपर्यय होता है, देव, नारकी और पशुओमे नहीं होता है । गर्भज मनुष्यमेही मनःपर्यय उत्पन्न होता है, सम्मूर्च्छन मनुष्योमे नहीं । गर्भजोमे उत्पन्न होनेवाला वह मनःपर्ययज्ञान

१ आ. अप्रपातित्वतस्तावत् २ आ. विपुलादिमान्

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमीषद्धर्मेषु वस्तुषु । वर्तते विषयत्वेन रूपिष्वेवावधिर्मतः ॥ १९७

अकर्मभूमिजोमे—भोगभूमि और म्लेच्छादिकोमे उत्पन्न नहीं होता है। कर्मभूमिजोमेभी, पर्याप्तकोमेंही उत्पन्न होता है, अपर्याप्तोमे नहीं। पर्याप्तकोमेभी जो सम्यग्दृष्टि है उनमे उत्पन्न होता है, मिथ्यादृष्टियोमे, सासादन सम्यग्दृष्टियोमे और सम्यङ्मिथ्यादृष्टियोमे नही। सम्यग्दृष्टियोमेभी वह मुनियोमेही उत्पन्न होता है, असयतसम्यग्दृष्टि और सयतासयतोमे उत्पन्न नही होता। सयतोमेभी प्रमत्तसयतसे लेकर क्षीणकषायान्त उत्पन्न होता है। उत्तरगुणस्थानोमे सयोग अयोगगुणस्थानोमे नहीं मिलता है। प्रमत्त सयतादि गुणस्थानोमे जो मुनि प्रवर्द्धमान चारित्रवाले होते है, उनमे वह ज्ञान होता है। हीनचारित्रोमे नही होता है। प्रवर्द्धमान चारित्रवालोमेभी सात प्रकारकी ऋद्धियोमेसे जिनको कोई ऋद्धि प्राप्त हुई है, उनको मन·पर्यय प्राप्त होता है। ऋद्धिप्राप्तोमेभी सबको प्राप्त नहीं होता है। किसी एकको ही प्राप्त होता है। अवधिज्ञान तो चतुर्गतिके जीवोको प्राप्त होता है। अत: स्वामिभेदसे इनमे भेद है। अवधिज्ञानका क्षेत्र बडा है। विषयकी अपेक्षासे—अवधिज्ञानके विषयसे मन.पर्ययज्ञानका विषय अत्यत सूक्ष्म है। इस प्रकार क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षासे इन दो ज्ञानोमे विशेषता व्यक्त की है ॥ १९५ ॥

[केवलज्ञानका स्वरूप और उसका विषय]— सपूर्ण ज्ञानावरण कर्मका क्षय होनेसे लोकको और अलोकको प्रकाशित करनेवाला उत्तम केवलज्ञान उत्पन्न होता है। वह अकेलाही रहता है। उसके साथमे अन्य सब ज्ञान नहीं होते है ॥ १९६ ॥

[मतिज्ञानादिक पाच ज्ञानोके विषय ।] — मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये द्रव्योके कुछ पर्यायोको विषय करते है और अवधिज्ञान रूपीपदार्थोको विषय करता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन षड्द्रव्योके कुछ पर्याय मति और श्रुतज्ञानके विषय होते है। सब पर्याय इनके विषय नहीं होते है। क्योकि मतिज्ञान इन्द्रियोसे उत्पन्न होता है और इन्द्रिया रूपरसादिक पर्यायोको ग्रहण करती है। सपूर्ण पर्यायोको ग्रहण करनेमे वे असमर्थ होती है। श्रुतज्ञान शब्दसे उत्पन्न होता है और शब्द सर्व सख्यातही होते है और द्रव्योके पर्याय असख्यात अनत होते हैं वे सब विशेषाकारोंसे शब्दोद्वारा नहीं ग्रहण किये जाते है।

विशेषार्थ — धर्मादिक द्रव्य अतीन्द्रिय होनेसे उसमे मतिज्ञान कैसे प्रवृत्त होगा? इसलिये उसके सर्व द्रव्य विषय मानना योग्य नहीं है' यह कहना ठीक नहीं है। क्योकि नोइन्द्रियावरण कर्मकी क्षयोपशमलब्धिकी अपेक्षासे नोइन्द्रिय मन धर्मादिकोमे प्रवृत्त होता है। यदि वह उनमे प्रवृत्त न होता तो अवधिज्ञानके साथ उसका उल्लेख करना पडता। नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे अव-

१ आ. रूपिष्ववधि

तस्यानन्तविभागो यः स मनःपर्ययस्य च । समस्तद्रव्यपर्यायविषयं केवलं मतम् ॥ १९८
मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमित्यपि । अज्ञानानि प्रजायन्ते मिथ्यात्वानुगतानि च ॥ १९९
सरजस्कटुकालाबुगतदुग्धं यथा भवेत् । विपर्यस्तं तथा ज्ञान मिथ्यात्वेनोपजायते ॥ २००

ग्रहादिरूप उपयोग धर्मादि द्रव्योमे प्रथमत उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर धर्मादिद्रव्योमे श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये मति और श्रुतज्ञानके सर्व द्रव्य अपने अपने अल्पपर्यायोके साथ विषय होते है ऐसा आचार्यका कहना अयोग्य नही है।

अवधिज्ञान विकल प्रत्यक्ष है और इंद्रिय, मनकी अपेक्षा छोडकर आत्मामे अवधिज्ञानावरण क्षयोपशमसे होता है। उसका विषय रूपिद्रव्य और उसके स्वयोग्य-पर्याय विषय है, रूपिद्रव्योके समस्त पर्याय अवधिज्ञानके विषय नहीं होते है। रूपिशब्दसे पुद्गलद्रव्य ग्रहण किया जाता है, जो कि स्पर्श, रस, गधवर्णसे युक्त होता है। ससार अवस्थामे जीवको पुद्गलद्रव्यका सबध होनेसे वहभी रूपी माना जाता है। इसलिये रूपियोमे अर्थात् पुद्गलोमे और जीवपर्याय–स्वरूप जो औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव है उनमे अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। क्योकि ये जीवपर्याय रूपिद्रव्यके सबंधसे उत्पन्न हुए है। परतु क्षायिक पर्याय और पारिणामिक पर्याय जीवके रूपिद्रव्यके सबधके विना उत्पन्न होनेसे उनमे अवधिज्ञान प्रवृत्त नही होता है। वैसे धर्मास्तिकायादिकोमेभी रूपिद्रव्यका सबध नहीं होनेसे प्रवृत्त नही होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ १९७ ॥

[मनःपर्यय और केवलज्ञानका विषय ।] – पहले जो सर्वावधिज्ञानका विषय कहा है, उसके अनतभाग करके उसके एक भागमे मनःपर्यय प्रवृत्त होता है। केवलज्ञान सपूर्ण जीवादिकषड्द्रव्य और उनके सपूर्ण पर्याय त्रिकालके अनन्तानत पर्याय जाननेमें समर्थ है। विशेषार्थ–ऐसा द्रव्य वा पर्याय नहीं है, जो कि केवलज्ञानका विषय नही हुआ है। इस केवलज्ञानका माहात्म्य अपरिमित है। मत्यादिक चार ज्ञान क्षायोपशमिक है परन्तु केवलज्ञान क्षायिक होनेसे पूर्ण निर्मल और ज्ञानावरणका पूर्ण नाश होनेसे उत्पन्न हुआ है। यह ज्ञान अनत, एक असहाय अद्वितीय है। त्रिकालके सपूर्ण अर्थ व उनके सपूर्ण पर्याय इसका विषय है तथा सतत सपूर्ण सुखका स्थान है ॥ १९८ ॥

[मत्यादिक ज्ञान और कुज्ञान है।] – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानभी जब मिथ्यादर्शनके साथ सबद्ध होते है तब अज्ञान होते है। जैसे रजके साथ कटुतुबीमें मधुर दुग्ध रखनेसे वह दुग्ध कटुक होता है, वैसे ये तीन ज्ञान मिथ्यात्वके सबधसे अज्ञान स्वरूप हो जाते है, विपर्यस्त होते है। मिथ्यादृष्टि इच्छाके वश होकर पदार्थको जानते है। किस अपेक्षासे पदार्थ नित्य माना जाता है और किस अपेक्षासे वह अनित्य माना जाता है इसकी विवेचकता मिथ्यादृष्टियोमे नहीं रहती है, वे एकान्तपनेसे वस्तुके स्वरूप मानते है और कभी विपरीतभी मानने लगते है। तथा सत्पदार्थको सत् और असत्पदार्थको असत्भी मानने लगते है। परतु उनका वह मानना अप्रमाण है।

इच्छाथा[1] वशतो नित्यं युक्तायुक्ताविवेचकः । मद्यपेनेव गृह्णाति पदार्थास्तेन दुष्यति[2] ॥ २०१
आद्ये परोक्षमित्येव प्रत्यक्षमपरं त्रयम् । सापेक्षेणानपेक्षेण भावेनैतन्निगद्यते ॥ २०२
सम्यग्ज्ञानप्रदीपोज्ज्वलबहलशिखारश्मिजालैर्विशालैः ।
अज्ञानान्धान्धकारं निजहृदयगुहाक्रीडलीनं निरस्य ॥
ये वर्तन्ते त एते जगदखिलमिदं कर्मणा क्लिश्यमानम् ।
पश्यन्तः स्वस्य सिद्धेर्दधति पटुधियः कार्यमन्तः स्फुरन्तः ॥ २०३

जैसे मद्यपान करनेवाला मनुष्य माताको भार्या और भार्याको माता मानता है, कभी यदृच्छासे भार्याको भार्या और माताको माताभी मानता है, तो भी उसका मानना प्रमाण नही है। इसी प्रकार मत्यादिक ज्ञानोंको रूपादि पदार्थोंमे मिथ्यात्वसे विपरीतपना प्राप्त होता है। मिथ्यादर्शन परिणाम जब आत्मामे प्रगट होता है तब रूपादिक ज्ञान होनेपरभी उसमे कारण-विपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूप-विपर्यास उत्पन्न करता है ॥ १९९–२०१ ॥

[प्रत्यक्ष और परोक्षज्ञान।]– पहिले मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान है, और अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इंद्रिय और मनकी अपेक्षा लेकर पदार्थको जानते है। अतः वे दोनो ज्ञान सापेक्ष होनेसे परोक्ष है। उनकी अपेक्षा विना वे पुदार्थोंको नहीं जान सकते है। इद्रियाभी प्रकाश आदिकी अपेक्षाबिना मतिज्ञान श्रुतज्ञानको उत्पन्न नहीं करती है। अर्थात् आद्य दो ज्ञान परावलम्बी होनेसे परोक्ष है और अवधि आदिक तीन ज्ञान इन्द्रिय, मन, पदार्थ आदिकी अपेक्षाके बिनाही पदार्थोंको सीधा जाननेमे समर्थ है, इसलिये वे प्रत्यक्ष है। जैसे लगडा मनुष्य हाथमे लाठी लेकर उसके सहायतासे चलता है यद्यपि उसमे जानेका सामर्थ्य है परतु लाठीके बिना वह चल नही सकता। उसके गमनमे लाठीका आश्रय प्रधान है, वैसे मतिश्रुत ज्ञानको इन्द्रियॉदिकी अपेक्षा लेनी पडती है। अवधिज्ञानादि तीन ज्ञानोको वह अपेक्षा नहीं रहती है। अत. वे प्रत्यक्ष है ऐसा समझना चाहिये ॥ २०२ ॥

[सम्यग्ज्ञानीकी महिमा।]– सम्यग्ज्ञानरूपी प्रदीपकी उज्ज्वल और विपुल ऐसी जो शिखा उसके विशाल किरणसमूहोसे विद्वान् लोग अपनी हृदय गुहाके मध्यभागमे ठहरे हुए अज्ञानरूपी सघन अधकारको निकालकर शान्ततासे रहते है। तथा कर्मसे पीडित होनेवाले इस सपूर्ण जगतको देखते हुए, तथा अपनी आत्मामे स्फुरायमान होते हुए, ज्ञानसे वृद्धिंगत होते हुए सिद्धिका कार्यरूप सुख धारण करते है। अर्थात् उनका सम्यग्ज्ञान बढनेसे वे मुक्तिसुखका अनुभव लेते है ॥ २०३ ॥

---

१ आ. यदृच्छा २ आ. दूषितः

ज्ञानं चारित्रमूलं श्रयति बुधजनो ज्ञानमेवाद्य तत्त्वम् ।
ज्ञानेनोच्चै. पदं तद्भवति नम इति ज्ञानतत्त्वाय तस्मै ॥
ज्ञानान्मोक्षस्तु तुल्यं भवति न हि पुनर्ज्ञानमानस्य किञ्चित् ।
ज्ञाने बुद्धिं तदस्माद्विदधत विबुधा साधु वन्द्येऽनवद्याम् ॥ २०४

इति श्रीसिद्धान्तसारसग्रहे पण्डिताचार्यनरेन्द्रसेनविरचिते सम्यग्ज्ञाननिरूपणो द्वितीयः परिच्छेद. ॥

[ज्ञान शब्दका सात विभक्तियोमे प्रयोग कर उसका महत्त्व आचार्य दिखाते है।] — यह सम्यग्ज्ञान चारित्रका मूल है अर्थात् सम्यग्ज्ञानसे चारित्रका स्वरूप ज्ञात होता है जिससे वह धारण करनेमे और उसके पालनमे महती सहायता प्राप्त होती है। इसलिये बुद्धिमान लोग जीवादि पदार्थोको जाननेमें मुख्य उपाय भूत सम्यग्ज्ञानका अवलम्ब करते है। ज्ञानही पहिला तत्त्व है। इस सम्यग्ज्ञानसे उच्च पदकी प्राप्ति होती है। इसलिये इन ज्ञानतत्त्वको हम नमस्कार करते है। इस ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। सम्यग्ज्ञानरूपी जो प्रमाण है, उसकी समानताको कोईभी प्राप्त नहीं कर सकता। अत हे विद्वद्गण यतिसमूहसे वन्दनीय इस ज्ञानमे आप अपनी बुद्धि स्थिर करे ॥ २०४ ॥

* पण्डिताचार्य नरेन्द्रसेनविरचित श्रीसिद्धान्तसारसङ्ग्रहमे सम्यग्ज्ञानका निरूपण करनेवाला दूसरा परिच्छेद समाप्त हुआ। *

---

१ आ. प[illegible] इति नास्ति २ आ सम्यग्ज्ञाननिरूपणो इति नास्ति ।

[तृतीयोऽध्यायः]

नमस्कृत्य महावीरमुरीकृतसद्गुणम् । गुणेभ्यो निर्गतं किञ्चिद्वक्ष्ये चारित्रमञ्जसा ॥ १
चर्यते चरणं वापि कर्मकक्षक्षयानलम् । पञ्चधा पञ्चमज्ञाननायकैरुपलक्ष्यते[1] ॥ २

[तृतीय अध्याय]

[महावीर जिनस्तुति ।]— अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति आदि अनन्तगुण धारण किये हुए महावीर जिनेश्वरको नमस्कार कर गुणोसे प्रगट हुए चारित्रको मै संक्षेपसे कहता हू ॥ १ ॥

विशेष स्पष्टीकरण—चारित्र-मोहकर्मके क्षयोपशमसे अथवा उपशमसे किंवा क्षयसे जो आचरा जाता है उसे चारित्र कहते है। अथवा जो सदाचार पाला जाता है उसे चारित्र कहते है । संसारके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है। उनका नाश करनेके लिये उद्यत हुए अथवा ससारके कारण भूत--ज्ञानावरणादि आठ कर्मोका नाश करनेके लिये उद्यत हुए ज्ञान-वान् सम्यग्दृष्टिके वाचिक, कायिक और मानसिक क्रियाविशेषोका अभाव होना परमचारित्र है, यथाख्यात-चारित्र है। क्रियाओका पूर्ण अभाव वीतरागोमे होता है। उसे यथाख्यातचारित्र कहते है और सयतादिकसे सूक्ष्म सापरायतक जो क्रियाओका अभाव होता है, वह कम जादा होता है । पाचवे सयतासयत गुणस्थानमे कुछ अविरतिरूप क्रियाओका अभाव होता है अर्थात् वहा देश-विरति होती है। इसके अनतर प्रमत्तसयतमे अविरतिरूप क्रियाका पूर्ण त्याग होता है । अप्रमत्त गुणस्थानमे प्रमादरूप क्रियाका अभाव होता है, अपूर्वकरण गुणस्थानसे सूक्ष्मसापरायतक गुणस्थानोमे कषायरूपी क्रियाओका अभाव होता है और उपशातकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोग-केवलियोमे योगकाभी अभाव होता है अर्थात् सयोगकेवलि जबतक विहार करते है तबतक उपदेशादि क्रियारूप योग रहता है और जब विहार बद होता है, तब वचनादि क्रिया कम होते होते चौदह गुणस्थानमे योगक्रिया पूर्ण नष्ट होती है। अनतर उस अयोगकेवलि गुणस्थानके अन्त्यसमयमे परम यथाख्यातचारित्र प्राप्त होकर मोक्षप्राप्ति होती है ॥ १ ॥

जो आचरा जाता है अर्थात् जो सदाचार पालन किया जाता है, वह कर्मवनको नष्ट करनेकेलिये अग्निकासा है । इसके पचम ज्ञानके नायकोने पाच प्रकार बताये है । ये ये है—सामा-यिक, छेदोपस्थाना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसापराय और यथाख्यातचारित्र । जैसा शुद्ध आत्माका स्वरूप आगममे कहा है वैसा यथाख्यात-चारित्रमे प्राप्त होता है। इसलिये यह चारित्र शुद्ध आत्माके

---

१ आ उपलाल्यते

सामायिकं तथा छेदोपस्थापनमुदीरितम् । परिहारविशुद्धिःस्याच्चतुर्थं सूक्ष्मसम्परम्[१] ॥ ३
यथाख्यातं यथाख्यातपदे चानुप्रवेशकम् । चारित्रं त्रितयज्ञानकोविदा निगदन्ति तत् ॥ ४
व्रतं च हिंसानृतस्तेयाब्रह्मणस्तु परिग्रहात् । विरतिस्तद्व्रतं ज्ञेयं कर्तव्यैकनिरूपकम् ॥ ५
प्रमत्तयोगत. प्राणिप्राणानां व्यपरोपणम् । हिंसा भवति जीवानां भवदु खैककारणम् ॥ ६
त्रित्रित्रिभिश्चतुर्भिश्च संरम्भाद्यैः परस्परम् । अष्टोत्तरशतं हिंसा भेदतो जायते नृणाम् ॥ ७

स्वरूपमे प्रवेश करनेकेलिये कारण है ऐसा अवधि, मन.पर्यय और केवलज्ञानके धारक विद्वान् कहते हैं ॥ २–४ ॥

[व्रतलक्षण।] – हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, मैथुनसेवन और परिग्रहाभिलाप इनसे विरक्त होना व्रत है । मैं इसप्रकारसे यह कार्य करूगा ऐसा जो मन.सकल्प उसे व्रत कहते हैं । मैं हिंसासे, असत्य भाषणसे, चोरीसे, मैथुनसे और परिग्रहकी अभिलाषासे – एकदेशसे अथवा पूर्णरूपसे विरक्त होता हू, ऐसा जो नियम-मन सकल्प करना उसे व्रत कहते है। अथवा मै अहिंसाका पालन करूगा, सत्य वचन कहूगा, धनस्वामी जो मुझे धन देगा उसे ग्रहण करूगा, ब्रह्मचर्यका पालन करूगा और अपरिग्रहत्वका स्वीकार करूगा, इस प्रकार कर्तव्यकी प्रतिज्ञा करना विध्यात्मक व्रत है ॥ ५ ॥

[हिंसाकी व्याख्या ।] – प्रमत्तयोगसे प्राणियोके प्राणोका नाश करना हिंसा है । वह जीवोको ससारदु ख देनेमे मुख्यकारण है ॥ ६ ॥

स्पष्टीकरण– जो प्रमादयुक्त है, कषायसंयुक्त परिणामवाला है उसे प्रमत्त कहते है । इन्द्रियोकी क्रियाओमे सावधानता न रखता हुआ स्वच्छंदसे प्रवृत्ति करनेवाला जो मनुष्य उसे प्रमत्त कहते हैं । अथवा जिसके मनमे कषाय बढ गये है, जो प्राणघातके कारणोमे तत्पर हुआ है, परंतु अहिंसामे शठतासे प्रवृत्ति दिखाता है, कपटसे अहिंसामे यत्न करता है, परमार्थरूपतासे अहिंसामे प्रयत्न जिसका नहीं है उसे प्रमत्त कहते है । अथवा चार विकथा, चार क्रोधादि कषाय, पाच स्पर्शनादि इंद्रियॉ और निद्रा तथा स्नेह ये पद्रह प्रमाद है । इनसे जो युक्त है उसे प्रमत्त कहते है । ऐसे प्रमत्त पुरुषकी जो मन, वचन और शरीरकी प्रवृत्ति उसे प्रमत्तयोग कहते है। इस प्रकारके प्रमत्तयोगसे जो प्राणियोके इंद्रियादि दश प्राणोका घात करना–वियोग करना उसे हिंसा कहते है । वह ससारदु खका मुख्य कारण है ॥ ६ ॥

[हिंसाके एकसौ आठ भेद ।] – सरंभ, समारभ और आरभ इनसे मनवचनकायको गुना करनेसे नौ भेद होते है । फिर इन नौ भेदोसे कृतकारित और अनुमोदनको गुना करनेसे

१ आ सूक्ष्मपदग्रहम्

घोरान्धकारकूपे या निरये वसतिं क्रमात् । यच्छत्याराधिता हिंसा नराणां दुःखहेतुका ॥ ८
हिंसासरित्प्रवाहान्तर्निमग्ना येऽत्र दुर्धियः । ते पतन्ति भवाम्भोधौ बहुदुःखसमाकुले[1] ॥ ९
यानि दुःखानि विद्यन्ते विविधासु च योनिषु । तानि सर्वाणि हिंस्रस्य सुलभानि भवान्तरे ॥ १०
शिरश्छेदं खरारोपं कुल्लालकुसुमार्चनम् । हिंसको लभते दुःखमिह लोकेऽपि दारुणम् ॥ ११

सत्ताईस भेद होते है। तथा इन सत्ताईस भेदोसे चार कषायोको गुना करनेसे एकसौ आठ भेद होते है। ये हिसाके एकसौ आठ भेद मनुष्योको दु.खदायक होते है ॥ ७ ॥

स्पष्टीकरण— प्रमादयुक्त पुरुषका प्राणिहिसामे जो प्रयत्न करना उसे सरभ कहते है। हिसाके साधनोको प्राप्त करनेको समारभ कहते है और हिसाकार्य करनेमे प्रवृत्त होनेको आरभ कहते है। कृत—स्वय हिसा करना, कारित—दूसरोसे हिसा कराना, अनुमत—हिसा करनेवालोको अनुमोदन देना। क्रोध, मान, माया लोभोको कषाय कहते है। क्रोधकृत-कायहिंसा-सरभ, मानकृत--कायहिंसा-सरभ, मायाकृत-कायहिंसा—सरभ, लोभकृत-कायहिसा-सरभ। क्रोधकारित—काय-हिसा-सरभ, मानकारित-कायहिसा-संरभ, मायाकारित-कायहिंसा—सरभ, लोभकारित-कायहिसा-सरभ। क्रोधानुमत-कायहिसा—सरभ, मानानुमत—कायहिंसा—सरभ, मायानुमत—कायहिसा—सरभ, लोभानुमत कायहिसा--सरभ। ऐसे कायहिसा-सरभके बारह भेद है। ऐसेही वचनद्वारा हिसासरभके बारह भेद, तथा मनोहिसा संरभके बारह भेद होनेसे छत्तीस भेद संरभके होते है। इस प्रकारसे छत्तीस समारभके और छत्तीस आरंभके भेद होते है। सब मिलकर एकसौ आठ भेद हिसाके होते है। ऐसेही अस-त्यादिक पापोकेभी एकसौ आठ, एकसौ आठ भेद होते है। इन पापोके त्यागभी एकसौ आठ, एकसौ आठ प्रकारके होते है ॥ ७ ॥

दु.खका हेतु ऐसी हिंसाकी आराधना करनेसे वह हिंसा जहा घोर अधकारके कुए है ऐसे नरकमे मनुष्योको क्रमसे निवास करनेके लिये भेजती है ॥ ८ ॥

हिसारूप नदीके प्रवाहके बीचमे जो दुर्बुद्धि पुरुप डूब गए है वे अनेक दु खोसे भरे हुए ससारसमुद्रमे जाकर गिरते है ॥ ९ ॥

अनेक योनियोमे जो दु ख है वे सब हिंसा करनेवाले पुरुपको अन्यजन्मम सुलभतासे प्राप्त होते है ॥ १० ॥

इहलोकमेंभी हिसक मनुष्यको मस्तकच्छेदका दु.ख प्राप्त होता है। उसे गधेके ऊपर चढाते है, मट्टीके बर्तनोके टूकडे और पत्थरोसे मारते है ऐसे दु ख उसे प्राप्त होते है ॥ ११ ॥

---

१ आ. समाकुलाः

षट्षष्टिस्तु सहस्राणां षट्त्रिंशत्षट्शती[1]युता । अन्तर्मुहूर्ततो हिंस्रे बालमृत्यु. प्रजायते ॥ १२
नरकान्निर्गता[2]नां च हिंस्राणां दु.खदु.खत: । सिंहव्याघ्रादितिर्यक्षु दु खं वाचामगोचरम् ॥ १३
काकतालीययोगेन यदि मानुष्यमञ्चति । हिंस्रस्तत्रापि तेनैव दौर्गत्यमभिगच्छति ॥ १४
काण कुण्टस्तथा मण्टो बधिरो दुर्भग: कुणि' । क्षुद्र: सुदुर्वचा नीच: कुष्टादिबहुरोगभाक् ॥ १५
सर्वधर्मातिगो नित्यं सर्वपापपरायण. । सर्वद्वन्द्वसमायुक्त: सर्वदु:खखनि. पुमान् ॥ १६
निरयान्निर्गतो दुष्ट क्रोधशोकभयाकुल' । हिंसको जायते हिंस्र. कुधर्मैकरतो भुवि ॥ १७

[हिंसक बालमृत्युसे मरता है ।] – जो हिंसक है उसे छयासठ हजार छहसौ छत्तीस बार बालमृत्यु प्राप्त होते हैं ।

स्पष्टीकरण–विकलेन्द्रियोमे द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके अस्सीभव, त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके साठ भव, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके चालीस भव और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके चौबीस तथा एकेन्द्रियोके छ्यासठ हजार एकसौ बत्तीस भव हिंसकको प्राप्त होते है । ये भव मिथ्यात्वसे प्राप्त होते है और अन्तर्मुहूर्तमे इतने मरण प्राप्त होते है । मिथ्यात्वसे प्राप्त होनेवाले मरणको बालमरण कहते है । एकेन्द्रियोके मरणोका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—स्थूल और सूक्ष्म दोनोही प्रकारोके जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और साधारण और प्रत्येक वनस्पति इस प्रकार सपूर्ण ग्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोमेसे प्रत्येकके छह हजार बारह मरण होते हैं । भावार्थ–स्थूलपृथ्वी, सूक्ष्मपृथ्वी, स्थूल जल, सूक्ष्म जल, स्थूल वायु, सूक्ष्म वायु, स्थूल अग्नि, सूक्ष्म अग्नि, स्थूल साधारण, सूक्ष्म साधारण, तथा प्रत्येक वनस्पति इन ग्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोमेसे प्रत्येकके छह हजार बारह मरण होते है । इसलिये ११ को ६०१२ से गुना करनेपर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवोके उत्कृष्ट मरणोका प्रमाण निकलता है ॥ १२ ॥ (गो जी का गा. १२२–१२४)

हिंस्रजीव नरकमे अतितीव्र दु.ख भोगकर बडे कष्टसे वहांसे निकलता है, और सिंह, व्याघ्र आदि पशुओमे जन्म लेकर वहा वचनातीत दु.खानुभव करता है ॥ १३ ॥

[मनुष्यगतिमेभी हिंसक दु खी होता है ।] – काकतालीय न्यायसे यदि हिंसकको मनुष्यपर्याय प्राप्त हो गया तो वहाभी दारिद्र्यदु ख प्राप्त होता है । तथा वह काना, लगडा, अधा, बहरा, कुरूप, लूला, क्षुद्र, अतिशय कर्णकठोर शब्दवाला, नीच और कुष्टादि अनेक रोगोसे पीडित होता है । वह सर्व धर्मरहित, हमेशा पापोमे तत्पर, सर्व कलह और सक्लेशोसे युक्त और सर्व दु खोकी खान उत्पन्न होती है ॥ १४–१६ ॥

हिंस्र और दुष्ट प्राणी नरकसे जब निकलता है तब वहाके क्रोध, शोक, भय आदि

१ आ त्रिशतीयुता २ आ. निसृताना

हिंसां धर्मं वदन्त्येवं हिंसा मङ्गलमुत्तमम् । हिंसा शान्तिकरा तस्य हिंसयोद्भूतदुर्मतेः ॥ १८
मूढात्मानो न जानन्ति कार्यकारणनिर्णयम् । मन्त्रपूतां वदन्त्येवं हिंसां सद्धर्मकारिणीम् ॥ १९
अमन्त्रपूता पापैकहेतुभूतां वदन्त्यमी । यदि तां प्रवर्तयेन्मन्त्र पापात्मा च कथं न हि ॥ २०

संस्कारोंसे भरा हुआ इस भूतलपर जन्म धारण करता है । तथा कुधर्ममें मुख्यतासे तत्पर होकर प्राणियोंका यज्ञादिरूपसे घात करता है ॥ १७ ॥

हिंसासे जिसको दुर्बुद्धि उत्पन्न हुई है, ऐसे उस मनुष्यको कई कुबुद्धि लोग " हिंसा शांति करनेवाली है, हिंसा उत्तम मंगल है और हिंसा धर्म है " ऐसा उपदेश देते हैं ॥ १८ ॥

" कितनेही मूढात्मा कार्यकारणका निर्णय नहीं जानते हैं और मंत्रसे जब हिंसा पवित्र होती है तब वह सद्धर्मको उत्पन्न करती है " ऐसा कहते हैं । स्पष्टीकरण— कई कहते हैं, कि " जो हिंसा वेदमंत्रके बिना की जाती है, वह रागादिकोंका हेतु होती है और जो हिंसा वेदविहित है वह शांतिके लिये है । उससे शान्ति मिलती है, उसमें क्रोधादिकोंका उदय नहीं होता है । " यह किसीका वचन अयुक्त है । क्योंकि वेदमंत्रसे की गई हिंसा शांतिको नहीं उत्पन्न करती है । अन्यथा ' मातर-मुपैहि स्वसारमुपैहि ' इस वेदवाक्यसे उत्पन्न हो गई मातृसमागमकी और भगिनीसमागमकी प्रवृत्ति शांतिका कारण होगी । तथा जो वेदविहित नहीं है ऐसे सत्पात्र कार्य दानादि शांतिके प्रतिपक्ष हो जायेंगे । वेदविहित कार्य परम्परासे शान्ति करनेवाले हैं यह कहनाभी योग्य नहीं है । वेदविहित हिंसा परम्परासेभी शांति हेतु नहीं होती है । जो शांति चाहते हैं, वे शान्तिके प्रति-कूल हिंसादिकोंमें प्रवृत्त होंगे तो वे विद्वान् कैसे कहलावेंगे ? इससे तो मदके नाशार्थ मदिरापानमें लोग प्रवृत्ति करेंगे ॥ १८ ॥ (युक्त्यनुशासन श्लो. ३८)

" सत्पात्रदान, देवतार्चनादि कार्योंमें जो सूक्ष्म जीवोंका नाश होता है, वह परम्परासे शान्तिका कारण होता है क्योंकि वह संकल्प करके नहीं किया जाता है । उसमें दर्शन-विशुद्धि और परिग्रहपरित्यागकी प्रधानता है । इसलिये वह शांतिहेतु होता है । चैत्यालय बंधवाना, शिल्पकारसे जिनप्रतिमा करवाना आदिकमें प्रमत्तयोग होनेसे प्राणिहिंसा होती है ऐसा समझना अयोग्य है । चैत्यालय जिनप्रतिमादिक कार्य करनेमें प्रमत्तयोग नहीं है, क्योंकि वह कार्य सम्यक्त्ववर्धन करनेवाला है । अतः पाप कारणभी नहीं है " ॥ १९ ॥ (युक्त्यनुशासन श्लो ३८ की टीका)

" जो हिंसा मंत्रसे पवित्र नहीं है वह मुख्यतासे पापकाही कारण है ऐसे याज्ञिक लोग कहते हैं । आचार्य इसका इस प्रकार खण्डन करते हैं— " यदि मंत्र हिंसाको कहता है तो पशुवध करनेवाला वह मंत्र पापात्मा क्यों नहीं है ? अर्थात् हिंसाको करनेवाला मंत्रभी पापमंत्रही समझना

१ आ. वदत्येव २ आ. हिंसोद्भूतसुदुर्मतेः ३ आ वदन्त्येके ४ आ प्रवर्तयन्नेष मन्त्रः

पापहेतुर्मता हिंसा पापमेव करोति सा । न कोद्रवकणः क्वापि गन्धशालिर्भवेद् भुवि ॥ २१
देवातिथिगुरूणां च कृते या क्रियते बुधैः । हिंसा च हिंसदोषस्य फलमाहुस्तदाग्रमी ॥ २२
प्रेक्षावन्तस्ततो हिंसां हेयतन्त्रमिदं त्रिधा । वर्जयन्ति जिनाधीशशासनाज्ञाप्रयत्नतः ॥ २३
अहिंसालक्षणो धर्मः सर्वशर्मकरो नृणाम् । कथं निःसारदेहेन कर्तव्यो न सनीषिभी ॥ २४
अहिंसैव व्रतं पूतमेकमेवेदमुच्चकैः । अपराणि व्रतान्यस्य परिपालनहेतुतः ॥ २५
भवहानिकराः पञ्च भावनाश्चास्य[2] निर्मलाः । भावनीया महाभव्यैर्व्रताराधनतत्परैः ॥ २६
मुखेऽनन्तानि मे सन्ति वचांसि विविधान्यपि । इति मत्वा न यो वक्ति वचःसो[3] गुप्तिमश्नुते ॥ २७
कृत्याकृत्यविदो धीराः कृत्याकृत्यपरायणम् । पथ्यं तथ्यं वदन्त्येव वचोगुप्तिं समाश्रिता[4] ॥ २८
वचोव्यापारजाः सन्ति दोषा हिंसाकरा नृणाम । वाग्गुप्तिभावनायुक्ते न ते सन्ति कदाचन ॥ २९

चाहिये। हिंसा पापका कारण होनेसे वह पापको उत्पन्न करेगीही। कोद्रव धान्यका कण जमीनमें बोनेसे क्या वह सुगंधितशालि धान्यरूप-उत्पन्न होगा ? कदापि नहीं ” ॥ २०--२१ ॥

देवके लिये अर्थात् देवको सतुष्ट करनेके लिये, अतिथिको तृप्त करनेके लिये और गुरुको प्रसन्न करनेके लिये मूर्खलोगोसे जो प्राणिवध किया जाता है सुज्ञजन उसे हिंसादोषका फलही समझते है ॥ २२ ॥

जिनेश्वरकी शासनाज्ञामे प्रयत्न होनेसे बुद्धिमान लोग हिंसाको हेयकर्म समझकर मन, वचन और कायसे त्यागते है ॥ २३ ॥

[अहिंसाका महत्त्व ।]– यह अहिंसालक्षण धर्म मनुष्योको सर्व प्रकारके सुख देता है, ऐसा समझकर विद्वान् लोगोसे अपने निःस्सार देहद्वारा यह व्रत क्यो नही किया जाता है ? बाकीके सत्यादि व्रत इसके परिपालनके लिये होनेसे अहिंसाही बडा पवित्र एकही व्रत है ॥ २४–२५ ॥

[अहिंसाव्रतकी पाच भावनाये ।] – इस अहिंसाव्रतकी निर्मल पाच भावनायें ससार-हानि करनेवाली है । इस व्रतकी आराधना करनेमे तत्पर महाभव्योके द्वारा ये भावना चिंतन करने योग्य है ॥ २६ ॥

मेरे मुखमे अनत वचन है, और नाना प्रकारकेभी है ऐसा समझकर जो नहीं बोलता है वह वचनकी गुप्तिको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

[वचनगुप्ति] – जो कार्य अकार्यको जानते है, और जो धीर है वे वचनगुप्तिको प्राप्त होकर हितकर ऐसाही सत्यवचन बोलते है । वचन बोलनेकी क्रियासे मनुष्योकी हिंसा उत्पन्न करनेवाले दोष लगते है । परन्तु वाग्गुप्तिकी भावनासे जो विद्वान् व्रतिक है उन्हे उन दोषोका सपर्क नहीं होता ॥ २८–२९ ॥

---

१ आ. शालिभवो २ आ. अस्य ३ आ. स च वाग्गुप्ति ४ आ. वाग्गुप्तिमाश्रिताः

मन एव मनुष्याणां व्यापारान्कुरुते बहून् । अत एव प्रयत्नेन मनोगुप्तिर्विधीयते ॥ ३०
व्रतानि तस्य तिष्ठन्ति तस्य सौख्यं निरन्तरम् । सम्पदो विविधास्तस्य मनो यस्य[1] हि निश्चलम् ॥ ३१
प्रमादातिगतो नित्यं संयमानविराधयन् । पश्यन्यो याति सर्वत्र स ह्रीर्यापथगुप्तिमान्[2] ॥ ३२
मुञ्चत्यादाति यो नित्यं वस्तुजातमतन्द्रित । निरीक्षयन्प्रयत्नेन समित. स सत: सताम् । ३३
अन्नपानविधे: शुद्धिं विदधत्स्वीकरोति य. । अन्नपानादिकं तस्य समितिश्चैषणाभिधा[3] ॥ ३४
इत्थं पञ्चप्रकाराभिर्भावनाभिः प्रभावितम् । अहिंसादिव्रतं पूतमनन्तसुखदं भवेत् ॥ ३५
वदन्त्यज्ञानिनो दुष्टं यन्नयापगतं वचः । अनृतं तद्विजानन्ति ऋतवाक्यविचक्षणाः ॥ ३६

[मनोगुप्ति ।] – मनुष्योका मनही नानाविध विचार करता है । इसवास्ते प्रयत्नसे मनोगुप्ति की जाती है । मनको अपने अधिकारमे रखनेमे महान् प्रयत्न करना पडता है । जिसका मन निश्चल है अर्थात् स्वाधीन है उसके व्रत स्थिर होते है और उसे निरन्तर सौख्य मिलता है । अनेकविध सम्पदायेभी उसे प्राप्त होती है ॥ ३०–३१ ॥

[ईर्यापथपालन ।] – प्रमादका उल्लघन कर अर्थात् सावधानतासे सयमकी विराधना न करता हुआ जो मुनि अथवा त्यागी गृहस्थ-ऐलक, क्षुल्लक आदि व्रतिक गृहस्थ मार्गकी देखभाल करके हमेशा सर्वत्र गमन करता है वह ईर्यापथ–गुप्तिका धारक समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

[आदान-निक्षेपण-समिति ।] – जो आलस्य–रहित होकर और प्रयत्नसे देखकर हमेशा पिंछी, कमडलु, शास्त्र आदि वस्तु रखता है अथवा ग्रहण करता है वह समितियुक्त महात्मा सज्जनोसे पूज्य होता है ॥ ३३ ॥

[आलोकित–पानभोजन ।] – खानेके पदार्थ रोटी, दालभात आदि, और पीनेके पदार्थ जल, दूध आदि इनकी शुद्धि करता हुआ जो उनका स्वीकार करता है उसकी एषणा नामक समिति होती है ॥ ३४ ॥

इस प्रकारसे पाच भावनाओसे प्रभावयुक्त हुआ यह पवित्र अहिसाव्रत अनत सुख देनेवाला होता है ॥ ३५ ॥

[असत्यवचनका लक्षण और उसके भेद ।] – जो अज्ञानी लोग है, वे पुण्य और पापसबधी दुष्ट वचन बोलते है । उसको सत्य बोलनेमें चतुर पुरुष अनृतभाषण–असत्य–भाषण समझते है । जो भाषण ऋत भाषणसे–सत्य भाषणसे दूर है उसको अनृत कहते है। ऐसी अनृत शब्दकी व्युत्पत्ति है । वह अनृतभाषण चार प्रकारका है अर्थात् प्राणियोसे–मनुष्योसे चार प्रकारका असत्य भाषण बोला जाता है और वह पापरूपी वृक्षका बडा भारी मूल है ॥ ३६–३७ ॥

१ आ. यस्येह २ आ त्वीर्या ३ आ. श्चैषणादिका

ऋतादपगतं तावदनृतं तद्व्युत्पत्तितः। चतुर्धा जायते जन्तोर्मूलं पापतरोर्महत् ॥ ३७
युक्तायुक्तविमूढानां नित्याद्येकान्तवादिनाम्। असदुद्भावनं निन्द्यमाद्यं ह्यनृतमादिशेत् ॥ ३८
संवृत्त्यैव भवन्त्येते भावाः सर्वे निराश्रयाः। यद्वदन्ति तदेव स्याद्द्वितीय सदपह्नवम् ॥ ३९
सावद्याप्रियगर्ह्यादि निन्द्यं त्रेधा मतं जिनैः। असत्य वचनं घोरं श्वभ्रभूमिप्रवेशकम् ॥ ४०
विपरीतमिदं तावत्तृतीयमनृतं मतम्। केवली कवलं भुङ्क्ते स्त्रीमोक्षादि वदन्ति तत् ॥ ४१

[असदुद्भावन नामक पहिला असत्य वचन ।] – आत्मा ज्ञानादिगुणोसे मुक्त–रहित कभीभी नहीं होता है, परतु वह उनसे मुक्त–रहित है ऐसा कहना। आत्मा कर्मोसे रहित होकर मुक्त दशाको धारण करता है। परतु वह सदा ससारी रहता है ऐसा मीमासक कहते है अर्थात् मुक्त-अमुक्त आदि भेदोको न जाननेवाले जो नित्यादि एकान्तवादी लोग है, वे असदुद्भावन नामका पहिला निन्द्य भाषण बोलते है ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् वस्तु सर्वथा नित्य नही होनेपरभी उसे नित्यही कहना। सर्वथा अनित्य वस्तु नहीं है, तो भी उसे अनित्यही समझना अर्थात् जो वस्तुका स्वरूप नहीं वह है ऐसा समझना, उसे प्रगट करना यह पहिला असदुद्भावन नामक निंद्य असत्य वचन है ॥ ३८ ॥

[सदपह्नव-नामक असत्य-भाषण।] – ये सब घटपटादि पदार्थ संवृतिसे है—मायासे है, वास्तविक नहीं है। इनका कुछ आश्रय नहीं है। जैसे स्वप्नमे हाथी, घोडा आदिक अनेक पदार्थ हम देखते है, परतु उस समय हमारे सामने वे पदार्थ वास्तविक नही रहते है, इसवास्ते जागृति-समयमेभी ये पदार्थ नहीं है, ऐसा जो प्रतिपादन करना वह सदपह्नव है। अर्थात पदार्थोका अस्तित्व होनेपरभी वे नहीं है, ऐसा युक्त्याभासोके द्वारा दिखाना यह दूसरा 'सदपह्नव' नामक असत्य भाषण है। भावार्थ—स्वप्नमेभी जिसका अनुभव आता है वह पदार्थ जागृत अवस्थामे अनुभवमे आया था। इसलिये उसे असत्य नहीं कह सकते। तथा पदार्थ यदि नहीं होते तो आघात, प्रत्याघात आदिक अर्थक्रिया और उससे होनेवाले सुखदु खादिकोके अनुभव सबको माननेही पडते है, क्योकि वे वास्तविक है। किसी समय हमारा कोई अनुभव मिथ्या हो जानेसे सब प्रकारके अनुभव जैसे मिथ्या मानना अयुक्त है वैसेहि कोई पदार्थ असत्य होनेपरभी सब पदार्थ संवृति—असत्य मानना युक्तिके विरुद्ध है ॥ ३९ ॥

[विपरीत नामक असत्य भाषण।] – विपरीत नामका तीसरा असत्य भाषण है। उसका उदाहरण–केवली भगवान हमारे समान अन्न सेवन करते हैं, तथा स्त्रीको मोक्ष प्राप्त होता है इत्यादि बाते कहना यह विपरीत नामक तीसरा असत्य भाषण है। (केवली-कवलाहार और स्त्रीमोक्ष इन विषयोका ग्रंथकारने स्वय विस्तारसे आगे खडन किया है) अत. यहा इसका केवल नामनिर्देश ग्रथकारने किया है ॥ ४० ॥

हिंसाद्यनर्थमूलानामारम्भाणां प्रवर्तकम् । सहावद्येन यद्वाक्यं तत्सावद्यमुदीरितम् ॥ ४२
क्रोधादिगर्भितं निन्द्यं विधुरं[1] वैरकारणम् । तदप्रियं वचोऽवाचि दुर्गदुर्गतिदायकम् ॥ ४३
भिनत्ति परमर्माणि सर्वस्वहरणादिभिः । तद्वचो गर्ह्यमाख्यान्ति गर्ह्यदुःखप्रदं जिनाः ॥ ४४
हितं मितं क्रियायुक्तं सर्वसत्वसुखावहम् । मधुरं वत्सलं वाक्यं वक्तव्य धर्मवत्सलैः ॥ ४५
चतुर्विधमिदं निन्द्यमसत्यं सेवितं नृणाम् । चतुर्गतिमहादुःखवृक्षकक्षप्ररोहणम्[2] ॥ ४६
अविश्वासकरं निन्दापदमङ्गुलिदर्शकम् । इह लोकेऽपि दौर्भाग्यशोकसन्तापकारकम् ॥ ४७
सत्य तदुदितं प्राज्ञैर्यदादेयमहिंसकम् । तथा तद्वदतामत्र किमसाध्यममुत्र वा ॥ ४८
स्वयमेव समायान्ति सम्पदः सत्यवादिनाम्[3] । किं चित्रं यद्यदायान्ति हस्यः पद्माकर वनम्[4] ॥ ४९

जिनेश्वरोने सावद्य, अप्रिय और गर्ह्यादि निन्द्य भाषणके तीन भेद कहे है । यह घोर असत्य भापण नरकभूमिमे जीवका प्रवेश करनेमें कारण होता है ॥ ४१ ॥

[सावद्यादि—वचनोका वर्णन ।] — हिंसादि अनर्थोंका-सकटोका जो मूल कारण है और जीव-घात जिनमे होता है ऐसे सेवा, कृषि, व्यापार आदि आरंभोंको उत्पन्न करनेवाला जो पापसहित वाक्य बोला जाता है, उसे सावद्यवचन नामक असत्य भाषण कहते हैं। क्रोध जिसके आदिमे है, ऐसा भापण अर्थात् क्रोधसे आखे लाल करके बोलना, गर्वसे दूसरोको नीच-तुच्छ समझकर अपमान-कारक भापण बोलना, निंदायुक्त वचन, संकट उत्पन्न करने वाला भापण और वैरजनक भाषण इन भाषणोको अप्रिय भापण कहते है । यह भाषण कष्टयुक्त दुर्गति देनेवाला है । जिस भाषणसे दूसरोका मर्मच्छेद होता है, दूसरोके सर्वस्वका हरण हो जाता है, जो चुगलीका कारण है, उसे जिनेश्वर गर्ह्यभापण कहते है। यह भापण गर्ह्य-निन्दनीय दु.खोंको देनेवाला है ॥ ४२—४४ ॥

[धर्मप्रेमी लोगोका भापण ।] — हितकर, मित-अल्प, सदाचारप्रयुक्त, सर्व प्राणियोको सौख्य देनेवाला, मधुर और प्रेमयुक्त ऐसा भाषण धर्मप्रेमियो द्वारा बोला जाना योग्य है ॥ ४५ ॥

ऊपर जो असत्यके चार प्रकार कहे हैं वे निंद्य है । उनका सेवन जिन मनुष्योन किया है, उन्हे वे नरकादि चतुर्गतिके महादुःखरूपी वृक्षवनको उत्पन्न करनेके कारण है । ऐसे वचन अविश्वास उत्पन्न करते हैं, निन्दाके कारण है ‘ यह आदमी असत्य बोलनेवाला है ’ ऐसा अगुलीसे लोग उसे दिखाते है । इहलोकमेभी दुर्भाग्य, शोक और सन्तापको वे उत्पन्न करते है ॥४६—४७॥

[सत्यभापण और उसका फल] — विद्वानोने उसको सत्यभापण कहा है, जो सज्जन-ग्राह्य-मान्य है और हिंसासे रहित है। ऐसा भाषण बोलनेवाले पुरुषको इहलोकमे और परलोकमे क्या असाध्य है? सत्यवादियोके पास सपत्ति विना बुलाये स्वय प्राप्त होती है। हंसिनिया कमलवनको

---

१ आ निष्ठुरम् २ आ. प्ररोहकम् ३ आः सत्यवादिनम् ४ आ. वरम्

महाव्रतमिदं पूतं कर्मास्रवनिरोधकम्[1]। कर्मास्रवं निरुन्धानाः श्रयंताशु[2] महाधियः[3] ॥ ५०
क्रोधलोभसुभीरुत्वहास्यसावद्यभाषणैः। प्रत्याख्यानं मता पञ्च भावनाः सूनृतस्य च ॥ ५१
अदत्तादानमाख्यातं स्तेयं स्तेयविवर्जितैः। तद्व्यावृत्तिर्मतं पूतमस्तेयव्रतमुत्तमैः ॥ ५२
क्षेत्रे ग्रामे गृहे घोषे रथ्यायां यत्र तत्र वा। भ्रष्टं नष्टं स्थितं वापि परद्रव्यं न गृह्यते ॥ ५३
यो यस्य हरते वित्तं स तज्जीवितहृन्नरः। बहिरङ्गं हि लोकानां जीवितं वित्तमुच्यते ॥ ५४
धनजीवितयोर्मध्ये धनं बहुमतं नृणाम्। जीवितव्यव्ययेनापि तदिच्छन्त्यन्यथा कथम् ॥ ५५
मातरं पितरं वापि स्त्रियं बालं तपस्विनम्। स्तेनो निहन्ति पापात्मा न तस्मादपरो भुवि ॥ ५६
व्याघ्रादिभ्योऽपि पापी स्याच्चौरो व्याघ्रादयो यतः। महातपःप्रवृत्तानामपि प्राणमलिम्लुचः ॥ ५७

प्राप्त होती है इसमें कौनसा आश्चर्य है ? यह सत्यवचन महाव्रत है, पवित्र है, अशुभकर्मास्रवको रोकनेवाला है। जिन्हें अपनेमें कर्मास्रवको रोकना है, वे महाबुद्धिवान् लोग इसका शीघ्र आश्रय करें। ॥ ४८–४९–५० ॥

[सत्यव्रत–भावना ।] – क्रोधका त्याग करना, लोभका त्याग करना, भयका त्याग करना, हास्यका त्याग करना तथा अवद्य भाषणका त्याग करना ऐसी पांच भावनायें सत्यव्रतकी हैं ॥५१॥

[अचौर्यव्रतका लक्षण ।] – चोरीका त्याग करनेवाले उत्तम पुरुषोंने दूसरेका दिया हुआ जो धनवस्त्रादिक ग्रहण करना वह चौर्य है, ऐसा कहा है। तथा उससे व्यावृत्त होना अर्थात् विना दिये धनादिका ग्रहण नहीं करना वह पवित्र अचौर्यव्रत है ऐसा श्रेष्ठ गणधर परमेष्ठीने कहा है ॥ ५२ ॥

खेतमें, गांवमें, घरमें, घोषमें–अहीरोंके ग्राममें, मार्गमें, आँगनमें और जहां कहींभी गिरा हुआ, नष्ट हुआ अथवा स्थानस्थित ऐसा परद्रव्य है उसे नहीं लेना चाहिये। ऐसा परस्वामिक धन लेना चोरी है ॥ ५३ ॥

[धन बहिरंग प्राण है ।] – जो जिसका धन हरण करता है, वह उसका जीवित हरण करता है, ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि धन लोगोंका बहिरंग प्राण कहा जाता है ॥ ५४ ॥

[धन प्राणसेभी प्रिय है ।] – धन और जीवित इन दोनोंमेंसे धन मनुष्योंको अत्यंत प्रिय है। यदि वह ऐसा नहीं होता तो लोग प्राणोंके व्ययसेभी उसे क्यों चाहते हैं ? ॥ ५५ ॥

[चोरसे अधिक पापी कोई नहीं है ।] – चोर मातापिताकोभी मारता है। स्त्रीको, बालकको और तपस्वीकोभी मारता है। इसलिये इस जगतमें चोरसे अधिक पापी आत्मा कोई नहीं ॥५६॥

व्याघ्र, सिंह आदिकसेभी चोर पापी है क्योंकि वे व्याघ्रादिक हिंसक प्राणी महातपमें प्रवृत्त हुए तपस्वी जनोंके प्राणोंका हरण नहीं करते ॥ ५७ ॥

१ आ. निरुन्धकम् २ आ. श्रयन्ति ३ सुमहाधियः

बन्धनं ताडनं कृत्तेरुत्कर्तनमतिव्यथाम्। इहैव लभते चौरो मृतो याति तमःप्रभाम् ॥ ५८
तृणमात्रमपि द्रव्यं परकीयं हृतं नृणाम्। बहुदुःखप्रदं लोके कालकूटविषाशनात्[1] ॥ ५९
इति मत्वा महादोषमस्तेयव्रतधारिणः। सन्तो धर्मरता नित्यं भवन्ति भवभीरवः ॥ ६०
शून्यागारविमुक्तैकवासौ[2] धर्मविसङ्गतिः। परस्यानुपरोधत्वं भैक्ष्यशुद्धिरिति ध्रुवम् ॥ ६१
भावनाः पञ्च भव्यास्ता[3] अस्तेयव्रतमाश्रिताः। भावनीयाः प्रयत्नेन भवस्यान्तमियासुभिः ॥ ६२
पापात्मनो वदन्त्येके कर्मनोकर्मसंग्रहात्। अदत्तव्रतभङ्गोऽपि जायते न कथं सताम् ॥ ६३

[चोरको इहपरलोक दुःखदायक है।]— इस लोकमे चोर बन्धन, ताडन और शरीरका चर्म निकालना आदिक अतिशय दुःखको प्राप्त होता है और मरणोत्तर वह तमःप्रभा नरकमे जन्म धारण करता है ॥ ५८ ॥

तृणके समान तुच्छ ऐसा थोडासाभी परकीय द्रव्य हरण करना लोगोको कालकूट विषके भक्षण करनेसेभी अधिक दुःख देनेवाला है। इस प्रकार चोरी करनेमे महादोष है ऐसा समझकर अचौर्यव्रत धारण करनेवाले तथा ससारसे डरनेवाले सज्जन धर्ममे नित्य तत्पर रहते है ॥५९–६०॥

[अचौर्यव्रतकी पांच भावनाये।] – शून्यागारावास, विमोचितावास, धर्मविसंगति–सद्धर्मविसवाद, परोपरोध और भैक्ष्यशुद्धि ऐसी निश्चित पाच भावनाये अचौर्य व्रतकी है। अचौर्यव्रत-सबधी ये पाच भव्य भावनाये भावने योग्य है। ससारके अतके प्रति जानेकी इच्छा करनेवालोके द्वारा प्रयत्नसे इनकी भावना करना योग्य है। इन पाच भावनाओका स्पष्टीकरण–पर्वतगुहा, वृक्षकी पोल, नदीतट इत्यादिक स्थान अस्वामिक होनेसे इनको शून्यागार कहते है। ऐसे स्थानमे रहनेसे अचौर्यव्रतका पालन होता है। शत्रुके भयसे छोडे हुए गाव, नगर, पत्तनादिको विमुक्तैकवास अथवा विमोचितावास कहते है, ऐसे स्थानोमे रहना। यह मेरा है, यह आपका है, ऐसा साधर्मियोके साथ झगडा नहीं करना। परके साथ हठ न करना। अमुक वस्तु मुझे चाहिये ऐसी प्रार्थनासे अन्यको सकुचित नहीं करना चाहिये। और भिक्षाकी शुद्धि रखना चाहिये अर्थात् पिण्डशुद्धिके प्रकरणमे जो दोष कहे है, उनका परिहार-त्याग करके आहार लेना। आहारमें लपटता होनेसे उसकी शुद्धिके प्रति अनादर होता है, जिससे दोषोको त्याग करनेकी जिनाज्ञाका लघन होनेसे चौर्यदोष उत्पन्न होता है ॥ ६१–६२ ॥

[कर्म–नोकमग्रहणभी चोरी है ऐसी शकाका उत्तर।]—कोई पापी लोग ऐसा कहते है-'सज्जन लोग-मुनिवर्ग पुण्यकर्म और उसके सहायक शरीरादि नोकर्मको ग्रहण करते है अर्थात् नहीं दिया हुआ कर्म-नोकर्म ग्रहण करनेसे वे चौर्यदोषके पात्र होते है। तब उनके अदत्तव्रत–अचौर्यव्रतका

---

१ आ. यथा २ आ. विमुक्तैकावासौ ३ आ. भव्याना

नैव दोषो मत. साधोर्दानादानाद्यभावतः। अन्तरायक्षयादेतत्स्वयमेव प्रजायते ॥ ६४
शून्यागारपुरग्रामसंग्रहाद्भङ्ग इत्यपि। मिथ्याप्रमत्तयोगेन यतोऽमीषां परिग्रहः ॥ ६५
हिंसादीनि च पापाय संगतानि प्रमादिनाम्। अप्रमादवतां नापि तन्नामापि निगद्यते ॥ ६६
अत एव विशोध्यादौ मिथ्यात्वं शुद्धबुद्धयः। परिहारविशुद्ध्यर्थं सन्तो गृह्णन्ति तद्व्रतम् ॥ ६७
ब्रह्मचर्यं बुधाः प्राहुर्यच्च मैथुनवर्जनम्। नवधा धर्मविज्ञानां मुनीनां परमं तपः ॥ ६८

विनाश कैसे नहीं होगा?' उत्तर— 'यह दोष नहीं है, क्योंकि कर्म और नोकर्मोंमें धनवस्त्रादिके समान देने-लेनेका व्यवहार नहीं है। साधुओंके अन्तरायकर्मका क्षय और क्षयोपशम होनेसे कर्म नोकर्मका संग्रह स्वय होता है, उनमें देने-लेनेका व्यवहार नहीं होता। उनका प्रतिसमय आत्मामें आना जाना होता है। इसलिये चोरीका दोष साधुओंको नहीं लगता। अन्तरायकर्मका क्षयोपशम साधुओंको होता है। और केवली भगवानको तेरहवे गुणस्थानमें अन्तरायकर्मका क्षय होता है, जिससे अनन्त भोग उपभोगादि सामग्री स्वयं प्राप्त होती है। मुनियोंको तपश्चरणसे ऋद्धियां प्राप्त होती है। तोभी वे नि.स्पृह होनेसे उनको अचौर्यव्रत स्वय प्राप्त होता है ॥ ६३–६४ ॥

[पुनः शंका और परिहार।] – 'भिक्षु–मुनि जब शून्यागारमें, गांवमें अथवा नगर आदिकमें भ्रमण करते है तब मार्गसे उनको जाना पडता है। किसी श्रावकके गृहद्वारमेंभी वे जाते हैं। मार्ग अथवा श्रावकका गृहद्वार वास्तविक अदत्त है। राजाने मार्गमे प्रवेश करनेके लिये उनको आज्ञा नहीं दी है और श्रावकने गृहद्वारके भीतर प्रवेश करो ऐसा नहीं कहा है, तोभी वे प्रवेश करते हैं। अतः यह अदत्तादान हुआ– 'अचौर्यव्रतका भंग हुआ' ऐसा नहीं समझना। क्योंकि सामान्यत. सब लोगोंको मार्गमें प्रवेश करना और श्रावकद्वारमे आहारार्थ प्रवेश करना मना नहीं है। प्रमत्तयोगसे इनमें प्रवेश किया जाना, कषायवश, लोभवश इनमें प्रवेश करना या इनका स्वीकार करना व्रतभंगका कारण होता है। प्रमादिलोगोंके हिंसादिक कार्य पापके कारण होते है। परतु जो प्रमादरहित है, उन साधुजनोंमे पापनामकाभी संपर्क नहीं है। साधुजन प्रमादयोगसे रहित होनेसे मार्ग या गृहद्वारका आश्रय करनेपरभी अचौर्यव्रतभगसे या तज्जनित पापसे वे लिप्त नहीं होते ॥ ६५–६६ ॥

इस लिये शुद्धबुद्धिवाले सम्यग्दृष्टिजन मिथ्यात्वको शोधते हैं–दूर करते है और पापके परिहारार्थ तथा परिणामकी निर्मलताके लिये साधुगण अचौर्यव्रतको धारण करते हैं ॥ ६७ ॥

[ब्रह्मचर्यव्रतलक्षण।]-- धर्मही धन जिनका है, ऐसे मुनि नौप्रकारसे मैथुनका त्याग करते है। इस त्यागको विद्वान लोग ब्रह्मचर्य कहते है। यह व्रत मुनियोका उत्तम तप है। मैथुन-सेवन मनसे नहीं करना, नहीं करवाना और करनेवालोको अनुमति नहीं देना। तथा वचनसे मैथुनसेवनके अश्लील शब्द नहीं बोलना, नहीं बुलवाना और बोलनेवालेको अनुमति नहीं देना।

समस्तसंयमाधारः स एवाभिमतः सताम् । यस्यास्ति निर्मलं लोके ब्रह्मचर्यं परं तपः ॥ ६९
रामाचक्षुःक्षुरप्रेण क्षिप्रं दुर्गतिदायिना । भिद्यते यस्य नो चेतः स धन्यतम ईरितः ॥ ७०
यो दधाति नरः प्राज्ञश्चतुर्थव्रतमुत्तमम् । सोऽश्नुते सुभगः सौम्यः सिद्धिसौख्यं चतुर्विधम् ॥ ७१
तमोमयी महाभीमा शुद्धमार्गापहारिणी । रामारात्रिस्त्रिधा त्याज्या दुष्टसत्वसुखावहा ॥ ७२
स्रावि[१] दुर्गन्धबीभत्सं कृमिजालसमाकुलम् । रामाकलेवरं मूढाः सेवन्ते शुनका इव ॥ ७३
नीचैर्गच्छति या नित्यं तटद्वयनिपातिनी । रामासरिद्भवाम्भोधिवर्द्धनी वर्ज्यते बुधैः ॥ ७४

शरीरसे मैथुनसेवन नहीं करना, नहीं करवाना और मैथुन सेवनवालोको अनुमति न देना। इस-प्रकार नवधा मैथुनत्याग मुनिगण करते है ॥ ६८ ॥

ब्रह्मचर्य उत्तम तप है। जगतमे जिस पुरुषने इस व्रतका निर्मल पालन किया है वह पुरुष संपूर्ण संयमोका आधार समझना चाहिये तथा वही सज्जनोको मान्य है ॥ ६९ ॥

[अत्यंत धन्यवादका पात्र कौन है ?] – शीघ्र दुर्गति देनेवाली स्त्रीके नेत्ररूपी बाणसे जिसका मन भिन्न नहीं हुआ है, वह पुरुष अतिशय धन्य है, धन्यवादके लिये पात्र है ॥ ७० ॥

जो बुद्धिमान पुरुष इस ब्रह्मचर्य नामक उत्तम चतुर्थव्रतका पालन करता है, वही सुभग-सुदर है और वही सौम्य-शात है तथा वही चार प्रकारके मुक्तिसुखोका अनुभव लेता है। अन्योको ऐसा सुख कदापि नहीं मिलेगा। अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख और अनन्तशक्ति इनको चार प्रकारका मुक्तिसुख कहते हैं ॥ ७१ ॥

[स्त्री रात्रि और नदीके समान है।]– यह रामारात्रि-स्त्रीरूपरात्रि अंधकारमय है अर्थात् अज्ञानमय है। ज्ञानीभी उसके सगसे अज्ञानी मोही होते है। रात्रि महाभय उत्पन्न करती हैं। स्त्रीभी भयदायक है। उसका अभिलाष करनेवालोपर अनेक सकट आते है, इसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव आता है। शुद्ध मार्ग अंधकारमय रात्रिसे आच्छादित होता है। तथा स्त्रीरूपी रात्रिभी मोक्षमार्ग, जो कि अत्यंत निर्दोष होनेसे शुद्ध है, उसको आच्छादित करती है। स्त्रीका ससर्ग करनेसे मन-मोहान्धकारमय होता है, जिससे शुद्ध मोक्षमार्ग बिलकुल दिखताही नहीं। अधकारमय रात्रि दुष्ट सर्प और चोर आदिकोंसे भरी रहती है, उनको वह सुखदायक होती है। यह स्त्रीरूपी रात्रिभी दुष्ट-जारादिकोको सुख देनेवाली है, सज्जनोको भयदायिनी हैं। अतः इसे मनवचनकायोसे त्यागना योग्य है ॥ ७२ ॥

स्त्रीका शरीर मलवाही, दुर्गंध और बीभत्स – ग्लानि उत्पन्न करनेवाला तथा असख्यात किडियोसे भरा हुआ है। मूढ पुरुष ऐसे स्त्रीशरीरका सेवन कुत्तेके समान करते हैं ॥ ७३ ॥

यह स्त्रीरूपी नदी नीच पुरुपका आश्रय करती है। जैसे नदी हमेशा नीच स्थानमें रहनेवाले समुद्रका आश्रय करती है। नदी जैसे अपने दोनो तटोको विदीर्ण करती हुई पानीके

---

१ आ. स्रवद्

यस्या दर्शनमात्रेण नरः पञ्चत्वमञ्चति । सर्पिणीव सतां रामा हेया दृष्टिविषा न किम् ॥ ७५
वह्निज्वालेव या दुष्टा स्पृष्टा दहति मानवम् । समुज्ज्वलापि सा हेयाबला बलविनाशिनी ॥ ७६
अपि काष्ठमयं रूपं यस्या हरति तत्क्षणात् । संयमस्तिमितं चेतो मुनेरप्यचलं बलात् ॥ ७७
तावद्विवेकवैदग्ध्यं नरो वहति बुद्धिमान् । यावद्विलासिनी दृष्टिशरपातैर्न हन्यते ॥ ७८
अहो दुष्टाशया रामा रमणीयमपि प्रियम् । परिहृत्यापरं याति निस्त्रपा दुष्टचेष्टिता ॥ ७९
यन्यामधिगता जीवा महापापानि कुर्वते । आत्मबन्धवधादीनि सद्भिस्त्याज्या त्रिधापि सा ॥ ८०
इति दोषवतीं नारीं नरो यो नैव मुञ्चति । नैव मुञ्चति सोऽवश्यं संसारं शर्मवर्जितम्[2] ॥ ८१
स कृती कृतिनां नाथस्तस्य सौख्यं निरन्तरम् । यः पुनाति परात्मानं स ब्रह्मतपसा सुधीः ॥ ८२

वेगसे बहती है वैसे स्त्रीभी कामाकुल होकर पतिकुल और पितृकुलका नाश करती है। नदी समुद्रको बढाती है और स्त्री संसारसमुद्रको बढानेवाली है। इसलिये विद्वान् उसका त्याग करते है ॥ ७४ ॥

जैसे दृष्टिविषा सर्पिणी क्रोधसे जिसको देखती है वह तत्काल मृत्युवश होता है उसी तरह स्त्रीरूपी दृष्टिविषा सर्पिणीके दर्शनमात्रसे मनुष्य मरणको प्राप्त होता है। इसलिये सज्जन उसका त्याग करते है ॥ ७५ ॥

वह्निज्वाला – अग्निशिखा स्पर्श करनेवालेको जलाती है, वैसेही दुष्ट स्त्रीको जो स्पर्श करता है उस मानवको वह जला देती है। अग्निज्वाला प्रकाशमान होनेपरभी जैसी त्याज्य है वैसी यह स्त्री सुंदर होनेपरभी बलविनाशक होनेसे त्याज्य है ॥ ७६ ॥

काष्ठसे निर्मित स्त्रीरूपभी संयमसे दृढ और निश्चल ऐसे मुनिके मनको बलात्कारसे तत्काल हरण करता है । इस लिये शीलवान पुरुष स्त्रीकी मूर्तिसेभी सदा दूर रहते है ॥ ७७ ॥

जबतक विलासवती स्त्रीके नेत्ररूप बाणोके आघातसे मनुष्य विद्ध नहीं होता तबतक उसमें विवेक वास करता है और तबतक वह बुद्धिमान् पुरुष चातुर्यको धारण करता है॥ ७८ ॥

[दुष्ट स्त्रीके दुराचारका वर्णन ।] – दुष्ट अभिप्रायवाली तथा दुराचारिणी स्त्री अपने सुंदर पतिकोभी छोडकर निर्लज्ज होकर अन्य पुरुषके पास जाती है, यह आश्चर्य है, विचारणीय है॥७९

जिसके वश होकर जीव महापापोको करते है और बध-बधादिक कष्टोको अनुभवते है ऐसी स्त्रीका मन-वचन-कायोसे सज्जन त्याग करते हैं ॥ ८० ॥

ऐसी दोषोंसे भरी हुई स्त्रीको जो पुरुष नहीं छोडता है वह सुख-रहित संसारको कभीभी नहीं छोडता। स्त्रीके मोहसे मोहित हुए पुरुषोको कदापि मोक्षप्राप्ति नहीं होती॥ ८१ ॥

जो बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मचर्यरूपी तपसे अपने उत्तम आत्माको पवित्र करता है वह सज्जन पुण्यवान्-कृतियोंका नाथ होता है और उसे निरन्तर सौख्यकी प्राप्ति होती है ॥ ८२ ॥

---

१ आ. [illegible] २ आ. शर्मवर्जित

अस्यापि भावनाः पञ्च भावनीया मनीषिभिः । स्त्रीकथाश्रवणाद्याश्च ब्रह्मचर्यं प्रपित्सुभिः ॥ ८३
यः प्रमादाकुलो नित्यं कन्दर्पेण कदर्थित । रामारागकथादीनां श्रावकस्तस्य किं व्रतैः ॥ ८४
तत्यागो भावनाभाणि भावनाविधिकोविदै. । आद्या ब्रह्मव्रतस्येयं शर्मकर्मविधायिनी ॥ ८५
स्त्रीणामवयवाः सर्वे दृष्टिमार्गगता अपि । ब्रह्मव्रतस्य नामापि घ्नन्ति साधोरपि क्षणात् ॥ ८६
साङ्गोपाङ्ग स्त्रियो रूपं दृष्ट्वा ह्यानतमौलयः । साधवो यान्ति मेघाम्बुहता गाव इव क्षितौ ॥ ८७
हसितं क्रीडितं पूर्वरतानुस्मरणं पुनः । आलिङ्गनं स्त्रियां नैव स्मरन्ति ब्रह्मचारिणः ॥ ८८
सरसं वृष्यमाहारं कन्दर्पोद्रेककारणम् । साधवो नैव गृह्णन्ति चतुर्थव्रतमाश्रिताः ॥ ८९

[ब्रह्मचर्यव्रतकी पाच भावनाये ।] स्त्रीकथा-श्रवण-त्याग, स्त्रीके मनोहर स्तनमुखादिक अवयवोको देखनेका त्याग, पूर्वकालमे उनके साथ भोगे हुए संभोगसुखके स्मरणका त्याग, बल उत्पन्न करनेवाले और प्रिय ऐसे घृतादिरसोका त्याग और अपने शरीरको वेषभूषादिसे अलंकृत करनेका त्याग ऐसी पांच बाते ब्रह्मचर्य धारण करनेवालोको योग्य है। स्त्रीकथा-श्रवणादिकोको छोडकर इनसे विरुद्ध भावनाये विद्वानोसे भाई जाती है ॥ ८३ ॥

जो कन्दर्पसे—कामविकारसे हमेशा पीडित होकर प्रमादी-स्वच्छंदी उन्मत्त होता है और स्त्रीविषयके प्रेमको बढानेवाली कथा सुनता है, स्त्रियोके मनोहर अवयव देखता है उसके व्रत निष्फल होते है ॥ ८४ ॥

उपर्युक्त पाच बातोका जो त्याग उसे भावनाविधिको जाननेवाले विद्वान् 'भावना' कहते है । स्त्रीरागकथाका जो त्याग है वह पहिली ब्रह्मचर्य व्रतकी भावना है । वह सुख देनेवाले कर्मका—सद्वेद्यादि शुभकर्मोका बध करनेवाली है ॥ ८५ ॥

स्त्रियोके सर्व अवयव दृष्टिमार्गमे आनेमात्रहीसे साधुओके ब्रह्मचर्य—व्रतका नामभी रहने नहीं देते तो अन्य लोगोका ब्रह्मचर्य स्त्रियोके अवयव देखनेसे कैसे टिक सकता है ? कदापि नहीं टिक सकता ॥ ८६ ॥

मेघवृष्टिसे ताडित बैल अपना मस्तक नीचे करके जैसे जाते है वैसे उपाङ्गोका रूप देखकर मस्तक नम्रकर अर्थात् स्त्रियोके सुदर अवयवोसे अपनी दृष्टि हटाकर सज्जन जाते है ॥ ८७ ॥

स्त्रियोका हसना, उनकी क्रीडा, उनके पूर्व सभोगका स्मरण, और उनके आलिङ्गनका स्मरण, ब्रह्मचारी नही करते है ॥ ८८ ॥

जो कामपीडाकी तीव्रताका कारण है, ऐसा सरस और उन्मत्त बनानेवाला आहार ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करनेवाले मुनिजन लेतेही नहीं ॥ ८९ ॥

---

१ आ. स्त्रिया

स्वशरीराद्यसंस्कारं भूषावेषादिभिः क्वचित् । ब्रह्मव्रतविरुद्धं यत्तन्न जातु विधीयते ॥ ९०
परिगृह्णाति येनेदं कर्म प्राणी दुरुत्तरम् । परिग्रहः स विज्ञेयो मूर्च्छा वा वस्तुगोचरा ॥ ९१
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधः कथितो जिनैः । चतुर्दशप्रकारोऽयमान्तरो दशधा बहिः ॥ ९२
क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं दासी दासस्तथा पुन. । सुवर्णं रजतं भाण्डं हिरण्यं च परिग्रहम् ॥ ९३
बाह्यो दशप्रकारोऽय सरम्भादिविशेषतः । अमीषां जायते नित्यं दुर्गदुर्गतिहेतुकः ॥ ९४
वेदत्रयं च मिथ्यात्वं तथा हास्यादयश्च षट् । चतुष्कं तु कषायाणामान्तरोऽसौ निगद्यते ॥ ९५
ममेद भाव इत्येवं सङ्कल्पो यः परिग्रहः । ज्ञानादिष्वपि सोऽस्त्येव तत्राप्येष प्रसज्यते ॥ ९६
नाय दोषो मत. किञ्चिदप्रमत्तादियोगतः । ज्ञानादिग्रहणे मूर्च्छा नास्ति मोहप्रमाथिनि ॥ ९७

ब्रह्मचर्यव्रतके विरुद्ध ऐसे भूषणोसे और चित्र विचित्र वस्त्रादि वेषोंसे युक्त अपने शरीरका सस्कार साधुजन कदापि धारण नहीं करते है ॥ ९० ॥

[परिग्रहविरतिव्रत ।] — तोडनेके लिये कठिन ऐसा कर्म जिससे प्राणी प्राप्त कर लेता है उसे परिग्रह समझना चाहिये । इसकोही 'मूर्च्छा' यह नाम है । धनादिकी जो अभिलाषा उसे मूर्च्छा कहते है । मूर्च्छाका कारण होनेसे धन, धान्य, दासीदास, वस्त्र, खेत, घर ये पदार्थभी परिग्रह कहे जाते है । मुख्यत आत्मामे जो अभिलाषा है वही परिग्रह है । उपर्युक्त धनधान्यादिकभी अभिलाषाके कारण होनेसे इनकोभी गौणतया परिग्रह कहते है। ये बाह्य परिग्रह है। जिनेश्वरोंने बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह ऐसे दो भेद कहे है। उनमेसे अभ्यन्तर परिग्रहके चौदह भेद हैं और बाह्य परिग्रहके दस भेद है ॥ ९१–९२ ॥

[बाह्य परिग्रह]— क्षेत्र-खेत, वास्तु-घर, धन-गौ, भैंस, घोडा आदिक, धान्य-शालि, गेहू आदिक, दासीदास-नोकर स्त्रीपुरुष, सुवर्ण-सोना, रजत-चादी आदि, भाण्ड-पात्र, हिरण्य-जिससे व्यवहार चलता है ऐसे रुपाया आदि, ये सब बाह्य परिग्रह है ॥ ९३ ॥

इन दश बाह्य परिग्रहके लिये मनुष्य संरभ समारभ आरंभादिक करते है। तथा वे दुःखदायक दुर्गतिके बधके कारण होते है ॥ ९४ ॥

[अभ्यतर परिग्रह ।]— तीनवेद—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद, हास्य, रति, अरति शोक, भय, और जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय तथा मिथ्यात्व ये चौदा अभ्यन्तर परिग्रह कहे जाते है ॥ ९५ ॥

यह मेरा है ऐसा जो ममत्व-सकल्प वह परिग्रह है ऐसा यदि मानोगे तो यह मेरा ज्ञान है, यह मेरा दर्शन है, यह मेरा चारित्र है इत्यादि आत्मगुणोमेभी ममत्व-सकल्प होनेसे उन्हेभी परिग्रह कहना पडेगा ऐसी शकाका उत्तर आचार्य ऐसा देते है —

" जिससे प्रमादयोग उत्पन्न होकर ममत्वसे पदार्थोका ग्रहण होता है ऐसे सकल्पको परिग्रह कहते है। सम्यग्ज्ञानादिक गुण मोहका नाश करनेवाले है। उनके ग्रहण करनेमे मूर्च्छा

---

१ आ [illegible] २ आ. [illegible]

किञ्च ज्ञानादयो भावाः सर्वे ह्यात्मस्वभावकाः । अहेयाः सुखहेत्वात्ततो नैते परिग्रहाः ॥ ९८
कर्मोदयवशाद्ये तु भावा नात्मस्वभावकाः । हेयास्तेषु ममेदं यः सङ्कल्पः स परिग्रहः ॥ ९९
महापापानि पञ्चैव प्रभवन्ति निरन्तरम् । यस्मात्स एव साधूनां हेयः सद्व्रतवर्तिनाम् ॥ १००
मनोज्ञत्वामनोज्ञत्वरागद्वेषत्ववर्जनम्[1] । इन्द्रियार्थेषु[2] चैताः स्युर्भावनाः पञ्च पञ्चमे ॥ १०१
इष्टे वस्तुनि या प्रीति. स रागो रागवर्जितैः । कथितः सर्वमोहस्य मूलं मूलमिवायतम्[3] ॥ १०२
सर्वसंसारमूलानां वैराणां कारणं परम् । अनिष्टे वस्तुनि प्रीतेरभावो द्वेष इष्यते ॥ १०३
साधौ व्रतानि तिष्ठन्ति रागद्वेषविवर्जनात् । रागद्वेषवतः साधोः सरागा गृहिणो वरम् ॥ १०४
किं तेन तपसा येन न रागद्वेषवर्जनम् । रागद्वेषौ हि जीवानां दुर्गतेः कारणं मतौ ॥ १०५

नही है । प्रमत्तयोगसे उनका ग्रहण नहीं होता । तथा सम्यग्ज्ञानादिक भाव आत्माके स्वभाव रूप है, ये आत्मभाव सत्यसुखके हेतु होनेसे हेय-त्याज्य नहीं है इसलिये उनको परिग्रह नहीं कहना चाहिये । कर्मोदयके वश होकर जो भाव उत्पन्न होते है वे आत्मस्वभावरूप नहीं होनेसे त्याज्य है । उनमे ये मेरे है ऐसा जो सकल्प होता है, उसे परिग्रह कहना चाहिये " ॥ ९६–९९ ॥

जिससे हिंसा, झूठ, चोरी आदि महापाप-पंचक निरन्तर होता है वह परिग्रह सद्व्रतधारक मुनियोके लिये छोडने योग्य है । जो मनोहर है ऐसे स्पर्शेन्द्रियादि पाच इन्द्रियोके विषयोमे हर्ष नहीं मानना और जो अमनोहर–अप्रिय है उनमे द्वेष नहीं मानना ऐसी इस पाचवे परिग्रहत्याग महाव्रतकी पाच भावनाये है ॥ १००–१०१ ॥

[रागद्वेष संसारके मूल है ।] – जो इष्ट–प्रियवस्तुमे प्रीति उत्पन्न होती है उसे रागरहित मुनीश्वर ' राग ' कहते है । जैसे पेडके दीर्घ मूल उसके शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदिके लिये कारण है, वैसे रागभाव सर्व मोहका मूल है । यदि रागभाव न होता तो मोहका जन्म कहासे होता । अनिष्ट वस्तुओमे जो प्रीतिका अभाव है, उसे द्वेष कहते है । यह द्वेष सपूर्ण ससारका मूल कारण जो वैर उसका जन्मदाता है ॥ १०२–१०३ ॥

[रागद्वेषोका अभाव व्रतोका कारण है ।] – रागद्वेषोका त्याग करनेसे साधुमे व्रतोका निवास होता है । परतु रागद्वेषसे जो साधु पूर्ण भरा हुआ है उससे रागभावयुक्त गृहस्थ अच्छे है, ऐसा समझना अनुचित नहीं है ॥ १०४ ॥

जिससे रागद्वेष नष्ट नहीं होते है, वह तपश्चरण किस काम का ? राग और द्वेष ये ही दोनो भाव जीवोको दुर्गति देनेवाले प्रधान कारण है ॥ १०५ ॥

---

१ आ विवर्जनम् २ आ. इन्द्रियार्थस्य ३ आ. गर्लमिव

मूर्च्छाप्रलापसंमोहदाहदुःखैकदर्शिनाम् । रागद्वेषाहिदष्टानां न हेयादेयसंगतिः ॥ १०६
मातरं हन्ति हन्त्येव पितरं भ्रातरं पुनः । हन्ति बन्धून्स्त्रियो हन्ति हन्त्यात्मानमलज्जितः ॥ १०७
रामां हन्ति सुतं हन्ति हन्ति देवगुरूंस्तथा । रागद्वेषविमूढात्मा व्रतं तस्य कुतस्तनम् ॥ १०८
रुणद्धि नैवमात्मानं इन्द्रियार्थेषु यः पुमान् । सर्वत्रापत्पदं स स्यात्पतङ्ग इव दुर्गतौ ॥ १०९
शुभोदयवशात्प्राप्ते मनोज्ञे सुखकारिणि । न मदोद्रेकमायान्ति ये ते धन्यतमा नराः ॥ ११०
तथा चाशुभतः प्राप्ते दुष्टवस्तुनि दुःखदे । क्लिश्यन्ति क्लेशनिर्मुक्ता न मनागपि पण्डिताः ॥१११
भावनाभावितान्येवं व्रतान्येतानि देहिनाम् । महाफलप्रदान्याहुः सर्वज्ञज्ञानशालिनः ॥ ११२
देशं कालं तथा क्षेत्रं भावं पात्रं विविच्य यः । समयाचारमाचारादेशकः स गुरुः सताम् ॥ ११३

रागद्वेषरूपी सर्पने जिनको दंश किया है, उनमे मूर्च्छा, अभिलाषा, प्रलाप-असत्यभाषण, समोह-मोहित होना और दाह इत्यादिक दुःख दीखते हैं । उनकी संगति आदेय-योग्य नहीं है । जो रागद्वेषयुक्त हुआ है, वह माताको मारता है, पिताको मारता है, पुनः अपने भाईको मारता है । अपनी पत्नीके भाईको मारता है, स्त्रियोको मारता है तथा निर्लज्ज होकर अपनेकोभी मारता है । रागद्वेषसे जो मूर्ख हुआ है वह अपनी पत्नीको मारता है, पुत्रको मारता है तथा देव और गुरुको मारता है; इसलिये उसको व्रतप्राप्ति कहासे होगी ? ॥ १०६–१०८ ॥

जैसे पतग दीपकका उज्ज्वलपना देखकर अपनेको नहीं रोकता है, वह उसपर जाकर पडता है वैसे रागद्वेषवश पुरुष अपनेको नहीं रोकता हुआ इन्द्रियोके विषयोमे जाकर गिरता है। इसलिये वह दुर्गतिमे सर्वत्र आपत्तियोका स्थान होता है ॥ १०९ ॥

[सज्जन संपत्ति–आपत्तिमें हर्षविषादरहित होते हैं ।] — शुभ ऐसे वेदनीयकर्मके उदयसे और लाभान्तराय, भोगातराय, उपभोगान्तराय आदि कर्मके क्षयोपशमसे मनोहर और सुखदायक ऐसी धनधान्यादि भोगोपभोग सामग्री प्राप्त होनेपर जिनका मन उद्रेकको प्राप्त नहीं होता, सगर्व नहीं होता वे पुरुष धन्यतम है । तथा अशुभकर्मके उदयसे दुःखदायक दुष्टवस्तु प्राप्त होनेपर जो क्लेशरहित होते हुए सुखदायक वस्तुसे रहित होनेपरभी तिलमात्रभी दुःखी नहीं होते है वे पण्डित है ॥ ११०–१११ ॥

सर्वज्ञ तीर्थंकरके मुखसे प्रगट हुए भावश्रुतको धारण करनेसे शोभनेवाले गणधरोने ये अहिंसादि पाच व्रत कहे है। भावनाओसे सस्कृत व्रती पुरुषोंको ये व्रत महाफल-स्वर्ग और मोक्षफल देते है ऐसा कहा है ॥ ११२ ॥

[गुरु कैसा होना चाहिये ।] — देश, काल, भाव, क्षेत्र और पात्र-जिसको व्रत दिये जाते

१ आ. स्त्रिय २ आ. दुर्मतिः

देशकालबलतो विशुद्धधीर्यः करोति करुणापरायण ।
सद्व्रतं जिनमतानुसारतः स व्रती भवति शल्यवर्जितः ॥ ११४

ज्ञानदर्शनविशुद्धचेतसामाश्रित व्रतमिदं प्रजायते ।
निर्मलं मलविलोलचेतसां नापरेण कलितं कदाचन ॥ ११५

प्राप्तमानुपभवे हि दुष्टधीर्यो व्रतानि न दधाति मानव.
सोऽत्र साधुसुमतेरसंभवाद्भूरिजन्मजलघावटाट्यते ॥ ११६

इत्यवेत्य भवभारभीरिवः साधवोऽत्र चरणं चरन्ति ये ।
तैः स्वरूपममलं सुदुलभं स्थीयते समुपलभ्य चात्मनः ॥ ११७

इति श्री[1]सिद्धान्तसारसंग्रहे पण्डित[2]ताचार्यनरेन्द्रसेनविरचिते अहिंसा[3]दिपञ्चव्रतनिरूपणं तृतीयः परिच्छेदः ।

हैं, तथा आगममें कहा हुआ आचार इन सब बातोका योग्य विचार करके आचारका उपदेश करनेवाले यतीश्वर सज्जनोके गुरु हैं ॥ ११३ ॥

[व्रतीका स्वरूप ।] – देश, अनूप, जांगल और साधारण ऐसी देशकी अवस्थाओका, हिमकाल, वर्षाकाल, उष्णकाल ऐसे कालका और अपनी शक्ति और वात, पित्त, कफादिरूप प्रकृति इन बातोका जो विचार करता है ऐसा निर्मल बुद्धिका पुरुष प्राणिदयामें तत्पर होकर जिनमतके अनुसार माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योसे रहित होता हुआ निरतिचार अहिंसादि व्रत धारण करता है, वही व्रती होता हैं । ज्ञान और सम्यग्दर्शनसे जिनका चित्त निर्मल हुआ है, उनका यह व्रतपचक निर्मल होता है किन्तु मलिनचित्तवाले पुरुषोका व्रत शल्यसे और मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञानसे युक्त होनेसे कदापि निमल नहीं होता ॥ ११४–११५ ॥

[अव्रती संसारमें भ्रमण करता है ।] – जिसको मनुष्यभव प्राप्त हुआ ऐसा जो दुर्बुद्धि मनुष्य व्रत धारण नहीं करता है वह सज्जनोकी बुद्धिके अभावसे अपार ससारसमुद्रमे दीर्घकालतक भ्रमण करता है ॥ ११६ ॥

इस प्रकार व्रतोका स्वरूप और उसका फल जानकर ससारभारसे भययुक्त जो साधु इस भरतक्षेत्रमें सम्यक्चारित्रका पालन करते है वे अत्यन्त दुर्लभ ऐसा अपना आत्मस्वरूप प्राप्त कर आनन्दसे मोक्षमे रहते हैं ॥ ११७ ॥

* श्रीपंडिताचार्यनरेन्द्रसेन विरचित श्रीसिद्धान्तसारसंग्रह नामक ग्रथमें अहिंसादि पाच व्रतोंका निरूपण करनेवाला तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ *

---

१ आ. 'श्री' इति नास्ति २ आ. पडित इति नास्ति ३ आ. अहिंसादिपञ्चव्रतनिरूपणं इति नास्ति.

चतुर्थोऽध्यायः

अहिंसादीनि यान्येवमुदितानि मयाधुना। श्रीगुरूणां प्रसादेन तानि द्वेधा भवन्ति च ॥ १
देशतोऽणुव्रतान्याहुः सामस्त्येन तथा पुनः। महाव्रतानि पूतानि भवन्ति भविनामिह ॥ २
तद्वान्व्रती द्विधा ज्ञेयः सागारेतरभेदतः। परं निःशल्य एवासौ तस्माच्छल्यमुदीर्यते ॥ ३
शृणाति प्राणिनं यच्च तत्त्वज्ञैः[1] शल्यमीरितम्। शरीरानुप्रविष्टं हि काण्डादिकमिवाधिकम् ॥ ४
शारीरं[2]मानसीं बाधां कुर्वत्कर्मोदयादि यत्। मायामिथ्यानिदानादिभेदतस्तत्त्रिधा मतम् ॥ ५

चौथा अध्याय।

[अणुव्रत और महाव्रतरूप अहिंसादिव्रतोका वर्णन।] — श्रीगुरुओके प्रसादसे जो हिंसादिक व्रतोका मैने इस समय तृतीय अध्यायमे वर्णन किया है उनके दो भेद होते है ॥ १ ॥

संसारी जीवोके अहिंसादिव्रत एकदेशसे पालन करनेसे पवित्र अणुव्रत होते हैं और सपूर्णतासे पालन करनेपर पवित्र महाव्रत होते हैं। स्पष्टीकरण—अनन्तानुबंधि क्रोध, मान, माया, लोभ और अप्रत्याख्यान क्रोध मान, माया लोभ इन आठ कषायोका क्षयोपशम होनेसे और प्रत्याख्यान-कषाय तथा सज्वलन-कषाय और यथा सभव नौ नोकषायोका उदय होनेपर जीवको एकदेश त्यागकी बुद्धि उत्पन्न होती है तब वह पाच पापोका एकदेश त्याग करता है। तथा जब उसको अनतानुबंध्यादि बारह कषायोका क्षयोपशम होकर संज्वलन क्रोध, मान, माया लोभ, ऐसे चार कषायोमेंसे किसी एकके देश-घातिकस्पर्द्धकका उदय होता है तब पांच पापोकी पूर्ण त्याग बुद्धि उत्पन्न होती है, तब वह जीव अर्थात् मुनि महाव्रत धारण करता है। इस प्रकार अणुव्रती गृहस्थ और महाव्रती मुनि ऐसे व्रतिकोंके दो भेद होते है। परतु ये दोनो व्रती निःशल्यही होते है। इसलिये अब शल्यका वर्णन हम करते हैं ॥ २–३ ॥

जो प्राणिको शृणाति — पीडा देता है वह शल्य है, ऐसी तत्त्वज्ञोने शल्य शब्दकी व्याख्या की है (शृणाति प्राणिन पीडयति इति शल्य) जैसे शरीरमे घुसा हुआ बाणादिक शल्य प्राणीको अधिक व्यथित करता है वैसे माया, मिथ्यात्व, निदान ये तीन प्राणीको संसारभ्रमणका दुःख देते हैं, इसलिये इनको शल्य कहना चाहिये ॥ ४ ॥

शारीरिक और मानसिक पीडा देनेवाला कर्मोका उदय, क्षयोपशमादिक रूप जो माया, मिथ्यात्व और निदान भेदसे तीन प्रकारका शल्य है वह जीवोंको पीडा देता है ॥ ५ ॥

---

१ आ. शब्दज्ञैः २-आ. शारीरीं.

प्रपञ्चबहुलाद्वृत्तात्कूटमानादितोऽपि यत् । वञ्चना प्राणिनामुक्ता माया मायाविवर्जितैः ॥ ६
हिंसासत्यमशौचं च तस्य चौर्यं निरन्तरम् । पापीयान् सोऽस्ति सा यस्य प्रपञ्चबहुला स्थिति.॥ ७
अन्यच्चित्ते करोत्यन्यच्चेष्टायामन्यदेव हि । मायावी तस्य किं शौचमुच्यते दुष्टदुर्मते. ॥ ८
मायाविनःप्रपञ्चाढ्या वञ्चयन्ति जगत्रयम् । तस्यात्मवञ्चनामात्र दोषं कि निगदाम्यहम् ॥ ९
इति दोषवतीं ज्ञात्वा वर्जयन्ति विचक्षणाः । मायां त्रिधापि दूरेण पापं परिजिहीर्षव. ॥ १०
धर्मं जिघृक्षुभिहर्यं मिथ्यात्वं सर्वथा तयोः । सहानवस्थितिर्नित्यं विरोधो यावता महान् ॥ ११
मिथ्याशल्यमिदं दुष्टं यस्य देहादनिःसृतम् । तस्यापदाभिभूतस्य निर्वृतिर्न कदाचन ॥ १२

[माया शल्य,] फसानेकी प्रचुरता जिस स्वभावमे रहती है उसे माया कहते है। धान्यादि नापनेके लिये खोटे वाट, नाप आदिक रखकर उससे धान्यादिक पदार्थ ग्राहकको कम देकर फसाना माया है ऐसा मायारहित मुनियोने कहा है। उपर्युक्त प्रकारसे फसानेका प्रचुर स्वभाव जिसका है वह पापी समझना चाहिये। उससे हिंसा, असत्य, अपवित्रता और चोरीक दोष निरन्तर होते है॥६-७

मायावी — कपटी मनुष्य मनमे अन्य विचार करता है तथा शरीरसे और वाणीसे अन्य चेष्टा करता है। इसलिये वह दुष्ट-दुर्बुद्धि क्या पवित्रता धारण कर सकता है? मायावी महान् अपवित्र है ॥ ८ ॥

कपटी पुरुष प्रपच करनेमे — फसानेमे चतुर होते है, वे त्रैलोक्यको फसाते हैं। जब वे त्रैलोक्यको फसाते है, तब उनके स्वय-अपनेको फसानेके दोपको मै क्या कहू? अर्थात् मायावी पुरुष अपनेको सबसे जादा फसाता है, जिससे दीर्घकाल ससारमे उसे घूमना पडता है। अतः उसके आत्मवचना दोपका वर्णन मैं नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

माया महादोषोंसे भरी है ऐसा जानकर पापत्याग चाहनेवाले चतुर पुरुष मन वचन और कायसे उसे छोड देते है ॥ १० ॥

[मिथ्यात्व-शल्य-त्याग ।] धर्मग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषोको मिथ्यात्वका सर्वथा त्याग करना चाहिये। क्योकि धर्म और मिथ्यात्व इन दोनोमे सहानवस्थिति नामका महान् विरोध दोप हमेशासे है। एकस्थानमे-एकाश्रयमे दो विरोधी पदार्थ न रहना उसे सहानवस्था कहते है। जैसे शीत और उष्ण, सर्प और नकुल, वैसे धर्म जहा रहता वहा मिथ्यात्व नहीं रहता। जहा मिथ्यात्व रहता है वहा धर्म नहीं रहता। यह मिथ्यात्व शल्य जिसके देहसे नहीं निकल गया ऐसे मिथ्यात्वसे प्राप्त हुए दु.खोसे पीडित पुरुषको कभीभी मोक्ष प्राप्त नहीं होगा ॥११—१२॥

---

१ आ. पापीयसोऽस्ति २ आ. मात्रदोपम्.

जिनोक्तानां हि भावानामश्रद्धानैकलक्षणम् । शुद्धाशुद्धविमिश्रादिभेदतस्तत्त्रिधा मतम् ॥ १३
एकमप्यक्षरं यस्तु जिनोदितमनिन्दितम् । अन्यथा कुरुते तस्याप्यानन्त्यं संसृतेर्भवेत् ॥ १४
यस्तु तत्त्वमिदं सर्वं जीवाजीवादिगोचरम् । विपरीतं करोत्येव किं स्याज्ज्ञानादि केवली ॥ १५
क्षणं क्षणान्तरस्थायि नित्यं क्षणविनश्वरम् । अभावो भाव इत्येवं भावोऽभाव इति ध्रुवम् ॥ १६
चलं स्थिरं स्थिरं यच्च चञ्चल तत्समन्ततः । उच्चैर्नीचैस्तथा नीचैरुच्चं तदवरं वरम् ॥ १७
अतत्त्वं तत्त्वमित्येवं तत्त्वं वा तत्त्वमित्यपि । विपरीतं प्रपश्यन्ति मिथ्यात्वविषमोहिताः ॥ १८
मिथ्यात्वान्धतमो घोरं येषां हृदयवर्ति तत् । तत्त्वार्थांस्ते न पश्यन्ति मदिराकुलिता इव ॥ १९
प्रमाणनयनिर्णीतं न स तत्त्वं प्रपद्यते । सुष्ठु स्वादुरसं पित्तज्वरेणाकुलितो यथा ॥ २०

[मिथ्यात्वके भेद ।] – जिनेश्वरके कहे हुए पदार्थोंपर श्रद्धान न करना यह मिथ्यात्वका मुख्य लक्षण है । इस मिथ्यात्वके शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र ऐसे तीन भेद है । इसेही सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ्-मिथ्यात्व कहते है ॥ १३ ॥

जिनेश्वरका कहा हुआ प्रशसनीय एक अक्षरभी जो अन्यथा करता है उसेभी अनन्त-संसारकी प्राप्ति होगी । अर्थात् जिनेश्वरने त्रिकालाबाधित वस्तुस्वरूप कहा है परन्तु उसके विपरीत एक अक्षरकाभी परिवर्तन मिथ्यात्वके वश होकर जो करेगा उसे मिथ्यात्वका तीव्र बन्ध होनेसे निगोदावस्थामे दीर्घकाल भ्रमण करना पडेगा ॥ १४ ॥

जिनेश्वरने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्षका यथार्थ स्वरूप कहा है । परतु मिथ्यादृष्टि उसका विपरीत श्रद्धान करता है, वह ज्ञानादिको केवली समझता है किन्तु ज्ञानादि क्या केवली है ? तात्पर्य–विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध आत्मतत्त्व नहीं मानता है वह केवल ज्ञानको ही मानता है, वह ज्ञानही केवली होता है ऐसा समझता है परन्तु यह विपरीत श्रद्धान है ॥ १५ ॥

[विपरीत मिथ्यादृष्टिका स्वरूप ।]– जो वस्तुपर्याय एकक्षणके अनंतर नष्ट होनेवाली है उसे अनेक क्षणतक रहेगी ऐसा कहना । जो नित्य है उसे तत्क्षण नष्ट होगी ऐसी श्रद्धा करना, अभावको भाव कहना, ये सब निश्चयसे उलटे है । अर्थात् जिनेश्वरने तत्त्वस्वरूप कथञ्चित्-क्षणिक, कथञ्चित्-अक्षणिक, स्वस्वरूपकी अपेक्षासे कथञ्चित्-भावात्मक, परस्वरूपकी अपेक्षासे कथञ्चित्-अभावात्मक कहा है। परतु मिथ्यात्वके उदयसे जीव अभावको भाव, और भावको अभावरूप श्रद्धा करता है । मिथ्यात्वविषसे मोहित लोग चल पदार्थको अचल देखते हैं । अचलको चल देखते है । उच्च पदार्थको नीचा देखते है और नीचेको ऊचा देखते है । हीनको श्रेष्ठ समझते है। इसप्रकार विपरीत श्रद्धानीकी दृष्टि होती है । जिनके मनमे घोर मिथ्यात्वाधकार वास कर रहा है वे लोग मदिरापानसे उन्मत्त बने हुए मनुष्यके समान जीवादि तत्त्वोके यथार्थस्वरूपको नही देखते है । पित्तज्वरसे पीडित मनुष्य जैसा सुंदर मधुर रसयुक्त अन्नभी कटुक समझता है वैसेही विपरीत मिथ्यात्वी जन

ये वदन्ति महामोहपिशाचवशगा नराः । आत्मा नित्यो न तेषां हि धर्माधर्मव्यवस्थितिः ॥ २१
न नित्यः कुरुते कार्यं स्वभावव्यभिचारतः । तस्माच्छुभाशुभं कर्म न तस्य फलवन्मतम् ॥ २२
नित्यस्य व्यापिनो नैव क्रियमाणा कदाचन । जीवस्य जायते हिंसा ततो हिंसा कुतस्तनी ॥ २३
संयमो नियमो दानं कारुण्यं दर्शनं तपः । सर्वथा घटते तेषां कथं नित्यैकवादिनाम् ॥ २४
क्षणिके स्वीकृते जीवे क्षणादूर्ध्वं स्वभावतः । पुण्यं पापं च तत्रापि कः प्राप्नोति पुरातनम् ॥ २५
निरन्वयविनाशे तु हिंसाहेतोरभावतः । तत्त्वमाकस्मिकं तेषां कथं मिथ्यादृशां न हि ॥ २६

प्रमाण और नयसे निर्णीत वस्तुको अन्यथा समझते है । महामोह—पिशाचके अधीन हुए मनुष्य आत्मा नित्य है ऐसा कहते हैं । उनके इस मतसे पाप पुण्यकी व्यवस्था नहीं हो सकती ॥ १६—२१ ॥

[आत्मा नित्य माननेमे दोष ।]– नित्यपदार्थ कार्य करता हुआ नहीं दिखता है, क्यो कि कार्य करना उसके स्वभावसे विरुद्ध हैं । परिणमनशील पदार्थ कार्यकारी देखा गया है । मृत्पिण्ड परिणमनशील होनेसे उससे घट कार्य होता है । आत्मा नित्य होनेसे उसमे परिणमन नहीं होगा । परिणमनसे शुभाशुभ कर्मका बंध होता है और उसका मधुर तथा कटुक फल मिलता है । आत्माकी नित्यतासे उसमे शुभाशुभ बंध तथा उसका फलानुभवन नहीं होता ॥ २२ ॥

आत्मा नित्य और व्यापक है, ऐसा जिन्होने माना है उनके दृष्टिसेही यदि विचार किया जावेगा, तो व्यापक चीज क्रियाहीन होती है । आकाश व्यापक है और वह क्रियाहीन है तथा नित्यभी है । अर्थात् वह यदि कुछ परिणमन करेगा तो पूर्व परिणमनसे अन्य परिणमन होनेसे नित्यता नष्ट होकर अनित्यता आए विना न रहेगी । वैसेही आत्मामे परिणमन नहीं माननेसे आत्माके द्वारा हिंसादि क्रिया कदापि नहीं होगी । क्रियासे कर्मबंध और उससे शुभाशुभ फलानुभवन जो प्रत्येक आत्मामे अनुभवमे आता है वह आत्मा नित्य माननेसे और व्यापक माननेसे न आवेगा । अतः व्यापक आत्मामे क्रियाका अभाव होनेसे हिंसाका अभाव होगा तो हिंसा कहासे होगी ॥ २३ ॥

सयम, नियम, दान, दया, सम्यग्दर्शन और तप इत्यादि क्रियाओकी और आचारोकी नित्यवादियोके मतसे सभावना कदापि न होगी ? ॥ २४ ॥

[आत्मा क्षणिक माननेमे दोष ।]—बौद्धोने आत्मा क्षणिक मानी है। इसलिये एक क्षणके अनन्तर वह नष्ट हो जानेपर पूर्व पुण्य और पापका कौन भोक्ता होगा ? अर्थात् पुण्य जिस समय किया जाता है उसी समय उसका फल प्राप्त नहीं होता है । एकही क्षणमे कारण कार्यरूप नहीं परिणत होता है । पदार्थ अनेक क्षणवर्ती होगा तो पूर्वपर्याय नष्ट होकर द्वितीयादि पर्याये उसमे दृग्गोचर होगी । परतु एकही समयमे पदार्थकी उत्पत्ति होती है और विनाशभी होता है तथा वह

---

१ आ. अनित्यः २ आ. पुण्यापुण्यम्

तस्मिन्नाकस्मिके तावद्धिंसाहेतुर्न हिंसकः । प्रवृत्तिस्तु कथं मार्गे तत्र मार्गोऽपि वा कथम् ॥ २७
अन्यव्यावृत्तिरूपं स्याज्जगत्सर्वमिदं यदि । जीवोऽप्यजीव एवास्य का कथा धर्मकर्मणि ॥ २८
जगच्छून्यमिदं सर्वं धर्मो हिंसाविवर्जितः । मूढात्मानो वदन्त्येतत्तथ्यं ताथागता. कथम् ॥ २९

विनाश पर्यायान्तरसे परिणत न होकर निरन्वय विनाशरूप होनेसे पूर्वकृत पापपुण्योकाभी निरन्वय नाश होगा। तथा जैसे निरन्वय विनाश होता है, वैसी निरन्वय उत्पत्तिभी होगी। तो पाप-पुण्योकी व्यवस्था हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाफल ये बाते अस्थिर क्षणिक पदार्थोमे नहीं संभवती इसलिये बौद्धके मतमे कारणविनाही कार्यतत्त्वकी उत्पत्ति माननी होगी ॥ २६ ॥

जब आत्मतत्व अकारण उत्पन्न होगा, तों हिंसक मनुष्य हिंसा कार्यका कर्ता है ऐसा मानना उचित न होगा। जैसे हिंसा करनेवाला कारणके विनाही उत्पन्न होता है वैसे हिंसाभी कारणके विनाही उत्पन्न होगी। तथा हिंसाका हिंसकसे कुछभी सबध न होनेसे हिंसकको पापी अथवा निंद्य मानना अविचाररम्य होगा। ऐसी परिस्थितिमे मोक्षमार्गमे प्रवृत्ति कैसे होगी ? और मार्गकीभी स्थिति नहीं होगी। मार्ग किसको कहना यह प्रश्नभी अनुत्तरही रहेगा। तात्पर्य यह है, कि निरन्वय-विनाश और निरन्वय उत्पत्ति मानना युक्तिसगत नहीं है ॥ २७ ॥

निरन्वय उत्पत्ति होनेसे जीव जीवत्व धारण करकेही उत्पन्न होगा यह नियम नहीं बनेगा। जीव अपना जीवत्व छोडकर अजीव होगा। अजीव अपना अचेतनपना छोडकर जीव होगा। क्योकि नियामकता जब पदार्थमे नही रहती तब जीवका परिणमन जीवरूपही होना, अजीवका परिणमन अजीव रूपही होना, ऐसी सम्बद्धता उनमे कहासे रहेगी? अत जीवजीवादिक तत्त्व सान्वय मानने चाहिये ॥ २८

तथागत बौद्ध सर्व जगत् शून्य है और धर्म हिंसाविवर्जित है, अर्थात् अहिंसा धर्म है ऐसा कहते है। आचार्य इसके ऊपर ऐसा कहते है, कि यह उनका कहना मूर्खोके समान है। जगत् यदि शून्य है, तो धर्म नामक वस्तुभी नहीं है, क्यो कि जगत् जो धर्मी है, वहभी यदि शून्य है. तो उसका स्वभाव अहिंसा धर्म है ऐसा कहना कैसे सिद्ध होगा? वन्ध्याका लडका मृगतृष्णामे स्नान करता है, ऐसा कहनेके समान यह बौद्धका विवेचन है। इसलिये ऐसा कथन करनेवाले बौद्ध तथागत-सत्यज्ञानवाले बुद्धके अनुयायी कैसे हो सकते है ?

स्पष्टीकरण—जगत शून्य है ऐसा कहना योग्य नहीं। यद्यपि स्वप्न इन्द्रजाल आदिकमे पदार्थोका ज्ञान उनके अभावमेभी होता है, अत. जगत् शून्य है ऐसा कहोगे तो ज्ञान मिथ्या होने-पर पदार्थका अभाव मानना योग्य होगा. परतु सर्व ज्ञान मिथ्या नहीं होते। मृगतृष्णामे जलका ज्ञान मिथ्या होनेसे तृष्णा हरण करनेवाले सच्चे जलका ज्ञानभी मिथ्या मानना कैसे योग्य होगा ? स्वप्नमे होनेवाले ज्ञान बाह्य पदार्थ रहित होते हैं परतु जाग्रदवस्थामे होनेवाला ज्ञान स्थिर, स्थूल, साधारण स्वरूपादि पदार्थोको प्रकाशित करनेवाला होता है। यह प्रत्यक्षसे अनुभवमे आता है, अत.

नास्तिका निगदन्त्येके जीवाभावविभाविनः । तपस्यन्त्यन्यलोकाय किमर्थं जडबुद्धय. ॥ ३०
जीवो नास्ति कियान्त्र पदार्थो नामगोचरः[1] । भूतात्मकमिदं ज्ञानं केवलं यन्त्रवाहकम् ॥ ३१
भूतोपादान एवायं जायते जनरञ्जकः । कश्चिद्भावस्तमज्ञानाज्जीवभ्रान्त्या[2] वदन्त्यमी ॥ ३२
अचेतनानि भूतानि नोपादानानि चेतने । मिथ्येति गोमयादिभ्यो वृश्चिकाद्युपदर्शनात् ॥ ३३

उसको मिथ्याज्ञान नहीं कह सकते । तथा उसके विषय स्तम्भकुभादिकभी मिथ्या नहीं है। स्वप्नभी सब बाह्य पदार्थके अवलम्बनके विनाही होते है ऐसा नहीं समझना चाहिये । स्वप्नभी सत्य और असत्य दो प्रकारके होते है । सत्यस्वप्न देवताविशेषसे उत्पन्न किये हुए अथवा अपने पाप-पुण्यसे किये हुए होते है और वे साक्षात् पदार्थसे अव्यभिचारी होते है। और कोई स्वप्न परम्परासे अर्थानुकूल होते हैं । स्वप्नमे राजादिकोका दर्शन होनेसे कुटुम्बवृद्धि आदिक फल मिलता है । वातपित्तादिकके उद्रेकसे उत्पन्न हुआ स्वप्न असत्यपनेसे यद्यपि प्रसिद्ध है, तो भी अर्थमात्रसे व्यभिचारी है ऐसा नहीं, क्योकि कोईभी अर्थ सत्ताके साथ व्यभिचारी नहीं है। परतु विशेषार्थके साथ व्यभिचारी होनेसे वह मिथ्या माना जाता है । इसलिये जगतमे अर्थ और उसको विषय करनेवाले ज्ञान ये दोनो पदार्थ सत्ताके साथ अव्यभिचारी होनेसे जगच्छून्य है ऐसा कहना योग्य नहीं ॥२९॥

[चार्वाक आत्मा पदार्थ नहीं मानते है, उनका पूर्व पक्ष ।] — जीव नहीं है ऐसा प्रति-पादन करनेवाले नास्तिक-चार्वाक ऐसा कहते है " जीव नामक पदार्थ नहीं है । इसलिये ये जड बुद्धिवाले लोग परलोकप्राप्तिके लिये--स्वर्गसुखके लिये क्यो तपश्चरण करते है ? " ॥ ३० ॥

"जीव नहीं है और उसकी क्रिया नहीं है । जीव नामका पदार्थ केवल नामगोचर है । जैसे आकाशपुष्प केवल नामही है, उसका वाच्यभूत पदार्थ कोई नही है, वैसे तो 'जीव' यह शब्द सुना जाता है परतु उसका वाच्य जीव पदार्थ नहीं है। जो ज्ञान अनुभवमे आता है वहभी भूतात्मक है । पृथ्वी, हवा, पानी, अग्निसे उत्पन्न हुआ है और उसके द्वारा यह शरीररूपी यत्र चलता है अर्थात् शरीरके द्वारा चलने बोलने आदिकी क्रिया ज्ञान कराता है, वह भूतात्मक होनेसे जडही है" ॥३१॥

"जो लोगोके मनको अनुरजित करनेवाला कोई पदार्थ दिखता है वहभी भूतोपादानही है । अर्थात् अज्ञानसे लोगोकी उसमे यह जीव है, ऐसी भ्रान्ति हुई है और वे उसे जीव कह रहे हैं । जैसे मट्टीके पिण्डसे घट उत्पन्न होता है, अर्थात् मट्टीका पिण्डही घटाकार होता है वैसे भूतोसे उत्पन्न हुआ यह जनरंजक पदार्थ स्वय भूतात्मकही है । कोई भूतोसे भिन्न पदार्थ नहीं" ॥ ३२ ॥

कोई जीव माननेवाले जैनादिक ऐसा कहते है, कि " पृथ्वी, हवा, पानी आदि भूत अचेतन होनेसे चेतनरूप जीवकी उत्पत्तिके लिये उपादान नही होते हैं " यह जीववादियोका विधान मिथ्या-असत्य है । क्योकि गोमयादि पदार्थोसे बिच्छु आदिक जीव उत्पन्न होते हुए दिखते है ।

१ आ. मानगोचरः २ तमज्ञाना

विजातिभ्योऽपि भूतेभ्यश्चेतनो न विरुध्यते । पिष्टोदकगुडादिभ्यो मदशक्तिरिव ध्रुवम् ॥ ३४
मुक्त्वेहलौकिकं सौख्यं व्रतैः क्लिश्यन्त्यहर्निशम् । ही वञ्चितास्त एवास्मिन्नाशापाशवशीकृताः ॥३५
अहिंसादिव्रतं तेषां नोपपत्तिमियर्ति तत् । हिंस्याभावे क सा हिंसा हिंसाभावे क तद्व्रतम् ॥ ३६
नास्ति जीव इति व्यक्तं यद्वदन्तीह दुर्धियः । तन्मिथ्यैव यतो जीवः प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ॥ ३७
स्वसंवेदनवेद्यत्वात्सुखदुःखादिवद्ध्रुवम् । जीवे सिद्धे कथं नैते नास्तिका दुष्टवादिनः ॥ ३८

अतः भूतोसे चेतन पदार्थ उत्पन्न नहीं होता ऐसा जैनोका कहना मिथ्या है, अर्थात् भूतोसे चलनेवाला, वोलनेवाला, लिखनेवाला अनेक स्वभावोंका धारक चेतन पदार्थ उत्पन्न होता है ऐसाही मानना चाहिये । इसलिये जीव नामक चेतन पदार्थ भूतोसे अलग नहीं है" ॥ ३३ ॥

"पृथ्वी, हवा आदिक भूत अचेतन है और जीव चेतन है, अतः पृथ्वी आदिक भूत चेतनसे विरुद्ध होनेसे विजातीय है तो भी उनसे जीवकी उत्पत्ति होना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि पिष्ट, पानी, गुड आदिक पदार्थोंमे मदशक्ति न होनेपरभी उनसे वह निश्चयसे उत्पन्न होती है" ॥ ३४ ॥

"परलोकसुखके आशापाशने जिनको वश किया है ऐसे लोग इह लोकसंबधी स्त्री चन्दन पुष्पमालादिकोका सुख छोडकर व्रतोसे स्वयको हमेशा पीडित करते है, वे लोग फसाये गये हैं । ऐसे लोगोके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि व्रतोकी उपपत्ति सिद्ध नहीं होगी । यदि जीव होता तो अहिंसादिव्रतोकी सफलताभी होती । जीव नहीं होनेसे व्रतपालन केवल क्लेशरूपही है । हिंस्यही नहीं है तो हिंसा पापरूप कैसे सिद्ध होगी ? अर्थात् जीव पदार्थ होता तो उसकी हिंसा होती । उसकी सिद्धि न होनेसे हिंसाकाही अभाव हुआ है तो अहिंसाव्रतकी सिद्धि कहा होगी" यहातक चार्वाकका पूर्वपक्ष हुआ ॥ ३५–३६ ॥

[आत्मतत्त्व है ऐसा जैनोका सिद्धान्तपक्ष ।]— 'आत्मा नहीं है' ऐसा जो दुर्बुद्धि-मिथ्यात्वग्रसित वुद्धिवालोका स्पष्ट कहना है वह मिथ्याही है, क्योकि जीव प्रत्यक्ष प्रमाणसेही सिद्ध होता है । उसके लिये अन्य प्रमाणोकी आवश्यकता नहीं । जैसे सुखदुःख हर्षविषादादि स्वसंवेदनसे जाने जाते हैं वैसे आत्माभी स्वसवेदन प्रत्यक्षसे अनुभवमे आता है । मै सुखी हू, मै दुःखी हू, ऐसा अनुभव प्रतिव्यक्तिको खुदही उत्पन्न होता है । मै जीव हू यह अनुभवभी स्वयको स्वय आता है । यदि शरीरसे भिन्न आत्मतत्त्व न होता तो ऐसा अनुभव कदापि नहीं आसकता । इस स्वसंवेदनसे आत्मतत्त्व सिद्ध होनेसे ये चार्वाक दुष्टवादी क्यो नहीं ? अर्थात् मिथ्यात्व कर्मका तीव्र उदय होनेसे आत्मा नहीं है ऐसी इनकी विपरीत वुद्धि हो गयी है ॥ ३७–३८ ॥

जीवको प्राप्त हुआ शरीर पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि ऐसे अनेक भूतोसे बना हुआ है वैसा आत्मा इन भूतोसे नहीं वना हुआ है अतः वह इनका कार्य नहीं है । तथा ये भूत अचेतन है । अत इस चेतनकी उत्पत्तिमें ये उपादानकारण नहीं हो सकते । अचेतनोंका कार्य अचेतनही होगा । चेतनके कार्य चेतनही होते हैं । अर्थात् सजातीय कारणसे सजातीय कार्यही उत्पन्न होता है ।

शरीरारम्भकानेकभूतकार्यं न चेतनः । तेषामचेतनत्वेन हेतुत्वं[1] नैव चेतने ॥ ३९
गुडादिभ्योऽपि या जाता मदशक्तिरचेतना । चैतन्ये नैव सा जातु दृष्टान्तं प्रतिपद्यते ॥ ४०
गोमयाद्वृश्चिकादीनां शरीरोत्पत्तिदर्शनात् । चेतनेऽसिद्धरूपत्वान्न साध्यं सिद्धिमञ्चति ॥ ४१
जन्मादिमृत्युपर्यन्तं चैतन्ये सिद्धिमाश्रिते । प्रागूर्ध्वं सिद्ध एवासौ तत्राभावप्रसङ्गत' ॥ ४२
न तत्रोत्पत्तितः सत्ता कारणाभावतः सताम् । सम्मता पूर्व एवायं ततः सिद्धः प्रमाणत. ॥ ४३

विजातीय कार्यका वह कदापि कारण नही होगा। जैसा कारण होता है वैसाही कार्य होता है। शरीर भूतोका कार्य है, इसलिये शरीर पुद्गल–परमाणुओंसे उत्पन्न होता है। चैतन्य पुद्गल परमाणुओसे नहीं उत्पन्न होता॥ ३९ ॥

गुड, धातकीपुष्प आदि पदार्थोंसे जो मदशक्ति उत्पन्न होती है, वह यदि चेतना होती तो भूतोसे चैतन्य उत्पन्न होता है ऐसा पक्ष सिद्ध करनेमे वह समुचित उदाहरण मानी जाती परतु मदशक्ति अचेतन है, इसलिये चैतन्यके साथ उसका दृष्टान्त देना विपम पडता है। गोमयसे बिच्छु आदि जीव उत्पन्न होते है ऐसा कहनाभी युक्तियुक्त नहीं है । गोमयसे बिच्छुका शरीर उत्पन्न होता है। बिच्छुका आत्मा गोमयसे उत्पन्न नहीं होता। चैतन्य उत्पन्न करनेमे गोमय असमर्थ है। पूर्वशरीर छोडकर गोमयसे बने हुए शरीरमे आत्मा आकर उसको धारण करता है। न कि स्वय उससे उत्पन्न होता है। अन्यथा माता पिताके रजवीर्यसे पुत्रका आत्मा उत्पन्न हुआ ऐसा मानना पडेगा ॥ ४०–४१ ॥

"जन्मसे लेकर मरणतक चैतन्य सिद्ध है परंतु उसके आगे वही यह है ऐसी सिद्धि नहीं होती" ऐसा यदि कहोगे तो आगे उसका अभाव मानना पडेगा। परतु मृत्युके अनतरभी वह नष्ट नहीं होता अर्थात् उसकी सत्ता पूर्वशरीर छूटनेपरभी रहती है अन्यथा नवीन शरीरमे वह कैसे प्रगट होगा ? ॥ ४२ ॥

आत्मा नवीन शरीरमे पूर्व शरीरको छोडकर आता है। इसलिये घटादिके समान वह सान्त नहीं है। वह सत् पदार्थ द्रव्यरूप होनेसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती है अर्थात् आत्मा अनादि निधन है। वह यद्यपि पूर्वशरीर छोडता है और नवीन शरीर धारण करता है तथापि पूर्व शरीरके विनाशसे उसका नाश और नवीन शरीरकी उत्पत्तिसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती। पूर्व-देव पर्यायका विनाश और मनुष्यपर्यायकी उत्पत्ति होनेपरभी वही आत्मा है, जो देवपर्यायमे था। इसलिये पूर्वकाही यह आत्मा है ऐसा माननेमे कुछ विसगति नहीं दिखती। देहसे आत्मा कथञ्चिद् भिन्न और कथञ्चिद् अभिन्न मानना चाहिये। सर्वथा देहसे आत्मा भिन्न है ऐसा माननेपर शरीरको

---

१ आ न हेतुत्व हि चेतने

तद्विघातात्ततो हिंसा प्राणिनामपकारिणी । अनिवार्या भवेत्त्रेधा वर्जनीया ततः सताम् ॥ ४४
यद्वदन्ति च नो कर्म विद्यते दुष्टकारणम्[1] । तदभावे हि लोकानां कथं हिंसादिवर्जनम् ॥ ४५
तन्न युक्तं हि जीवस्य हीनस्थानपरिग्रहात् । एतत्पूर्वकृतं कर्म विना नैव हि जायते ॥ ४६
अथ सत्त्वेऽपि नो कार्यं किञ्चित्तत्कुरुते स्वतः । अचेतनत्वात्किं क्वापि कुर्वन्निह घटादिकम्[2] ॥ ४७
एषा भाषापि मोहात्मतमश्च्छन्नात्मनां मता । यतोऽस्ति साधकं साधु प्रमाणं बाधवर्जितम् ॥ ४८
विषवाय्वग्निजातानां[3] विकारं कुर्वतां सताम् । अचेतनानां किं कर्म स्वकार्यं कुरुते न हि ॥ ४९

तोडकर आत्मासे अलग करनेपर हिंसा नही होगी तथा आत्मा और शरीर अन्योन्यसे अभिन्न माननेपर शरीरनाशसे उसकाभी सर्वथा नाश होगा । इसलिये आत्माका शरीरसे संबंध होनेसे वह शरीरसे कथञ्चिद् भिन्नाभिन्न माननेसे शरीरका विघात होनेसे आत्माकाभी नाश होता है, हिंसा होती है और वह प्राणियोको अपकार करनेवाली होती है । जो हिंसक है उसको वह हिंसा नरकादि दुर्गतिमे दुःख देती है । तथा जिसका घात किया जाता है वह संक्लेश परिणामसे–आर्तरौद्रध्यानसे मरण करता है । अतः वहभी संसारमे घुमता है । परतु जिसकी हिंसा हो रही है वह यदि समदर्शी होगा तो उसमे रागद्वेष उत्पन्न न होनेसे दुर्गतिप्रापक कर्मबंध उसे नहीं होगा । प्राणीका घात होनेसे हिंसा होती है । उस हिंसाको सज्जन मन, वचन और कायसे त्यागे ॥ ४३–४४ ॥

कई लोग ऐसा कहते है कि नोकर्मरूप शरीर दोषका कारण है यदि उस शरीरका अभाव हो जायगा तो लोगोको हिंसादित्याग करनेकी क्या जरूरत है ? परतु ऐसा कहना योग्य नही । आत्मा और शरीर एक क्षेत्रावगाही है । इसलिये शरीरविनाशसे आत्माका विनाश होगाही, यानी आत्मघात होगा ॥ ४५ ॥

जीवने हीनस्थानका–शरीरका स्वीकार किया है और यह शरीर पूर्वकृत कर्मके विना प्राप्त नही होता । कदाचित् कोई यह कहेगा कि कर्म अचेतन है, इसलिये वह स्वतः कुछभी कार्य करनेमे समर्थ नहीं है । क्या घटादिक पदार्थ यहा कुछ कार्य करते हुए दिखते है ? ॥ ४६–४७ ॥

कुछ वादियोका ऐसा कहनाभी मोहसेही है । कर्म अचेतन होकरभी अनेक प्रकारका कार्य करता है । इस विषयमे बाधावर्जित और साधक प्रमाण है । जैसे–विष, वायु, अग्नि आदि पदार्थोंका समूह अचेतन होकरभी मरण, हरण, दहन आदि कार्य करता हुआ देखा जाता है । वैसे यह कर्मभी ज्ञानको आच्छादित करना आदि अनेक प्रकारका कार्य करता हुआ क्या नही दिखता है ? ॥ ४८–४९ ॥

---

१ आ. दुःखकारणम् २ आ. कुर्वन्तीह घटादयः ३ आ. विषमद्याग्निजातानां

कालोऽप्यचेतनः किं न भावानां नवजीर्णताम् । करोति कर्म[1] येनेदं कुर्वत्कार्यं न मन्यते ॥ ५०
विचित्रसुखदुःखादि जीवानां कार्यमर्जितम्[2] । विचित्रं कारणं किञ्चिद्विना नैवोपजायते ॥ ५१
नित्यो व्यापीत्यकर्ता च न क्रियावानमूर्तिकः । भोक्तेति गुणयुक्तोऽपि निर्गुणो यैर्निगद्यते ॥ ५२
मूर्च्छिता इव ते लोके सुरामदनकोद्रवैः । स्वोक्तमपि[3] न जानन्ति मौन्यहं निगदन्निव ॥ ५३
यद्यकर्ता कथ भोक्ता भोक्तृत्वं विदधन्नपि । अक्रियोऽपि कथं स स्याद्बन्धाभावप्रसङ्गतः ॥ ५४
अथेदमुच्यते नात्मा कर्मणा बध्यते कचित् । अमूर्तत्वात्खवत्तस्मान्नैव दोषो मतः सताम् ॥ ५५

कालभी अचेतन है तथा वह पदार्थोमे नवीनता और जीर्णता क्या उत्पन्न नहीं करता है ? जिससे यह कर्म कुछ कार्य नहीं करता है ऐसा कहते हो ? ॥ ५० ॥

जीवोमे नानाविध सुखदु.खादिक कार्य होते हुए दिखते है। वे कारणोके वैचित्र्यमेही दिखते है। अर्थात् कर्ममे यदि हर्षविषादादि उत्पन्न करनेके नाना स्वभाव नही होते, तो वे कार्य कैसे दृष्टिगोचर होते ? अतः कर्म अचेतन होकरभी विष, अग्नि, वायु, काल आदिके समान नाना कार्य करनेमे समर्थ है, इसलिये अचेतन होनेसे कर्म कार्य करनेमे असमर्थ है ऐसी भाषा योग्य नहीं है। यहातक चार्वाकका ' आत्मा नही है ' इस पक्षका खडन कर आत्माकी सिद्धि जैनोने की है। अब साख्योने आत्माका जो स्वरूप नित्य अमूर्तिक, व्यापक, अकर्ता इत्यादिरूप कहा है उसका खण्डन जैन करते है–

[साख्यमत आत्माके विषयमे ऐसा है] – आत्मा नित्य, व्यापी, अकर्ता, अक्रियावान्, अमूर्तिक, भोक्ता ऐसे गुणोसे युक्त है और निर्गुणभी है ऐसा साख्य कहते है, वे मदिरा, धत्तूर, और कोद्रवभक्षणसे मानो मूर्च्छित हुए है, क्योकि वे शब्दसे स्वय कहा हुआभी नहीं जानते। मै मौनी हू ऐसा कहनेवालेके समान वे दिखते है ॥ ५१–५३ ॥

यदि आप आत्माको अकर्ता अर्थात् कुछ घटपटादि अथवा सुखदु खादिकोका कर्ता नहीं मानते है, तो वह भोक्ता कैसे होगा ? भोगनेकी क्रिया करनेवाला जो है, उसे भोक्ता कहते है। जाननेकी क्रिया करनेवाला उसे ज्ञाता कहते है, देखनेकी क्रिया करनेवाला जो है उसे द्रष्टा कहते है, वैसे भोगनेकी क्रिया करनेवाला उसे भोक्ता मानना चाहिये। अर्थात् जानना, देखना और भोगना आदिक क्रियाओका कर्तृत्व मानकर फिरभी आत्माको अकर्ता मानना लज्जाजनक है। अर्थात् आत्माको भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व, द्रष्टृत्व ये कर्तृत्वके विना मानना युक्तिसगत नहीं है। इसलिये साख्योका आत्माका अकर्तृत्व मत योग्य नही है। यदि आत्मा अक्रियावान है, तो उसे बधाभावका प्रसग आवेगा। अर्थात् आत्मा बधरहित है ऐसा मानना पडेगा। ऐसा दोष प्राप्त होनेपर वे जैनोंको

१ आ. कार्य येनेद २ आ. मूर्जितम् ३ आ. स्वोक्त

बध्यते प्रकृतिर्मूर्तकर्मणा मुच्यते च सा । सम्बन्धः सर्वदा दृष्टो मूर्तेष्वेव न चान्यथा ॥ ५६
स्यान्मतं प्रकृतिः सर्वा ज्ञानशून्या त्वचेतना । कथं क्रियावती येन कर्म बध्नाति मुञ्चति ॥ ५७
नैष दोषो यतः सैव सर्वज्ञा तत्त्वदर्शिनी । जगन्निर्वर्तिका नित्या सर्वसंहारकारिणी ॥ ५८
प्रकृतेर्महान्बुद्ध्यात्मा ततोऽहङ्कार इत्यपि । गणः षोडशकस्तस्मात्पञ्चभ्यो भूतपञ्चकम् ॥ ५९
एष स्पष्टक्रमो यस्या व्यावृत्ति संहृतिस्तथा । सत्त्वं रजस्तमश्चेति प्रकृतिः सर्वतोमुखी ॥ ६०
सिद्धैव प्रकृतिः सम्यक् प्रसादाद्युपदर्शनात् । व्यक्तस्य कारणं तेषु तदन्वयविलोकनात् ॥ ६१
एतत्सर्वं हि सांख्यानां प्रमाणातिगतं भुवि । मिथ्याशल्यानुविद्धानां आक्रन्द इव लक्ष्यते ॥ ६२
अमूर्तो बध्यते नैव कर्मणा नेति सुन्दरम् । अमूर्तचेतनाशक्तेर्मद्यादेर्बन्धदर्शनात् ॥ ६३

कहते है कि, आत्मा कर्मसे किसी स्थानमे और कभी बद्ध नहीं होता है, क्योकि वह अमूर्त है। जैसे आकाश अमूर्त होनेसे निर्लेप है, उसे कर्मबंध नहीं होता है। अर्थात् आत्मा सदैव बंधरहित है। जो बद्ध होती है वह प्रकृति है, वह कर्मसे बद्ध होती है और मुक्तभी होती है। कर्म मूर्त है और मूर्त-पदार्थमें उसका बंध दिखता है। अमूर्त आकाश और अमूर्त आत्मामे उसका बंध नहीं दिखता है। ॥ ५४–५६ ॥

इसके ऊपर जैन पुनः ऐसा कहते है कि, तुम्हारी मानी हुई प्रकृति सर्वज्ञानसे शून्य है और अचेतन है। इसलिये वह क्रिया करनेका ज्ञान नहीं होनेसे क्रियावती कैसी होगी? जिससे वह कर्म बांध लेती है और उससे मुक्तभी होती है इस शंकाका उत्तर सांख्य इसप्रकार देते है। आप जो कह रहे है, वह दोष नहीं है अर्थात् प्रकृतिको आप असर्वज्ञ कहते है यह उचित नहीं है, क्योकि 'वही सर्वज्ञ है, तत्त्वोको देखनेवाली है, जगत्को निर्माण करती है, नित्य है और सर्व वस्तुओका संहार करती है ऐसा उसका स्वरूप है। उस प्रकृतिसे बुद्धिस्वरूप महान् नामक तत्त्व उत्पन्न होता है। विषयोको जानना-निश्चित करना यह बुद्धिका कार्य है। इस बुद्धिसे अहंकार उत्पन्न होता है, "मै सुंदर हू, मै दर्शनीय हू" ऐसा जो अभिमान उसे अहंकार कहते है। इस अहंकारसे षोडशक गण उत्पन्न होता है अर्थात् अहंकारसे पांच तन्मात्रा-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध यह तन्मात्राओका स्वरूप है। तथा इस अहंकारसे ग्यारह इंद्रिया, पाच बुद्धीन्द्रिया कान, स्पर्शन, आंखे, जिह्वा और नाक, पाच कर्मेन्द्रिया-भाषा, हाथ, पाव, गुदद्वार और उपस्थ, तथा मन–अनेक प्रकारके संकल्प करना-विचार करना मनका कार्य है। जैसे-'मै भोजनके लिये उस घरमें जाऊंगा। वहा आज दही खानेको मिलेगा या गुड मिलेगा' इस प्रकारके संकल्प मनमे उत्पन्न होते है। पाच तन्मात्राओसे पाच भूतोकी सृष्टि होती है। जैसे शब्दसे आकाश, स्पर्शसे वायु, रूपसे तेज, रससे जल और गन्धसे पृथ्वी उत्पन्न होती है। इसप्रकार प्रकृतिका जन्यपरिवार है। प्रकृतिसे सृष्टिक्रम

---

१ आ. मूर्ता २ आ. तु ३ आ. मेता ४ आ. सृष्टिः ५ आ. प्रकृतिः सिद्धैव

अमूर्ततापि नो तस्य सर्वथा युक्तिमृच्छति । रूपस्पर्शात्मिकामूर्तेरेवाभावात्परात्मनि ॥ ६४
प्रधानं कर्म बध्नाति तन्मिथ्याजल्पजल्पितम् । न ह्यज्ञानं विजानाति हेयादेयपरिग्रहम् ॥ ६५
अचेतनत्वादज्ञानं तत्प्रधानमिति ध्रुवम्[1] । स्तम्भकुम्भादयो भावाः किं क्वापि ज्ञानशालिनः ॥ ६६

इसप्रकारसे उत्पन्न होता है । और जब संहार होता है तब ये सृष्ट हुए बुद्ध्यादिकतत्त्व प्रकृतिमें अन्तर्भूत होते हैं उससे अलग नहीं रहते । प्रकृतिके सत्व, रजस् और तमस् ऐसे तीन स्वभाव हैं—गुण हैं । महदादिकोंको व्यक्त कहते हैं क्योंकि वे दिखते हैं—प्रकट होते हैं । प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं उसे सामान्यभी बोलते हैं । प्रकृति व्यापक और क्रियारहित है, बुद्ध्यादिक व्यापक नहीं हैं । प्रकृति कारण है, बुद्ध्यादिक कार्य हैं । प्रसादादिक दिखते हैं इसलिये प्रकृति तत्त्व सिद्ध होता है । व्यक्त जो महदादिक उनकी प्रकृति कारण है । क्योंकि प्रकृतिका महदादिकोंमें अन्वय-संबंध दिखता है । जैसे स्थास, कोश, कुसूल, घट आदिकोंमें मृत्तिकाका संबंध दीख पडता है । इत्यादिक प्रकृतितत्त्वका जो सांख्योंने वर्णन किया है, वह प्रमाणका उल्लंघन करनेवाला है अर्थात् युक्तियुक्त नहीं है । मिथ्यात्व शल्यसे-मिथ्यात्व बाणसे विद्ध होनेसे उनका तज्जात वेदनासे मानो चिल्लाना है ॥ ५७—६३ ॥

[उपर्युक्त प्रकृतिवादका जैन खण्डन करते हैं ।]— अमूर्त आत्मा कर्मोंसे बद्ध नहीं होता ऐसा वचन सुंदर युक्तिसंगत नहीं है । अमूर्त ऐसी जो आत्माकी चेतनाशक्ति है, वह मद्यादिकसे उन्मत्त होती है ऐसा दिखता है । इसलिये उसमें बंधका-कर्मबंधका दर्शन होता है । अर्थात् आत्मा अमूर्त होनेसे वह कर्मबद्ध नहीं होता, ऐसा नहीं कहना चाहिये । आत्मा अमूर्तिक है यह कहनाभी सर्वथा युक्तियुक्त नहीं है । अर्थात् आत्मा कथञ्चित् मूर्तिक है और कथञ्चित् अमूर्तिक है । रूप, रस, गंध, स्पर्श जिसमें रहते हैं वह मूर्ति है । ऐसी मूर्ति परमात्मामें-संसाररहित जीवोंमें नहीं होती, इसलिये सिद्ध परमेष्ठि अमूर्तिक हैं और कर्मबंधरहित हैं । परंतु संसारी आत्मा रूपस्पर्शादिकसे युक्त होनेसे मूर्तिक है और उसमें कर्मबंध दिखता है । भावार्थ यह है, कि आत्मा अमूर्तिक होनेपरभी बीजांकुरके समान अनादिकालसे मूर्तिक कर्मसे नीरक्षीरके समान एकरूप हो गया है । इसलिये कथञ्चिन्मूर्तिक है, रूपादिमान् हैं । कर्मके साथ अन्योन्यप्रदेशोंका प्रवेशरूप एकत्वपरिणमन हुआ है । इसलिये कथंचिन्मूर्तिक होता हुआ यह आत्मा बन्धको प्राप्त हुआ है ॥ ६४ ॥

प्रधान कर्मबद्ध होता है, यह कहना मिथ्या है । क्योंकि प्रधान-प्रकृति अचेतन है । अज्ञान है, इसलिये ग्राह्याग्राह्य बोध उसे कैसे होगा ? अचेतन होनेसे यह प्रधान निश्चयसे अज्ञान है । स्तंभ, कुंभ, आदिक पदार्थ क्या कहां ज्ञानी देखे गये हैं ? ॥ ६५ ॥

यह प्रधान-प्रकृति व्यक्त स्वरूपवाले बुद्धि, अहंकार तन्मात्रादिकोंकी उत्पत्तिमें हेतु नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा नित्य है । जो सर्वथा नित्य है वह कदापि विकारयुक्त नहीं होगा । नित्य

१ आ. ब्रुवन्

प्रधानं व्यक्तरूपाणां न हेतुर्महदादिनाम् । नित्यत्वात्तस्य सर्वत्र विकारानुपपत्तित ॥ ६७
प्रमाणाभावतस्तस्याप्यभावो धीमतामतः । ततो वन्ध्यासुतस्याङ्गव्यावर्णनमिवाखिलम् ॥ ६८
प्रसादाद्यनुमानं यत्प्रसाधकमितीरितम् । तन्न सत्य यतोऽनेन ह्यात्मा भवति साधितः ॥ ६९
यतो हर्षविषादाद्याः सर्वे ह्यात्मविवर्तकाः । सिद्धास्तदन्वयादेव[1] घटे चानुपलम्भतः ॥ ७०
प्रधानं कर्म बध्नाति भोक्तात्मेति प्रजल्पतः । सांख्यस्य सत्यमायातं लोकवाक्यमिदं भुवि ॥ ७१
अग्रगो हरते भारं मुहुःस्वनति पृष्ठतः[2] । भुक्तिक्रियां करोत्यन्यस्तृप्तिमन्योऽधिगच्छति ॥ ७२
ततोऽहिंसाव्रतं नास्ति कापिलानां मते क्वचित् । नित्यस्य व्यापिनस्तस्य प्रघातानुपपत्तितः ॥७३

पदार्थ अपने एकरूपसे दुसरे स्वरूपमे आताही नहीं है । अतः प्रकृति कालत्रयमेभी महदादिक तत्त्वोकी जननी नहीं हो सकती । तथा सर्वथा नित्य प्रकृति तत्त्व सिद्धिके लिये कोईभी प्रमाण नहीं होनेसे बुद्धिमानोने प्रकृतितत्त्वका अभाव माना है । इसलिये प्रकृति महदादिकोकी जननी है इत्यादि सकल वर्णन वन्ध्यापुत्रके अंगवर्णनके समान है, ऐसा समझना चाहिये ॥६६-६८॥

प्रसादादिक गुण देखकर प्रकृतिकी सत्ताका जो अनुमान कहा गया है, वहभी सत्य नहीं है । इस अनुमानसे प्रकृतिकी सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत यह अनुमान आत्माको सिद्ध करता है । क्योकि हर्षविषादादिक आत्मामे देखे जाते है, घटपटादिक अचेतन पदार्थोमे नहीं और वे पर्याय जीवकेही है और क्रमसे उत्पन्न होते है। क्योकि हर्ष और विषाद परस्पर विरुद्ध है। जो पर्याये परस्पर विरुद्ध होती है, वे युगपत् एक पदार्थमे नही दिखती । अतः आत्मा हर्षविषादादि पर्यायोसे परिणत होता है । जिनका जिनके साथ संबंध होता है वे उनको छोडकर अन्यत्र नहीं उपलब्ध होगे । घटमे स्पर्शादिकोका संबध रहता है । अतः उसको छोडकर आत्मादिकमे वे नहीं रहते है । वैसेहि हर्षविषादादिक आत्माके धर्म है वे प्रकृतिमे नहीं रहेगे ॥ ६९–७० ॥

' प्रधानको तो कर्मबंध होता है, और उसका अनुभव–भोग आत्माको लेना पडता है,' ऐसा बोलनेवाले सांख्यका यह वचन यदि सत्य है, तो यह लोकवाक्यभी सत्य क्यो नहीं मानना चाहिये, कि "आगेका पुरुष तो भार बहता है, और पीछेका मनुष्य उस भारसे चिल्लाता है । एक मनुष्य प्रियभोजन कर रहा है और दुसरे मनुष्यको उससे तृप्ति हो रही है" तात्पर्य यह, कि आत्माकोही बंध और मोक्ष मानना चाहिये । आत्माकोही सर्वज्ञता प्राप्त होती है । अचेतन प्रकृतिको सर्वज्ञता मानना अत्यंत मूर्खता है ॥ ७१–७२ ॥

इसलिये कापिलोके मतसे आत्मा नित्य और व्यापी होनेसे अहिंसा व्रत उसे नहीं है क्योकि आत्मा नित्य होनेसे हिंसाही नहीं होती है, तो व्रत कैसा होगा ? हिंसाका त्याग करनेसे अहिंसा व्रत होता है । त्याग और स्वीकार ये दो पर्याये है । नित्य पदार्थमे परिणमन न होनेसे पूर्व पर्यायका त्याग और उत्तरका स्वीकार हो नहीं सकता जिससे कापिलमतकी सिद्धि नहीं होती है ॥७३॥

१ आ. तदन्वयत्वेन २ आ. वर्तमानस्य सर्वदा

नित्यानित्यमतस्तत्त्वं निरपेक्षं परस्परम् । येषां मिथ्यादृशस्तेऽपि सर्वे नयविघातत ॥ ७४
तं सर्वज्ञमृते देवं वीतरागं जिनेश्वरम् । मिथ्यात्वमिति जल्पन्ति सम्यग्ज्ञानातिगाः परे ॥ ७५
वदन्त्यन्ये न सर्वज्ञो वीतरागोऽस्ति कश्चन । प्रमाणपञ्चकाभावादभावेन विभावित. ॥ ७६
तथा ह्यध्यक्षत: सिद्धि. सर्वज्ञे नोपजायते । रूपादिनियतानेकविषयत्वेन तस्य च ॥ ७७
संबद्धवर्तमानत्वपरत्वान्नास्य साधकम् । तत्प्रत्यक्षमसंबद्धवर्तमानत्वत: सदा [1] ॥ ७८
नैवानुमानत. सिद्धिः सर्वविद्विषया कचित् । यल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि [2] ज्ञानमनुमानं प्रजायते ॥ ७९

सर्वथा नित्यवादी और सर्वथा अनित्यवादी दोनोही मिथ्यादृष्टि हैं परतु जो पदार्थोको नित्यानित्य मानते है वे तो मिथ्यादृष्टि नही है ऐसा कहना योग्य नहीं । निरपेक्ष नित्यानित्यवादभी सर्वथा नित्यवाद और' सर्वथा अनित्यवादके समान मिथ्याही है, क्योकि अपेक्षाके विना नित्यानित्य वस्तु माननेसे सर्व नयोका घात होता है ॥ ७४ ॥

जो सम्यग्ज्ञानसे रहित हैं ऐसे लोग रागद्वेषरहित सर्वज्ञ जिनेश्वरको न मानकर अर्थात् उनके मतका स्वीकार न करके उपर्युक्त प्रकारसे मिथ्यात्वकी कल्पना करते हैं ॥ ७५ ॥

[सर्वज्ञके विषयमे मीमासकोका पूर्वपक्ष ।] — अन्य-मीमासक ' वीतराग और सर्वज्ञ कोई हैं ही नहीं ' ऐसा कहते है " प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, प्रत्यभिज्ञा प्रमाण, आगम प्रमाण और अर्थापत्ति प्रमाण इन पाचो प्रमाणोंसेभी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता " अत अभाव प्रमाणसे उसका अभाव सिद्ध होता है, यह मीमासकोका मत है । वे क्रमसे पाचों प्रमाणोके द्वारा सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करते है ॥ ७६ ॥

प्रत्यक्षप्रमाणसे सर्वज्ञकी सिद्धि नही होती, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं कर सकता, क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाण रूप, रस, गध और स्पर्श इन नियत विषयोको जानता है । अर्थात् रूपरसादिकके समान सर्वज्ञ इद्रियप्रत्यक्षसे जानने योग्य वस्तु नही है । अत अध्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञकी सिद्धि करनेमे असमर्थ है । प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बद्ध और वर्तमान कालीन रूपादि विषयोको जानता है अर्थात् वर्तमान घटके रूपका चक्षुसे सम्बन्ध होता है, तब चक्षु प्रत्यक्ष यह काला घट है, यह पीला घट है, ऐसा जानता है । परतु सर्वज्ञ असबद्ध है और वर्तमानकालमे विद्यमान नही है इसलिये प्रत्यक्षका विषय नही होता है ॥ ७७—७८ ॥

अनुमानके द्वारा सर्वज्ञ विषयकी सिद्धि होगी ऐसाभी नहीं कह सकते है । " लिंग-ज्ञानसे लिंगिका ज्ञान होना अनुमान है । धूमरूप लिंग देखकर पर्वतपर अग्निरूप लिंगीको सिद्ध करना अनुमान है । ऐसा कोई अनुमान-ज्ञानभी सर्वज्ञकी सिद्धिमे उपयुक्त नहीं है । सर्वज्ञका कोई

---

१ आ वर्तमानस्य सर्वदा २ आ. यल्लिङ्गिधर्मिणि ज्ञानं

स्वभावकार्यरूपं वा न तल्लिङ्गं विलोक्यते । ततस्तस्य कुतः सिद्धिरनुमानुपपत्तितः[1] ॥ ८०
आगमादपि नो सिद्धिर्जायते सर्ववेदिनः । स च नित्यो ह्यनित्यो वा तत्स्वभावं[2] विभावयेत् ॥ ८१
नानित्योऽनादिरूपत्वादर्थवादप्ररूपणात् । आदिमत्पुरुषेणास्य वाचकत्वविरोधतः ॥ ८२
तदुक्तानुक्तभेदाभ्यामनित्यो नास्य साधकः । अन्योन्याश्रयतस्तस्य प्रामाण्याभावतस्ततः ॥ ८३
नैवार्थापत्तिरप्यस्य सर्वज्ञस्यावबोधिका । अनन्यथाभवस्येह सर्वार्थस्याप्यभावतः ॥ ८४
धर्मादेरुपदेशस्य मिथ्यात्वेनापि दर्शनात् । सर्वत्र व्यभिचारित्वात्कथं तस्मात्तदन्वयः ॥ ८५

स्वभाव अथवा सर्वज्ञका कोई कार्य लिंग होकर उससे लिंगिरूप सर्वज्ञ—यदि जाना जाता, तो अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती परतु ऐसा कोई लिंगभी नही है, जो सर्वज्ञको सिद्ध करेगा। अतः उसकी कहांसे सिद्धि होगी ? ॥ ७९–८० ॥

सर्वज्ञकी सिद्धि आगमसेभी नहीं होती। आगमके नित्य अनित्य दो भेद है। नित्य-आगम सर्वज्ञके स्वभावको जानता है अथवा अनित्य आगम उसके स्वभावको जानता है? नित्य आगम सर्वज्ञको विषय नहीं करता, क्योकि वह आगम अनादि-स्वरूपका है, तथा वह अर्थवादका निरूपण करता है, यज्ञकी स्तुति करता है। यज्ञ सर्वज्ञ शब्दसे वाच्य होता है, तथा यज्ञकी महिमा गानेके लिये वह नित्य आगम है। सर्वज्ञ आदिमान् पुरुष है और वेद अनादि है। अनादि वेदसे आदिमान् सर्वज्ञ वाच्य कैसे होगा ? ॥ ८१–८२ ॥

अनित्य-आगम सर्वज्ञसाधक माननेपर उसके दो भेद होते है। एक सर्वज्ञ–प्रणीत अनित्य-आगम और एक असर्वज्ञ–प्रणीत अनित्य-आगम। प्रथम पक्षमे अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होता है। प्रथम सर्वज्ञसिद्धि होनेपर आगमका सर्वज्ञप्रणीतत्व सिद्ध होगा। और उसकी सिद्धि होनेपर उस आगमकी प्रामाण्यसिद्धि होगी, प्रामाण्यसिद्धि होनेपर उस आगमसे सर्वज्ञसिद्धि होगी। असर्वज्ञप्रणीत आगमसे सर्वज्ञसिद्धि नही हो सकती, क्योकि असर्वज्ञप्रणीत आगमको प्रमाणता आ नही सकती। अप्रमाणभूत आगम सर्वज्ञको कैसे सिद्ध कर सकेगा ? ॥ ८३ ॥

अर्थापत्ति नामक प्रमाणसे सर्वज्ञकी सिद्धि होगी, ऐसाभी आप नहीं कह सकते। क्योकि सर्वज्ञके विना नहीं होनेवाले सपूर्ण पदार्थोका अभाव है। ऐसा कोईभी पदार्थ नहीं है, कि जिसके होनेपर सर्वज्ञकी सिद्धि हो सकेगी। कदाचित् जैन यहा कहेगे कि सर्वज्ञका धर्मादिका उपदेश सबभी विद्यमान है और उससे सर्वज्ञ सिद्ध हो सकता है। परतु वह उपदेश सच्चा है, ऐसा जैन नहीं कहसे, क्योंकि मिथ्या उपदेशभी देखा जाता है। इसवास्ते मिथ्या उपदेशसे सर्वज्ञत्वका व्यभिचार होनेसे अर्थात् असर्वज्ञमे मिथ्या उपदेशके होनेसे सर्वज्ञके साथ उपदेशका संबध नहीं रहता। अतः उपदेशभी सर्वज्ञसाधक नहीं है ॥ ८४–८५ ॥

१ आ. अनुमानानुपपत्तित. २ आ. तत्सद्भाव

ततोऽभावप्रमाणस्य प्रवृत्तिरनिवारिता । सर्वज्ञविषया चेति तदभावो विभाव्यते ॥ ८६
तदेतत्सर्वमिथ्यात्वमहारागहतात्मनाम् । वैपरीत्यं विभात्येव सर्वथा वेदवादिनाम् ॥ ८७
कश्चित्पुमानशेषज्ञः प्रमाणावाधितत्वतः । न चासिद्धमिदं तावत्कस्यचिद्बाधकात्ययात् ॥ ८८
प्रत्यक्षं बाधकं तस्य नैषा भाषापि युज्यते । तद्विषयं भवेदेतत्तस्य प्रत्युत साधकम् ॥ ८९
अतद्विषयतायां हि प्रत्यक्षस्य न जायते । सर्वज्ञसाधकत्वं वा बाधकत्वं कदाचन ॥ ९०
नैवानुमानबाधापि सर्वज्ञप्रतिषेधिनी । सर्वदातीन्द्रियत्वेन तस्य तत्राप्रवर्तनात् ॥ ९१
साध्यसाधनयोस्तावत्क्वचिदेकत्र दर्शनात् । ततः साधनतः साध्यविज्ञानं जायते पुनः ॥ ९२
सर्वज्ञस्य तु चेल्लिङ्गं सर्वज्ञाभावसाधकम् । तद्विरुद्धं ततोऽन्यच्च कथं सर्वज्ञभाषितम् ॥ ९३

सर्वज्ञमे अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति अनिवार्य है। उसे कोई रोक नहीं सकता। इसलिये अभाव प्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध हुआ ॥ ८६ ॥

यह मीमासकोका सर्वज्ञाभावके विषयमे जो कहना है वह योग्य नही है। सपूर्ण मिथ्यात्व-रूप महारोगसे जो घाते गये ऐसे वेदप्रामाण्य माननेवाले मीमासकोका यह कहना सर्वथा विपरीत है ॥ ८७ ॥

[जैन सर्वज्ञ सिद्ध करते है।] – कोई पुरुष सर्वज्ञ है, क्योकि किसीभी प्रमाणसे उसका सर्वज्ञपना बाधित नहीं होता। यहा ' प्रमाणाबाधितत्व ' हेतु जो जैनोने सर्वज्ञत्वकी सिद्धिमे दिया है वह असिद्ध नहीं है, क्योकि इस हेतुमे किसीभी बाधकका सभव नहीं है। सब बाधकोका अभाव हो गया है ॥ ८८ ॥

प्रत्यक्ष प्रमाण उस सर्वज्ञका बाधक है, यह भाषाभी योग्य नही। यदि यह प्रमाण सर्वज्ञको विषय करनेवाला है, तो वह उसका साधकही होगा। उससे सर्वज्ञका सद्भावही सिद्ध होगा। अभाव सिद्ध नहीं होगा। और यदि वह सर्वज्ञको विषय नहीं करता है, तो वह सर्वज्ञसाधकभी नही है, और बाधकभी नहीं है। जो जिसको जानता है, विषय करता है उससे उसकी सिद्धि होती है। परतु जो जिसको नही जानता है वह उसका निषेध करनेमे अधिकारी नही है। जैसे कर्णेन्द्रिय रूपको जानती नही अर्थात् वह रूपकी न साधकही है और न बाधकही है, वैसे सर्वज्ञको अविषय करनेवाला प्रत्यक्ष सर्वज्ञका न साधक है और न बाधक है ॥ ८९–९० ॥

अनुमान-बाधा सर्वज्ञका प्रतिषेध करेगी ऐसाभी नही कहना चाहिये। क्योकि सर्वज्ञ सदा अतीन्द्रिय होनेसे बाधक अनुमानकी वहा प्रवृत्ति नहीं होती। जो बाधक अनुमान है उसमे साध्य और साधनकी सिद्धि नही है। अर्थात् सर्वज्ञनिषेधक धर्मी और साधन कोई नहीं है। वे यदि होते तो पक्षमे उनका दर्शन होता। साधनसे जो साध्य ज्ञान होता है उसे अनुमान प्रमाण कहते है। सर्वज्ञका कोई लिंग-हेतु है, और वह सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करता है, ऐसा कहोगे तो वह कहना विरुद्ध होगा। क्योकि सर्वज्ञका लिग सर्वज्ञके अभावके विरुद्ध सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध करता है। यदि सर्वज्ञसे अन्यवचन होगा तो वह सर्वज्ञभाषित कैसा माना जायगा[१] ॥ ९१–९३ ॥

१ आ सार्वज्ञ

आगमोऽपि हि नो जातु कृतकश्चेतरोऽपि वा । तस्यावाधां करोत्येप प्रामाण्याभावतस्ततः ॥ ९४
गुणवद्वक्तृकत्वेन तत्प्रामाण्यमुदीरितम् । तस्याभावेऽस्य दुष्टत्वमप्रामाण्यनिषेधनात् ॥ ९५
धर्माद्यतीन्द्रियार्थस्यानन्यथार्थस्य दर्शनात् । अर्थापत्तिस्तु सर्वज्ञसाधिका नैव वाधिका ॥ ९६
अभावोऽपि न सर्वज्ञाभावसिद्धिविधायकः । यतोऽन्यत्रान्यदा तस्य ग्रहणे सति जायते ॥ ९७
अत्राधुना न सर्वज्ञ इत्यप्यामोहजल्पितम् । सिद्धसाधनदोषत्वाद्दुष्टमिष्टविघातकृत् ॥ ९८
देशान्तरकालान्तरद्रव्यान्तरनिषेधकम् । अखिलज्ञमृते तस्य क्रियते केन कथ्यताम् ॥ ९९

आगम प्रमाणभी सर्वज्ञका बाधक नहीं है । कृतक आगम और अकृतक आगम ऐसे आगमके दो भेद होते हैं। कृतक-पौरुपेय आगम, अकृतक–अपौरुषेय-जिसका कर्ता कोई नहीं है ऐसा आगम, ऐसे दोनो आगमसेभी सर्वज्ञ बाध्य नहीं है । क्योकि उनमे स्वयं प्रामाण्यका अभाव है । जो आगम गुणवान् वक्तासे कहा गया है उसमे प्रामाण्य है अर्थात् गुणवान् वक्ता निर्दोष होनेसे उसके वचनोमे प्रामाण्य होता है और ऐसा वक्ता जिस आगमका कर्ता है वह अप्रमाण नहीं हो सकता, अर्थात् ऐसे आगमसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है । यदि आगममे गुणवद्वक्तृत्वका अभाव होगा तो वह आगम दुष्ट होगा–सदोप होगा तथा सदोप आगमका अप्रामाण्य निपिद्ध नहीं किया जा सकता ॥ ९४–९५ ॥

धर्म-अधर्म आदिक जो अतीन्द्रिय पदार्थ है उनका परिज्ञान सर्वज्ञके बिना नहीं होता अत यह अर्थापत्ति सर्वज्ञकी साधक है, बाधक नहीं ॥ ९६ ॥

अभावप्रमाणभी सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेमे समर्थ नहीं । क्यो कि किसी पदार्थका किसी स्थलमें और किसी कालमे यदि ग्रहण होगा तो अन्यस्थलमे और अन्यकालमे उसका अभाव अभावप्रमाणसे कर सकते हैं । तात्पर्य–अभाव प्रमाण त्रिकालमे और त्रिलोकमे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं कर सकता । वर्तमानकालमे सर्वज्ञ नहीं दिखता, अतः उसका अभाव कहना है, तो वह कथन मोहयुक्त है । वर्तमानमे सर्वज्ञ है ऐसा कौन मानता है ? वर्तमान कालम सर्वज्ञका अभाव है ही । जो अभाव है ही, उसकी सिद्धि करनेका प्रयास करना सिद्धसाधन दोषसे दुष्ट होता है और यह दोष मीमांसकके ' सर्वथा सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेके इष्ट पक्षका ' विघातक है ॥९७–९८॥

जो सर्वज्ञ है वही देशान्तर, कालान्तर, द्रव्यान्तरका निषेध करेगा अर्थात् जो सर्व देशोको सर्व भूतभविष्यद्वर्तमान कालोको और सम्पूर्ण द्रव्योको जानता है, वही ' सर्वज्ञ नहीं है ' ऐसा कह सकेगा । अर्थात् सब जानकर जो सर्वज्ञ नहीं है ऐसा कहता है वही सर्वज्ञ होगा । किसी वस्तुको जानकर कोई उस वस्तुका निषेध या विधि कर सकता है । न जानते हुए किसी वस्तुका निषेध करनेवाले उसको प्रमाण कौन मानेगा ? ॥ ९९ ॥

---

१ आ. निषेधनम्

प्रमाणाबाधितत्वेन सर्वज्ञस्य महात्मनः। सिद्धिर्न हन्यते मिथ्यादृष्टिभिर्वेदवादिभिः ॥ १००
अथागमस्य नित्यस्य प्रामाण्यं स्वत एव हि। अपौरुषेयतस्तस्माद्धर्माद्यर्थेषु सत्प्रमा ॥ १०१
अपौरुषेयता तस्य सिद्धिः शब्दस्य सर्वथा। नित्यत्वात्कथिता तद्धि वर्णानां नित्यधर्मतः ॥ १०२
तदेवेदमिति व्यक्ता देशकालान्तरेऽपि या। प्रत्यभिज्ञा ततः शब्दो नित्यो व्यापी सवर्णकः॥ १०३
अभिव्यञ्जकवायूनां नियतत्वान्न सर्वदा। सर्वत्र श्रवणं तेषामिति वाचो विपश्चिताम् ॥ १०४
कर्तुरस्मरणाद्वापि पौरुषेयत्वनिह्नवः। वेदे भवति किं तस्मात्सर्वज्ञसमवस्थितिः ॥ १०५

सर्वज्ञमहात्मा प्रमाणोंसे बाधित नहीं होनेसे उसकी सिद्धि वेदवादी मिथ्यादृष्टियोसे नष्ट नहीं की जा सकती ॥ १०० ॥

यहा तक सामान्य सर्वज्ञकी सिद्धि जैनोने की है। इसके अनतर मीमासक 'आगम अपौरुषेय है' ऐसा पूर्व पक्ष स्थापित करते है—

आगम नित्य है, क्योकि सज्जनोने शब्द सर्वथा नित्य कहे है और शब्दोकी नित्यता वर्णोकी नित्यतापर निर्भर है। अर्थात् वर्ण, शब्द और आगम तीनोही नित्य है। नित्य आगमका-वेदका प्रामाण्य स्वतःही है, इसलिये वह आगम अपौरुषेय है तथा धर्मादिक अर्थोके प्रतिपादनमे वही प्रमाणभूत है, अन्य नहीं ॥ १०१ ॥

शब्द नित्य है, व्यापी है और वर्णसहित है। तथा उसकी नित्यता देश और कालान्तरमेभी 'वही है' इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञासे सिद्ध होती है। जो शब्द मैने कल सुना था वही शब्द मै आज सुन रहा हू, जो शब्द मैने घरमे सुना था वही शब्द मै आज पाठशालामे सुन रहा हू इसप्रकार शब्दकी नित्यताका द्योतक ज्ञान होता है। वह ज्ञान शब्द नित्य और व्यापक नहीं होता तो कैसे होता ? अतः शब्द नित्य है, व्यापी है और वर्णोसहित है ॥ १०२–१०३ ॥

"यदि शब्द नित्य और व्यापक है तो सर्वकालमे और सर्व स्थानमे उसको लोग क्यो नहीं सुनते है ? अर्थात् शब्द नित्य होनेसे सब जगतके लोग उसे सुन पाते, और व्यापकताभी उसकी प्रकट हो जाती परतु वैसा वह नही है अतः उसको व्यापक और नित्य मानना योग्य नहीं है" ऐसा जैनके कहनेपर मीमासक उसका उत्तर इस प्रकार देते है – "शब्दको प्रगट करनेवाले अभिव्यजक वायु नियत है इसलिये शब्दका हमेशा और सर्वस्थानोमे श्रवण नहीं होता है, ऐसा विद्वानोका कथन है" जब शब्द नित्य है तो वेद शब्दात्मक होनेसे वे भी नित्य है, अनादिनिधन और अपौरुषेय है। "वेदके कर्ताका स्मरण नहीं होता है" इस अन्य हेतुसेभी उस वेदके पौरुषेयत्वका निरास होता है। अपौरुषेय वेदसेही सर्व पदार्थोका ज्ञान होता है। अत. सर्वज्ञका अवस्थान माननेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १०४–१०५ ॥

[वेदके अपौरुषेयताका खण्डन]— मोहरूप गाढान्धकारसे व्याप्त हुआ है चित्त जिनका ऐसे मीमासकोका यह कहना है। ये मीमासक नष्टकर्मा और नष्टधर्मा है। अर्थात् इनका कोई कार्य और धर्म सिद्ध नहीं होता, क्योकि उसका विचार करनेसे वह सिद्ध नहीं होता ॥ १०६ ॥

तदेतदपि मोहान्धतमःसंछन्नचेतसाम्। चेष्टितं नष्टधर्माणां विचारानुपपत्तितः ॥ १०६
नित्यत्वं व्यापकत्वं च यदि स्याद्वर्णशब्दयोः। खण्डशः प्रतिपत्तिश्चेत्कथं केन निवार्यते ॥ १०७
सर्वत्र सर्वदा तेषां वृत्तित्वात्कथमेकदा। सर्वात्मना प्रतीतिः स्याद्घटादेरनिवारिता ॥ १०८
सादृश्ये प्रत्यभिज्ञानमाभासं यत्तदेव हि। ततस्तस्मात्कथं सिद्धिर्नित्यव्यापित्वदर्शिनी ॥ १०९
तदभिव्यञ्जकानां यन्नियमाद्युगपच्छ्रुतिः। तस्मात्तदपि मिथ्यात्वं मत्यज्ञानैकवर्तिनाम् ॥ ११०

वर्ण और शब्दोको नित्य और व्यापक माननेसे उनका खडश. ज्ञान होगा यह दोप कैसे दूर किया जावेगा ? एक शब्द पूर्णतया कोई मनुष्य नहीं सुन सकेगा, क्योकि उसका कुछ अश यहां होगा तो कुछ अश अन्यत्र होगा। तथा जो अंश जहा होगा वह उतनाही सुना जानेसे वर्णका और शब्दका पूर्ण ज्ञान नहीं होगा जिससे अर्थपूर्णताका अभाव होगा। और अल्प प्रतिपत्तिसे-ज्ञानसे कोई कार्य किसीसे न किया जायेगा अर्थात् सर्व कार्य अधूरेही रह जायेंगे। सर्वत्र और सर्वदा वर्ण और शब्द पूर्ण भरकर रहनेसे एक समयमे और एक स्थानमे सपूर्णतया घटादि पदार्थोंका ज्ञान वेरोकठोकके एकसाथ कैसे होगा ? इसलिये वर्ण और शब्द व्यापक मानना योग्य नहीं। जैसे घटादिक वा पटादिक पदार्थोंका ज्ञान हमको पूर्णरूपसे हो जाता है, वैसेही अक्षरका और शब्दका पूर्णज्ञान हो जाता है। अतः वह अक्षर और शब्द घटपटादिके समान अनेक और अव्यापक है ऐसाही मानना योग्य है ॥ १०७–१०८ ॥

वही यह अक्षर है 'वही यह शब्द है' ऐसा जो प्रत्यभिज्ञान होता है, वह मिथ्या है। यहा सादृश्यमे आपको भ्रम हुआ है इसलिये यह वही शब्द है, यह वही अक्षर है इस तरह एकत्वप्रत्यभिज्ञान होता है, ऐसा आप कहते है। ऐसे भ्रान्त एकत्वप्रत्यभिज्ञानसे अक्षर और शब्दकी नित्यत्व और व्यापित्वकी सिद्धि कैसे होगी ? वही दीप है 'वही नृत्य है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान एकत्वका साधक नहीं है। वैसेही वही शब्द है इत्यादि ज्ञान एकत्वका प्रसाधक नही है। अत. शब्द, अक्षर अनेक है और अव्यापक है ऐसा समझना चाहिये ॥ १०९ ॥

शब्दको प्रगट करनेवाले अभिव्यजक वायु होनेसे शब्द प्रगट होता है, ऐसा नियम मानना भी योग्य नहीं है। जैसे दीपक घरमे लानेसे घट दिखताही है, ऐसा नियम नही है क्योकि घट यदि घरमे नही है तो दीपक लानेसेभी नहीं दिखेगा। अतः शब्दको वायु प्रगट करते है ऐसा कहना योग्य नहीं। अर्थात् शब्दको वायु उत्पन्न करते है, ऐसाही मानना चाहिये। अभिव्यजक वायुसे शब्द प्रगट होताही है, ऐसा नियमपूर्वक समझना मत्यज्ञान धारण करनेवालोका मिथ्यात्व है अर्थात् शब्दको वायु प्रगट करता है, तथा वह शब्द नित्यव्यापक है, ऐसी कल्पनाभी मिथ्यात्वसे मीमांसकोंके मनमे प्रगट हुई है ॥ ११० ॥

---

१ आ तमश्छन्नैकचेतसा २ आ. पदादे

समानेन्द्रियग्राह्याणां समदेशैकवर्तिनाम्। समानधर्मयुक्तानां युगपद्दर्शनादिह ॥ १११
तथा हि श्रोत्रमर्थानां समधर्मैकवर्तिनाम्। न स्यान्नियतसंस्कारमिन्द्रियत्वात्सुदृष्टिवत् ॥ ११२
वेदे प्रवाहनित्यत्वमयुक्तं युक्तिदर्शिनाम्। शब्दमात्रविशेषाभ्यां विकल्पाभ्यामतिक्रमात् ॥ ११३
शब्दमात्रस्य नित्यत्वे लौकिके[1] चापि तद्भवेत्। वैदिका एव नित्याः स्यु. स्वल्पं तदभिधीयते ॥ ११४

तात्पर्य यह है, कि जो कारक—कारण होते है वे नियमसे कार्यको उत्पन्न करते है, अन्यथा कारक—कारण और व्यजककारण इनमे अन्तरही न रहेगा और चक्रादिकोका व्यापार व्यर्थ होगा ॥ ११० ॥

कर्णके ऊपर ध्वनियोद्वारा संस्कार किया जाता है, जिससे शब्द प्रगट होता है। यहभी कल्पना अनुचित है, क्योकि यदि ध्वनिके द्वारा कान सस्कृत हुआ तो समान श्रवणधर्म धारण कर-नेवाले अनेक शब्द युगपत् कानके द्वारा सुने जाने चाहिये। परतु कानसे क्रमसे शब्द सुने जाते है, अत कान ध्वनिवायुसे सस्कृत होता है ऐसा नियम सिद्ध नही होता। जैसे ऑख इद्रिय है और समानधर्मके पदार्थ अर्थात् देखने योग्य पदार्थोको अजनसे सस्कृत होकर कुछ पदार्थको देखती है और कुछ पदार्थ उससे नहीं देखे जाते है 'ऐसा नियम नहीं है' अर्थात् सब पदार्थोको ऑख देखती है और अपने समीपके कुछ पदार्थोको देखती है, और समीप होते हुएभी कुछ नील धवलादिक पदार्थोको नहीं देखती ऐसा कुछ नियम नहीं। कानभी इद्रिय है और ऑखभी इंद्रिय है तो भी ऑखके समान कानभी सब शब्दोको युगपत नही सुनते हैं। अतः यहा इद्रिय-सस्कारोंसे शब्द अभिव्यक्त होते है, यहभी कल्पना योग्य नहीं है। जैसे ऑख समानेन्द्रियग्राह्य-चक्षुर्ग्राह्य और समदेशवर्ति सभी नील धवलादि पदार्थोको इन्द्रिय होनेसे ग्रहण करती है तो भी वह नियत सस्कार युक्त नहीं होती है, वैसे कानभी समानेन्द्रियग्राह्य-कर्णेन्द्रियग्राह्य और समान धर्मवाले-श्रावण धर्मवाले सपूर्ण शब्दोको इद्रिय होकर एकदम ग्रहण नही करता है अथवा ग्रहणभी करेगा तो भी उसके ऊपर वायुओका सस्कार होगा। तभी वह ग्रहण करता है ऐसा नियम नहीं है। प्रदीपादिकोसे अनुगृहीत ऑख युगपत् अनेक घटादिक पदार्थोको देखती है, वैसे सस्कृत-ध्वन्यनुगृहीत कान एक समयमे अनेक शब्द ग्रहण करेगा ऐसा प्रसग आवेगा। इसलिये कान अभिन्नदेशमे स्थित पदार्थोको—शब्दोको ग्रहण करनेके लिये प्रतिनियतसस्कारसे सस्कृत होता है तभी उनको ग्रहण करता है ऐसा नियम नहीं ॥ १११—११२ ॥

मीमांसक वेदमे प्रवाहनित्यत्व मानते है। वहभी युक्तिसे विचार करनेवाले विद्वानोको अयुक्त दिखता है। शब्दमात्रमे प्रवाहनित्यत्व और शब्दविशेषमे नित्यत्व ऐसे दोनो विकल्पोका यहा उल्लघन होता है अर्थात् दोनोमेभी प्रवाहनित्यत्व सिद्ध नहीं होता। शब्दमात्रमे नित्यत्व माननेपर

---

१ आ. लौकिकेष्वपि

विशिष्टेष्वपि शब्देषु प्रवाहान्नित्यता यदि । ज्ञाताज्ञातार्थरूपाणामिति प्रश्नद्वयं भवेत् ॥ ११५
अज्ञातार्थे च शब्दस्य न प्रामाण्यं कदाचन । ज्ञातार्थत्वं हि नो तेषां तद्व्याख्यातुरभावतः ॥ ११६
तद्व्याख्याता च किञ्चिज्ञश्चेत्कथं तत्प्रमाणता । सर्वज्ञत्वे च सुस्थं स्यात्सर्वं सर्वज्ञवादिनाम् ॥ ११७
धर्माद्यतीन्द्रियार्थेषु नस्यैव ज्ञानरूपिण. । प्रामाण्यं न तु शब्दानामज्ञानाचेतनात्मनाम् ॥ ११८
ताल्वादिकारणाज्जात. कार्यरूपस्तु सर्वथा । शब्दो नित्य. कथं तेषां मीमांसापक्षवादिनाम् ॥ ११९
तस्मादनित्य एवायं कृतकत्वादिधर्मत. । वदन्त्यकृत्रिमं ये तु तेऽपि मिथ्यादृशः सताम् ॥ १२०

लौकिक शब्दोंमेंभी नित्यत्व मानना पडेगा और तब वैदिक शब्दही नित्य हैं ऐसा कथन अल्पज्ञानका होगा। शब्दत्व समान होनेपर लौकिक शब्द क्यों अनित्य होवे इस प्रश्नका उत्तर मीमांसक क्या देंगे ? ॥ ११३–११४ ॥

कदाचित् विशिष्ट शब्दोंमेंही प्रवाहनित्यता अनादिकालसे चली आ रही है ऐसा कहोगे, तो जिनका अर्थ जाना गया है। ऐसे विशिष्ट शब्दोंको प्रवाहनित्य आप मानते हैं अथवा जिनका अर्थ नहीं जाना गया ऐसे विशिष्ट शब्द प्रवाहनित्य मानते है ? ऐसे दो प्रश्न उपस्थित होते है ॥ ११५ ॥

जिसका अर्थ नहीं जाना गया, उसमे कभी प्रामाण्य नहीं आ सकेगा। क्योंकि उसके व्याख्यानाका अभाव होनेसे ज्ञातार्थत्व नहीं है (अर्थात उस पदार्थका ज्ञान नहीं होगा) ॥ ११६ ॥

उन शब्दोंका व्याख्याता कोई असर्वज्ञ होगा, तो उस असर्वज्ञको कौन प्रमाण मानेगा ? और वह यदि व्याख्याता सर्वज्ञ होगा, तो वह प्रमाण माना जावेगा और सब घुटाला मिटेगा। अर्थात् सर्वज्ञवादीका पक्ष सिद्ध होगा ॥ ११७ ॥

धर्म-पुण्य, अधर्म-पाप, सूक्ष्म-परमाण्वादिक पदार्थोंकी शक्तियां, तथा अग्नि आदिक पदार्थोंकी दहनादि शक्तियाँ ये सब अतीन्द्रिय पदार्थ है। उनका निरूपण सर्वज्ञके विना कौन करेगा? उनका ज्ञान करानेका सामर्थ्य सर्वज्ञमेंही है, अन्योंमे नहीं है। शब्द अज्ञान और अचेतन हैं। उनमे वक्ताके प्रामाण्यसेही प्रामाण्य आता है, क्योंकि सम्यग्ज्ञानको आचार्य प्रमाण मानते हैं शब्दोंको नहीं ॥ ११८ ॥

शब्द ताल्वादि कारणोंसे उत्पन्न होता है अत वह सर्वथा कार्य है वह नित्य कैसे होगा? इसलिये मीमांसापक्षवालोंका 'शब्द नित्य है' यह पक्ष सिद्ध नहीं होता ॥ ११९ ॥

शब्दमें कृतकत्व धर्म है, परिणमन है, रुकना प्रेर्यता आदि धर्म है। अत एव वह अनित्यही है। परन्तु जो उसे अकृत्रिम-नित्य-अपरिणामी एक व्यापक आदि कहते है, वे मिथ्यादृष्टि है ऐसा सज्जनोंका-सम्यग्ज्ञानियोंका मत है ॥ १२० ॥

---

१ आ. अज्ञातार्थेषु २ आ शब्देषु ३ आ. सर्वज्ञेऽत्र च

तात्वादयस्तु शब्दानां व्यञ्जकाः स्युः प्रदीपवत् । घटादिषु न तत्सत्यं दीपाभावेऽपि दर्शनात् ॥ १२१
कर्तुरस्मरणं तावन्न युक्तं वेदवादिनाम् । जीर्णकूपादिषु व्यक्तव्यभिचारोपलम्भतः ॥ १२२
बहुनात्र किमुक्तेन हिंसाधर्मैकवादिनाम् । सर्वेषां वेदवाक्यानां श्रवणं वर्जयेत्त्रिधा ॥ १२३
तस्मात्पुमानशेषज्ञः कश्चित्कृत्स्नावृतिक्षयात् । सिद्धः प्रमाणतः सिद्धिं देयान्मीमांसकस्य च ॥ १२४

' तालु आदिक कारण शब्दोको व्यक्त करते है । इसलिये उनको प्रदीपके समान व्यंजक कहना चाहिये ' यह मीमासकोका कहना योग्य नहीं है । घटादि पदार्थोंको दीपक जैसे दिखाता है वैसे ताल्वादिक शब्दोको प्रकट करते है, यह वचन योग्य नही है । घटादिक पदार्थ दीपकके अभावमेंभी दिखते हैं अर्थात् हस्तस्पर्शसे घटादिक पदार्थ जाने जाते है । वैसे शब्द ताल्वादिकोसे व्यक्त नहीं होते है, अपितु उत्पन्न होते हैं। घट जैसा चक्रादिकोसे उत्पन्न होता है, व्यक्त नहीं होता चक्रादिक न होनेपर घट उत्पन्न नहीं होगा । दीपक हाथमे लेकर कोठरीमे हम गये और वहाँ घट न होनेपर नहीं दिखेगा तथा दीपक उसे उत्पन्न नहीं करता है । ताल्वादिकोमें जब प्रयत्न होता है तब शब्द उत्पन्न होता है और जब उनमे प्रयत्न नहीं होता है तब शब्द उत्पन्न नहीं होता है। अतः व्यजक और कारक कारणोमे यह विशेषता है । व्यजक होनेपर घटादि पदार्थ वहा पूर्व कालमे अंधकारादिसे आवृत होगा तो अधकार नष्ट होनेपर वह व्यक्त होगा । परतु व्यजक उस घटादिकोको उत्पन्न करनेमे असमर्थ है । कारक कारण पूर्वमे अविद्यमान घटादिकोको उत्पन्न करते है ऐसा दोनोमे अन्तर है ॥ १२१ ॥

' कर्ताका अस्मरण होनेसे वेद अपौरुषेय है ' यह अनुमान वेदकी नित्यता सिद्ध करता है, ऐसा मीमासावादियोका वचन योग्य नहीं है । इसमे कर्ताका अस्मरण होना यह हेतु जीर्ण कूपादिकोसे व्यभिचरित होता है । क्योकि पुराने कुँए और पुराने प्रासाद जगलमे दिखते है। हजारो वर्षोंके पुराने होनेसे उनके कर्ताको लोग जानते नहीं । उनको उनका अस्मरण हुआ है । एतावता वे पदार्थ अकृत्रिम, नित्य और अनादि नहीं है। उनका जरूर कोई कर्ता था। वैसे वेदके कर्ताका स्मरण न होनेसे वे नित्य है ऐसा मानना योग्य नहीं है । अब इस विषयमे हम ज्यादह नहीं कहते है । सिर्फ इतनाही कहते है, कि हिंसाधर्मकाही निरूपण करनेवाले सपूर्ण वेदवाक्योका सुनना मन-वचनसे और शरीरसे छोडना चाहिये ॥ १२२–१२३ ॥

इसलिये कोई पुरुष कर्मोंके आवरणोका क्षय होनेसे सर्वज्ञ होता है । ऐसा प्रमाणसे सिद्ध होता है । वह सर्वज्ञ भीमासकोको–परीक्षावानको सिद्धि देवे । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मोका क्षय जिसने किया है, ऐसा पुरुष जगतके सपूर्ण पदार्थोंको उनके सर्व पर्यायोके साथ जानता है, वही सर्वज्ञ है । वह परीक्षावानको अर्थात् जैनाचार्योंको मोक्ष प्रदान करे ॥ १२४॥

कश्चिदाह न सर्वज्ञ कर्मणामावृतिक्षयात् । किन्त्वशेषस्य विश्वस्य कर्तृत्वात्संमतं[1]स च ॥ १२५
कृत्रिमत्वं हि विश्वस्य न चा[2]सिद्धमहेतुतः । तद्धेतोर्विद्यमानत्वात्कार्यत्वादेश्च सर्वथा ॥ १२६
तथा हि बुद्धिमत्पूर्वं सर्वं तन्विन्द्रियादिकम् । कार्यत्वाद्धटवच्चासौ बुद्धिमानीश्वरो मतः ॥ १२७
सन्निवेशविशिष्टं यच्चचैतन्यविवर्जितम् । तत्कार्यं स्वत एवेति जायते न पटादिवत् ॥ १२८
न चासिद्ध विरुद्धं वा नाप्यनैकान्तिकं पुनः । कार्यादिकमिदं सर्वं सिद्धत्वादिनिरूपणात् ॥ १२९

[ईश्वर सृष्टिकर्ता होनेसे सर्वज्ञ है, ऐसा नैयायिक वैशेषिकोका पूर्व पक्ष ।] – कोई नैयायिक कहता है कि सपूर्ण कर्मोंके आवरणोका क्षय होनेसे सर्वज्ञ नहीं होता, किन्तु संपूर्ण सृष्टिका कर्ता होनेसे वह सर्वज्ञ होता है, और ऐसा सर्वज्ञ बुद्धिमानोको पूज्य है। यह जगत् कृत्रिम है, यह बात असिद्ध नही है। क्योकि उसकी असिद्धता सिद्ध करनेके लिये कोई हेतु नहीं हैं अर्थात् जगत् अकृत्रिम हैं उसे किसीने उत्पन्न नहीं किया ऐसा सिद्ध करनेवाला कोई हेतु नही हैं। तथा जगत्का कृत्रिमत्व सिद्ध करनेके लिये कार्यत्वादिक सद्धेतु सर्वथा तयार है, सन्नद्ध है। कार्यत्व सद्धेतुकाही अब हम समर्थन करते है ॥ १२५–१२६ ॥

सर्व शरीर, इन्द्रिय आदिक पदार्थ बुद्धिमान् कर्तासे बने हुए है। क्योंकि वे कार्य हैं जैसे घट कार्य होनेसे उसका बुद्धिमान् कर्ता हैं। यहां वह बुद्धिमान् ईश्वर समझना चाहिए। अब कार्य किसको कहना चाहिए वह हम कहते है। जो सन्निवेश विशिष्ट है अर्थात् रचनाविशेषसे युक्त है, जिसमें चैतन्य नहीं है ऐसा कार्य वस्त्रके समान स्वतः उत्पन्न नहीं होता है। उसको कोई उत्पन्न करनेवाला हो तो वह उत्पन्न होता है अन्यथा उसकी उत्पत्तिही नहीं होती ॥ १२७–१२८ ॥

यह हमारा कार्यत्व हेतु असिद्ध, विरुद्ध अथवा अनैकान्तिकभी नहीं है। " सर्व शरीर इन्द्रियादिक पदार्थ बुद्धिमान हेतुसे उत्पन्न होते है, क्योकि वे कार्य है " ऐसा अनुमानवाक्य है। इसमें सर्व शरीर इन्द्रियादिक पदार्थ पक्ष है, हेतु कार्यत्व है और वह हेतु पक्षमे जानेसे असिद्ध नहीं है। साध्यसे विरुद्ध अर्थात् विपक्षमे हेतु जब जाता है तब वह विरुद्ध हेत्वाभास होता है। यहा कार्यत्व हेतु अबुद्धिमत्पूर्व ऐसे आकाशादिकोंमे नहीं जाता है, इसलिये कार्यत्वहेतुकी विरुद्धताभी नहीं है। तथा हेतु जब पक्ष, सपक्ष और विपक्षमे जाता है तब वह अनैकान्तिक होता है। यहां कार्यत्व हेतु तो शरीर इन्द्रियादि पक्षरूप पदार्थोंमे है और सपक्ष घट, प्रासाद इत्यादिकोमेभी विद्यमान होनेसे कार्यत्व हेतुकी सपक्षमेंभी सत्ता है। तथा विपक्ष जो आकाश, जो कि कार्य नहीं है बुद्धिमत्पूर्व नहीं है, इसमें कार्यत्वहेतु नहीं जाता है अतः विपक्षमे नहीं जानेसे अनैकान्तिक नहीं है। यही अभिप्राय अधिक स्पष्ट किया जाता है– कार्यत्वका अर्थ अवयव रचनासे युक्तत्व होता है। यह

१ आ. स च इति नास्ति २ आ. न वा

सर्वत्रावयवत्वेन विपक्षे चाप्रवृत्तितः । आकाशादौ सपक्षे[1] तु प्रासादादौ प्रवर्तनात् ॥ १३०
विशिष्टकार्यमार्याणां कारणं नाति वर्तते । तस्मात्तस्य तु यः कर्ता स महानीश्वरः प्रभुः ॥ १३१
आगमेनापि सिद्धत्वाद्विश्वरूपप्ररूपणात्[2] । सर्वेषां हेतुभूतत्वात्सर्वज्ञः शशिशेखरः ॥ १३२
एतत्सर्वं हि विज्ञानं[3] शुद्धबोधोद्घचेतसाम् । विचारातिक्रमाद्वन्ध्यासुतव्यावर्णनं यथा ॥ १३३
विश्वकर्ता स सर्वज्ञो न कश्चिन्मानगोचरः । केवलं दृग्विमोहेन भ्रान्तेरेवास्य साधिका[4] ॥ १३४
अध्यक्षं साधनं नास्य तत्रासत्प्रतिपत्तितः । हेत्वाभासात्मकत्वेन कार्यादेर्नानुमापि वा ॥ १३५

अवयव रचनायुक्तत्व विपक्ष जो आकाश उसमे नहीं है, क्योकि आकाश निरवयव है। उसके अवयव नही है, इसलिये कार्यत्वहेतु विपक्षमे न जानेसे अनैकान्तिकताभी कार्यत्वहेतुमे न रही, और सपक्षभूत प्रासादादिकोमे अवयवरचना होनेसे कार्यत्वहेतु उसमे चला जाता है अर्थात् पक्ष और सपक्षमे कार्यत्व हेतु है और विपक्षमे नही है इसलिये यह सद्धेतु है ॥ १२९–१३० ॥

जो विशिष्ट तरुतन्वादिक कार्य है वे कारणको उलघ कर स्वयमेव नहीं होते है अर्थात् उनका कर्ता कोई बुद्धिमान् व्यक्ति मानना पडता है। अतः ऐसे विशिष्ट कार्योका जो कर्ता है, वह महान् प्रभु ईश्वर है ऐसा समझना चाहिये ॥ १३१ ॥

वह चंद्रशेखर अर्थात् ईश्वर आगमसेभी सिद्ध है; क्योकि आगममे उसके विश्वरूपका, निरूपण किया है [उस ईश्वरको सर्वत्र ऑखे होती है। उसके पॉव सर्व जगतमे फैले है वह परमाणुओको लेकर अपने बाहुओसे स्वर्ग और पृथ्वी उत्पन्न करता है ऐसा ईश्वर एक है।] वह सर्व पदार्थोकी उत्पत्तिमे हेतु है, अतः वह सर्वज्ञ हैं ॥ १३२ ॥

यहातक नैयायिकोने ईश्वर सृष्टिका कर्ता है ऐसा अपना पक्ष सिद्ध किया है। अब जैनाचार्य ' ईश्वर सृष्टिकर्ता होनेसे सर्वज्ञ है ' इस पक्षका खडन करते है। ' ईश्वर सृष्टिकर्ता होनेसे सर्वज्ञ है ' ऐसा नैयायिकोका युक्तिज्ञान वन्ध्यासुतके वर्णनके समान है, क्योकि शुद्ध ज्ञानसे–सम्यग्ज्ञानसे जिनका चित्त निर्मल हुआ है ऐसे लोगोके विचारको उल्लघनेवाला है ॥ १३३ ॥

ईश्वर सृष्टिका कर्ता है, इस बातकी अध्यक्षसे-प्रत्यक्षसे सिद्धि नहीं होती, क्योकि ईश्वरको साक्षात् करनेवाला कोई इन्द्रियप्रत्यक्ष नही है। तथा जो नैयायिकोने कार्यत्वादिक हेतु दिये है, वे भी हेत्वाभास–स्वरूपी है इसलिये " सर्व तन्विन्द्रियादिक बुद्धिमत्पूर्वं कार्यत्वाद्घटवत् " यह अनुमान अनुमानाभास है ॥ १३४ ॥

कार्य–' अवयवयुक्त पदार्थको कार्य कहना ' ऐसी जो कार्यत्वकी व्याख्या है वहभी योग्य नही है, क्योकि उस व्याख्यासे नैयायिकोके इष्टका विघात होता है अर्थात् तन्वादिक पदार्थोमे

---

१ आ. सपक्षेषु २ आ. वैश्व-३ आ. विज्ञाना ४ आ. साधक

कायस्यावयवत्वादिसाधनं नैव साधकम् । यतोऽवयवसामान्याद्दुष्टमिष्टविघाततः ॥ १३६
तच्चावयवसामान्यं विद्यते गगनादिषु । न तु कार्यत्वमित्येवं व्यभिचारोपलम्भतः ॥ १३७
नन्वाकाशमिदं तावत्सर्वथावयवच्युतम् । मतं स्याद्वादिनां तस्य सर्वशून्यत्वयोगतः ॥ १३८
सदैव कुरुते कार्यं तन्वादिकमिदं यदि । ईश्वरस्तत्कथं न स्याद्दोषोऽकिञ्चित्करो महान् ॥ १३९
असतः करणे तस्य विरोधः केन वार्यते । न ह्यसत्क्रियमाणं तद्दृष्टमिष्टं विपश्चिताम् ॥ १४०

अवयवत्व रहकर वह अवयव सामान्यमेभी जाता है, जो कि अवयवसामान्य कार्यरूप नहीं है, अर्थात् ईश्वरसे नहीं बनाया जानेपरभी अकार्य होनेसेभी अवयवोंमे रहता है जैसे मनुष्यत्व सामान्य होनेपर हस्तपादादिकोमे वह रहता है । अतः अवयवत्व उसमे है और सामान्य पदार्थ ईश्वरने नहीं बनाया हैं ऐसा नैयायिक मानते है । अतः यह उनके लिये इष्टविघातक हुआ । तथा यह अवयवसामान्य गगनमे, आत्माने, दिशामे और कालमे नैयायिकोने माना है परंतु वे आकाशादिक पदार्थ उन्होने कार्यरूप नही माने है। इस प्रकारसे ' कार्यत्व ' हेतु व्यभिचारी होनेसे विपक्षोमे आकशादिकोमे जाता है । अत. कार्यत्व हेतु अनैकान्तिक है ॥ १३५–१३६ ॥

इसपर नैयायिक कहते है, कि आकाश अवयवरहित है, उसमे अवयव नहीं है । अतः कार्यत्व हेतु उसमे प्रविष्ट नहीं होनेसे व्यभिचारी नहीं है ऐसा कहनाभी योग्य नही है। इस प्रकारसे आकाशका वर्णन करोगे तो आकाश सर्वतः शून्य है ऐसा दोप आपको स्याद्वादी देंगे । अर्थात् अवयवरहितता वन्ध्यासुतके समान असद्रूप है । अथवा परमाणु जैसे स्वत.के एक प्रदेशको छोड-कर अन्य प्रदेशको धारण नहीं करता है। अतः उसे निरवयव कहते है। वैसे आकाशको यदि मानोगे तो आकाशके व्यापकपनेका विघात होगा ॥ १३७–१३८ ॥

ईश्वर शरीररहित होता हुआ, यदि शरीरादिक कार्य करता है ऐसा कहोगे तो हस्त-पादादिरहित ईश्वर पृथ्वीनिर्माणमे समर्थ नहीं होगा, इसलिये ईश्वरमे अकिंचित्करत्व दोप उत्पन्न होता है। असतसे ईश्वर सृष्टिको उत्पन्न करता है ऐसा यदि मानोगे तो उसके कर्तृत्वमे विरोध उत्पन्न होगा अर्थात् असत् वस्तु की जाती है, ऐसा किसीने देखाभी नही और विद्वानोने असत् वस्तुभी की जाती है ऐसा नहीं माना है ॥ १३९–१४० ॥

यदि ईश्वर विना उपकरणोके जगत् उत्पन्न करता है, ऐसा कहोगे तो वह किसके लिये उत्पन्न करता है? यदि पृथिवी, हवा, अग्नि और पानी इनकेद्वारा जगत् उत्पन्न करता है, ऐसा कहोगे तो उनका यदि अभाव होगा तो जगत्की उत्पत्ति वह कैसे करेगा? क्या अभावरूप पृथिव्यादिकसे जगत् निर्माण कर सकता है? नही। अभावसे जगत् उत्पन्न करना मिथ्या है। अर्थात् ईश्वरके मनमे जगत् उत्पन्न करनेकी इच्छा है और यदि पृथिव्यादिक नहीं है तो जगन्निर्माण शक्य नहीं। और यदि पृथिव्यादिक है तो इनसे भिन्न दूसरा जगत् कौनसा माना जाता है? इनका जो समूह सर्वत्र दिखता

विनोपकरणैस्तेन जगत्केभ्यो विधीयते । पृथिव्यादिभिरित्येवं मिथ्या तेषामभावतः ॥ १४१
भावे पुनर्विरोधादिस्तस्य पृष्टं न मुञ्चति । येन दुष्टमिदं सृष्टेरदुष्टं नोपपद्यते ॥ १४२
न द्रव्याणि च योगस्य सम्मतानीह तत्त्वतः । तानि चेत्सर्वदा सन्ति सन्ति शम्भुः करोति किम् ॥
शरीरारम्भकैरेभिः पृथिव्यादिभिरङ्गिन. । योजयत्यथ[1] कर्ता स्यादिति चेत्संमतं मतम् ॥ १४४
एषापि भारती तेषामशेषाणामशेषत. । नैव युक्तिमियर्त्येव धर्माधर्मविघातत: ॥ १४५
स्वत एवं करोत्येतदन्येन प्रेरितोऽथवा । उताशावशतो[2] वापि क्रीडया यन्त्रिताशयः ॥ १४६
स्वतः करोति चेद्विश्वं दु.खिनः किं करोत्यसौ । तत्कार्ये प्रत्यवायः स्यात्तत्क्रियाजनितो महान् ॥१४७

है उसकोही जगत् कहना चाहिये। वह पहलेभी अर्थात् इच्छाके पूर्वमेभी था तो पूर्वमेही जगत् था। अतः जगन्निर्माणकी इच्छा होना व्यर्थ है। ये पृथिव्यादिक हैं, तो पुनः रचनेका विरोध है। उनकी रचना पहलेसेही होनेसे पुनः रचनाकी आवश्यकता नहीं रही। ऐसा दोष ईश्वरके पीठपर लादा जाता है। वह विरोध दोष ईश्वरकी पीठ नहीं छोडेगा। जिससे ईश्वरकी सृष्टिका दोष दोषही रहेगा वह अदोष नहीं होगा ॥ १४१–१४२ ॥

योगके मतमे द्रव्यपदार्थ सिद्ध नहीं होता है। क्योकि ' द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम् ' द्रव्यत्वका संबध होनेसे द्रव्य है ऐसा माननेपर द्रव्य और द्रव्यत्व ये दो चीजे अलग ठहरी। यदि उन दोनोकी स्वतत्रता सिद्ध होगी तो द्रव्यत्वके सम्बन्धसे पूर्वमेभी द्रव्य होनेसे द्रव्यत्वका सम्बन्ध द्रव्यके साथ करना व्यर्थ है। इसलिये द्रव्यपदार्थ योगके मतमे सिद्ध नहीं होता। यदि वे द्रव्यपदार्थ हैं तो शंभुको अब क्या करना बाकी रहा है ? ॥ १४३ ॥

शरीरको निर्माण करनेवाले पृथिव्यादिकोसे प्राणियोको ईश्वर जोड देता है, जिससे ईश्वर कर्ता होता है और यह मत संमत है ऐसा आप समझेगे तो यहभी आपका विवेचन योग्य नहीं है। तथा जो शरीरोको उत्पन्न करनेवाले पृथिव्यादिकोंसे ईश्वरकेद्वारा सब प्राणी जोडे जायेंगे तो यह जोडना युक्तिसंगत नहीं होगा। इसमे धर्म और अधर्मका अर्थात् पुण्य और पापका नाश होगा। क्योकि कौन जीव पापी है और कौन जीव पुण्यवान् है इसका कुछ विचार न करके बुरे भले चाहे जैसे शरीरारभक पृथिव्यादिकोसे ईश्वर प्राणियोको जोड देगा ॥ १४४–१४५ ॥

ईश्वर स्वतः जगत्को उत्पन्न करता है ? अथवा अन्यसे प्रेरित होकर उत्पन्न करता है ? अथवा कुछ आशावश होकर जगत्को निर्माण करता है ? या क्रीडासे नियत्रित चित्त होकर जगत्को बनाता है ? इन बातोपर अब क्रमसे विचार करना ठीक होगा ॥ १४६ ॥

यदि ईश्वर स्वत. स्वतत्र रहकर जगत् बनाता है तो यह दु.खी लोगोको क्यों उत्पन्न करता है ? दु.खियोको उत्पन्न करनेसे दु.ख देनेकी क्रियासे ईश्वरको महान् पापबंध होना होगा।

---

१ आ. योजयन्नेव २ आ. आशाया वशतो

अन्येनास्य प्रयुक्तत्वे स्वातन्त्र्यं तस्य हीयते । आशावशाच्च हीनत्वं तस्य स्याद्दुर्निवारतः[1] ॥ १४८
क्रीडया तस्य कर्तृत्वे क्रीडोपायव्यपेक्षणात् । प्रागेव जगतः सिद्धिः स्यान्नित्यमनिवारिता ॥ १४९
मूर्तस्य जगतः कर्तासौ मूर्तोऽमूर्त एव वा । विकल्पद्वयमायाति दुरतिक्रममायतम् ॥ १५०
नामूर्तो मूर्तकार्याणां घटादीनां कदाचन । कुम्भकारः क्वचिद्दृष्टः केनचिद्वा कथञ्चन ॥ १५१
अथ मूर्तं करोत्येव सर्वं तन्वादिकं क्षणात् । ततः सैव स्वपक्षस्य व्याघ्रीव समुपस्थिता ॥ १५२
आगमात्तस्य[2] सिद्धिर्न प्रमाणं जातु जायते । तत्राप्रमाणभूतत्वात्स्वाभिप्रायनिवेदनात् ॥ १५३
ततश्च जगतः कर्ता सर्वज्ञो न हि कश्चन । किन्त्वावृतिक्षयादेव विश्वज्ञो विश्वदर्शनात् ॥ १५४

दूसरेके द्वारा प्रेरित होकर यदि जगन्निर्माण-कार्य ईश्वर करता है ऐसा कहते हो तो ईश्वरका स्वातन्त्र्य नष्ट होता है और आशावश होकर यदि ईश्वर जगत् बनाता होगा तो वह हीनताका भागी होगा, क्योंकि आशावशतासे वह हीनता नष्ट न होगी ॥ १४७–१४८ ॥

ईश्वरसे क्रीडासे जगत् रचा जाता है तो वह क्रीडाके उपायोको हमेशा चाहता होगा ? और इससे तो पूर्वमेही जगत्की उत्पत्ति सिद्ध हुई । क्योंकि क्रीडाके उपाय इस जगतसेही उसे प्राप्त होते होंगे जिससे पूर्वमेही अनिवारित जगत्की उत्पत्ति सिद्ध हो चुकी ॥ १४९ ॥

इस मूर्तिमान् जगत्का कर्ता मूर्त है अथवा अमूर्तही है, ऐसे दो विकल्प उत्पन्न होते हैं जिनका उल्लंघन करना अशक्य है । अमूर्तिक ईश्वर मूर्तिक पदार्थोंका कर्ता कभीभी नहीं हो सकता क्या मूर्तिक घडा आदि पदार्थोंका कर्ता कुंभकार कभी अमूर्तिकरूपसे किसीको कथञ्चित् दृष्टिगोचर हुआ है ? अर्थात् मूर्तिक घटादिकोका कर्ता कुंभकार मूर्तिक ही होता है। कुंभकार कदापि अमूर्तिक नहीं होता ॥ १५०–१५१ ॥

अब यदि मूर्तिक ईश्वर सर्व तन्वादिक पदार्थोंको क्षणमे करता है तो यह उसकी मूर्तिकता ईश्वरके पक्षको खानेवाली व्याघ्रीके समान उपस्थित हो गई। क्योंकि ईश्वर मूर्तिक है इस विषयका आगममे कुछभी उल्लेख नहीं है। ईश्वरको हाथ नहीं है, पाव नहीं हैं, उसको आखे नहीं है तोभी वह देखता है। तथा कान न होनेपरभी वह सुनता है। इत्यादिरूप उसका वर्णन जो आगममे है वह उसकी अमूर्तताको व्यक्त करता है "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण." इत्यादि ॥ १५२ ॥

ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्वकी आगमसे सिद्धि होती है ऐसा कहना कभी प्रमाणभूत नहीं हो सकता है। आगममे प्रमाणभूतता होनेसे वह आगम अपना अभिप्रायही कह देता है ॥ १५३ ॥

इसलिये जगत्का कर्ता कोई सर्वज्ञ नहीं होता है। सर्व कर्मोंके आवरणोका क्षय करकेही सर्वज्ञपना प्राप्त होता है। सर्वज्ञ क्षुधा, तृषा, वृद्धावस्था, रोग, आदि अठारह दोषोसे रहित होता

---

१ आ. अनिवारित २ आ. तस्या

परमेष्ठी परञ्ज्योतिः परमात्मा पराशयः । सर्वज्ञः सादिमुक्तश्च जिन एवावशिष्यते ॥ १५५
ये वदन्ति च कैवल्ये केवली कवलाशनः । न तच्चारु यतो मिथ्या वैपरीत्यविजृम्भितम् ॥ १५६
स चानिष्टोऽपि मूढात्मा ह्यनन्तादिचतुष्टये । व्याघातो जायतेऽनन्तसुखस्य विरहाद्यतः ॥ १५७
क्षुत्तृट्पीडावशादेव सुखाभावस्तु जायते । प्रतीकारार्थमस्या हि गृह्णन्त्याहारमङ्गिनः ॥ १५८
सुखाद्यर्थानुकूल्यत्वाद्भोजनादेः कथं पुनः । सुखाभावो भवेत्तस्माद्योगिनोऽप्यविरोधतः ॥ १५९
दृश्यते ह्यस्मदादीनां भोजनादौ कृते सति । उत्पन्नं च सुखं वीर्यं तद्वते हानिरेव वा ॥ १६०
एतत्सर्वं महामोहपिशाचवशवर्तिनाम । जल्पितं युक्तिशून्यत्वाद्वितण्डामर्हति क्षणात् ॥ १६१
विषयेभ्यः प्रजायन्ते ह्यस्मदादिसुखादयः । कादाचित्कतया तस्मान्नैवं भगवतः क्वचित् ॥ १६२

है और सर्व प्रकारोसे वह विश्वको देखता हैं। वह परमेष्ठी, परज्योति, परमात्मा, पराशयवेदी, सर्वज्ञ, और सादिमुक्त होता हैं। ऐसे गुणोका धारक जिनही होता हैं। अन्य हरिहरादिकोमे ये गुण नहीं हैं। वह जिन इन्द्रादिपूजित–पदको धारण करता है, इसलिये परमेष्ठी है। उसकी ज्ञानरूपी ज्योति उत्कृष्ट अनुपम होती है। वह सर्वश्रेष्ठ आत्मा होनेसे परमात्मा है और उसका आशय–अभिप्राय रागद्वेषरहित शुद्धोपयोगरूप है। वह सर्वज्ञ हैं और कर्मोको नष्ट करके मुक्त हुआ हैं। अतः सादि मुक्त हैं ॥ १५४–१५५ ॥

केवली कैवल्य अवस्थामे अर्थात् अरिहन्तकी अवस्थामे कवलाहार–ग्रासाहार लेते है। ऐसा श्वेताम्बर जैन कहते है परंतु वह उनका कथन युक्तियुक्त नहीं हैं, क्योकि यह उनका कथन विपरीत मिथ्यात्वका विलासरूप हैं। उन मूढोका अभिप्राय आगमसूत्रसेभी अनिष्ट हैं। आहार ग्रहण करनेसे अनत चतुष्टयमे व्याघात उत्पन्न होता है, क्योकि अनतसुखका आहारसे नाश होता है। अर्थात् अनतज्ञान, अनंतदर्शन, अनतशक्ति और अनंतसुख इनको अनतचतुष्टय कहते हैं। इनमेसे अनतसुख कवलाहारसे नष्ट होता है। भूख, प्यासकी पीडाके वश होनेसे सुख नष्ट होता है। उस भूख और प्यासकी पीडा मिटानेकेलिये प्राणी आहार लेते है ॥ १५६–१५८ ॥

[आहार ग्रहणसे सुख होता है ऐसा श्वेताम्बरोका कथन]– भोजन करनेसे और पानी पीनेसे सुख और शक्ति प्राप्त होती है परतु आप दिगबर जैन लोक आहारपानसे सुखका अभाव होता है ऐसा कहते है। यह कथन आपका कैसा योग्य समझा जायेगा ? योगीकोभी आहारसे व पानसे वही सुख होगा उसका अभाव नहीं होगा ॥ १५९ ॥

हम तुम जब भोजन करते है तब अपनेमे सुख और शक्ति उत्पन्न हुई है ऐसा अनुभव करते है। परतु आहार पानके अभावमे सुख और शक्तिकी हानिका अनुभव हमे आता है।' ॥ १६०

[दिगंबर जैन कहते है] – महामोहरूप पिशाचके वश जो हुए हैं ऐसे श्वेताम्बरोका यह सर्व कहना है। इस कथनमे यह युक्ति नहीं होनेसे तत्काल वितण्डाके योग्य है ॥ १६१ ॥

आपके और हम लोगोके सुखशक्ति आदिक गुण पचेन्द्रियके विषय सेवनकरनेसे होते है और वे कादाचित्क होते है अर्थात् कुछ कालतक आहारसे सुख और शक्ति प्राप्त होती है। ऐसी भगवान् जिनेश्वरमे कादाचित्क सुख और शक्ति नहीं है ॥ १६२ ॥

विषयाशावशातीतमनन्तं सुखमर्हति । क्षुत्क्षामक्षीणशक्तित्वात्कथं व्याहन्यते न हि ॥ १६३
रागद्वेषविमुक्तत्वात्कथं भुङ्क्ते स केवली । कवलं गृह्यते रागात्त्यज्यते द्वेषतो यतः ॥ १६४
अथौदासीन्ययुक्तानां साधूना भोजनादिकम् । कुर्वतां वीतरागत्वं वीतदोषत्वमस्ति च ॥ १६५
मिथ्यात्वज्वरसम्पन्नतीव्रदाघवतामयम् । प्रलापस्तूपचारेण वीतरागा ह्यमी यतः ॥ १६६
प्रवृत्तिस्तु निवृत्तिस्तु ह्याहारे जायते सदा । अभिलापरुचिभ्यां च तद्वानाप्तः कथं ततः ॥ १६७
आहोस्वित्कवलाहारमन्तरेणास्य न स्थितिः । देहस्य जायते तस्मात्केवली कवलाशनः ॥ १६८

जो विषयकी आशाके वश नहीं हुआ है उसको सुखकी प्राप्ति होती है । परतु जो भूखसे पीडित होकर क्षीण शक्तिवाला होता है उसके सुखका नाश कैसे नहीं होता ? । तथा मनुष्य भोजन क्यो करता है ? उसको भूखसे दु ख होता है उसकी निवृत्तिके लिये वह भोजन करता है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १६३ ॥

केवली भगवान् सपूर्ण मोह कर्मसे रहित हुए हैं, अत. वे रागभावना और द्वेषभावनासे पूर्ण मुक्त हुए है । इसलिये वे भोजन कैसे करेगे ? आहार राग भावनासे लिया जाता है और द्वेषसे उसका त्याग करते है। रागद्वेषोसे मुक्त जिनपूर्णवीतराग हुए हैं; अत वे कवलाहार रहित है ॥१६४

औदासीन्यसे युक्त साधुभी भोजनादिक करते है तोभी उनमे रागद्वेषरहितत्व अर्थात् वीतरागत्व और द्वेषरहितपना दिखता है अर्थात् भोजन करना रागभावनाका कार्य है और उसका त्याग द्वेष भावनाका कार्य है ऐसा नियम सिद्ध नहीं होता, अन्यथा उदासीन मुनि भोजन करते हुए क्यों दीखते है, ऐसी श्वेतावरोने शका खडी की है। उसका उत्तर आचार्यने इस प्रकार दिया है–

मिथ्यात्व-ज्वर-युक्त होनेसे तीव्र दाह जिनको हो रहा है ऐसे लोगोंका यह प्रलाप है। वे अपूर्ण वीतराग मुनिके समान पूर्ण वीतराग मुनिकोभी समझकर उनमे कवलाहारकी प्रवृत्ति सिद्ध करनेकी चेष्टा कर रहे हैं । परतु प्रमात्तादि गुणस्थानोके मुनियोमे वीतरागत्व औपचारिक है, इसलिये उदासीन मुनि भोजन करते है, वसे केवली भोजन करते है ऐसा कहना योग्य नहीं है । अर्थात् पूर्ण वीतरागता बारहवे गुणस्थानमे प्राप्त होती है । उस समय इच्छा नष्ट होनेसे वे आहार नहीं ग्रहण करते है । कोईभी संसारी प्राणी भोजनकी इच्छा होनेपर भोजन करता है। क्षुद्वेदनीय कर्मका उदय किसीकी अपेक्षा न करता हुआ यदि आहारमे केवलीको प्रवृत्त करेगा तो प्रमत्तादिगुण-स्थानोमे तीन वेदोका उदय होनेसे तथा कषायोका उदय होनेसे मैथुनादिकोमे उनको वह वेदोदय और कषायोदय प्रवृत्त करेगा परतु वह सापेक्ष कर्मोदय अपने कार्यमे जीवको प्रवृत्त करता है, निरपेक्ष नहीं करता ऐसा यहा समझना चाहिये। केवली समस्त रागद्वेष–भाव–रहित है । मुनियोमें रागकी मदता है इसलिये उनको उपचारसे वीतराग कहा है। एतावता वीतराग केवलीभी आहार ग्रहण करते है ऐसा कहना योग्य नहीं है ॥ १६५–१६७ ॥

[फिर श्वेताम्बर ऐसा कहते है] – कवलाहारके बिना केवलीके देहकी स्थिति नहीं टिकेगी इसलिये वे आहारग्रहण करते है ॥ १६८ ॥

इत्यप्याहारमात्रेण सिध्दसाधनदोषतः । न प्रमाणं भवेत्तेषामतत्त्वाभिनिवेशिनाम् ॥ १६९
कर्मनोकर्मनामानमाहारं गृह्णतः सतः[१] । देहस्थितिः कथं तस्य नानिवार्या प्रजायते ॥ १७०
कर्मनोकर्मनामा च लेप्याहारस्तथापरः । ओजोऽथ मानसाहारः कवलश्चेति षड्विध' ॥ १७१
आहारोऽनेकाधाभणि देहस्य स्थितिकारणम् । तत्कथं कवलाहारेणैवासौ हतचेतसाम् ॥ १७२
एतेन कवलाहारेणाप्यसौ व्यभिचरिणा । एकेन्द्रियादिदेवानां तदभावेऽपि दर्शनात् ॥ १७३
अथौदारिकदेहत्वादर्हतः कवलाशनात् । देहस्थितिस्ततो नो नः कदाचिद्व्यभिचारिणी ॥ १७४
तदेतदपि मिथ्यात्वं तत्त्वार्थानवधारणात् । परमौदारिका यस्मादर्हतो देहसंस्थितिः ॥ १७५

दिगबरोका इसके ऊपर इस प्रकार कथन है । केवलीकी देहस्थिति आहारमात्रसे होती है ? अथवा कवलाहारसे होती है ? प्रथम पक्ष यदि माना जायगा तो सिद्धसाधनता है अर्थात् आहारमात्र तो केवलीको हमभी मानते हैं परतु आहारमात्रसे कवलाहारभी उनको है ऐसा सिद्ध नहीं होता । अत. अतत्त्वमे आग्रह करनेवाले श्वेताबरोका कवलाहार पक्ष प्रमाणभूत नहीं है ॥ १६९ ॥

केवली नोकर्माहार और कर्माहार ग्रहण करते है इसलिये उनकी देहस्थिति अनिवार्य क्यो नहीं है ? अर्थात् केवलीकी देहस्थितिको कवलाहार कारण नहीं है । नोकर्माहार और कर्माहारसे केवलीकी देहस्थिति है ॥ १७० ॥

कर्माहार, नोकर्माहार, लेप्याहार, ओजआहार, मानसाहार और कवलाहार ऐसे आहारके छह प्रकार हैं ॥ १७१ ॥

इसप्रकार देहकी स्थितिका कारण आहार अनेक प्रकारका कहा गया है । तो कवलाहारसेही देहस्थिति होती है ऐसा क्यो मानना चाहिये । जिनकी बुद्धि नष्ट हुई है, वे ऐसा मानते है अर्थात् कवलाहारसेही देहस्थिति है, ऐसा मानना अयोग्य है । अत. कवलाहारसे देहस्थिति मानना व्यभिचार–दोपसे युक्त है, क्योकि एकेन्द्रियादि जीव और देवोकी देहस्थिति कवलाहारके अभावमेभी रहती है नष्ट नहीं होती ॥ १७२–१७३ ॥

श्वेताबरोका कहना यहा ऐसा है – अरिहन्त औदारिक देहवाले है इसलिये कवलाहारसे उनकी देहस्थिति होती है अतः उपर्युक्त व्यभिचार दोप नहीं है ॥ १७४ ॥

[आचार्य उसका खडन करते है] – तत्त्वार्थका निश्चय न होनेसे श्वेताबरोका कथन मिथ्यात्वरूप है । क्योकि हमारी देहस्थिति और केवलियोकी देहस्थिति समान नही है । केवलियोकी देहस्थिति परमौदारिक देहरूप है । इसलिये हमारी और आपकी देहस्थितिसे केवलियोकी देहस्थितिका मिलान करना योग्य नहीं है । केवलिजिनेश्वरोकी-देहस्थिति नानाविध आश्चर्यकारक अतिशयोसे

---

१ आ. सतीं

ततोऽस्मदादिदेहानां स्थित्या जातु न युज्यते । विचित्रातिशयोपेता जैनेन्द्री देहसंस्थितिः ॥ १७६
अस्मदादिशरीरेषु ये धर्माः सन्ति तेऽपि वा । मतिज्ञानादयस्तेषां प्रसङ्गस्तत्र तत्स्थितिः[1] ॥ १७७
अथवा भुक्तिरस्त्वस्य[2] वेदनीयस्य संभवात् । तत्स्वकार्यकरं तत्र कर्मत्वादन्यकर्मवत् ॥ १७८
तद्दर्पापारसंसारसरणिं[3] सरतां वचः । जन्तोर्भुक्तिर्यतो[4] जातु फलमात्रत्वसाधना[5] ॥ १७९
क्षुदादीनां निमित्तं तन्न निमित्तं प्रजायते । न क्षुदादिर्फलं तस्मादन्योन्याश्रयदोषतः ॥ १८०
अथवासातरूपस्य वेदनीयस्य सम्भवात् । तन्निमित्तत्वमस्त्येव ततो भुक्तिरबाधिता ॥ १८१
तन्न सत्यं हि सामर्थ्यवैकल्यात्तस्य सर्वथा । तद्वैकल्यं च तत्रैव मोहनीयाद्यभावतः ॥ १८२
विषेऽपि भक्षिते यद्वन्मन्त्रतो निर्विषीकृते[7] । मन्त्रिणो दाघमूर्च्छादिकार्यं तस्मान्न दृश्यते ॥ १८३
असातवेदनीयेऽपि तद्वत्सत्यपि सर्वदा । क्षुदादिदुष्टकार्यं न तस्य मोहविवर्जनात् ॥ १८४

युक्त है। यदि हमारी देहस्थितिके साथ भगवानकी देहस्थितिका मिलान करोगे तो आपकी और हमारी देहोमे जो धर्म है उनका भी अर्थात् मतिज्ञानादिक धर्मोकाभी केवलियोंमे प्रसंग-स्थिति मानना पडेगा, जो कि आपकोभी मान्य नहीं है ॥ १७५–१७७ ॥

[श्वेताम्बरोंका पुनः कथन] – केवलीमे वेदनीय–कर्मका संभव है अतः वह कर्म अन्य-कर्मके समान अपना कार्य भूखकी और प्यासकी पीडा उत्पन्न करता है। मिथ्यात्वके दर्पसे अपार-संसारमे घूमनेवालोका 'केवली कवलाहार करते है' ऐसा वचन है। कवलाहारकी साधना केवलि-योंको छोडकर अन्य प्राणियोमे है ऐसा समझना चाहिये। क्षुधादिकोंको असातावेदनीय निमित्त है परतु वह असातावेदनीय क्षुधादि–फलयुक्त नहीं होता है अर्थात् असातावेदनीय कर्मका उदय होने-परभी केवलीको उससे क्षुधादिक पीडा नहीं होती इसलिये यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। अर्थात् असातावेदनीयसे क्षुधा उत्पन्न होती है और क्षुधा उत्पन्न होनेसे असातावेदनीय होता है यह अन्योन्याश्रय दोष है ॥ १७८–१८० ॥

[फिर श्वेताम्बर कहते है] – केवलीमे असातरूपवेदनीयका संभव है इसलिये वह क्षुधाका निमित्त है और इससे भुक्ति होना निर्बाध है ॥ १८१ ॥

[आचार्य उत्तर देते है]– यह आपका कहना योग्य नहीं है, क्योकि उस असात-वेदनीयकर्ममे क्षुधाफल देनेका सामर्थ्य बिलकुल नहीं है। मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे वह सात-वेदनीयकर्म सामर्थ्यरहित हो गया है। इसलिये क्षुधाबाधाको वह उत्पन्न नहीं करता। जैसे मत्रके-द्वारा निर्विष किया हुआ विष भक्षण करनेपरभी मत्रीको दाह मूर्च्छादिक होते हुए नहीं दीखते है। केवली भगवानमे असातवेदनीयकर्म सर्वदा रहकरभी– उदयमे आकरभी क्षुदादि दुष्ट कार्य उत्पन्न नहीं करता है, क्योकि मोहका अभाव हो गया है। मोहके सामर्थ्यसे असातवेदनीयकर्म क्षुधादि फल उत्पन्न करता है उसके अभावमे वह अपना कार्य नहीं करता है ॥ १८२–१८४ ॥

---

१ आ. तत्स्थिते २ आ. रस्त्वस्य ३ आ. तदस्यपार ४ आ. नातो ५ आ. साधनात् ६ आ. फलात्तल्या ७ आ. कृतः

तदेवमन्तरायस्य स्वकार्यं केन वार्यते। तत्कार्ये[1] च प्रदत्तः स्यात्सर्वज्ञाय जलाञ्जलिः ॥ १८५
उपसर्गप्रसङ्गोऽपि निषेद्धुं तस्य दुःशकः। अनन्तादिस्वभावेषु[2] जातु पृष्ठं न मुञ्चति ॥ १८६
असातवेदनीयेऽस्य स्वकार्यकरणक्षमे। दण्डप्ररूपणादीनां वैयर्थ्यं न कथं भवेत् ॥ १८७
नैव कारणमात्रेण कार्यं जगति जायते। अन्यथेन्द्रियमात्रेण मतिज्ञानादिमान्विभुः ॥ १८८
भोक्तुमिच्छा बुभुक्षेति मोहनीयमृते कथम्। न च सा वेदनीयस्य केवलं कार्यमुच्यते ॥ १८९
यदि स्यादिति निर्बन्धो रिरंसापि कथं न हि। सापि चेद्वीतरागाय पुनर्दत्तो जलाञ्जलिः ॥ १९०
अस्तु वा तस्य वेद्यादि बुभुक्षाफलदायकम्। तथाप्यनेकहिंसादीन्पश्यन्भुङ्क्ते कथं विभु. ॥१९१

इसीप्रकार अन्तराय कर्मका कार्य कौन रोकेगा ? और उसका कार्य यदि होगा तो सर्वज्ञको जलाञ्जलि देनी पडेगी। असातावेदनीयके उदयसेभी उपसर्गका प्रसग होगा तो उसका निषेध करना दुःशक्य होगा। अनन्तसुखादि स्वभाव प्राप्त होनेपर वह उपसर्गप्रसङ्ग कभीभी केवलीकी पीठ न छोडेगा। अर्थात् असातवेदनीयका उदय मोहनीयके बिनाभी अपना फल देने लगेगा तो उपसर्गमे अनन्तसुखादिक नष्ट होकर उपसर्गसे पीडा होने लगेगी ॥ १८५–१८६ ॥

असातावेदनीयकर्म अपना कार्य करनेमे यदि समर्थ होगा तो दण्डप्रतरादि समुद्घात केवलीको होते है वे व्यर्थ हो जायेगे। केवलीका आयुकर्म कम और वेदनीयादि कर्म जब अधिक होते हैं तब उनको सम करनेके लिये दण्डप्रतरादि समुद्घात किया जाता है और अधिक स्थितिका वेदनीयादिक कर्म उपायशत करनेपरभी अपना फल देगेही तो कोई मुक्त नहीं होगा और दण्डप्रतरादि समुद्घात करना व्यर्थ होगा। कारणमात्रसे कार्य होताही है ऐसा नियम नहीं है। अन्यथा केवलियोको द्रव्येन्द्रिय होनेसे मतिज्ञानादिक प्राप्त होगे ऐसा कहना पडेगा ॥ १८७ ॥

अन्तरायकर्मका कार्य होनेसे अनन्तवीर्यादि गुण नष्ट होगे। अत. वेदनीयकर्म क्षुधापिपासा उत्पन्न होनेमे कारण होनेपरभी उसमे कार्य करनेका सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाला मोहकर्म नहीं होनेसे वह द्रव्यकर्म वेदनीय सत्तारूपसे केवलिमे रहता है। उसका फल नहीं मिलता। अतः कारणमात्रसे कार्य नहीं होता है क्योकि उसमे विशेपता लानेवाला मोहकर्म नहीं है ॥ १८८ ॥

भोजन करनेकी इच्छाको बुभुक्षा अर्थात् भूख कहते है। और वह मोहनीय कर्मसे उत्पन्न होती है, बिना उसके बुभुक्षा कैसी होगी ? केवल वेदनीयकर्मका वह कार्य नहीं है। यदि वह वेदनीयकर्मकाही कार्य है ऐसा कहोगे तो योनिमे रमण करनेकी इच्छा जिसको रिरसा कहते हैं वहभी वेदनीयकर्मकाही कार्य कहो और वेदनीयकर्मका सद्भाव होनेसे वहभी होने लगे तो वीतरागपनाको जलाञ्जलि देनी पडेगी ॥ १८९–१९० ॥

अथवा आपका कहना हम स्वीकारते है, केवलीको वेदनीयादि कर्म भूख, प्यास आदि

---

१ आ. तत्कार्येषु २ आ सुखाभावो

यथा शुद्धमशुद्धं वारमरन्तश्चास्मदादयः । भोजनं कुर्वते तद्वत्केवलीति न सुन्दरम् ॥ १९२
यथाख्यातं हि चारित्रं नास्मदादिषु विद्यते । तथापि तद्विशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रमणमीहितम् ॥ १९३
केचिन्निन्द्यं स्मरन्तोऽपि वर्जयन्त्यस्मदादयः । आहारं हीनसत्त्वाश्च कथं पश्यन्न केवली॥ १९४
अथाहारं गृहीत्वासौ तस्य दोषविशुद्धये । आवश्यकादिकं कर्म किं करोति न वा पुनः॥ १९५
प्रथमे दोषवानेष द्वितीये शुद्धिमात्मनः । तद्दोषेभ्यः कथं कुर्यादिति मिथ्यात्वमञ्जसा ॥ १९६
तदाहारकथामात्रात्प्रमत्तो जायते यतिः । भुञ्जानोऽपि न तत्स्वामी यत्तच्चित्रं महात्मनाम् ॥ १९७
तदा प्रमत्त एवायं केवली तन्मताश्रितः । प्रमत्तत्वे विरोधः स्यात्कैवल्येषु सुदुर्धियाम् ॥ १९८
शरीरोपचयार्थं स प्राणत्राणार्थमेव च । क्षुद्वेदनोपशान्त्यर्थं भोजनं कुरुते प्रभुः ॥ १९९

पीडा उत्पन्न करता है ऐसा हम क्षणतक मानते है तथापि अनेक हिंसादि पापोंको देखते हुए केवली भगवान् कैसे भोजन करेंगे ? ॥ १९१ ॥

श्वेतांबर इस प्रश्नका उत्तर देते हैं – "जैसे शुद्ध अशुद्धका स्मरण न करते हुए हम लोग भोजन करते है वैसे केवलीभी भोजन करते है" इसके ऊपर दिगम्बर जैन कहते हैं, कि यह कहना योग्य नहीं है; क्योंकि यथाख्यातचारित्र हम आदिको नहीं है। तथापि जो भोजन करनेमें हमको दोष लगता है उसके निराकरणार्थ हमको प्रतिक्रमण करना पडता है। तथा अस्मदादिक कोई मुनि निन्द्यका स्मरण करते हुए हीनसत्त्व-असमर्थ आहारका त्याग करते हैं और सर्व जगत्को जानने देखनेवाले केवली आहार कैसे लेते हैं ? ॥ १९२–१९४ ॥

हम आपको पूछते है कि, केवली आहार ग्रहण करके उसके दोष निराकरणके लिये आवश्यकादिक-प्रतिक्रमणादिक कर्म करते है अथवा नहीं ? पहिले पक्षमे अर्थात् आवश्यकादिक यदि वे करते है, तो वे दोषवान हैं। अन्यथा आवश्यकादिक करनेकी क्यो आवश्यकता पडी ? दूसरे पक्षमे यदि आवश्यकादिक नहीं करते है तो उन दोषोसे वे अपनी शुद्धि कैसी करते है ? यदि नहीं तो मिथ्यात्वका प्रसंग शीघ्र प्राप्त होगा ॥ १९५–१९६ ॥

आहारकी कथा विकथा है। विकथाको प्रमाद माना है। अर्थात् आहारकी कथा यदि मुनि करे तो प्रमादी होता है फिर केवली भोजन करनेपरभी प्रमादका स्वामी नहीं होते है, यह महात्माओकी आश्चर्यवाली कथा समझना चाहिये ॥ १९७ ॥

तब श्वेतांबर मतके केवली प्रमत्तही होगे। तथा प्रमत्त होनेपर दुर्बुद्धिवाले श्वेताम्बरोंके कैवल्यकी अनंत चतुष्टयादि बातोमे विरोध आजायेगा ॥ १९८ ॥

[श्वेताम्बर मतके केवली शरीर पुष्ट होनेके लिये भोजन करते है ? या प्राण रक्षणकेलिये भोजन करते है ? अथवा भूखकी वेदनाकी शान्ति होनेके लिये भोजन करते है ? ऐसे तीन प्रश्न कर

---

१ आ. च स्वामी

शरीरोपचयार्थं यन्न प्रसणमपरार्थते । क्षयाल्लाभान्तरायस्य सिद्धं नोकर्मकर्मतः ॥ २००
प्राणत्राणार्थमित्येवं दुष्टमिथ्यात्वचेष्टितम् । अपमृत्युविमुक्तत्वाद्यतो नैतदपि प्रभोः ॥ २०१
तृतीयोऽपि विकल्पो य सोऽपि मिथ्यात्वसूचकः । तस्यानन्तसुखत्वेन तत्पीडायास्त्वसंभवात् ॥२०२
एकादश जिने प्रोक्ता बुभुक्षादिपरीषहाः । तत्कथं तन्निषेधः स्यादिति व्यामोहजल्पितम् ॥ २०३
अमीषामुपचारेण तत्र सत्त्वनिरूपणात् । पारमार्थिकसत्त्वे स्यात्सोऽस्मदादिसमो मतः ॥ २०४
भोजनं रसनेनासौ स्पर्शनं स्पर्शनेन्द्रियात् । कुर्वन्केवलभागेष मिथ्यात्वं किमतः परम् ॥ २०५

उनका खडन दिगम्बराचार्य करते है]- शरीरपुष्टिकेलिये भोजन करते है यह कहना प्रामाणिक नहीं माना जाता । क्योकि केवलीके लाभान्तरायकर्मका पूर्ण क्षय होनेसे अन्यजन दुर्लभ परमशुभ सूक्ष्म अनत ऐसे नोकर्म परमाणु, जो कि शरीरमे वलस्थापनके हेतु होते हैं, प्रतिसमय आते है, जिनसे उनका शरीर सदा पुष्टही रहता है ॥ प्राणरक्षणके लिये केवली आहार करते है ऐसा कहना दुष्ट मिथ्यात्वका कार्य है । क्योकि केवली अपमृत्यु रहित होते है, अतः यह कहनाभी युक्त नहीं । भूखकी वाधा शान्त करनेकेलिये केवली आहार करते है यह तीसरा विकल्पभी मिथ्यात्वका सूचक है । केवली अनतसुखी होनेसे भूखकी पीडाका उनमे सभव नहीं है ॥ १९९-२०२ ॥

[श्वेताम्बरका पुनः कथन]-'एकादश जिने' इस सूत्रमे आचार्योने जिनेश्वरमे भूख, प्यास, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल ऐसे ग्यारह परीषह उत्पन्न होते है ऐसा कहा है। परतु उनको वे नहीं होते है' ऐसा आपका कहना योग्य नहीं है। आचार्यश्रीने कहा कि " हे श्वेताम्बरविद्वन् यह आपका प्रतिपादन व्यामोहसे मिथ्यात्ववश होकर हो रहा है " ॥ २०३ ॥

इसका उत्तर सुनो- " इन क्षुधादि परीषहोका अस्तित्व वहा उपचारसे है । यदि पारमार्थिक-रूपसे इनका अस्तित्व होता तो जिनेश्वर अस्मदादिके समान है ऐसा समझना होगा। "

स्पष्टीकरण- ध्यानाग्निसे घातिकर्मरूपी इधनोको केवलि-भगवानने भस्म किया है, तथा अतराय कर्मका अभाव होनेसे उनको प्रतिसमय शुभपुद्गल समूहकी प्राप्ति होती है, इसलिये वेदनीय-कर्म मोहकर्मके साहाय्यसे विरहित होनेसे स्वयोग्य प्रयोजन उत्पन्न करनेमे अर्थात् क्षुधादि परीषह पीडा देनेमे असमर्थ हुआ । अत' ध्यानोपचारके समान क्षुधादिपरीषहोका सद्भाव उपचारसे केवलीमे माना है। केवली पूर्ण ज्ञानी होनेसे एकाग्रचिन्तानिरोध नहीं होनेपरभी कर्मरज-निर्जरारूप फल-लाभ होनेसे जैसे ध्यानोपचार उनमे है वैसे क्षुधादिवेदनारूप परिषहोका अभाव होनेपरभी वेदनीयकर्मोदयरूप द्रव्यपरीषहोका सद्भाव होनेसे जिनेश्वरमे ग्यारह परिषह है ऐसा उपचार करना योग्य है। ये केवली जिन रसनेन्द्रियसे भोजनका स्वाद लेते है और स्पर्शनेन्द्रियसे स्पर्शका अनुभव लेते है ऐसा यदि माना जायगा तो इससे दूसरा क्या मिथ्यात्व हो सकता है? ॥ २०४-२०५ ॥

कुर्वाणो भोजनं नाथो लोकैर्यन्नावलोक्यते । तत्किं विद्याविशेषेण तथातिशयतोऽपि वा ॥ २०६
आद्ये निर्ग्रन्थताहानिर्द्वितीये किं न जायते । भोजनाभावरूपो वातिशयः सर्वसाधकः ॥ २०७
अन्यद्यदुच्यते मूढैस्तत्त्वनिह्नवकारिभिः । तस्मिन्नेव भवे स्त्रीणां मुक्तिर्युक्तिर्न सा क्वचित् ॥ २०८
नियमादृद्धिसंपन्नं ज्ञानमात्रमपि स्त्रियः । यस्या नास्तीह सर्वज्ञा सा कथं कथ्यतेऽधमैः ॥ २०९
मुक्तिरस्त्येव रामाणामथाविकलकारणात् । पुंवद्धेतोरसिद्धत्वान्नैतच्चारु कदाचन ॥ २१०
ज्ञानादीनां प्रकर्षोऽयं मोक्षहेतुरुदीरितः । स न स्त्रीषु प्रकर्षत्वादपुण्यादिप्रकर्षवत् ॥ २११
मायापरप्रकर्षेण व्यभिचारो न युज्यते । मायाबाहुल्यमात्रस्य स्त्रीषु शश्वन्निरूपणात् ॥ २१२

यदि भोजन करते हुए केवलीको लोग नहीं देखते हैं ऐसा आप (श्वेताम्बर) मानते हो तो इसमे हम पूछते है कि विद्याविशेषसे वे दीखते नहीं है अथवा केवलज्ञानके अतिशयसे वे नहीं दिखते है? आद्य पक्षमे निर्ग्रंथता-हानि होगी क्योंकि विद्याविशेषसे युक्त होनेपर जैसे विद्याधर निर्ग्रन्थतासे रहित होते हैं वैसा केवली विद्याकेद्वारा अदृश्य होनेसे निर्ग्रन्थतासे रहित होगे। अन्य जनोंमें असंभवी अतिशय उनमे है, जिससे वे भोजन करते हुए नहीं दीखते है ऐसा यदि मानोगे तो भोजनका अभावरूप अतिशय माननाही योग्य होगा क्योंकि वह प्रमाणसे सिद्ध हुआ है और सर्व गुणोंकी सिद्धि करनेवाला है ॥ २०६–२०७ ॥

वस्तुस्वरूपको छिपाकर रखनेवाले श्वेताम्बरोने अन्यभी ऐसा कहा है "उसी भवमें स्त्रियोको मुक्ति होती है" परतु उसमे कहाभी युक्ति नहीं है ॥ २०८ ॥

स्त्रीको नियमसे [ऋद्धिसम्पन्न] चारित्रसपन्न–महाव्रतयुक्त ज्ञानमात्रभी नहीं है। वह स्त्री सर्वज्ञानवाली केवलज्ञानयुक्त होती है ऐसे इन अधमोने कैसा कहा है? ॥ २०९ ॥

[श्वेताम्बर स्त्रियोको मुक्ति सिद्ध करनेकेलिये अनुमान कहते है]– "स्त्रियोको अविकलकारण होनेसे मुक्ति होती है जैसे पुरुषको होती है। आचार्य कहते है, कि इस अनुमानमे 'अविकलकारण होनेसे' यह हेतु असिद्ध होनेसे यह अनुमान कभीभी युक्तियुक्त नहीं है। यहा अविकलकारण जो रत्नत्रय वह परमप्रकर्षको प्राप्त होकर मुक्तिका कारण है अथवा तन्मात्र–रत्नत्रयमात्र मुक्तिका कारण है? तन्मात्र मुक्तिका कारण है तो गृहस्थकोभी तन्मात्र–रत्नत्रयमात्र कारणसे मुक्तिप्रसग प्राप्त होगा। यदि परमप्रकर्षको प्राप्त ऐसा कारण स्त्रीमुक्तिके लिये है ऐसा कहोगे तो स्त्रियोमे कारणोका परमप्रकर्ष नहीं होता है। ज्ञानादिक कारणोका प्रकर्ष, जो कि मोक्षहेतु है ऐसा कहा है, वह स्त्रियोमे नहीं होता है, क्योंकि वह प्रकर्ष है। जैसे अपुण्यका प्रकर्ष अर्थात् पापका प्रकर्ष स्त्रियोमे नहीं है वैसा मोक्षके कारणोकाभी परमप्रकर्ष स्त्रियोमे नहीं है। इसके ऊपर श्वेताम्बर कहते है, कि अपुण्यका प्रकर्ष स्त्रियोमे नहीं है यह योग्य नहीं है क्योंकि मायाप्रकर्ष स्त्रियोमे है इससे अपुण्यप्रकर्ष नहीं है ऐसा कहना व्यभिचारी है। दिगबर कहते है कि यह कहना योग्य नहीं है। मायाबाहुल्यही-मायाकी प्रचुरताही स्त्रीमे है, ऐसा यहा समझना चाहिये। अर्थात् माया

अत एव गतिर्नास्ति सप्तमे नरके स्त्रियाः । ततोऽनैकान्तिको दोषो न स्यादिष्टविघातकृत् ॥ २१३
तन्न ज्ञानप्रकर्षोऽस्ति मोक्षहेतुः प्रमाणतः । स्त्रीणां तृतीयलिंगस्य यथा नायमहेतुतः ॥ २१४
तद्धेतुः संयमाभावन्नासौ तासु निगद्यते । संयमोऽपि हि सग्रन्थस्तासां सागारिणामिव ॥ २१५
गृहिसंयमकेनापि यदि मोक्षः प्रजायते । दीक्षाग्रहणवैयर्थ्यं कथं केन निवार्यते ॥ २१६
अथ निर्ग्रंथ एवायं तन्न सत्यं कदाचन । सचेलसंयमत्वेन सग्रन्थत्वप्रसङ्गत· ॥ २१७
सचेलसंयमो मुक्तिहेतुरित्यप्यसुन्दरम् । तदागमप्रसिद्धत्वादस्माकं प्रत्यसिद्धितः ॥ २१८
न साधूनामवन्द्यत्वात्संयम स्त्रीषु विद्यते । मोक्षहेतुर्गृहस्थानां न यथा बुद्धिशालिनाम् ॥ २१९
बाह्याभ्यन्तरतो वापि सग्रन्थत्वान्न जायते । निहीनशक्तिकानां च स्त्रीणां मुक्तिर्गृहस्थवत् ॥ २२०

अधिक है ऐसा अभिप्राय है। परमार्थतः पुरुषोमेही अपुण्यप्रकर्ष है ऐसा सिद्ध होता है। मायाका प्रकर्ष यदि स्त्रियोमे सिद्ध होता तो अपुण्यप्रकर्ष सिद्ध होनेसे रत्नत्रयरूप अविकल कारणोका प्रकर्षभी सिद्ध होता परंतु ऐसा नहीं है ॥ २१०—२१२ ॥

सप्तमनरकमे स्त्रियोंकी गति नहीं है इसलिये उपर्युक्त जो अनैकान्तिक दोष आपने हमें (दि. जैनोको) दिया था वह हमारे इष्ट साध्यमे (स्त्रियोको मोक्षप्राप्ति नहीं है इस विषयमे) विघातक नहीं है। इसलिये ज्ञानका प्रकर्ष, जोकि मोक्षप्राप्तिमे कारण है वह स्त्रियोको नहीं है। उसही प्रकारसे ज्ञानप्रकर्ष नपुसकोमेभी नहीं है, क्योंकि वहाभी मोक्षके अविकलकारणका सद्भाव नहीं है ॥ २१३—२१४ ॥

स्त्रियोको संयमका अभाव होनेसे वे अविकलकारणोकी प्राप्ति करनेमे समर्थ नहीं है। और उनको गृहस्थोके समान परिग्रहयुक्त सयम है। गृहस्थ-सयमसेभी यदि मोक्षप्राप्ति होगी तो दीक्षाग्रहणकी व्यर्थता कौन कैसे दूर कर सकेगा? अर्थात् जिनदीक्षा ग्रहण करना व्यर्थही होगा। ॥ २१५—२१६ ॥

अब कदाचित् कहोगे कि, आर्यिकाका जो सयम है वह निर्ग्रंथ सयमही है ऐसा कहना योग्य नहीं है क्योंकि, वह सवस्त्र-सयम होनेसे परिग्रहयुक्त सयमका प्रसगही है। सचेल-सयम मुक्तिका कारण है यह अर्थसे सुदर वचन तुम्हारे आगममे प्रसिद्ध है परतु ऐसे अर्थका प्रतिपादक आगम हमारेलिये असिद्ध है, प्रमाण नहीं है ॥ २१७—२१८ ॥

स्त्रियॉ साधुओसे अवन्द्य होनेसे उनमे निर्ग्रंथ सयम नहीं है। जैसे बुद्धिशाली गृहस्थोका सयम मोक्षहेतु नहीं है ॥ २१९ ॥

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह होनेसे स्त्रियॉ सग्रन्थ है तथा वे हीनशक्तिवाली होनेसे उनको गृहस्थोके समान मुक्ति नहीं है ॥ २२० ॥

---

१ आ. गृहस्थसयमेनापि

प्रत्यक्षेण गृहीतो वा स वस्त्रादिपरिग्रहः । ग्रन्थमाभ्यन्तरं तस्यास्तद्रागादिकमादिशेत् ॥ २२१
शरीरस्योष्मणा जन्तुविघातैकनिवारणम् । वस्त्रमादीयते ताभिरथ रागाद्यभावत. ॥ २२२
तन्न युक्तं वचस्तेषामचेलव्रतधारिणाम् । यतस्तीर्थंकरादीनां हिंसकत्वं प्रजायते ॥ २२३
आचेलक्यं व्रतं तेषां नासिद्धं हि तदागमे । स्थितिकल्पस्य मध्येऽस्य तैरेव प्रतिपादनात् ॥ २२४
किं च वस्त्रे गृहीतेऽपि पाणिपादाद्यनावृतेः । जन्तूनामुपघाताच्च तथावस्थित एव सः ॥ २२५
यूकालिक्षादिजन्तूनां मूर्च्छनायाश्च कारणं । वस्त्रं हिंसाङ्गमर्हद्भिर्गृह्यते किं महात्मभिः ॥ २२६

जो वस्त्रादि बाह्य परिग्रह उन्होंने प्रत्यक्षसे ग्रहण किये है, वह उनके अभ्यन्तर रागादि परिग्रहोंको सुझाता है। अर्थात् वस्त्रादि परिग्रह होनेसे उनके अन्तरगमे रागादिक मोहविकार है ऐसा सिद्ध होता है ॥ २२१ ॥

[श्वेतांबर कहते है] – यदि वस्त्र ग्रहण नही किया जाता तो शरीरकी उष्णतासे हवामे रहनेवाले जन्तुओका नाश होगा। उनका नाश न होवे इस हेतुसे आर्यिकायें वस्त्र ग्रहण करती है। उनके मनमे रागादिक अभ्यन्तर परिग्रह नही है। अर्थात् आपने 'रागादिक विकारसे उन्होंने परिग्रह धारण किया है' ऐसा जो आक्षेप उनके ऊपर किया है वह व्यर्थ है ॥ २२२ ॥

[उत्तर] – श्वेताबरोंका यह वचन योग्य नही है। जन्तुओंका विघात टालनेकेलिये वस्त्र ग्रहण करते है, तो अचेलव्रत धारण करनेवाले अर्थात् निर्वस्त्र-सयम धारण करनेवाले तीर्थकरको हिंसाका दोष लग जायेगा, ऐसा मानना पडेगा। भावार्थ–तीर्थकरोने वस्त्रका त्याग किया था, अतः उनके खुले अवयवोकी उष्णतासे जीवनाश होनेसे वे हिसक थे ऐसा मानना पडेगा, जोकि मानना आपको अनिष्ट होगा। दशविधस्थिति कल्पोमे 'आचेलक्य' आपनेभी माना है और अब सवस्त्रसयमको अहिंसाका हेतु मानने लगे है, अत. यह आपका कथन परस्पर विरुद्ध है ॥ २२३ ॥

अत आचेलक्य व्रत श्वेताबरोको असिद्ध है–अमान्य है ऐसा नहीं है, क्योकि उनके आगममे स्थितिकल्पके दश भेदोमे पहिला कल्प आचेलक्य माना है ॥ २२४ ॥

पुन आपके कथनानुसार वस्त्रग्रहण करनेपरभी उससे सर्व अवयव आच्छादित नही होते है अर्थात् हाथ, पॉव, ऑखे, नाक, कान, मस्तक आदि अवयव खुले रहतेही है और उनकी उष्णतासे प्राणियोकी हिसा जैसीकी वैसीही रही ॥ २२५ ॥

वस्त्र, जू, लीख आदि सूक्ष्म जन्तुओकी उत्पत्तिका कारण है तथा मूर्च्छनाका-ममत्वका कारण है। ऐसा हिंसाका कारण वस्त्र महात्माओके द्वारा कैसे ग्रहण किया जाता है ? अर्थात् वस्त्रके धारण करनेसे हिंसा तो टलतीही नहीं परतु उससे मनमे ममत्व उत्पन्न होता है। वस्त्रसे ऐसे दो दोष उत्पन्न होते है ॥ २२६ ॥

यज्ञानुष्ठानवद्वस्त्र समस्तव्रतनाशकम् । महाव्रतधरा जातु न गृह्णन्ति महाधिय· ॥ २२७
याचनं सीवनं शश्वत्प्रक्षालनविशेषणम् । निक्षेपादानमित्येतच्चोरादिहरणं तथा ॥ २२८
वस्त्रे गृहीते चैतानि व्रतबाधाकराणि च । मनःसक्षोभहेतूनि जायन्ते व्रतवर्तिनाम् ॥ २२९
अथ लज्जाकरं नाग्न्यं रामाणां क्षोभकारणम् । कर्मास्रवनिमित्तं तन्न युक्तं मुक्तकर्मणाम् ॥ २३०
तदेतदपि मिथ्यात्व विपरीतं हतात्मनाम् । यदेवाद्यं व्रतं पूतं तदेवासंमतं यतः ॥ २३१
नाग्न्य लज्जां करोत्येव स्वस्य चैतत्परस्य वा । न स्वस्य वीतरागाणां लज्जाक्षोभाद्यभावतः ॥ २३२
परस्य करणे तस्य स्वस्यायातं किमेतया । अन्य· कर्ता विभोक्तान्य. साङ्ख्यस्येव मत भवेत् ॥२३३
मलिनाङ्गं सुबीभत्स नग्नं लुञ्चितमस्तकम् । दृष्ट्वा साधु कथं रामा. क्षुभ्यन्ति क्षीणविग्रहम् ॥२३४

जैसे यज्ञ करना अर्थात् पशुओका यज्ञकुण्डमे हवन करना हिसाका कारण है वैसे वस्त्र-धारण करना सपूर्ण व्रतनाशक है । इसलिये महाबुद्धिवान् महाव्रतधारक मुनिराज वह (वस्त्र) कदापि धारण नाहीं करते है ॥ २२७ ॥

याचना करना, सीना, हमेशा जलसे धोना, रखना, और ग्रहण करना ऐसे दोष वस्त्र धारण करनेसे उत्पन्न होते है । ये सब दोष अहिंसादि व्रतोको बाधक है। जो व्रत-धारक आचेलक्य-व्रतके धारक है उनको वस्त्र धारण करनेकी इच्छासे प्रथमतः मनमे क्षोभ उत्पन्न होता है ॥२२८॥

[श्वेताम्बरोका आक्षेप] – नग्नतासे स्त्रियोको लज्जा उत्पन्न होती है और उनके मनमे क्षोभ उत्पन्न होता है । तथा कर्मागमनका वह निमित्त होता है। इसलिये योग्य कार्य करनेवाले मुनियोको नग्नता धारण करना योग्य नहीं है ॥ २२९–२३० ॥

[आक्षेपनिराकरण] – मिथ्यात्वसे जिनका आत्मघात हुआ है, ऐसे श्वेताम्बरोका यह विपरीत मिथ्यात्व है । क्योकि आचेलक्यसे जो पहिला पवित्र व्रत अर्थात् अहिंसाव्रत रक्षा जाता है उससे ये श्वेताबर लोग असयम होता है ऐसा उलटा कहने लगे है अर्थात् यह कथन विपरीत मिथ्यात्वका द्योतक है ॥ २३१ ॥

[दिगबरोसे प्रश्न] – यह नग्नता मुनियोके मनमे लज्जा उत्पन्न करती है अथवा अन्य लोगोके मनमे लज्जा उत्पन्न करती है ? स्वत. मुनियोको लज्जा उत्पन्न होती है ऐसा कहना योग्य नहीं है, क्योकि वे वीतराग होते है। इसलिये यह आपका मत साख्यमतके समान मालूम पडता है क्योकि साख्योने प्रकृति सर्वज्ञ मानी है, और आत्माको असर्वज्ञ माना है । प्रकृतिको बधमोक्ष होते है और आत्माको बध तथा मोक्षरहित माना है, यह उनका मानना जैसा विपरीत है, वैसा नाग्न्यसे हिसा होती है ऐसा श्वेताम्बरोका प्रतिपादन करनाभी विपरीतमिथ्यात्व है । क्योकि अहिसा महाव्रतका साधक है, तो भी हिंसाका हेतु है ऐसी विपरीत कल्पना विपरीतमिथ्यात्वका कार्य है ॥ २३२–२३३ ॥

[स्त्रियोका मन क्षुब्ध नहीं होता] – जिसका शरीर मलिन है, तथा ग्लानि पदा करनेवाला

सुवस्त्रं गन्धमालाढ्यं कामकल्पितविग्रहम् । ईदृशं पुरुषं दृष्ट्वा रामारागप्रकाशिका ॥ २३५
आचेलक्य हि सर्वेषां व्रतानां मूलमुत्तमम् । स्त्रीपरीषहभग्नानां कथं पाखण्डिनां भवेत् ॥ २३६
लज्जाशीतादिदुःखानां कारणत्वान्न संमतम् । नाग्न्यं केषां मतं तेषां दुःखदं न महाव्रतम् ॥ २३७
येभ्यो येभ्यः पदार्थेभ्यो विना पीडा प्रजायते । ते ते सर्वेऽपि सङ्ग्राह्या मधुमांससुरादयः ॥ २३८
रागद्वेषमदक्रोधलोभमूलमनर्थकृत् । वस्त्रं हि त्यजतां लज्जा गृह्णतां नेति कौतुकम् ॥ २३९
यस्या मिथ्यात्वदोषेण जातायाः सुमहर्द्धिकम् । पदं चक्रधरादीनामपि नैवोपजायते ॥ २४०

है, जिसका मस्तक केशलोचसे युक्त है ऐसे कृश शरीरवाले नग्न साधुको देखकर स्त्रियाँ कैसे क्षुब्ध होगी ? अर्थात् साधुकी नग्नता स्त्रियोको क्षुब्ध नहीं कर सकती ॥ २३४ ॥

जिसके वस्त्र सुंदर है, जो इत्र और पुष्पमालाओको धारण करता है, जिसका शरीर मदनके समान सुंदर है ऐसे पुरुषको देखकर स्त्री अपना रागभाव-प्रेम प्रगट करती है। यह आचेलक्य स्थितिकल्प सर्व व्रतोका उत्तम मूल है । अर्थात् इसके आधारसेही सब अहिंसादि व्रत-समूह स्थिर रहता है अन्यथा नहीं । जो स्त्रीपरिषहसे भग्न हुए है ऐसे पाखडी लोग इसे धारण करनेमे कैसे समर्थ होगे ? ॥ २३५ ॥

लज्जा, ठण्डी आदि दुःख नग्नतासे उत्पन्न होते है, इसलिये कई पाखंडियोको यह नाग्न्य मान्य नहीं होता । उनको यह महाव्रत दुःखद है अर्थात् जो लज्जादिकसे पीडित है उनको नाग्न्य सौख्यदायक नहीं है । परंतु जो लज्जा, शीत, आदि दु.ख सह सकते है, जो स्त्री–परीषहसे भग्न नहीं हुए उनको इस नाग्न्यकी योग्यता ज्ञात होनेसे वेही उसको पूर्णतासे निभाते है। अन्य जनोको इसका धारण करना शक्य नहीं ॥ २३६–२३७ ॥

यदि नाग्न्य दु खदायक होनेसे त्याज्य है, तो जिन जिन पदार्थोके बिना पीडा होती है वे पदार्थ सुखके लिये ग्रहण करने चाहिये ऐसा कहते हो तो मधु, मांस, मदिरा आदि पदार्थोको ग्रहण करो, क्योंकि इनके विना आपको दु ख होता होगा ॥ २३८ ॥

राग, द्वेष, मद-गर्व, क्रोध और लोभ उत्पन्न होनेमे वस्त्र मूल कारण है और इससे अनर्थ उत्पन्न होता है । अत ऐसे वस्त्रका त्याग करना लज्जाका हेतु है और उसका ग्रहण करना लज्जाका हेतु नहीं है ऐसा कहना हमको आश्चर्यचकित करता है ॥ २३९ ॥

" मिथ्यात्वदोषसे स्त्री-पर्याय प्राप्त होता है । अतः उस पर्यायमे जीवको चक्रवर्ति आदि-कोका ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होता । अर्थात् जिस स्त्रीको चक्रवर्ति आदि पदभी प्राप्त नहीं होते, उसे

---

[1] आ. नाग्न्य चेत्सन्नतम्

तस्यास्तीर्थकरत्वं हि त्रिलोकीपतिपूजितम् । मोक्षैककारणोपेतं कथं मूढैर्[1]निगद्यते ॥ २४१
केवली कवलं भुङ्क्ते स्त्रिया मुक्तिः सुदुर्लभा । सग्रन्थो मोक्षमार्गश्च[2] विपरीतदृशां मतम् ॥ २४२
ज्ञानं चारित्रनिर्मुक्तं चारित्रं ज्ञानवर्जितम् । ते वा दर्शननिर्मुक्ते मिथ्यात्वं नैव मुञ्चतः ॥ २४३
इत्याद्यनेकमिथ्यात्वं नराणां शल्यमूर्जितम् । महादुःखप्रदं तेन वर्जनीयं मनीषिभिः ॥ २४४
निदानमपि शल्यत्वाद्धेयं हेयविशारदैः । अयुक्तं तद्धि साधूनां सर्वव्रतविनाशकम् ॥ २४५
शस्ताशस्तप्रभेदेन द्विविधं विधिकोविदाः । कथयन्ति जिनाधीशा निदानं तद्विवर्जिता ॥ २४६
संसारस्य निमित्तं च विमुक्तेः कारणं परम् । प्रशस्तं द्विविधं जैनैः कथितं तथ्यवेदिभिः ॥ २४७
कर्मणां विच्युतिं बोधिं समाधिं भवदुःखतः । हानिमाकांक्षतो मुक्तिहेतुभूतं निगद्यते ॥ २४८

इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती जिसे पूज्य मानते है तथा जो मोक्षके मुख्य-अद्वितीय कारणसे युक्त होता है ऐसा तीर्थकर-पद प्राप्त होता है ऐसा मूढ लोग कैसा कहते है ? ॥ २४०–२४१ ॥

केवली कवलाहार करते है, और स्त्रियोको दुर्लभ मुक्ति प्राप्त होती है और परिग्रहसहित मोक्षमार्ग है ऐसा विपरीत–मिथ्यात्वियोका मत है ॥ २४२ ॥

मिथ्यात्वके अनेक प्रकार है – चारित्रसे रहित ज्ञान, ज्ञानरहित चारित्र और दर्शनरहित चारित्र और ज्ञान मुक्तिका हेतु मानना यह मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व आत्माको नहीं छोडता इत्यादिक अनेक प्रकारका मिथ्यात्व है। इसको शल्य कहते है। यह शल्य मनुष्योको दुःख देता है। यह शल्य (मिथ्यात्व) महादुःख देनेवाला होनेसे विद्वान् उसे छोडते हैं ॥ २४३–२४४ ॥

[निदानशल्यका वर्णन ।] – त्याज्य भावोको-मिथ्यात्व, कषाय आदिकोको छोडनेमे चतुर ऐसे गणधरादि महापुरुषोने निदानभी प्राणिओको दुःखद होनेसे त्याज्य माना है। साधुओको यह शल्यधारण करना योग्य नहीं है, क्योकि यह सब व्रतोका नाश करता है ॥ २४५ ॥

इस निदानके प्रकार जाननेमे निपुण और उनसे पूर्ण रहित जिनेश्वरोने उसके प्रशस्त और अप्रशस्त ऐसे दो भेद कहे है ॥ २४६ ॥

यह प्रशस्त-निदान ससारका कारण और मोक्षकाभी उत्तम साधन है। अर्थात् सत्य वस्तुस्वरूपको जाननेवाले जैनोने ससारनिमित्तक प्रशस्त-निदान और मोक्षनिमित्तक प्रशस्त निदान ऐसे दो भेद कहे है ॥ २४७ ॥

कर्मोका नाश, बोधि - रत्नत्रयप्राप्ति, समाधि-धर्मध्यान, शुक्लध्यान, ससार दुःखोका नाश आदिको चाहनेवालोको यह प्रशस्त-निदान मुक्तिका कारण माना है। अथवा जिनधर्मकी प्राप्ति होनेके लिये योग्य देश-आर्य देश, योग्यकाल-चतुर्थकाल, भव-जैनके उच्चकुलमें जन्म, क्षेत्र-योग्य

---

१ आ. पुण्यै. २ आ. स्थः

देशं कालं भवं भावं क्षेत्रमैश्वर्यमेव वा । जिनधर्मप्रसिद्ध्यर्थं कांक्षतो वा दरिद्रिताम् ॥ २४९
संसारहेतुकं तद्धि निदानं जिननायकैः । कथितं हि यतो नैते जायन्ते संसृतिं विना ॥ २५०
आद्यं पूतमनन्तैकसुखधामविधायकम् । द्वितीयं दुःखदं किञ्चिद्यदन्यभवहेतुतः ॥ २५१
अप्रशस्तं पुनर्द्वेधा भोगमानादिभेदतः । संसारकारणं निन्द्यं सिद्धिसौधाप्रवेशकम् ॥ २५२
भोगासक्तिमनाः[1] प्राणी न जानाति हिताहितम् । अहिदष्ट इवानेकमूर्च्छादाहप्रलापवान् ॥ २५३
मन्त्रतन्त्रादिभिः केचिज्जीवन्त्यहिविषार्दिताः । भोगभोगीन्द्रदष्टाश्च न जीवन्ति कथञ्चन ॥ २५४
भोगाभिलाषिणा पुंसा यत्कर्मेह विधीयते । वह्निभिर्भवकोटीभिर्न स तस्यान्तमञ्चति ॥ २५५
भोगा लोकान्विमोह्याशु विपर्यौषधयोगतः । ठका इव हठात्तेभ्यो धर्मवित्तापहारिणः ॥ २५६

स्थान जहा जनधर्माराधक श्रावक रहते हैं और भाव-शुभ परिणाम और वैभव चाहनेवालोको यह संसारका कारण प्रशस्त-निदान होता है। क्योकि संसारके विना ये देश, काल, क्षेत्र, भव, भाव और ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होते है ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है ॥ २४८–२५० ॥

पहिला जो प्रशस्तनिदान है वह पवित्र अनत और अद्वितीय ऐसा सुखस्थान देनेवाला-मोक्षप्राप्ति करानेवाला है। और दूसरा प्रशस्तनिदान किञ्चिद् दुःख देनेवाला है; क्योकि अन्यभवमे जिनधर्मकी प्राप्तिके लिये देश, काल, क्षेत्र, भव, भाव और ऐश्वर्य चाहनेसे वह होता है ॥ २५१ ॥

अप्रशस्त-निदानकेभी दो भेद है, पहिला भेद भोगहेतुसे होता है और दूसरा भेद मान-हेतुक है। ये दोनोभी ससारके कारण है, निन्द्य है और सिद्धिमन्दिरमे प्रवेश होनेमें बाधक है ॥ २५२॥

जो प्राणी भोगोकी आसक्तिमे अपना मन लगाता है उसे हितकर कौन है और अहितकर कौन है, इसका परिज्ञान नहीं होता । सर्पदश जिसको हुआ है ऐसे मनुष्यके समान वह अनेक मूर्च्छा, दाह और प्रलापसे युक्त होता है। अर्थात् भोगासक्ति होनेसे उसको भोगोमे ममत्व-बुद्धि होती है। उससे उसको दाह उत्पन्न होता है अर्थात् तृष्णा अधिकाधिकतया वृद्धिगत होने लगती है तथा वह भोगोकीही सतत बाते करता रहता है। सर्पके विषसे पीडित हुए कितनेक लोग मन्त्रतन्त्रादिसे विष दूर होनेसे जीते ह परन्तु भोगरूपी महासर्पसे दश किये गये लोग किसी-प्रकारसेभी नही जीते है ॥ २५३–२५४ ॥

इस जगतमे रोग और भोग अतिशय दुःख देनेवाले है। इस लोकमेही रोग दुःख देते है परन्तु ये भोग भवभवमे जीवको दुःख देते है। भोगाभिलाषी मनुष्य इस भोगके लिये जो कर्म करता है अर्थात् जो कर्मबध उसको भोगाभिलाषासे होता है उसका अन्त अनेक कोटि भवोसेभी नहीं होता है अर्थात् कोट्यवधिभवोमे भोगाभिलाषाजन्य कर्मका उदय होता है और वह प्राणीको सन्तत दुःख देता

१ आ भोगासक्तमना

येषामलाभतो हीनास्तदाशापाशवर्तिन । कुम्भीपाका इवानेके दन्दह्यन्ते नराधमाः ॥ २५७
तदर्थं कुर्वतां तावन्निदान हतचेतसाम् । का गतिर्दुष्टवृत्तीनां निदानमिति निश्चितम् ॥ २५८
मानिन पञ्च पापानि कुर्वतो न मनागपि । पापीयसो घृणाप्यस्ति महाहङ्कारवर्तिन ॥ २५९
अतो मानं विमुञ्चन्ति पापमूलमनेनस' । न मानाग्निप्रदग्धेषु धर्मबीजं प्ररोहति ॥ २६०
इति शल्यं त्रिधाप्येतद्वर्जयन्ति विचक्षणा' । न हि शल्यवतां जातु जायते निर्वृतिर्यत' ॥ २६१
शल्यानां त्रितयं हृदि प्रवितत नि'सारयन्तीह ये । श्रीमन्तो गुरुवाक्यवैभवमहासन्दंशकैरङ्गत: ॥
ते चारित्रपवित्रिताशयवशा' स्वर्गाश्रिता संपदो । भुञ्जाना' कलयन्ति निर्वृतिमल व्यापत्तिवृत्तिच्युता:
इह भवति सुभव्यो भूरिदु खापहारी । जिनपतिमतसारी यः सदा ब्रह्मचारी ॥

है। विषयरूपी जडीबुटींके द्वारा भोग लोगोको ठक पुरुषोके समान विमोहित करते है और उनसे धर्मधन छीन लेते है। भोगोकी अभिलाषारूपी पाशसे बधे गये नराधम इनकी प्राप्ति न होनेसे दीन होकर कुभी—पाकके समान अतिशय सन्तप्त होते है ॥ २५५—२५७ ॥

उन भोगोकी अभिलाषासे मारा गया है, चित्त जिनका ऐसे निदान करनेवाले दुष्ट स्वभाववालोको कौनसी गति होगी ? इस प्रकारसे निदानका निश्चय समझना चाहिये ॥ २५८ ॥

अतिशय अहङ्कारयुक्त पापी और मानी ऐसे पुरुषको यत्किञ्चित्भी घृणा नहीं होती है। ऐसा समझकर पापरहित सत्पुरुष पापका मूल ऐसा मानकषाय छोडते है। क्योकि मानरूपी अग्निसे दग्ध हुए मनुष्योमे धर्मका बीज अकुरित नहीं होगा ॥ २५९—२६० ॥

चतुर पुरुष इस प्रकार तीनो शल्योकाभी त्याग करते है। क्योकि शल्यधारणसे पुरुषोको कभीभी सन्तोष नही होता ॥ २६१ ॥

जो अहिंसादि व्रतरूप सपत्तिके धारक भव्य जन हृदयमे विस्तीर्णतासे प्रविष्ट हुए माया, मिथ्यात्व और निदानरूप तीन शल्योको निकालकर फेक देते है, तथा श्रीगुरूपदेश—वाक्यरूप महा सडसीसे अगमेसेभी शल्य निकाल देते है। जिनका चित्त चारित्र धारण करनेसे पवित्र हुआ है ऐसे सत्पुरुष स्वर्गकी सपदाको भोगते ह, अनतर वहासे च्युत होकर वे मनुष्यभवमे कर्मका क्षय करके पूर्ण व्यापकताको धारण करनेवाली मुक्तिको प्राप्त करते है अर्थात् मुक्त होते है। कालको व्याप्त करनेवाली मुक्तिको अर्थात् नित्य मुक्तावस्थाको धारण करते है ॥ २६२ ॥

जो सुभव्य जिनेश्वरके मतको धारण करता है, जो सदा ब्रह्ममे अर्थात् अहिंसादि गुणोमे चरण करता है, अहिंसादि गुणोको नि शल्य होकर धारण करता है, वह अनेक दु खोको

…कलितममन्दं साधुवृत्तप्रमोदम् । पुरुषमतिशयान सम्पदो नो ददान. ॥ २६३

इति श्रीपण्डितनरेन्द्रसेनविरचिते सिद्धान्तसारसग्रहे मतान्तरनिरूपणं

चतुर्थ. परिच्छेदः ॥ ४ ॥

…न्द करता है । वह मनुष्य विशाल ऐसे मुनिव्रतोका आनद हाथमे धारण करनेवाले पुरुषका अति-शयसे अनुकरण करनेवाला होता है । वह भव्य हमे सपत्ति-रत्नत्रयधन प्रदान करे ॥ २६३ ॥

श्रीपण्डितनरेन्द्रसेनविरचित सिद्धान्तसारसङ्ग्रहमे चार्वाक, वैशेपिक, साख्य, श्वेतांबरादि

मतान्तरोंका निरूपण करनेवाला चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

… आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते चतुर्थ. परिच्छेदः

पंचमः परिच्छेदः

पञ्चानां हि पवित्राणां व्रतानां मूलमादिमम् । यत्तत्त्वार्थपरिज्ञानं तच्च वच्मि समासतः ॥ १
यो यथावस्थितः सर्वस्तस्य भाव इति स्फुटम्[1] । तत्त्वं तत्त्वविदस्तथ्यं प्रथयन्ति तदद्भुतम् ॥ २
जीवाजीवास्रवा बन्धसंवराभ्यां सनिर्जरा । मोक्षश्चेति मतं तत्त्व सप्तधा तत्त्ववेदिभिः ॥ ३
तत्र निश्चयतोऽनादिमध्यान्तेन प्रकाशिना । विशुद्धोपाधिमुक्तेन चैतन्याख्येन सर्वदा ॥ ४
असाधारणरूपेण प्राणेनानेन जीवति । योऽसौ जीव इति व्यक्तं जीवज्ञैः स निगद्यते ॥ ५
यथा शुद्धनयापेक्षः कर्मबन्धवशात्पुनः । चतुःसाधारणैः प्राणैर्जीवोऽयं जीवतीत्यपि ॥ ६
उभयेन निमित्तेन यो भावोऽस्योपजायते । उपयोगः स विज्ञेयस्तन्मयोऽसौ निगद्यते ॥ ७

पंचम अध्याय ।

जीवादि तत्त्वार्थोंके स्वरूपका निर्दोप ज्ञान पवित्र पाच व्रतोका आद्य मूल है, इसलिये मैं यहा सक्षेपमे उसका प्रतिपादन करता हू ॥ १ ॥

जीवादिक सर्व अर्थसमूह जो जैसा है उसका वैसा भाव होनाही सत्य तत्त्व है, ऐसा तत्त्वके ज्ञाता गणधर देव कहते है वह आश्चर्यचकित करनेवाला है । भावार्थ—जीवादिकोके यथार्थ स्वरूपको जिसका आगममे वर्णन है उसको तत्त्व कहते है ॥ २ ॥

[तत्त्वोके सात भेद] — तत्त्वज्ञोंने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसे तत्त्वके सात प्रकार माने है ॥ ३ ॥

[जीवकी व्याख्या] निश्चयनयसे जीवका चैतन्यस्वरूप है । वह आदि, मध्य और अन्तसे रहित है । अर्थात् वह अनादिनिधन होनेसे मध्यहीन है । यह चैतन्य उत्पत्तिहीन, अन्तहीन तथा मध्यहीन और सदा प्रकाशयुक्त है । यह विशुद्ध-कर्मरहित तथा उपाधि-रागद्वेषोसे रहित है । यह चैतन्य सर्व कालमे रहता है । इस चैतन्यको असाधारण प्राण कहते है । क्योंकि यह प्राण जीवके विना अन्यपदार्थोंमें कदापि नहीं होता है । ऐसे चैतन्य प्राणसे जो सर्वदा जीता है उसे जीवके स्वरूपको जाननेवाले आचार्य व्यक्तरूपसे ' जीव ' कहते है, शुद्ध नयकी अपेक्षासे जीवका ऐसा स्वरूप कहा है । परन्तु कर्मबन्धके वश होकर यह जीव चार साधारण प्राणोसे जीता है । अत व्यवहारनयसे जो चार प्राणोसे जीवन धारण करता है उसे जीव कहते है । तात्पर्य—यह जीव अनादि कर्मबंधसे परतन्त्र हुआ है जिससे वह इन्द्रियप्राण, बलप्राण, आयुप्राण, तथा श्वासोच्छ्वास प्राण ऐसे चार प्राणोको धारण करता हुआ जीता है । इसलिये उसे जीव कहते है ॥ ४—६ ॥

[उपयोग किसे कहते है] — उभय निमित्तके आश्रयसे वस्तुस्वरूप जाननेके लिये जो वस्तुके प्रति भाव प्रेरा जाता है उसे उपयोग कहते है । अथवा उप-आत्माके समीप योग-योजना

---

1 आ. यो यथावस्थितो ह्यर्थः

शुभाशुभवशानेकसुखदुःखैकभुक्तिमान् । व्यवहारात्तथा शुद्धनयेनात्यन्तसौख्यभाक् ॥ १५
परमार्थनयेनासौ ससारेण विवर्जित. । नित्यानन्दस्वभावत्वात् संसारी चापरेण सः ॥ १६
स्वात्मोपलब्धिरूपस्य स्वरूपस्य निषेधनात् । कर्मोदयादसिद्धोऽसौ सिद्ध एव सुनिश्चयात् ॥ १७
ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावेन विभावेन पुनर्न हि । भ्राम्यमाणो भवाम्भोधौ चातुर्गतिककर्मणा ॥ १८
कर्ताऽमूर्तस्तथा भोक्ता स्वदेहप्रमितिर्भवी । उपयोगमयोऽसिद्धो ह्यात्मासावूर्ध्वगामिकः ॥ १९
मूर्त एव हि जीवोऽस्य भाट्टानां नास्तिकस्य च । तन्मतापह्नवायेदं ह्यमूर्तग्रहणं सताम् ॥ २०

व्यवहारनयसे शुभाशुभ कर्मके वश होकर आत्मा अनेक सुखदु.खोका भोक्ता है । अर्थात् जो शुभ और अशुभ कर्म इस आत्माकेद्वारा बाधे जाते हैं, उनका उदय आनेपर वह सुखोका और दु खोका अनुभव करने लगती है । संसारमे इसका भोक्तृत्व इस प्रकारका है । परन्तु शुद्धनयसे आत्मा अनन्तसुखयुक्त है ॥ १५ ॥

[आत्मा संसारी और मुक्त है ।]– आत्मा परमार्थनयसे ससाररहित है । क्योकि यह हमेशा नित्य आनन्दस्वभावका धारक है और व्यवहारनयसे ससारी है ॥ १६ ॥

[आत्मा सिद्ध और असिद्ध है ।] – इस आत्मामे अशुद्धनयकी अपेक्षासे पूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होनेसे असिद्धता है अर्थात् कर्मके उदयसे यह आत्मा असिद्ध है और शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा अष्टविध कर्मोसे रहित है इसलिये शुद्ध सिद्धस्वरूप है ॥ १७ ॥

[उर्ध्वगति और ससारभ्रमण ।] – स्वभावसे आत्मा उर्ध्वगतिवाली है, परतु विभाव भाव जबतक जीवमे हैं, तबतक वह स्वभाव उसका नहीं है । चतुर्गतिमे कर्मके उदयसे यह आत्मा भवसमुद्रमे भ्रमण कर रही है। यह आत्मा कर्ता, अमूर्त, भोक्ता, स्वदेह-परिमाण, ससारी, उपयोगमय असिद्ध और ऊर्ध्वगतिवाली है ॥ १८–१९ ॥

[अन्यमत तथा जैनमतसे आत्माका वर्णन] – भाट्ट–कुमारिलभट्टके अनुयायियोको अर्थात् मीमासकोको भाट्ट कहते है । उनकी अपेक्षासे तथा नास्तिकोकी-चार्वाकोकी अपेक्षासे आत्मा मूर्त है । विशेष स्पष्टीकरण–मीमासक आत्मा कर्मरहित–शुद्ध कभीभी नहीं होती ऐसा मानते हैं । " कोयला जैसा काला ही रहता है उसे कितनाभी धो डालो वह सफेद नहीं होता, वैसेही आत्माभी कर्मोंसे शुद्ध नहीं होती, सर्वज्ञपना उसे प्राप्त नहीं होता है " ऐसा मीमासक कहते है । चार्वाक देहसे भिन्न आत्मा कोई नहीं ऐसा मानते है अर्थात् वे देहकोही आत्मा मानते है । इन दोनो मतोंके निराकरणार्थ जैनोने आत्मा कथचित् मूर्तिक और कथचित् अमूर्तिक मानी है ॥ २० ॥

१ आ. नानन्त २ आ. भ्रम्यमाणो

एकान्ततोऽपि मूर्तः स्याद्यद्येष हतचेतसां । तदा[1] बाह्येन्द्रियग्राह्यः सर्वेषां स कथ न हि ॥ २१
शुद्धचैतन्यमात्रे[2] स योगानामभिसम्मतः । तन्मतस्य निरासार्थमुपयोगी निगद्यते ॥ २२
बुद्ध्यादिकगुणोच्छेदे सर्वथा तस्य किं न हि । उच्छेदश्चेतनायाश्च सर्वशून्यमतो भवेत् ॥ २३
कर्मकर्तृकता तस्य भोक्तुं साङ्ख्यो निषेधति । अकर्तृत्वे कथं तेषां भोक्ता निर्लज्जचेतसाम् ॥ २४
स्वदेहप्रमितिश्चासौ कथितस्तत्त्ववेदिभिः । योगानां भाट्टसाङ्ख्यानां तद्व्यापित्त्वनिषेधनात् ॥ २५

जिनकी विचारशक्ति नष्ट हुई है ऐसे भाट्ट और चार्वाककी अपेक्षासे यदि यह आत्मा एकान्तसे मूर्तही है तो वह सब लोगोको बाह्य इन्द्रियोसे ग्राह्य क्यो नही होती है ? अतः आत्मा कथंचित् अमूर्तिक माननी चाहिये ॥ २१ ॥

यौगोने आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र मानी है, उसके निराकरणार्थ आचार्योने आत्मा उपयोगी मानी है। अर्थात् ससारावस्थामे आत्मामे मत्यादिज्ञानरूप उपयोग रहता है, और कर्मोका नाश होनेपर आत्मा शुद्ध उपयोगका धारक–केवलज्ञान, केवलदर्शन ऐसे दो उपयोगोकी धारक रहती है ॥ २२ ॥

भावार्थ–यौगोने आत्माको शुद्ध चैतन्यमात्र मानकरभी उसके बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ऐसे नौ गुणोका अत्यन्त क्षय होनेसे मुक्त दशा प्राप्त होती है ऐसा माना है। यह उनका मानना योग्य नहीं है, क्योकि बुद्ध्यादिक गुणोका नाश होनेसे चेतनाकाभी नाश अवश्य होगा क्योकि बुद्धिसे विभिन्न चैतन्य नहीं है। और चैतन्यका नाश होनेपर मुक्तावस्था पत्थरके टुकडेके समान हो जायगी, जो कि किसी प्रकारसेभी स्पृहणीय नहीं है। ससार अवस्थामे अन्तरालमे अर्थात् कभी कभी सुख प्राप्त होता था वहभी मुक्तावस्थामे नही मिलनेसे वह ससारावस्थासेभी निकृष्ट होगी। चैतन्यावस्था पूर्णतया नष्ट होनेसे तत्स्वरूपधारक आत्माकाभी नाश होगा जिससे सर्वशून्यता प्राप्त होगी ॥ २३ ॥

[आत्माके अकर्तृत्वमे दोष।]–साख्य आत्माको भोक्ता मानते है परतु वह कुछभी कार्य नही करती है ऐसा वे मानते है। आचार्य इस विषयमे ऐसा कहते है कि, यदि आत्मा अकर्ता है तो निर्लज्जमनवाले साख्य उसको भोक्ता कैसा मानते है ? क्योकि भोगनेकी क्रिया न करनेपर वह भोक्ता कैसे होगा ? इसलिये कर्तृत्व और भोक्तृत्व अविनाभावी है। आत्माका ज्ञातृत्वभी विना-कर्तृत्वके सिद्ध नही होता है। क्योकि जाननेकी क्रिया करनाही ज्ञातृत्व है। अत. साख्योका आत्म-सबधी अकर्तृत्ववाद सदोष है ॥ २४ ॥

यौग, भट्ट और साङ्ख्यमतियोने आत्मा व्यापक माना है। उसके व्यापित्वका निषेध करनेकेलिये तत्त्वज्ञोने–जिनेश्वरोने आत्मा स्वदेहप्रमाण है ऐसा कहा है ॥ २५ ॥

---

१ आ तथा २ आ. शुद्ध चैतन्यमात्रम् ३ आ. प्रोक्ता साङ्ख्यनिषेधिनी

[illegible] तस्य सर्वत्र वृत्तित्वात्किं न वेदनम् । त्रैलोक्यान्तर्गतानां हि शीतोष्णानां सुदुस्सहम् ॥ २६
[illegible] सौगताना निषेधकम् । तद्वते पुण्यपापानां कारणं फल्गुतां व्रजेत् ॥ २७
[illegible] जीव प्रत्याख्यानाय केवलम् । सदाशिवस्य सर्वेषां संसारस्याप्रसङ्गतः ॥ २८
[illegible] तस्य जीवस्य भट्टकौलनिषेधकृत् । अन्यथा सर्वजीवानां सुखं वा दुःखमेव वा ॥ २९

— —

[आत्माके व्यापित्वका निरसन ।] – आत्मा यदि व्यापी मानी जायगा तो वह सर्वत्र [illegible] त्रैलोक्यके अन्तर्गत शीतोष्णोका सुदु.सह अनुभव क्यो नहीं आयेगा ? इसलिये आत्मा [illegible] मानना चाहिये. क्योंकि देहसे अन्यत्र सुखदु.खोका अनुभव कभीभी आत्माको आताही [illegible] ॥ २६ ॥

[[illegible] भोक्तृत्व नहीं है ऐसे सौगतपक्षका खण्डन ।] – सौगत-बौद्ध आत्माको [illegible] भोक्तृत्व नहीं मानते हैं । परतु यह मानना अयोग्य है, क्योंकि कर्मफलभोक्तृत्व नहीं [illegible] कारणकल्पना व्यर्थ होगी । दान देना, पूजन करना, परोपकार करना ये [illegible] । हिंसा करना, असत्य बोलना आदि पापके कारण हैं । ऐसा आगममे पुण्य- [illegible] किया हुआ उल्लेख व्यर्थ होगा । इसलिये आत्मा कर्मफलोका भोक्ता माननाही [illegible] ॥ २७ ॥

मण्डलाख्यस्य बौद्धस्य मतव्याघातकारिणी। उद्र्ध्वस्वभावता जीवे कथिता जैनवादिभि: ॥ ३०
चेद्यत्रैव च मुक्तोऽसौ तत्र तिष्ठति निश्चितम्। ततो धर्मास्तिकायस्य वैकल्यं केन वार्यते ॥ ३१
किञ्चिदागमतो ज्ञात्वा स्वरूपं गदितं मया। विस्तरेण तु सर्वज्ञादृते केन निगद्यते ॥ ३२
जीवोऽनादिकसामान्यगुणेनैको मत: सताम। मुक्तसंसारिभेदेनपुनर्द्वेधोपजायते ॥ ३३
संसारिणां हि संसार: परिवर्तनमुच्यते। तच्च पंचविध प्रोक्तं विविधागमपारगै: ॥ ३४

जीव दु.खी देखे जाते है। तथा कोई जीव कभी दु:खी कभी सुखी, कोई कभी दरिद्री और कभी श्रीमान् देखे जाते है इत्यादिक प्रमाणसे संसार अवस्था अनेक प्रकारकी देखी जाती है। आत्माको नित्य माननेपर कोई दु.खीही हमेशा देखे जायेगे तो कोई हमेशा सुखीही देखे जायेगे। एकरूपताकाही अनुभव आवेगा। अत: ससारावस्थाको नष्ट करनेवाली सिद्धावस्थाभी माननी पडेगी जिसमे आत्मा स्वस्वरूपमे और अनन्तसुखादिगुणोमे रममाण होती हुई सदा रहेगी ॥ २९ ॥

[जीवके उद्र्ध्वगतिस्वभावका प्रतिपादन।] — मण्डलनामक बौद्धोका मत ऐसा है, कि आत्मा मुक्त होकरभी पुन: ससारमे नीचे आगमन करती है। पुन: ससारावस्था धारण करती है। इस मडलके मतका खडन करनेकेलिये जैनवादियोने जीवमे उर्द्ध्वगति स्वभाव माना है। अर्थात् कर्मोका पूर्ण नाश होनेपर जीव ऊर्द्ध्वगमन करता है और लोकशिखरपर जाकर वास्तव्य करता है। कर्मसे जीव कभी नीचे कभी ऊपर और कभी पूर्वादिक दिशामे गमन कर शरीर धारण करता था। अब कर्म विनाश होनेपर उसकी गति इधर उधर न होकर सीधी और ऊपरकोही होती है। और वह सिद्धशिलापर सदा विराजमान होता है ॥ ३० ॥

जीव जहा कर्मनाश होता है उस स्थानपरही मुक्त होकर निश्चित यदि स्थिर होता तो धर्मास्तिकाय नामक द्रव्यका—जो कि जीव पुद्गलोके गतिका कारण माना है—उसका अभाव मानना पडता परतु उसका अभाव नहीं है। वह धर्मद्रव्य लोकान्ततक व्याप्त है, अत: वहातक मुक्त हुए जीवका गमन होता है। उसके आगे वह द्रव्य न होनेसे मुक्तजीव आगे गमन नहीं करते है ॥ ३१ ॥

इसप्रकार जीवका स्वरूप मैने आगमसे थोडासा जानकर कहा है। सर्वज्ञके विना विस्तारसे कौन जीव वर्णन करता है? ॥ ३२ ॥

सज्जनोने अनादि सामान्य गुणसे जीव एक माना है। तथा मुक्त और ससारी भेदसे जीवके दो भेद होते है ॥ ३३ ॥

ससारीके ससारको – (चतुर्गतिमे भ्रमणको परिवर्तन कहते है) नानाप्रकारके आगमोमे प्रवीण ऐसे आचार्योने पाच प्रकारका कहा है ॥ ३४ ॥

१ द्रव्यपरिवर्तन २ क्षेत्रपरिवर्तन ३ कालपरिवर्तन ४ भवपरिवर्तन और ५ भावपरिवर्तन।

१ आ. नो २ आ. वैफल्य ३ आ. सर्वज्ञमृते ४ आ. जीवनादिका ५ आ. संसरण

तद्द्रव्यक्षेत्रकालादिभवभावप्रभेदतः । परिवर्तनमाख्यातं पंचधा सूत्रकोविदै. ।। ३५
नोकर्मकर्मभेदेन द्रव्यादिपरिवर्तनम् । ख्यापिताशेषतत्त्वार्था द्विप्रकारमुशन्ति तत् ।। ३६
त्रयाणां हि शरीराणां पर्याप्तीनां च पुद्गलाः । एकेनैवात्मना ये च गृहीता. प्रथमक्षणे ।। ३७
स्निग्धरूक्षादिभेदेन तीव्रमन्दादिभावतः । अवस्थिता द्वितीयादिसमयेषु च सर्वथा ।। ३८
जीर्णाश्चानन्तवारांस्ते व्यतिक्रम्य क्रमात्पुन । यावन्नो कर्मतां यान्ति तन्नोकर्मविवर्तनम् ।।३९ त्रिकलम्
एकेनैव हि जीवेन गृहीताः प्रथमक्षणे । पुद्गलाः कर्मयोग्या ये समयेनाधिकाश्च ते ।। ४०
आवलिकामतिक्रम्य निर्जीर्णाः समयेषु च । द्वितीयादिषु पूर्वेण क्रमेणापि समन्ततः ।। ४१
यावत्तस्यैव जीवस्य प्रपद्यन्ते प्रयोगतः । कर्मभावमिदं ज्ञेयं कर्मद्रव्यनिवर्तनम् ।। ४२ त्रिकलम् ।
नोकर्मकर्मभावेन निवर्तन्तेऽत्र पुद्गला. । ये च जीवस्य विज्ञेयः संसारः पुद्गलाभिधः ।। ४३

[द्रव्यपरिवर्तन] – द्रव्यपरिवर्तनके नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन ऐसे दो भेद है ऐसा सपूर्ण तत्त्वार्थोका स्पष्टीकरण करनेवाले आचार्य कहते है ।। ३६ ।।

तीनशरीर – औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर और आहारक शरीर तथा आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इद्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मन.पर्याप्ति ऐसी छह पर्याप्तियोके योग्य पुद्गलोको पहिले क्षणमे स्निग्ध, रुक्षादि भेदसे तथा तीव्र, मन्द, मध्यादि भावसे एकही आत्माने जैसे ग्रहण किये थे वे द्वितीयादि समयपर्यन्त आत्मामे रहकर जीर्ण हुए । इसके अनतर अनतवार अगृहीत पुद्गलोको ग्रहण कर छोड दिया है । अनतबार मिश्र पुद्गलोको ग्रहण कर छोड दिया, अनतवार गृहीतकोभी ग्रहण करके छोड दिया, पुन· वही जीव उनही स्निग्ध रूक्षादि भावोसे युक्त उनही पुद्गलोको जितने समयमे ग्रहण करे उतने कालसमुदायको नोकर्म–द्रव्यपरिवर्तन कहते है ।। ३७–३९ ।।

[कर्मद्रव्यपरिवर्तन] – एकही जीवने प्रथम क्षणमे कर्मयोग्य जो पुद्गल ग्रहण किये थे वे एक समयाधिक आवलिकाकालपर्यन्त रह कर द्वितीय समय, तृतीय समय आदि समयोमें निर्जीर्ण हो गये । फिर पूर्वोक्त क्रमसे अगृहीत पुद्गलोको अनतवार ग्रहण करके छोड दिया, अनतवार मिश्रपुद्गलोको ग्रहण करके छोड दिया । अनतवार गृहीतपुद्गलोको ग्रहण करके छोड दिया । तदनन्तर उसी जीवद्वारा प्रथम क्षणमे जैसे कर्मद्रव्य ग्रहण किये थे वैसेहि उतनेहि तीव्रमन्दमध्यादि भावसे पुन ग्रहण किये जाते है उस समय कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है ।। ४०–४२ ।।

जो पुद्गल जीवके नोकर्मरूप और कर्मरूप परिणत होते है उसको पुद्गलपरिवर्तन कहते है । जब दोनोमेसे कोई एक पूर्ण होता है तब उसे अर्धपुद्गलपरिवर्तन कहते है । और जब दोनोंभी पूर्ण होते है तब एक पुद्गल परिवर्तन कहते है ।। ४३ ।।

---

१ आ. समयेनाधिका च ते २ आ ये जीवस्य स

लोके सर्वत्र सर्वाणि क्षेत्राणि विविधानि च । जीवोऽवगाह्यत्येप यत्रे क्षेत्रनिवर्तनम् ॥ ४४
सर्वस्मिन्नपि लोकेऽस्मिन्प्रदेशो नास्ति कश्चन । कर्मणा येन जीवेन भुक्त्वा मुक्त. समन्तत. ॥ ४५
अत एव महात्मानो भग्नाः संसारदु.खतः । तपस्यन्ति परित्यज्य भावांस्तस्य विधायिन. ॥ ४६
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्युगमित्यभिधीयते । तत्र ये सन्ति सर्वेऽपि समयावलिकादय. ॥ ४७
प्रत्येकं तेषु सर्वेषु जायते भुवनत्रये । यत्तदुक्तं हि सूत्रज्ञै. कालादिपरिवर्तनम् ॥ ४८
यद्यप्येवं भवादुःख कालादिपरिवर्तनात् । सहते हि तथाप्येष विरामं नैव गच्छति ॥ ४९

[क्षेत्रपरिवर्तन ।] — इस त्रैलोक्यमे सर्व आकाशमे अनेक प्रकारके क्षेत्र है । उसमे यह जीव अवगाहन करता है वह क्षेत्रपरिवर्तन समझना चाहिये । इस सपूर्ण लोकमे ऐसा कोई प्रदेश नही है, कि जो कर्मके उदयसे जीवने भोगकर नहीं छोड दिया है । अर्थात् सर्व प्रदेशोंमे यह जीव मरकर उत्पन्न हुआ है । इसलिये जो महात्मा है वे ससारदु.खसे भग्न होकर क्षेत्रभ्रमणके भावोका त्याग कर तपश्चरण करते है ॥ ४४—४६ ॥

विशेष स्पष्टीकरण—क्षेत्रपरिवर्तनके दो भेद है । एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन और दुसरा पर-क्षेत्रपरिवर्तन । एक जीव सर्व जघन्य अवगाहनाको जितने उसके प्रदेश है उतनी वार धारण करके पीछे क्रमसे एक एक प्रदेश अधिक अधिककी अवगाहनाओको धारण करते करते महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहनापर्यन्त अवगाहनाओको जितने समयमे धारण कर सके उतने कालसमुदायको एक क्षेत्रपरिवर्तन कहते है ।

कोई जघन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्मनिगोदी लब्ध्यपर्याप्तक जीवलोकके अष्टमध्य प्रदेशोको अपने शरीरके अष्टमध्य प्रदेश वनाकर उत्पन्न हुआ, पीछे वही जीव उसही रूपसे उसही स्थानसे दुसरी तीसरी वारभी उत्पन्न हुआ । इसी तरह घनाङ्गुलके असख्यातमे भागप्रमाण जघन्य अवगाहनाके जितने प्रदेश हैं उतनी वार उसी स्थानपर क्रमसे उत्पन्न हुआ । और श्वासके अठारहवे भागप्रमाण क्षुद्रआयुको भोग भोगकर मरणको प्राप्त हुआ । पीछे एक एक प्रदेशके अधिक क्रमसे जितने कालमे सम्पूर्ण लोकको अपना जन्मक्षेत्र वनाले उतने कालसमुदायको एक परक्षेत्रपरिवर्तन कहते है । (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

[कालपरिवर्तन ।] — दसकोटि कोटि सागरोपम परिमाणका उत्सर्पिणी काल है और अवसर्पिणी कालका प्रमाणभी इतनाही है । दोनो कालके प्रमाणको युग कहते हैं । उनमे जो समय, आवलिका, घटिका, मुहूर्त इत्यादिक भेद है उन सबमे यह जीव इस त्रैलोक्यमे उत्पन्न होता है । उसको सूत्रके ज्ञाताओने कालपरिवर्तन कहा है ॥ ४७—४८ ॥

यद्यपि यह जीव कालपरिवर्तनरूप ससारसे दु ख सहता है, तथापि यह जीव विराम नही लेता है अर्थात् उसका भ्रमण सतत चालू रहता है ॥ ४९ ॥

१ आ. यत्तत् २ आ. रता. ३ आ कर्मणा जायते भवी ४ आ. भवी ५ आ. ही

तिर्यग्नारकदेवानां मानवानां गतिं स्वयं । जीवो याति यदावृत्य तद्भवादिविवर्तनम् ॥ ५०
सर्वेषां कर्मणां तावत्प्रकृत्यादिविभेदतः । आत्माशयविवर्तो यस्तद्भावपरिवर्तनम् ॥ ५१

कालपरिवर्तनका स्पष्टीकरण--कोई जीव उत्सर्पिणीके पहिले समयमे प्रथम उत्पन्न हुआ है । इसी तरह दुसरी वार, दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमे उत्पन्न हुआ, तिसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमे तिसरी वार उत्पन्न हुआ । इसही क्रमसे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीके वीस कोडाकोडी सागरके जितने समय है उनमे उत्पन्न हुआ । तथा इसही प्रकार मरणको प्राप्त हुआ इसमे जितना काल लगे उतने कालसमुदायको एक कालपरिवर्तन कहते है । (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

[भवपरिवर्तनका वर्णन ।] -- जिन कर्मोसे आवृत होकर-आच्छादित होकर जीव, तिर्यच, नारकी, देव और मानवपर्यायोको धारण करके ससारमे घूमता है उसे भवपरिवर्तन कहते है ॥५०॥

भवपरिवर्तनका स्पष्टीकरण--कोई जीव दस हजार वर्षोके जितने समय होते है उतनी वार जघन्य दस हजार वर्षकी आयुसे उत्पन्न हुआ । पीछे एक एक समयके अधिक क्रमसे नरक संबधी तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु क्रमसे पूर्ण कर अन्तर्मुहूर्तके जितने समय हैं उतनी वार जघन्य अन्तर्मुहूर्तकी आयुसे तिर्यचगतिमे उत्पन्न होकर यहापरभी नरकगतिकी तरह एक एक समयके अधिक क्रमसे तिर्यच गतिसम्बंधी तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया । पीछे तिर्यग्गतिकी तरह मनुष्यगतिको पूर्ण किया । क्योकि मनुष्यगतिकीभी जघन्य अन्तर्मुहूर्तकी तथा उत्कृष्ट तीन पल्यकी आयु है । मनुष्यगतिके बाद दस हजार वर्षके जितने समय है उतनी वार जघन्य दश हजार वर्षकी आयुसे देवगतिमे उत्पन्न होकर पीछे एक एक समयके अधिक क्रमसे इकत्तीस सागरकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया । यद्यपि देवगतिसबंधी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरकी है तथापि यहापर इकत्तीस सागरही ग्रहण करना चाहिये । क्योकि मिथ्यादृष्टि देवकी उत्कृष्ट आयु इकत्तीस सागरतकही होती है । और इन परिवर्तनोका निरूपण मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासेही है । क्योकि सम्यग्दृष्टि ससारमे अर्धपुद्गलपरिवर्तनका जितना काल है उससे अधिक कालतक नही रहता है । इस क्रमसे चारो गतियोमे भ्रमण करनेमे जितना काल लगे उतने कालको एक भवपरिवर्तनका काल कहते है । तथा इन कालमे जितना परिभ्रमण किया जाय उसको एक भवपरिवर्तन कहते हैं ।

[भावपरिवर्तन] -- सपूर्ण कर्मोके जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-प्रत्ययोके भेदसे जो आत्माके परिणामोमे असख्य प्रकार उत्पन्न होते हैं उनको भावपरिवर्तन कहते है॥५१॥

विशेष स्पष्टीकरण--योगस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, कषायाध्यवसायस्थान, और स्थितिस्थान इन चारोके निमित्तसे भावपरिवर्तन होता है। योगस्थान- प्रकृति और प्रदेशबन्धको

१ आ. गतिष्वयम् २ आ. आत्माश्रितो

पञ्चप्रकारसंसारसागरे सरतोऽपि च । आपत्कल्लोलभग्नस्य जीवस्याशु निमज्जनम् ॥ ५२
श्रीजिनेन्द्रमहाधर्मं सद्रत्नत्रयलक्षणम् । मुक्त्वा पोतमिमं तस्मात्तरन्ति प्राणिनः कुतः ? ॥ ५३

कारणभूत आत्माके प्रदेश परिस्पन्दरूप योगके तरमतरूप स्थानोंको योगस्थान कहते है। अनुभाग-बन्धाध्यवसायस्थान–जिन कषायके तरतमरूप स्थानोसे अनुभाग बध होता है, उनको अनुभाग-बंधाध्यवसायस्थान कहते हे । स्थितिबधाध्यवसायस्थान–स्थितिबंधको कारणभूत कषायपरिणामोको कषायाध्यवसायस्थान या स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान कहते है । स्थितिस्थान–बधरूप कर्मकी जघन्यादिक स्थितिको स्थितिस्थान कहते हे । इसके परिवर्तनको दृष्टान्तद्वारा कहते हैं ।

श्रेणिके असंख्यातमे भागप्रमाण योगस्थानोके हो जानेपर एक अनुभागबधाध्यवसायस्थान होता है । और असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागबधाध्यवसायस्थान हो जानेपर एक कषायाध्यवसाय स्थान होता है । तथा असख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोके हो जानेपर एक स्थितिस्थान होता है । इस क्रमसे ज्ञानावरण आदि समस्त मूल-प्रकृति वा उत्तर-प्रकृतियोके समस्त स्थानोके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है। जैसे किसी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि सज्ञी जीवके ज्ञानावरण कर्मकी अत.कोडाकोडी सागरप्रमाण जघन्यस्थितिका बंध होता है । यही यहापर जघन्यस्थितिस्थान है। अत. इसके योग्य विवक्षित जीवके जघन्यही अनुभागबधाध्यवसायस्थान, जघन्यही कषायाध्यवसाय-स्थान और जघन्यही योगस्थान होते है । यहासेही भावपरिवर्तनका प्रारभ होता है । इसके आगे श्रेणिके असख्यातमे भागप्रमाण योगस्थानोके क्रमसे हो जानेपर दूसरा अनुभागबधाध्यवसायस्थान होता है । इसके बाद फिर श्रेणीके असख्यातवे भागप्रमाण योगस्थानोके क्रमसे हो जानेपर तीसरा अनुभागबधाध्यवसायस्थान होता है । इसही क्रमसे असख्यात लोकप्रमाण अनुभागबधाध्यवसायस्थान हो जानेपर दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है । जिस क्रमसे दूसरा कषायाध्यवसायस्थान हुआ उसही क्रमसे असख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोके हो जानेपर जघन्यस्थितिस्थान होता है। जो क्रम जघन्यस्थितिस्थानमे बताया है वही क्रम एक एक समय अधिक द्वितीयादिस्थितिस्थानोमे समझना चाहिये । तथा इसी क्रमसे ज्ञानावरणके जघन्यसे लेकर उत्कृष्टतक समस्तस्थितिस्थानोके हो जानेपर और ज्ञानावरणके स्थितिस्थानोकी तरह क्रमसे सम्पूर्ण मूल वा उत्तर प्रकृतियोके समस्त स्थिति-स्थानोके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है। तथा इस परिवर्तनमे जितना काल लगे उसको एक भावपरिवर्तनका काल कहते हं । इस प्रकार सक्षेपसे यहा पाच परिवर्तनोका स्वरूप कहा है। इनका काल उत्तरोत्तर अनतगुणित है ॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड भव्यमार्गणा)

इस पाच प्रकारके ससारसमुद्रमे भ्रमण करनेवाले तथा आपदारूप कल्लोलोसे भग्न हुए इस जीवका शीघ्र मज्जन होता है ॥ ५२ ॥

इस ससारसमुद्रमे निर्दोष रत्नत्रय जिसका लक्षण है ऐसा जो जिनेन्द्रका महाधर्म वही नौका है । इसको छोडकर प्राणी किसकी सहायतासे ससारसमुद्रको तीर जायेगे ? ॥ ५३ ॥

येऽत्र संसारिणो जीवास्ते द्विधा परिकीर्तिताः । समनस्कामनस्कादिभेदमाश्रित्य कोविदैः ॥ ५४
मनो द्विविधमाख्यातं द्रव्यभावप्रभेदत. । तत्र पुद्गलपाकैककर्मजं द्रव्यमानसम् ॥ ५५
नो इन्द्रियस्य वीर्यस्यावरणोपशमक्षयात् । परात्मनो विशुद्धिर्या तद्भावमन इष्यते ॥ ५६
समनस्का निगद्यन्ते मनसा सहवर्तिनः । अमनस्का अतस्तेषां मनो नास्ति मनागपि ॥ ५७
द्वितीयेऽपि प्रजायन्ते स्थावरेतरभेदत. । संसारिण' पुनर्द्वेधा तत्कर्मप्रभवा इह ॥ ५८
पृथिवी सलिलं तेजो मारुतश्च वनस्पतिः । पञ्चधा स्थावरा ज्ञेया विचित्रक्रमसंयुताः ॥ ५९
पृथिवी पृथिवीकाय' पृथ्वीकायिक इत्यपि । प्रत्येकं त्रिविधा. सर्वे जायन्ते भेदतो ह्यमी ॥ ६०
समातपृथिवीकायनामकर्मोदयोऽपि वा । कायत्वेन न चाप्नोति पृथ्वीं स पृथिवी मतः ॥ ६१

[ससारीके समनस्क और अमनस्क ऐसे दो भेद ।] – इस जगतमे जो ससारी जीव है उनके समनस्क जीव और अमनस्क जीव ऐसे दो भेद विद्वानोने कहे है । मन द्रव्यमन और भावमन ऐसा दो प्रकारका कहा है । उसमे द्रव्यमन पुद्गलविपाकी कर्मके उदयसे उत्पन्न होता है अर्थात् अगोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे वह उत्पन्न होता है । ज्ञानावरण कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म इनका क्षयोपशम होनेसे और अगोपागनाम कर्मका उदय होनेसे गुणदोषका विचार करना, स्मरण करना, किसी पदार्थके ऊपर एकाग्रचिन्तनयुक्त होना इत्यादि कार्यके तरफ जब आत्मा अभिमुख होता है, तब उसके ऊपर उपकार करनेवाले जो पुद्गल मनरूपसे परिणत होते हैं उनको द्रव्यमन कहते हैं। भावमन—नो इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम तथा वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेसे जो आत्मामे विशुद्धि प्रगट होती है उसे भावमन कहते है ॥ ५४–५६ ॥

जो जीव मनसे सहित है वे समनस्क कहे जाते है और जो जीव अमनस्क होते है उनको मन बिल्कुल उत्पन्नही नहीं होता । मनसहित जीवको सञ्ज्ञी कहते है और जिनको मन नहीं है उनको असंज्ञी कहते है ॥ ५७ ॥

अमनस्क जीवोमेभी स्थावर और त्रस ऐसे दो भेद है । एकेन्द्रिय ससारी जीव स्थावर नामकर्मके उदयसे स्थावर होते है और जिनको त्रसनाम कर्मका उदय होता है वे जीव त्रस कहे जाते है । वे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पचेन्द्रिय होते हैं ॥ ५८ ॥

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति ऐसे स्थावर जीव पाच प्रकारके है । ये सब मनरहित अनेक भेदयुक्त और क्रमयुक्त है । इनको एक स्पर्शनेन्द्रियही होता हैं ॥ ५९ ॥

पृथ्वी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक ऐसे तीन भेद पृथ्वीके होते है । इसी प्रकारसे सलिल, सलिलकाय और सलिलकायिक तेज, तेजस्काय और तेजस्कायिक, मारुत, मारुतकाय, मारुतकायिक; वनस्पति, वनस्पतिकाय वनस्पतिकायिक ऐसे पाच प्रकारके स्थावरोमे जल, अग्नि, वायु और वनस्पति प्रत्येकके तीन तीन भेद होते है, जो कि ऊपर बताये ह ॥ ६० ॥

जिसमें पृथ्वीनाम कर्मका उदय हुआ है परतु जिसने पृथिवीको शरीररूप धारण नहीं किया है उसको पृथ्वी कहते है ॥ ६१ ॥

पृथ्वीकायिकजीवेन यच्छरीरं विवर्जितम् । पृथ्वीकायस्तदेव स्यान्मृतमानुपकायवत् ॥ ६२
पृथ्वीकायः स यस्यास्ति स पृथ्वीकायिको मतः । इति सर्वेऽपि गीयन्ते परेऽप्यप्कायिकादयः ॥६३
सूक्ष्मवादरभेदेन पर्याप्तेतरतोऽपि वा । तथा साधरणत्वाच्च साधारणतया पुन' ॥ ६४
सर्वेऽप्यमी प्रजायन्ते स्थावराः स्थितिशालिनः । प्रत्येकं षट्प्रकाराश्च विचित्राकारसयुता ॥ ६५
तत्र त्रसाश्च विज्ञेयाः द्वीन्द्रियादय इत्यमी । सर्वेऽपि प्राणिन. प्राणैः सहिता हि भवन्ति च ॥ ६६
इन्द्रियायुर्मनोवाचा निश्वासोच्छ्वासविग्रहाः । दशप्राणा भवन्त्येते प्राणिप्राणित्वहेतव' ॥ ६७
चतुःप्राणैश्च जीवन्ति शरीरानायुरिन्द्रियैः । सर्वेऽप्येकेन्द्रिया जीवा वहुधा भेदशालिन. ॥ ६८

पृथ्वीकायिक जीवने जो शरीर छोड दिया उस शरीरको पृथिवीकाय कहते हैं । जैसे मृत मनुष्यका शरीर । वैसे पृथ्वीजीव जिसमेसे निकल गया उसे पृथ्वीकाय कहते है ॥ ६२ ॥

पृथ्वी जिसका शरीर है वह जीव पृथिवीकायिक है । जल जिसका शरीर है वह जलकायिक है । इत्यादि ॥ ६३ ॥

[जीवसमासकी अपेक्षासे स्थावरोके भेद ।] — ये पृथिव्यादि-स्थावर जीव सूक्ष्म और वादर ऐसे भेदसे दो दो प्रकारके होते है । पुन. उनके प्रत्येक और साधारण ऐसे दो दो भेद होते है । ये सब स्थावर स्थितिशाली है । इनके प्रत्येकके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद होनेसे छह प्रकार होते हैं और वे सब विचित्राकारवाले है । अर्थात् सूक्ष्मपर्याप्त पृथ्वी, बादरपर्याप्त पृथ्वी, सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वी, बादर अपर्याप्त पृथ्वी । ऐसेही जलादिके चार चार भेद होते है । वनस्पतिके साधारण और प्रत्येक मिलकर छह भेद होते है ॥ ६४—६५ ॥

द्वीन्द्रिय,त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवोको त्रस कहते है। जिनको स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय है, ऐसे शखादि जीवोको द्वीन्द्रिय कहते हैं । स्पर्शन, रसना और नाक जिनके होती हैं वे त्रीन्द्रिय जीव हैं । जैसे चीटी आदिक जीव है । स्पर्शन, रसना, नाक और आखे जिनको होती हैं ऐसे भ्रमर पतगादिक जीव चतुरिन्द्रिय है । स्पर्शन, रसना, नाक, आखे तथा कान ऐसी पाच इद्रिया जिनको हैं वे जीव पचेन्द्रिय हैं जैसे मनुष्य, गौ, भैस, कौवा, सर्प, देव, नारकी । इन सबको अर्थात् त्रस और स्थावर जीवोको प्राणी कहते है, क्योकि ये यथायोग्य प्राणोसे सहित होते हैं । प्राणोके दस भेद है, और वे प्राणित्वके हेतु हैं, अर्थात् उनसे प्राणी जीते है । वे प्राण इस प्रकार है—पाच इद्रिया, आयु, मन, वचन, शरीर और श्वासोच्छ्वास ऐसे दस प्राण हैं ॥ ६६—६७ ॥

[एकेन्द्रियादि जीवोके प्राणोका वर्णन ।] — एकेन्द्रिय जीव चार प्राणोसे जीते हैं । शरीरप्राण, श्वासोच्छ्वास, आयु और स्पर्शनेन्द्रिय ऐसे चार प्राण उनको होते हैं । सर्व एकेन्द्रिय जीव अनेक भेदोसे युक्त है । जैसे पृथ्वीके मृत्तिका, वालुका, शर्करादिक छव्वीस भेद हैं । जलके हिमविन्दु, शुद्धजल, घनजल आदि भेद है । ज्वाला, अगार आदि अग्निके भेद है । महावात, घनवात, तनुवात. मण्डली वायु आदिक वायुके भेद हैं । वनस्पतिके मूल, अग्र, पर्व, बीजरुह आदिक भेद हैं ॥ ६८ ॥

वाग्रसनेन्द्रियाभ्यां च चत्वारोऽप्यधिकाः पुनः । द्वीन्द्रियेषु प्रजायन्ते शंखाद्याश्च प्रमाणतः ॥ ६९
सप्तैव त्रीन्द्रियेष्वेते प्राणाधिकतया मताः । चक्षुषा सहिताश्चाष्टौ त एव चतुरिन्द्रिये ॥ ७०
पञ्चेन्द्रियस्य जीवस्य तिरश्चोऽसञ्ज्ञिनश्च ते । नव प्राणाः प्रजायन्ते श्रोत्राधिकतया सदा ॥ ७१
मनोऽधिकतया तेऽपि संज्ञिनो दश सम्मताः । प्राणाः प्राणभृतां प्रोक्ता दशैते संविभागतः ॥ ७२
इन्द्रियाणि तु पंचैव प्रोक्तानि जिननायकैः । स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमिति क्रमात् ॥ ७३
तानि द्वेधा भवन्त्येव द्रव्यभावप्रभेदतः । उपकारणनिर्वृत्ती द्रव्येन्द्रियमपि द्विधा ॥ ७४
यावन्निर्वर्त्यते तावत्कर्मणा सा द्विधा पुनः । बाह्याभ्यन्तरभेदेन निर्वृत्तिः कथ्यते बुधैः ॥ ७५
उत्सेधस्याङ्गुलासङ्ख्यविभागा[1] परमात्मनः । इन्द्रियत्वेन निर्वृत्ता निर्वृत्तिः सान्तरा मता ॥ ७६

द्वीन्द्रिय जीवको छह प्राण होते है–अर्थात् शरीरप्राण, श्वासोच्छ्वास, आयु, स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और वचन ऐसे छह प्राण होते है । शख आदिको द्वीन्द्रिय जीव कहते है ॥ ६९ ॥

त्रीन्द्रियोमे उपर्युक्त छह प्राण होते है तथा नाक अर्थात् घ्राणेन्द्रिय यह सातवा प्राण अधिक होता है । तथा चतुरिन्द्रिय जीवमे उपर्युक्त सात प्राणोसे अतिरिक्त ऑखेभी होती है अर्थात् आठ प्राण होते है ॥ ७० ॥

पचेन्द्रिय असज्ञी तिर्यंच जीवको उपर्युक्त आठ प्राणोके साथ श्रोत्रप्राण अर्थात् कान प्राण मिलकर नौ प्राण होते है। तथा नौ प्राणोसे सहित मन प्राण जिनको होता हैं वे सज्ञी पचेन्द्रिय जीव दस प्राणवाले होते है। ऐसे विभागके द्वारा दस प्राणोका विवेचन किया है ॥७१-७२॥

स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय ऐसी पांच इन्द्रियॉ क्रमसे जिनेश्वरने कही हैं ॥ ७३ ॥

[द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियोंका वर्णन ।] – वे पाच इन्द्रिया द्रव्येन्द्रियरूप और भावेन्द्रियरूप है । द्रव्येन्द्रियके उपकरण और निर्वृत्ति ऐसे दो भेद है । कर्मके द्वारा जो इन्द्रियोकी रचना होती है वह निर्वृत्ति कही जाती है । अर्थात् रचनाको निर्वृत्ति कहते है । उसकी अभ्यन्तर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति ऐसे दो भेद है । अर्थात् इन्द्रियोकी अन्दरकी रचना अभ्यन्तर निर्वृत्ति है और इन्द्रियोकी बाहरकी रचनाको बाह्य निर्वृत्ति कहना चाहिये ॥ ७४–७५ ॥

उत्सेधाङ्गुलके असख्येय भागसे प्रमित जो क्षयोपशमयुक्त आत्मप्रदेश है जो कि प्रतिनियत आख, कान, नाक आदि इन्द्रियोके आकारके हुए है उनको अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते है। उन आत्मप्रदेशोंके ऊपर इन्द्रिय नामका धारक ऐसा जो पुद्गलसमूह नामकर्मके द्वारा रचा जाता हैं, जो कि सपूर्ण आश्चर्यका कारण है उसे विद्वान् बाह्य निर्वृत्ति कहते है। जैसे नेत्रमे मसूरके आकार की

---

१ आ. ण्यत्र

तेष्वेवात्मप्रदेशेषु करणव्यपदेशभाक् । पुद्गलानां समूहो यो जायते नामकर्मणा ॥ ७७
निर्वृत्ति बाह्यरूपां तां समरताश्चर्यकारिणीम् । जानन्ति जनविख्याता ज्ञानध्यानधना जिनाः ॥७८
निर्वृत्तेः क्रियते येनोपकारस्तन्निगद्यते । द्वेधोपकरणं[1] प्राज्ञैर्बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ॥ ७९
कृष्णशुक्लद्वयोपेतं गोलकं चान्तरं मतम् । बाह्यं बाह्यप्रकाराक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादिकम् ॥ ८०
लब्ध्युपयोगरूपं च भावेन्द्रियमिदं पुनः । सर्वभावविभावज्ञा भावयन्ति भवातिगाः ॥ ८१
क्षयोपशमभावो यो ज्ञानावरणकर्मणः । लब्धिर्लब्धमहातत्त्वैर्भणिता भयवर्जितैः ॥ ८२
इन्द्रियाणां फलं यच्च परिच्छित्त्यात्मकं महत् । उपयोगः स विज्ञेयः सर्वसत्त्वसुखावहः ॥ ८३
इन्द्रियत्वं कथं तस्य घटनामुपढौकते । इन्द्रियाणां फलत्वेनोपयोगस्य समन्ततः ॥ ८४

गोल आत्मप्रदेशोकी जो रचना होती है उसे अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते है। ज्ञान और ध्यानही धन जिनका है ऐसे जनविख्यात जिनेश्वरोंने इस प्रकार अभ्यन्तर निर्वृत्तिका स्वरूप कहा है। मसूराकार आदि आत्मप्रदेशोपर नामकर्मसे पुद्गलोंकी जो प्रतिनियत आकारकी अवस्था उत्पन्न होती है, जो कि सूक्ष्म है, और जिसको इन्द्रिय कहते है उसे बाह्यनिर्वृत्ति कहना चाहिये॥ ७६—७७—७८ ॥

जिससे निर्वृत्तिके ऊपर उपकार किया जाता है—निर्वृत्तिका सरक्षण तथा सहाय किया जाता है उसे उपकरण कहते है। सुज्ञोने उसके बाह्योपकरण और अभ्यन्तरोपकरण ऐसे दो भेद कहे है। जैसे ऑखमे कृष्ण और शुक्लतासे युक्त जो अन्दरका गोलभाग है उसे अभ्यन्तरोपकरण कहना चाहिये। तथा बाह्य उपकरण नेत्रके बाह्यमे जो नीचे और ऊपरके विभाग तथा पक्ष्मद्वय आदिक है वे बाह्य उपकरण है। नेत्रके समान अन्य इद्रियोमेभी निर्वृत्ति और उपकरण समझ लेना चाहिये ॥ ७९—८० ॥

[भावेन्द्रियका वर्णन।] — जो ससाररहित है तथा सर्व पदार्थोके स्वभाव और विभावको जानते है ऐसे जिनेश्वर भावेन्द्रियको लब्धिरूप और उपयोगरूप कहते है। स्पर्शेन्द्रिय ज्ञानावरण, रसनेन्द्रियज्ञानावरण आदि ज्ञानावरण कर्मोके क्षयोपशमको जीवादि महातत्त्वोके ज्ञाता और भयरहित ऐसे जिनेश्वरोने 'लब्धि' कहा है। ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे आत्मा द्रव्येन्द्रियरूप रचना करनेकेलिये उद्युक्त होता है। यदि वह क्षयोपशम नहीं होगा तो द्रव्येन्द्रिय रचना, जो कि नेत्र, कान आदिकी दर्शक है, वह नहीं होगी। वस्तुको जाननेरूप जो इन्द्रियोका महत्त्वयुक्त फल है उसे उपयोग कहते है। यह उपयोग सर्व प्राणियोंको सुखावह है, क्योकि इससे सर्व प्राणी हित प्राप्त करते है और अहितसे निवृत्त होते है ॥ ८१—८२—८३ ॥

उपयोग सर्व प्रकारसे इन्द्रियोका फल है। इसलिये जो फलरूप होता है उसे इन्द्रिय कहना योग्य नहीं । उपयोगमे इन्द्रियपना घटित नही होता । इस शकाका आचार्यने ऐसा उत्तर

---

१ आ. द्विधा

नायं दोषो भवेद्यस्मात्कार्यकारणदर्शनात् । घटाकारपरिज्ञानं यथा घट इति स्फुटम् ॥ ८५
स्पर्शो रसस्तथा गन्धो वर्णः शब्दश्च पञ्चधा । तेषां विषय एवायं पदार्थेऽनन्तधर्मिणि ॥ ८६
ये पृथिव्यादयः कार्याः[1] स्थावराः कथिताः पुरा । सर्वेऽप्येकेन्द्रिया जीवाश्चतु प्राणा निरन्तराः ॥ ८७
अक्षः[2] कृमिजलौकाद्या विविधाकारधारिणः । द्वीन्द्रिया गदिता दक्षैर्भूरिशो भूरिपापिनः ॥ ८८
यूका मत्कुणपूर्वा ये वृश्चिकादय इत्यपि[3] । अनेकाकारसयुक्तास्त्रिहृषीकाः शरीरिणः ॥ ८९
मक्षिका भ्रमरा दंशा वहुधा दुःखभागिनः । पापवर्ग[4]भुजो दीना बोद्धव्याश्चतुरिन्द्रियाः ॥ ९०

दिया है–यह दोष नहीं है। कारणका जो धर्म है वह कार्यमे देखा जाता है जैसे घटाकार परिणत-ज्ञानको घट कहते है। अर्थात् ज्ञानके प्रति घट निमित्त कारण है और ज्ञान-कार्य इसलिये कारण धर्म घटत्वको कार्यरूप ज्ञानमे आरोपित कर ज्ञानकोभी घट कहते हैं। क्योकि घटको ज्ञानने जाना है। ग्राह्यको जाननेसे ग्राहककोभी उपचारसे ग्राह्य कहते है। इसमे स्वार्थकीभी मुख्यता है अर्थात् इद्रिय शब्दका जो अर्थ है वह उपयोगमे मुख्यतासे है। इद्रको--आत्माको पहचाननेका जो लिंग चिह्न उसको इद्रिय कहते है। ज्ञानसे आत्मा पहचाना जाता है, इसलिये ज्ञान--उपयोग यहा मुख्य स्वार्थ है। इसलिये उपयोगको इद्रिय कहना योग्यही है। उपयोग जीवका लक्षण है। ‘ उपयोगो लक्षणम् ’ ऐसा सूत्रकारका वचनभी है ॥ ८४–८५ ॥

जो जीवादिक पदार्थ अनत धर्मात्मक है उसके स्पर्श, रस, गध-वर्ण और शब्द ऐसे पाच इन्द्रियोके विषय है ॥ ८६ ॥

पूर्वमे पृथिवीकायादिक पाच प्रकारके स्थावर जीव कहे हैं। वे सब एकेन्द्रिय जीव है अर्थात् उनको एक स्पर्शनेन्द्रिय है। तथा स्पर्शनेद्रिय, आयु, श्वासोच्छ्वास और कायवल ऐसे चार प्राण निरतर रहते है ॥ ८७ ॥

कौडी, कृमी, जौंक आदिक प्राणी अनेक आकार धारण करनेवाले असख्यात द्वीन्द्रिय जीव है वे अतिशय पापयुक्त है। इनको स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय ऐसी दो इन्द्रिया होती है ॥ ८८ ॥

जू, खटमल, विच्छु आदिक अनेक आकारके धारक त्रीन्द्रिय प्राणी है। उनके स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय ऐसे तीन इद्रिया होती है ॥ ८९ ॥

मक्खी, भौरा, दश, मशक ये अनेक प्रकारके दु.ख भोगनेवाले जीव है। पापसमूहको अनुभवनेवाले है। इनको चतुरिन्द्रिय समझना चाहिये। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय ऐसी चार इन्द्रिया इनको होती है ॥ ९० ॥

---

१ आ. सर्वे २ आ. अक्ष ३ आ इत्यमी ४ आ. कर्म

शेषास्तिर्यङ्मनुष्याद्याः सुखदुःखैकभागिनः । शुभाशुभाशया[1] सर्वे सत्यं पञ्चेन्द्रिया मताः ॥ ९१
एकेन्द्रियेषु चत्वारः षट्पुनर्द्वीन्द्रियादिषु । पञ्चेन्द्रियेषु चत्वारः समासाः स्युश्चतुर्दश ॥ ९२
येऽपि[2] पञ्चेन्द्रिया जीवास्तेऽपि द्वेधा भवन्त्यमी । संज्ञ्यसंज्ञिविभेदेन पूर्णापूर्णतयाथवा ॥ ९३
कृत्याकृत्यविधौ ये च प्रवर्तन्ते तथा[3] पुनः । शिक्षोपदेशनालापैस्तत्र[4] संज्ञितया मता ॥ ९४
विपरीताश्च ये तेभ्यो भूरिपापभराकुलाः । असञ्ज्ञिनश्च ते सर्वे मनसा वर्जिता यतः ॥ ९५

इन जीवोके व्यतिरिक्त तिर्यंच मनुष्यादिक शेष जीव सुखदुःखके अनुभव करनेवाले होते है । इनके परिणाम शुभ और अशुभ होते है और इनके पाच इंद्रिया होती है । स्पर्शनेन्द्रिय रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय ऐसी पाच इन्द्रिया इन जीवोको होती है ॥९१॥

जीवसमासके चौदह भेद है । जिनकेद्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकारकी जाति जानी जाय उन धर्मोको अनेक पदार्थोका संग्रह करनेवाले होनेसे जीवसमास कहते है ऐसा समझना चाहिये । भावार्थ– उन धर्मविशेषोको जीवसमास कहते है, कि जिनकेद्वारा अनेक जीव अथवा जीवोकी अनेक जातियोका संग्रह किया जा सके । वे चौदह भेद इसप्रकार है– एकेन्द्रियोमे चार जीवसमास, द्वीन्द्रियादिकोमे छह जीवसमास और पचेन्द्रियोमे चार जीवसमास है । ये सब मिलकर जीवसमासके चौदह भेद है । एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त, एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त और एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त । द्वीन्द्रिय पर्याप्त, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त । त्रीन्द्रिय पर्याप्त, त्रीन्द्रिय अपर्याप्त । चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त । सञ्ज्ञी पर्याप्त, सञ्ज्ञी अपर्याप्त, असञ्ज्ञी पर्याप्त, असञ्ज्ञी अपर्याप्त ऐसे चौदह जीवसमास है ॥ ९२ ॥

[पचेन्द्रियके सञ्ज्ञी और असञ्ज्ञी ऐसे दो भेद ।]– जो भी पचेन्द्रिय जीव है, वे सभी सञ्ज्ञी और असञ्ज्ञी ऐसे दो प्रकारके है तथा उनके पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो दो भेद है ॥९३॥

जो जीव शिक्षा, उपदेश और आलापकेद्वारा यह कार्य करने योग्य है और यह कार्य करने योग्य नहीं है अर्थात् इसके करनेसे हित होगा और इसके करनेसे अहित होगा ऐसा विचार कर प्रवृत्ति निवृत्ति करते है वे सञ्ज्ञी माने जाते है । तात्पर्य– हितका ग्रहण और अहितका त्याग जिसकेद्वारा किया जाता है उसको शिक्षा कहते है । इच्छापूर्वक हाथपैरके चलानेको क्रिया कहते है । वचन अथवा चाबुक आदिकेद्वारा बताये हुए कर्तव्यको उपदेश कहते है और श्लोक आदिके पाठको आलाप कहते है ॥

इस सञ्ज्ञीके जो विपरीत है उन्हे असञ्ज्ञी कहना चाहिये । वे अतिशय पापके बोझसे पीडित हुए है, क्योकि वे मनसे वर्जित हुए है ॥ ९४–९५ ॥

१ आ. वशाः २ आ. तु आ ३ सदा ४ आ. स्तेऽत्र

आहारो विग्रहश्चेति मनोभाषेन्द्रियाणि च । निश्वासोच्छ्वास इत्येवं पर्याप्तय उदीरिताः ॥ ९६
अनिर्वर्तितपर्याप्ति प्रपन्ना ये शरीरिणः । अपूर्णास्तेऽत्र विज्ञेया. पूर्णास्तदितरे पुनः ॥ ९७
त्रसस्थावरभेदेन जीवग्रामो निवेदितः । द्विप्रकारः प्रकारज्ञैर्विविधागमपारगैः ॥ ९८

[छह पर्याप्तिया ।]– आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, मनःपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति, इंद्रियपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति ऐसी छह पर्याप्तिया कही है। जो शरीरपर्याप्तिको प्राप्त नहीं हुए है वे अपूर्ण अर्थात् अपर्याप्त जीव है। और जो शरीरपर्याप्तिको पूर्ण कर चुके है वे पूर्ण अर्थात् पर्याप्त हैं ॥ ९६–९७ ॥

विशेष स्पष्टीकरण– पर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त ऐसे जीवके तीन भेद है। जिनको पर्याप्ति नामक कर्मका उदय है ऐसे जीव जिनको जितनी पर्याप्तिया प्राप्त होनेकी योग्यता है, उतनी पर्याप्तिया उनको यदि प्राप्त हो गई हो, तो उनको पर्याप्त कहना चाहिये। पर्याप्त जीवके दो भेद हैं, एक पर्याप्त और दुसरे निर्वृत्त्यपर्याप्त। पर्याप्ति नामकर्मके उदयसे जबतक उसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है तबतक उसको पर्याप्त नहीं कहते है किन्तु निर्वृत्त्यपर्याप्त कहते है। अर्थात् इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन पर्याप्तियोके पूर्ण न होनेपरभी यदि शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो गई तो उस जीवको पर्याप्त कहना चाहिये किन्तु उससे पूर्व उसको निर्वृत्त्यपर्याप्त कहना चाहिये। अपर्याप्त नामक कर्मके उदयसे जीव लब्ध्यपर्याप्त होता है, उसको जितनी पर्याप्तिया प्राप्त होनी चाहिये उतनी कभीभी प्राप्त नहीं होती और वह शरीरपर्याप्तिकी पूर्णता होनेके पूर्वही भवान्तरमे चला जाता है। ऐसा पर्याप्तक, निर्वृत्त्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तकका स्वरूप कहा है॥

यहा पर्याप्तियोका स्वरूप कहते है – पूर्वशरीरको छोडकर नवीन शरीरको कारणभूत जिस नोकर्म वर्गणाको जीव ग्रहण करता है, उसको खलरस भाग रूप परिणमानेकेलिये जीवकी शक्तिके पूर्ण हो जानेको आहारपर्याप्ति कहते है।

खलभागको हड्डी आदि कठिन अवयवरूप और रसभागको रक्त आदि द्रवभागरूप परिणत करनेकी जीवकी शक्ति पूर्ण होना वह शरीरपर्याप्ति है।

उन नोकर्मवर्गणाके स्कधोमेसे कुछ वर्गणाओको अपनी अपनी इंद्रियस्थानपर द्रव्येन्द्रिय आकाररूप परिणमानेकी शक्तिकी पूर्णता होना इंद्रियपर्याप्ति है।

इसही प्रकार कुछ स्कधोको श्वासोच्छ्वासरूप परिणत करनेकी जीवकी शक्तिकी पूर्णता होना आनपान-श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।

वचनरूप होनेके योग्य पुद्गल स्कन्धोको (भाषावर्गणाको) वचनरूप परिणत करनेकी आत्मशक्तिकी पूर्णता होना भाषा पर्याप्ति है।

भव्याभव्यविभेदेन जीवराशिर्द्विधा भवेत् । पारिणामिकभावौ हि तावेतावस्य सम्मतौ ॥ ९९
पारिणामिकता तावदनयोरस्वभावतः । कर्मणा जनितो भावः पुनरौदयिको मतः ॥ १००
सद्रत्नत्रयभावेन जीवो योऽत्र भविष्यति । स भव्य इति सूत्रज्ञैर्ज्ञापितो ज्ञानशालिभिः ॥ १०१
सम्यग्दर्शनसंज्ञानसच्चरित्रस्वभावभाक् । न भविष्यति चाभव्योऽनन्तसंसारवानयम् ॥ १०२

द्रव्यमनरूप होनेके योग्य मनोवर्गणाको द्रव्यमनके आकाररूप परिणत करनेकी जीव-शक्तिकी पूर्णता होना मन.पर्याप्ति है।

एकेन्द्रिय जीवको आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इद्रियपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति ऐसी चार पर्याप्तिया होती है। द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपचेन्द्रियतक पूर्वकी चार और भाषा ऐसी पाच पर्याप्तियाँ होती हैं। तथा सज्ञी पर्याप्तकको पूर्व पांच पर्याप्तियोके साथ मन.पर्याप्ति प्राप्त होती है अर्थात् छहो पर्याप्तिया सज्ञीको होती हैं॥

विविध आगमोके पारगामी और अनेक जीवप्रकारोको जाननेवाले आचार्योने त्रस और स्थावर भेदसे दोप्रकारके जीव कहे है ॥ ९८ ॥

[भव्य और अभव्यका वर्णन ।] — भव्य और अभव्यके भेदसे जीवराशि दो प्रकारकी है। इस जीवराशिके ये दो भेद परिणामिक भाववाले है। जिस भावको द्रव्यका निजस्वरूपही कारण है अर्थात् द्रव्यका अपने स्वरूपमे रहना पारिणामिक भाव है। इस भावकी द्रव्यमे अनादि निधनता है अर्थात् यह भाव कर्मोका उपशम, उदय, क्षय और क्षयोपशम होकर उत्पन्न नहीं होता है, यह भाव वस्तुका निजस्वरूप है। जगत्मे कोई जीव भव्यही है और कोई जीव अभव्यही है। ऐसा स्वभाव तर्कके अगोचर है। इसमे तर्क करना व्यर्थ है ॥ ९९ ॥

चैतन्यस्वभाव जैसा पारिणामिक है, उसमे कर्मोदयादि कारण नहीं है, वैसा भव्यत्व-भाव और अभव्यत्वभाव पारिणामिक है। जो भाव कर्मसे उत्पन्न होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं ॥ १०० ॥

जीवराशिमेसे जो जीव उत्तम निर्दोष रत्नत्रयभाव इस ससारमे धारण करेगा वह भव्य है, ऐसा ज्ञानवान सूत्र जाननेवाले उमास्वामी आदि आचार्योने कहा है ॥ १०१ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सच्चारित्र ऐसा रत्नत्रय स्वभाव जो जीव नही धारण करता रत्नत्रयरूप स्वभावको जो नहीं धारण करेगा वह अभव्य है, और वह अनन्तससारवानही होता है ॥ १०२ ॥

१ आ त्व २ कर्मणो

नामतो द्रव्यतो वापि स्थापनायाश्च भावत. । चतुर्धा जायते न्यासो जीवतत्त्वस्य तत्त्वतः ॥१०३
अजीवनगुणोपेतं यत्किञ्चिद्वस्तु विद्यते । तत्रापि जीवनाम्ना स्यान्नामजीवो विभावितः ॥ १०४
काष्ठपुस्त¹सुचित्रादिरूपेणासौ प्रकल्पितः । स एवायमिति व्यक्तं स्थापनाजीव इष्यते ॥ १०५
जीवनादिगुणोपेतं यद्द्रव्यं पारमार्थिकम् । यस्तदात्मा भवेन्नित्यं द्रव्यजीवः स सम्मत. ॥ १०६
वर्तमानस्वपर्यायस्थितिमानेष कथ्यते । भावजीव इति प्राज्ञैः प्रदिष्टाशेषदर्शनैः ॥ १०७

विशेष स्पष्टीकरण – कितनेही भव्य ऐसे है, कि जो मुक्तिप्राप्तिके योग्य है परन्तु कभी मुक्त न होगे । जैसे वन्ध्यापनेके दोषसे रहित विधवा सती स्त्रीमे पुत्र प्राप्त होनेकी योग्यता है परन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न न होगा । कोई भव्य ऐसे है, कि जिनको नियमसे मुक्ति प्राप्त होगी जैसे वन्ध्यात्वदोषसे रहित स्त्रीको निमित्त मिलानेपर पुत्रोत्पत्ति होगी । इन दोनो स्वभावोसे जो रहित है उनको अभव्य कहते है जैसे वन्ध्या स्त्रीको निमित्त मिलनेपरभी पुत्र उत्पन्न नही हो सकता है ।

[नामादि निक्षेपोसे जीवके चार भेद है ।] – नामसे, स्थापनासे, द्रव्यसे और भावसे जीवतत्त्वका यथार्थतया चार प्रकारका न्यास होता है । जीवकी चार प्रकारकी व्यवस्था होती है ॥ १०३ ॥

[नामजीव ।] – जीवनगुण जिसमे नहीं है ऐसी जो कोईभी वस्तु है, उसमेभी जीव ऐसी सज्ञासे जीवत्व है । उसमे कुछ जीवनक्रिया नहीं है वह वस्तु नामजीव मानी जाती है ।

[स्थापना जीव] –काष्ट, पुस्त, धातु आदिकमे चित्रादिरूपसे जो कल्पित करके वही यह है ऐसी जो स्थापना की जाती है उसे स्थापनाजीव कहते है ॥ १०५ ॥

[द्रव्यजीव और भावजीव] – जीवन आदिक गुणोसे जो द्रव्य युक्त है, वह परमार्थसे द्रव्यजीव है और इस ससारमे सदा उसी स्वरूपमे वह दिखता है । यहा सक्षेपसे उसका स्वरूप कहा है । जीवनपर्याय मनुष्य–जीवनपर्यायसे परिणत जीवको भावजीव कहते है । सामान्यकी अपेक्षासे जीवनसामान्य हमेशाही विद्यमान है वह जीवन कभी है और कभी नही है ऐसा नहीं । इसलिये विशेषकी अपेक्षासे गत्यन्तरमे जीव स्थित है, वह मनुष्यभवप्राप्तिके सम्मुख या पशु आदि भवकी प्राप्तिके सम्मुख जब होता है तब भविष्यत्की अपेक्षा करके वर्तमानकालमे उसे द्रव्यजीव कहते है और भावजीव हमेशाही जीवनक्रिया होनेसे माना जाता है ॥ १०६ ॥

सम्पूर्ण दर्शनोका स्वरूप कहनेवाले विद्वानोने वर्तमानकालमे जो अपनी पर्याय धारण करना है उसे भावजीव कहा है अर्थात् वर्तमानमें मनुष्यादि पर्यायवाला जीव भावजीव है ॥ १०७ ॥

---

१ आ. पत्र

विग्रहग्रहणायास्य प्रवृत्तौ गतिकारणम् । तत्कार्मणं शरीरं स्यात्सर्वेषां बीजमादिमम् ॥ १०८
योगो वा वाङ्मनःकायसद्व्यापारैकलक्षण' । तद्गतौ कारणत्वेन निश्चिन्वन्ति विपश्चितः ॥ १०९
जीवानां पुद्गलानां च लोकाकाशैकवर्तिनाम् । अनुश्रेणिगतिर्ज्ञेया गतिज्ञानं जिघृक्षुभिः ॥ ११०
एवं चेद्भास्करादीनां कथं विश्रेणिका गतिः । नैष दोषः क्वचिन्मृत्योः कालदेशाद्यपेक्षणात् ॥ १११
गतिर्मुक्तस्य जीवस्य कौटिल्येन विवर्जिता । कारणाभावत कार्यं किं क्वापि व्यवतिष्ठते ॥ ११२

[कार्मणशरीर ।]– पूर्वशरीर छोडकर जब आत्मा उत्तरशरीर ग्रहण करनेकेलिये प्रवृत्ति करता है तब उसको भवान्तरकेलिये गति करनेमे जो कारण होता है, उसे आचार्य कार्मणशरीर कहते है। यह शरीर औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरकी उत्पत्तिमे मूल कारण है। तथा यह सब शरीरोमे पहिला है। इसके न होनेपर सर्व शरीरोकी उत्पत्ति नही होगी, इसके होनेसेही औदारिकादि शरीरोकी प्राप्ति होती है ॥ १०८ ॥

[जीवकी प्रवृत्तिमे योग कारण है।]– वचन, मन और शरीरकी जो हालचाल होती है उसे योग कहते है। यही योगका लक्षण है। जीवकी एकस्थानसे दूसरे स्थानमे जो गति होती है, उसमे विद्वान लोग योगको कारणरूपतासे निश्चित करते है ॥ १०९ ॥

[अनुश्रेणि गतिका स्वरूप।]– लोकाकाशमे रहनेवाले जीव और पुद्गलोकी गति अनुश्रेणि होती है ऐसा गतिज्ञानको ग्रहण करनेकी इच्छा रखनेवालोको जानना चाहिये। शंका— जीव और पुद्गलोकी यदि आकाशप्रदेशोको अनुसरण करके गति होती है, तो सूर्य, चन्द्र विद्याधरादिकोकी विश्रेणि गति क्यो होती है ? अर्थात् तिरछी और विदिशा आदिमे क्यो होती है ? आचार्य कहते है कि यह दोष नहीं है। यहा मृत्युके समयमे कालदेशादिकी अपेक्षासे अनुश्रेणि गति जीव पुद्गलोकी कही है। जीव जब मरते है, तब भवान्तरमे जाते समय उनकी अनुश्रेणि गति होती है। अर्थात् नीचेसे--अधोलोकसे सीधे ऊपर ऊर्ध्वलोकमे, ऊपरसे सीधे नीचे, पूर्वसे पश्चिम, पश्चिमसे पूर्व, दक्षिणसे उत्तर और उत्तरसे दक्षिणमे ऐसी गति होती हैं और उसको अनुश्रेणि गति कहते है। यह कालकी अपेक्षा जीवोकी भवान्तर गति कही है। मुक्तोकी उर्ध्वगमनकालमे नियमसे अनुश्रेणि गतिही होती है। पुद्गलोको जो लोकके अन्ततक ले जानेवाली गति होती है वहभी अनुश्रेणिही होती है। इससे भिन्न कालमे जो गति होती है, वह अनेक प्रकारकी होती है॥११०-१११॥

[मुक्तजीवकी गतिका स्वरूप।] – मुक्तजीवकी गति टेढीमेढी न होकर सीधीही होती है। टेढीमेढी गति होनेका जो कारण होता है वह उनकी गतिमे नहीं होनेसे वह सीधी होती है। कार्मणशरीर गतिको-भवान्तरकी गतिको ले जाता था वह अब नहीं रहा अर्थात् कारणके अभावमे क्या कहा कुछ कार्य ठहर सकता है ? अपि तु नहीं ॥ ११२ ॥

प्राक्चतुर्भ्यो भवत्येषा जीवस्येह सविग्रहात्[1]। गतिः संसारिणः सत्यं विग्रहाय प्रवर्तिता[2] ॥ ११३
निष्कुटक्षेत्रमुत्पित्सोः समुद्घातान्प्रकुर्वतः। तथा गतिश्चतुर्थेऽस्य समयेऽविग्रहा हि सा ॥ ११४
एकं वा समयं जन्तुर्द्वौ वा त्रीन्वा विवर्जितः। आहारेण प्रवृत्तोऽसौ देहान्तरमनन्तरम् ॥ ११५
नवमूर्त्यन्तरं तस्य मूर्च्छनातः प्रजायते। गर्भादथोपपादाद्वा विचित्रं चात्र कारणम्[3] ॥ ११६
सचित्ताचित्तशीतोष्णाः संवृता विवृतास्तथा[4]। मिश्राश्च योनयो ज्ञेया नवेति भविनामिह ॥ ११७

[विग्रहगतिका काल।] — चार समयके पूर्वमे संसारी जीवकी गति विग्रहसहित होती हैं अर्थात् मोडेवाली होती है। और वह विग्रहके–शरीरके लिये होती है। निष्कुट क्षेत्रमे जो जीव उत्पन्न होनेवाला है उसकी गति निष्कुटक्षेत्रतक सरल आकाशप्रदेश नहीं होनेसे इषुके बाणके समान सरलगति न होनेसे उस क्षेत्रको लेजानेकेलिये तीन मोडेकी गतिको प्रारभ करता है। इसके ऊपर चार मोडेवाली, पाच मोडेवाली गति नहीं होती है, क्योकि इतने मोडे लेनेकेलिये क्षेत्रही नहीं है ॥ ११३–११४ ॥

एक समय, दो समय और तीन समयमें यह प्राणी तीन शरीर-औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरोको और आहारादि छह पर्याप्तियोको ग्रहण करने योग्य ऐसा आहार ग्रहण नहीं करता। और चौथे समयमे देहकी रचनाकेलिये आहारक होता है अर्थात् शरीर निर्माणयोग्य पुद्गलवर्गणाओको ग्रहण करता है ॥ ११५ ॥

[जन्मके तीन प्रकार।] — जीवका शरीर मूर्च्छनासे या गर्भसे और उपपादसे होता है, क्योकि इसके कारण विचित्र हैं। देवोका शरीर उपपादशिलासे होता है और नारकियोके शरीर नरकबिलमे उत्पन्न होते है। मनुष्य और पशुओका शरीर गर्भसे उत्पन्न होता है। तथा एकेन्द्रियादि जीवोका शरीर सम्मूर्च्छनासे होता है।अर्थात् मातापिताके रजवीर्यकी अपेक्षाकेविना चारो तरफके स्कधोका आकर्षण करके उनके शरीरकी अवयवरचना होती है ॥ ११६ ॥

[जीवके जन्मके आधारभूत योनियोंका वर्णन।] — सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, सवृत, विवृत और मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और सवृतविवृत ऐसे योनियोके नौ भेद हैं। जीवोत्पत्तिके चैतन्ययुक्त स्थानको सचित्तयोनि कहते है। जिस जन्मस्थानके प्रदेश अदृश्य होते हैं अर्थात् नहीं दिखते है उसको सवृतयोनि कहते है। जिस जीवोत्पत्तिका स्थान ठडा होता है उसे शीतयोनि कहते हैं। इसके उलट स्वभावके जन्मस्थानोको अचित्त, विवृत और उष्णयोनि कहते है तथा जिनमे मिश्र स्वभाव रहता है उनको सचित्ताचित्त, संवृतविवृत और शीतोष्ण योनि कहते हैं। ऐसे गुणयोनियोके नौ भेद कहे है। ये योनियाँ जीवोके जन्मस्थान हैं ॥ ११७ ॥

---

१ आ. सविग्रहा २ आ. प्रवर्तिनः ३ आ. विचित्राश्चर्यकारणम् ४ सवृताऽ-संवृतास्तथा

अचित्तयोनिजाः सर्वे जीवा ये नारकामराः । विमिश्रयोनयोऽनन्ता गर्भजा प्राणिनो मता ॥११८
सम्मूर्च्छिनः परे सर्वे सर्वयोनिभवा पुन । भवन्ति भविनो नित्यं विचित्राकारधारिणः ॥ ११९
नानाकारविकाराणां मनुष्याणां चतुर्दश । योनिलक्षा मतास्तज्ज्ञैर्ज्ञानदर्शनशालिभि. ॥ १२०
दुष्टकर्मभवानेकदुःखदौर्गत्यशालिनाम् । नारकाणां हि ते लक्षाश्चत्वारो गदिता जिनै ॥ १२१
देवानां दिव्यवृत्तीनां विचित्राकारधारिणाम् । लक्षाश्चत्वार इत्येवं योनीनां योजिता बुधै ॥ १२२
वधबंधक्षुधातृष्णाशीतवातादिगोचरम् । तिरश्चां भुञ्जतां दुःखं लक्षाश्चत्वार एव ते[1] ॥ १२३
विकलेन्द्रियजीवानां भूरिपापपरात्मनाम् । सर्वेषां योनयो लक्षाः षडेव परिकीर्तिताः ॥ १२४

[तत्तद्योनिज जीवोका वर्णन ।] — जो नारकी और देव है, वे जीव अचित्तयोनियोंसे उत्पन्न होते है । अर्थात् उनके उत्पत्तिस्थान उपपादप्रदेश है और वे अचित्त-अचेतन हैं । जो गर्भज जीव है वे मिश्रयोनिके है, क्योकि उनके माताके उदरमें शुक्र और शोणित-रक्त अचित्त हैं और माताके आत्मासे मिश्रण होनेसे वह योनिस्थान सचित्ताचित्त है । किंवा जिस माताके उदरमे शुक्र शोणित पडा है वह उदरस्थान सचित्त है । इसलिये गर्भज जीव सचित्ताचित्त योनिज हैं । इन जीवोसे भिन्न अर्थात् सर्व सम्मूर्च्छिन जीव तीन प्रकारके योनियोसे उत्पन्न होते है । अर्थात् कोई सचित्त योनिके है, कोई अचित्त योनिके है और कोई सचित्ताचित्त योनिके है । साधारण शरीरवाले सम्मूर्च्छिन जीव सचित्त है क्योकि वे अन्योन्यके आश्रयसे उत्पन्न होते है । कोई सम्मूर्छनज जीव अचित्त योनिसे उत्पन्न होते है । तथा कोई मिश्रयोनिके होते है । इसप्रकार इस ससारमे जीव नाना आकारोंको धारण करनेवाले है ॥ ११८–११९ ॥

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे शोभते है, ऐसे तज्ज्ञ लोगोने नाना आकार और विकारोको धारण करनेवाले मनुष्योकी चौदह लक्ष योनियाँ मानी है ॥ १२० ॥

अशुभनाम, अशुभगोत्र, असातवेदनीयादि कर्मोके उदयसे अनेक दु ख दारिद्र्यसे युक्त ऐसे नारकियोकी चार लक्ष योनियाँ है ऐसा जिनेश्वरोने कहा है ॥ १२१ ॥

अणिमामहिमादिक ऋद्धियोके धारक तथा नाना प्रकारके आकारोको धारण करनेवाले देवोकी योनिसख्या विद्वानोने चार लक्ष कही है ॥ १२२ ॥

वध, बध, भूख, प्यास, ठडी, हवा, उष्णता इत्यादिसे उत्पन्न हुआ दु ख भोगनेवाले तिर्यंचोकी चार लक्ष योनियाँ है ॥ १२३ ॥

तीव्र पापयुक्त जिनका आत्मा है ऐसे सपूर्ण विकलेन्द्रिय जीवोकी छह लक्ष योनियाँ कही है ॥ १२४ ॥

---

१ आ. ताः

पृथिवीकायिकानां हि जीवानां जितकल्मषैः । योनयः कथिता देवैः सप्तलक्षप्रमाणतः ॥ १२५
घोरमिथ्यात्वसंभूतभवभावविवर्तिनाम् । मतास्तावन्त एवामी योनयो जलकायिनाम् ॥ १२६
तेजःकायभृतां तावत् तावन्तः परिकीर्तिताः । योनयो जितमात्सर्यैराराध्यैः पूर्वसूरिभिः ॥ १२७
वातकायिकजीवानां कर्मपाकहतात्मनाम् । योनीनां सप्तलक्षाणि प्रवक्ष्यन्ते विचक्षणैः ॥ १२८
नित्यं निगोदजीवानां नारकेभ्योऽतिवर्तिनाम् । योनीनां सप्तलक्षाश्च भवन्ति भववर्तिनाम् ॥ १२९
तथेतरनिगोतानां अनन्तासातवर्तिनाम् । गीयन्ते योनयो नित्यं मुनिभिः सूत्रवेदिभिः ॥ १३०
भूरुहाणामनन्तानां योनयो गदिता जिनैः । दशलक्षा[1] प्रमाणेन प्रमाणनयनायकैः ॥ १३१
सर्वे सम्मिलिता गीता योनयो भववर्तिनाम् । जीवानां सर्वलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा ॥ १३२
द्वाविंशतिस्तथा सप्त त्रयः सप्त ततः पुनः । पृथ्वीदकाग्निवातानां कुलानां कोटिलक्षकाः ॥ १३३

जिन्होने पापनाश किया है, ऐसे गणधरदेवोने पृथिवीकायिक जीवोकी योनियाँ सात लक्ष कही हैं ॥ १२५ ॥

घोर मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुए सासारिक–भावोसे ससारमे घूमनेवाले जलकायिकजीवोकी योनिसख्या सात लक्ष है ॥ १२६ ॥

जिन्होने मत्सरभावोको जीत लिया है और जो भव्योके आराध्य है ऐसे पूर्वसूरियोने तेजस्कायिक जीवोंकी योनिसंख्या सात लक्ष कही है ॥ १२७ ॥

अशुभ कर्मोदयसे जिनकी आत्मा मारी गयी है ऐसे वातकायिक जीवोकी योनिसख्या विचक्षण-चतुर आचार्य सात लक्ष कहते है ॥ १२८ ॥

नारकियोसेभी अतिशय दु खी और भवमे घूमनेवाले नित्यनिगोदी जीवोकी योनियाँ सात लक्ष है ॥ १२९ ॥

अनत दु खोसे व्याकुल ऐसे इतर निगोदी जीवोकी योनिसख्या सूत्रज्ञ मुनियोने हमेशा सात लक्ष प्रमाण कही है ॥ १३० ॥

प्रमाणनयोंके नायक ऐसे जिनेश्वरोने अनत वनस्पतियोकी योनिसख्या दस लक्ष कही है ॥ १३१ ॥

ससारमे घूमनेवाले सपूर्ण जीवोकी कुल योनिसख्या चौरासी लक्ष होती है ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है ॥ १३२ ॥

[कुलोंकी संख्या कहते हैं ।] – पृथिवीकायिक जीवोकी कुलसंख्या बाईस कोटि लक्ष है । जलकायिक जीवोंकी सात लक्ष कोटि है । अग्निकायिक जीवोकी तीन लक्ष कोटि है और वातकायिकोंकी कुलसख्या सात लक्ष कोटि है ॥ १३३ ॥

---

[1] १ समलक्षाः

कोटिलक्षाः कुलान्याहुः सप्ताष्टौ च तथा नव । तदष्टाविंशतिर्द्वित्रिचतुरिन्द्रियवीरुधाम् ॥ १३४
कोटिलक्षाः कुलानां हि सममर्द्धैस्त्रयोदश । द्वादशापि दश प्रोक्ता जन्मिनां जितकल्मषैः ॥ १३५
जलजानां तथा वीनां चतुःपदे[1]युतात्मनाम् । उरसा सर्पतां तावन्नवैवैते यथाक्रमम् ॥ १३६
कुलानि[2] लक्षकोटीनां देवनैरयिकनृणां । षड्विंशतिस्तथा पंचविंशतिश्च चतुर्दश ॥ १३७
कुलानां[3] लक्षकोटीनां सर्वसंख्या जिनेश्वरैः । अर्द्धाधिकशतेनोक्ता नवतिर्नवसंयुता ॥ १३८
खरादिपृथिवीकायजीवानामायुरुत्तमम् । द्वाविंशतिसहस्राणां वर्षाणामृषिभिर्मतम् ॥ १३९
परेषां पृथिवीकायजीवानां पुनरुत्तमं । वर्षाणां द्वादशैवायुःसहस्राणि समन्ततः ॥ १४०
सप्तवर्षसहस्राणि जीवन्त्यप्कायवर्तिनः । जीवाः प्रकर्षतः सर्वे विचित्राश्चर्यकारिणः ॥ १४१
तेजःकायभृतः सर्वे जीवन्त्युत्तममानतः । दिनत्रयं त्रयाधीशाः कथयन्ति जिनेश्वराः ॥ १४२

द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और वनस्पति इन जीवोंकी कुलसंख्या क्रमसे सात कोटि लक्ष, आठ कोटि लक्ष, नौ कोटि लक्ष और अठाईस कोटि लक्ष कही है ॥ १३४ ॥

जलचर प्राणियोंकी कुलसंख्या साडेबारह लक्ष कोटि है। पक्षियोंकी कुलसंख्या बारह लक्ष कोटि है। चतुष्पद प्राणियोंकी कुलसंख्या दस लक्ष कोटि है और छातीसे चलनेवाले साप आदि प्राणियोंकी कुलसंख्या नौ कोटि लक्ष है ॥ १३५–१३६ ॥

[देव, नारकी और मनुष्योंकी कुलसंख्या ।] — देवोंकी कुलसंख्या छब्बीस कोटि लक्ष है। नारकियोंकी कुलसंख्या पच्चीस कोटि लक्ष है और मनुष्योंकी कुलसंख्या चौदह कोटि लक्ष है ॥ १३७ ॥

संपूर्ण जीवोंकी कुलसंख्याका प्रमाण एकसौ साठ निन्याणवे लक्ष कोटि है ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है। कुल–शरीरके भेदको कारणभूत नोकर्मवर्गणाके भेदको कुल कहते हैं ॥ १३८ ॥

[जीवोंकी आयुका वर्णन ।] — ऋषियोंने खरपृथिवीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बावीस हजार वर्षोंकी कही है ॥ १३९ ॥

शुद्ध पृथिवीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्षोंकी है ॥ १४० ॥

जलकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्षोंकी है। ये सब जलकायिक जीव विचित्र आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले होते हैं ॥ १४१ ॥

संपूर्ण तेजःकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन दिनोंकी है ऐसे रत्नत्रयके स्वामी जिनेश्वर कहते हैं ॥ १४२ ॥

---

१ आ. चतुःपादवतामतः, २–३ आ. कुलानि, कुलाना इति श्लोकद्वय आ प्रत्यन्तरे नास्ति

त्रीणि वर्षसहस्राणि परमं वातकायिनाम् । आयुर्भवति जीवानां दुर्गदुर्गतिवर्तिनाम् ॥ १४३
दशवर्षसहस्राणि परमायुः प्रकाशितम् । भूरुहाणां जिनाधीशैर्नानाभावविवर्तिनाम् ॥ १४४
द्वादशैव तु वर्षाणि प्रकृष्टं द्वीन्द्रियेषु तत् । एकेनोना च पञ्चाशत्त्रीन्द्रियेष्वायुरुत्तमम् ॥ १४५
चतुरिन्द्रियजीवानां षण्मासा ह्यायुरुत्तमम् । कर्मभूमिनरादीनां पूर्वकोटी तदुत्तमम् ॥ १४६

(जीवानां देहमानम् ।)

पञ्चेन्द्रियस्य जीवस्य देहमानं निगद्यते । योजनानां सहस्रैकमुत्कर्षेण जिनागमे ॥ १४७
तदेवाधिकमाख्यातं मानमेकेन्द्रिये पुनः । द्वीन्द्रिये द्वादशैवेदं योजनान्युत्तमं मतम् ॥ १४८
क्रोशत्रयप्रमाणं च शरीरं त्रीन्द्रिये परम । चतुरिन्द्रियजीवानां एकयोजनमुत्तमम् ॥ १४९

दुःखदायक दुर्गतिमे रहनेवाले वातकायिक जीवोकी उत्तम आयु तीन हजार वर्षोकी है ॥ १४३ ॥

अनेक भवोमे घूमनेवाली वनस्पतियोकी उत्कृष्ट आयु जिनेश्वरोने दस हजार वर्षकी प्रकाशित की है ॥ १४४ ॥

द्वीन्द्रिय जीवोकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्षोंकी कही है । और त्रीन्द्रिय जीवोकी उत्कृष्ट आयु उनचास दिनोंकी कही है ॥ १४५ ॥

चतुरिन्द्रियजीवोकी उत्कृष्ट आयु छह महिनोकी कही है और कर्मभूमिके मनुष्य आदि-कोकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटीकी कही है ॥ १४६ ॥

[जीवोकी देहावगाहना ।]– पचेन्द्रियजीवकी देहावगाहना जिनागममे उत्कर्षसे एक हजार योजनोकी कही है। एकेन्द्रियकीभी अवगाहना साधिकसहस्र है । भावार्थ– स्वयभूरमण समुद्रमे स्थित महामत्स्यकी अवगाहना एक हजार योजनोकी है। तथा एकेन्द्रिय कमलकीभी अवगाहना महामत्स्यके समान एक हजार योजनकीही है । द्वीन्द्रियजीवोमे शखकी उत्तम अवगाहना बारह योजनोकी कही है ॥ १४६–१४७ ॥

त्रीन्द्रियजीवोमे उत्तम अवगाहना ग्रैष्मी (चीटीकी) तीन कोश प्रमाणकी कही है। और चतुरिन्द्रिय जीवकी उत्तम अवगाहना एक योजन प्रमाणकी कही है ॥ १४८ ॥

[गर्भादिजन्मधारि जीवोका वर्णन ।]– पोत, अण्डज और जरायुज ये सब जीव गर्भ-जही होते है। तथा देव और नारकी ये सब जीव औपपादिक देहवालेही होते है । पोत– जिनके ऊपर जालके समान वेष्टन नहीं होता है, जो परिपूर्ण अवयववाले योनिसे निकलतेही चलते फिरते हैं, ऐसे प्राणियोको पोत कहते है। जरायुज–जालके समान जो प्राणियोके ऊपर चर्मका वेष्टन रहता है उसको जरायु कहते है। ऐसे जरायुसे जिनका जन्म होता है वे जरायुज प्राणी है जैसे मनुष्य आदि।

---

१ परतु गोम्मटसारमें सपूर्ण जीवोंकी कुलसंख्या एक कोडाकोडी सत्ताणवे लक्ष तथा पचास हजार कोटि कही है।

भवन्ति गर्भजाः सर्वे पोताण्डजजरायुजाः। औपपादिकदेहाश्च देवनारकयोनिजा ॥ १५०
शेषाः सम्मूर्च्छिनो जीवा भूरिपापपरायणाः। गदिता विविधाकारा बहुदुःखोपजीविन ॥ १५१
वपुर्गतीन्द्रियज्ञानक्रोधाहारसुसंयमाः। वेदभव्यत्वसम्यक्त्वलेश्येक्षायोगसञ्ज्ञिन. ॥ १५२
जीवा यासु च मार्ग्यन्ते मार्गणा विधिकोविदैः। ता इमा मार्गणा ज्ञेया विचित्रक्रमसयुता ॥ १५३
वपुः शरीरमाख्यातं तच्च पञ्चविधं बुधैः। जीवाधारमिदं तस्मान्निगदामि यथाक्रमम् ॥ १५४
औदारिकमिदं रम्यं[1] तथा वैक्रियिकं पुनः। आहारकमिहाख्यातं[2] तैजसं कार्मणं महत्[3] ॥ १५५

अण्डज—जो प्राणी अण्डोसे उत्पन्न होते है, उनको अण्डज कहते है जैसे पक्षी। उपपाद शिलापर देव अकस्मात् अन्तर्मुहूर्तमे तरुणके समान षोडश अलकारोसहित उत्पन्न होते है। तथा नारकी नरकबिलोमे अन्तर्मुहूर्तमे उत्पन्न होते है। ये देव नारकी औपपादिक देहवाले कहे जाते है ॥ १४९–१५० ॥

सम्मूर्च्छिन जीव अतिशय पापोमे तत्पर रहते है। ये सम्मूर्छिन जीव मातापिताके रक्तवीर्यके बिना उत्पन्न होते है। तीनो लोकोमे ऊपर नीचे और चारो तरफसे जिनके अवयवोकी रचना होती है, उनको सम्मूर्च्छन कहते है। ये जीव अनेक आकारवाले और बडे दु.खसे उपजीविका करनेमे तत्पर होते है ॥ १५१ ॥

[मार्गणाओके नाम और लक्षण।]— शरीर— कायमार्गणा, गति, इन्द्रिय, ज्ञान, क्रोध, आहार, सुसयम, वेद, भव्यत्व, सम्यक्त्व, लेश्या, दर्शन, योग और सज्ञी ये चौदह मार्गणाये है ॥ १५२ ॥

कर्मस्वरूप जाननेवाले विद्वानोकेद्वारा जीव जिनमे ढूढे जाते है उनको मार्गणा कहते है, वे मार्गणाये अनेक क्रमसे युक्त है ॥ १५३ ॥

[औदारिकादि पाच शरीरोका वर्णन।]— शरीरको वपु कहते है और विद्वानोने उसके पाच भेद बताये है। यह शरीर जीवका आधार होनेसे मै इसका यथाक्रम वर्णन करता हू ॥ १५४ ॥

औदारिक, तथा रम्यवैक्रियिक, पुनः आहारक और तैजस तथा महान् कार्माण ऐसे पाच प्रकारके शरीर कहे है। उदारका अर्थ स्थूल है अर्थात् जो शरीर स्थूल है उसको औदारिक कहते है। यह शरीर मनुष्य और पशुओको होता है। जो शरीर नाना आकृतियोको धारण करता है जो अनेक छोटा, बडा दृश्य, अदृश्य आदिक विक्रिया करता है उसे वैक्रियिक शरीर कहते है। जिनके मनमे सूक्ष्म तत्त्वमे सशय उत्पन्न हुआ है ऐसे प्रमत्तसयत मुनिराजके मस्तकसे सशयको दूर करनेके लिये जो शरीर प्रगट होता है उसे आहारक कहते है। यह शरीर केवलिभगवानके पास जाता है।

१ आ. वैक्रियिकमहाद्भुतम् २ आ. ख्यान्ति ३ आ. तथा

उदारं स्थूलमाख्यातं नानाकारधरं परम्। आह्रियमाणमाहारं तेजोजातं सुतैजसम्॥ १५६
कर्मणां कार्यमर्थं च यत्कार्मणमिहोदितम्। परं परं हि सूक्ष्मं स्यादेतत्पञ्चविधं क्रमात्॥ १५७
औदारिकं वैक्रियिकमाहारकमिदं वपुः। त्रिप्रकारमसंख्यातगुणाकारप्रदेशकम्॥ १५८
क्रमशस्तैजसं तद्धि कार्मणं च शरीरकम्। कथयन्ति कथानाथाः प्रदेशानन्त्यसङ्गुणम[2]॥ १५९
तदेवाभव्यजीवानामनन्तगुणकारकम्। अनंतप्रविभागैश्च तद्द्रव्यं[3] पुनरिष्यते॥ १६०
वज्रादिपटलैस्तावद्व्याघातो नानयोः क्वचित्। सुसूक्ष्मत्वादयः पिण्डे तेजसोऽनुप्रवेशवत्॥ १६१

उनके शरीरको स्पर्श कर लौटता है तब मुनिका संशय दूर होता है। यह शरीर हस्तप्रमाण होता है। घन–दृढ स्फटिकके समान रहता है। मुनिके तालुप्रदेशमे रोमाग्रके अष्टम भागप्रमाण जो छिद्र होता है, उससे यह निकलता है। जिस क्षेत्रमे तीर्थकर परमदेव गृहस्थावस्थामे, दीक्षित छद्मस्थावस्थामे अथवा केवलीअवस्थामे होगे उनके पास जाता है। उनके शरीरको स्पर्श कर पुन. लौटता है। उन मुनिके उस तालु छिद्रसे पुनः देहमे प्रवेश करता है तब उनका सशय नष्ट होता है और वे सुखी होते हैं। (सर्वार्थसिद्धिकी श्रुतसागरी टीका– अध्याय दूसरा)

जो तेजसे उत्पन्न होता है उसे तैजस कहते है। जो तेजका निमित्त है उसेभी तैजस कहते है और जो कर्मका कार्य है उसे कार्मण कहते है। मिथ्यात्वादि कर्मोसे यह कार्मणशरीर उत्पन्न होता है। तथा यह कर्मोकेलिये उत्पन्न होता है अर्थात् कर्मोको उत्पन्नभी करता है। ये पाच प्रकारके शरीर उत्तरोत्तर क्रमसे सूक्ष्म सूक्ष्म है ॥ १५७ ॥

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक ये तीन प्रकारके शरीर क्रमसे असख्यात गुणाकारयुक्त प्रदेशवाले है। औदारिकसे वैक्रियिक शरीर असंख्यात गुणित प्रदेशवाला है। वैक्रियिकसे आहारक शरीर असख्यात गुणित प्रदेशवाला है ॥ १५८ ॥

क्रमश तैजस और कार्मण शरीर अनन्त गुणित प्रमाण हैं। आहारक शरीरसे तैजस प्रदेशोंकी अपेक्षासे अनत गुणित है तथा तैजससे कार्मण शरीर अनत गुणित है, ऐसा कथानक निर्वेदनी, संवेजिनी आदि कथाओके प्रतिपादक जिनेश्वर कहते है ॥ १५९ ॥

यह कार्माण शरीरका द्रव्य अभव्य जीवोसे अनंतगुणित है और भव्यजीवोसे अनन्तवां विभाग है ऐसा कहा है ॥ १६० ॥

तैजस और कार्मण इन शरीरोको कहींभी प्रतिबंध नहीं होता। जैसे लोहके पिण्डमें अग्निका प्रवेश उसकी–अग्निकी सूक्ष्मतासे होता है वैसे तैजस और कार्मण ये दो शरीर अतिशय सूक्ष्म होनेसे वज्रादि–पटलोमेंभी घुसकर उसमेसे निकल जाते हैं। इसलिये इनके साथ रहा हुआ यह

१ आ. नत् २ आ. नन्तमद्गुणम्. ३ आ. तद्भव्यानाम्

सर्वसंसारिजीवस्यानादिसम्बन्ध इष्यते । कार्यकारणसन्तत्या ह्यनयोर्बीजवृक्षवत् ॥ १६२
विशेषापेक्षया सादिसम्बद्धे ते शरीरिणाम् । निगद्येते गतासातसंगतैर्यतिनायकै. ॥ १६३
इत्थं पञ्चविधेनामी शरीरेण शरीरिणः । व्यापत्कल्लोललोलेऽस्मिन्भ्रमन्ति भववारिधौ ॥ १६४
सर्वेऽपि नारका जीवास्तथा सम्मूर्च्छिन पुन. । नपुंसका भवन्त्येव न देवा पुण्यभागिन. ॥ १६५
शेषास्त्रिवेदा विज्ञेयास्तिर्यंचो मानवा अपि । त्रिवेदानुगतानेककर्मभावनिवन्धत' ॥ १६६
औपपादिकदेहा ये येऽपि चान्त्यशरीरिणः । नापवर्त्यायुषस्तेषां कृतपुण्यविपाकत[1] ॥ १६७
मिथ्यादृष्टिस्ततस्तावत्सासादनदृगुच्यते । तृतीयो मिश्रदृष्टिश्चासंयत. सम्यग्दृक्पर ॥ १६८

जीव विग्रहगतिमे जाकर सुदूरवर्ती क्षेत्रोमे उत्पन्न होता है । बीचमे पहाड आदिक पदार्थोंसे उन शरीरोसे युक्त यह जीव रोका नहीं जाता है ॥ १६१ ॥

सपूर्ण ससारी जीवोके साथ इन दो शरीरोका सम्बन्ध अनादिकालसे हुआ है । जैसे वृक्ष बीजसे उत्पन्न होता है । वह बीज पूर्व वृक्षसे उत्पन्न हुआ । वह वृक्ष उसके पूर्व बीजसे उत्पन्न हुआ है । बीजवृक्षका सबध जैसा अनादि कालसे है वैसा प्रस्तुत तैजस-कार्मण पूर्व तैजस-कार्मणसे उत्पन्न हुए, पूर्व तैजस-कार्मण उनके पूर्व तैजस-कार्मणोसे उत्पन्न हुए है ऐसी इन तैजस कार्मणोकी अनादि कार्यकारण–सतति है । जैसे इस बीजसे यह वृक्ष हुआ है, ऐसा कहनेसे उन बीज–वृक्षोका सादि सबध सिद्ध होता है, वैसे तैजस कार्मण शरीरविशेपकी अपेक्षासे सादि कह सकते है, जैसे साप्रतका मिथ्यात्व-कर्मका बध पूर्व मिथ्यात्वके उदयसे होता है । इस प्रकार इनकी कार्यकारणकी सन्तति है । विशेपापेक्षासे प्राणियोके लिये सादिभी है । जिनकी दु खोकी सगति दूर हुई है ऐसे यतिनायकोने इस प्रकार तैजस-कार्मण शरीरोका सबध कहा है ॥१६२–१६३॥

इस प्रकार पाच प्रकारके शरीरसे ये शरीरधारी प्राणी आपत्तिरूप तरगोसे चचल ऐसे संसारसमुद्रमे भ्रमण करते है ॥ १६४ ॥

[जीवोका लिंगनिर्णय ।] -- सपूर्ण नारकी जीव तथा सम्मूर्च्छिन जीव नपुसकही होते हैं । देव पुण्यवान होनेसे नपुसक नहीं होते है ॥ १६५ ॥

शेष अर्थात् तिर्यंच और मनुष्यभी तीन वेदके धारक है, क्योकि तीन वेदोको अनुकूल कर्मबधके योग्य उनके भाव होते है ॥ १६६ ॥

जो औपपादिक देहवाले देव और नारकी है तथा जो अन्त्यशरीरवाले–तद्भव मोक्षगामी जीव है, उनको किये हुए पुण्यके उदयसे अपवर्त्यायुष्कता नहीं है । अर्थात् विष–शस्त्रादि कारणोसे

---

१ आ स्तेऽमी घनपुण्यविपाकतः

संयतासंयतस्तस्मात्प्रमत्तादिसुसंयतः। अप्रमत्तो यतिः पश्चादष्टमोऽपूर्वकृन्मतः॥ १६९
अनिवृत्त्यल्पलोभौ च शान्तक्षीणकषायकौ। सयोगी च तथा योगी गुणाश्चैते चतुर्दश॥ १७०

उनका आयुष्य कम नहीं होता है। विष शस्त्रादि कारणोंसे, तीव्र अग्न्यादि उपसर्गोंसे उनको अकालमे मरण नहीं आता॥ १६७–१६९॥

[गुणस्थानोके नाम।] — मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मलोभ, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली ऐसे चौदह गुणस्थान है॥ १७०॥

विशेष स्पष्टीकरण—आचार्य नरेन्द्रसेनजीने यहा गुणस्थानोके नामही बताये है। उनका स्वरूप विस्तारभयसे नहीं दिया। उन गुणस्थानोका लक्षण यहा दिखाते है—

१ पहिला गुणस्थान मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होता है।

२ दुसरा सासादन गुणस्थान है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्त कालमेसे जघन्य एक समय अथवा उत्कृष्ट छह आवलिकाल शेष रहता है उस समय अनन्तानुबंधि क्रोध, मान, माया लोभमेसे किसीका उदय होनेसे सम्यग्दर्शन नष्ट होता है और वह जीव मिथ्यात्वके सम्मुख होता है। इस अवस्थाको सासादन गुणस्थान कहते है।

३ तीसरा गुणस्थान मिश्रदृष्टि नामक है। इसमे सम्यङ्मिथ्यात्व कर्मका उदय होता है तब सम्यङ्मिथ्यात्वरूप परिणाम होते है। वे परिणाम न सम्यग्दर्शनरूप है न मिथ्यारूप है। परतु मिश्ररूपपरिणाम होते हैं। अर्थात् सर्वज्ञकथित—पदार्थस्वरूपके श्रद्धानकी अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभास—कथित अतत्त्वश्रद्धानकी अपेक्षा मिथ्यापना ये दोनोही धर्म एककाल और एक–आत्मामें घटित हो सकते है। इसमे कोईभी विरोधादि दोष नहीं है। जैसे दही और गुडको परस्पर मिलानेसे दोनोंका स्वाद खट्टा और मीठा मिला हुआ होता है उसही प्रकार एककालमे मिश्ररूप-परिणाम—सम्यक्त्वरूप और मिथ्यात्वरूप परिणाम होते है।

४ असयत सम्यग्दृष्टि—सर्वज्ञकथित जीवादि—पदार्थोंके ऊपर श्रद्धा करता है, तथा असयमी होता है, क्योंकि इन्द्रियोंके विषयोसे विरक्ति तथा प्राणिसंयम उसको नहीं होता है। इस-लिये उसको असयमी कहते हैं। परतु वह विनाप्रयोजन किसी हिंसामे प्रवृत्तभी नहीं होता है।

५ संयतासयत—अनन्तानुबंधी कषायके उपशम, क्षय, क्षयोपशमादिकसे यह श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है और अप्रत्याख्यान कषायके क्षयोपशमसे उसको अणुव्रतोंकी प्राप्ति हुई है, इस-लिये इसको देशव्रती कहते हैं।

६ प्रमत्तसयत—संज्वलन कषाय और नोकषाय इनका उदय इस गुणस्थानमें होता है अनंतानुबन्ध्यादि बारह कषायोका क्षयोपशम होनेसे इस गुणस्थानमे महाव्रत प्राप्त होते है, परन्तु संयममे कुछ मल उत्पन्न करनेवाला प्रमाद उत्पन्न होनेसे इसे प्रमत्तसयत कहते है।

७ अप्रमत्त संयत—जब प्रमाद नष्ट होता है और सज्वलन कषायोदय और नोकषायोदय मंद होता है, तब इसके सयम-महाव्रत अतिशय निर्मल होते है।

८ अपूर्वकरण—इस गुणस्थानमे अनंतानुबध्यादि बारह कषाय और नौ नोकषाय इनके क्षय करनेवाले अपूर्व ऐसे निर्मल परिणाम होते हैं, जो कि पूर्वगुणस्थानोमे नहीं होते। जितने मुनिराज इस गुणस्थानमे प्रवेश करते है उनमेसे जो समानसमयवर्ती मुनि है उनके परिणाम सदृशभी होते है और विसदृशभी होते है परतु भिन्न समयमे स्थित जीवोके परिणाम सर्वदा विसदृशही होते है। इस गुणस्थानमे प्रतिसमयमे परिणामोकी निर्मलता बढतीही है।

९ अनिवृत्तिकरण—इस गुणस्थानमे अधिक निर्मल शुक्लध्यानसे आयुको छोडकर शेप सात कर्मोकी गुणश्रेणिनिर्जरा, गुणसक्रमण, स्थितिखडन, अनुभागकाण्डखंडन होता है और मोहनीय कर्मकी बादरकृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि आदि होती है। इस गुणस्थानमे जो मुनिराज है, उनके प्रतिसमय एकही परिणाम होता है अर्थात् एक समयमे जितने मुनि होगे उनमे समानही परिणाम होगे और भिन्न समयमे जो मुनिराज होगे वे सब विसदृश परिणामकेही धारक होगे।

१० सूक्ष्मसापराय— इस गुणस्थानमे धुले हुए कौसुम्बवस्त्रमे जैसी सूक्ष्मलालिमा रह जाती है वैसी रागभावना अत्यत सूक्ष्म होती है। यहॉ मोहकी वीस प्रकृतियोका उपशम अथवा क्षय होता है। सिर्फ एक सज्वलन लोभ सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त होता हुआ पाया जाता है। वह अत्यत सूक्ष्म होकर रहता है।

११ उपशातकषाय— कतकफलसे पानी निर्मल होता है और मल नीचे बैठता है, वैसा यहा संपूर्ण मोहकर्म उपशान्त होनेसे आत्मा उपशातकषाय होता है।

१२ क्षीणकषाय— सपूर्ण मोहकर्म नष्ट होनेसे आत्मा पूर्ण कषायरहित होती है। इसलिये निर्मल स्फटिक पात्रमे रखे हुए जलके समान निर्मल होती है।

१३ सयोगकेवली— इस गुणस्थानमे जीवको केवलज्ञान प्रगट होता है और क्षायिक नौ केवललब्धियोकी प्राप्ति होती है। फक्त योगसहित होनेसे उनको सयोगकेवली कहते है।

१४ अयोगकेवली— यहा अठारह हजार शीलोकी प्राप्ति होती है और कर्मोका आगमन—आस्रव सर्वथा बद होता है। सत्त्व और उदय अवस्थाको प्राप्त कर्मरजकी सर्वोत्कृष्ट निर्जरा होनेसे काययोगरहित केवलीको चौदहवे गुणस्थानमे अयोगकेवली कहते है। यहाही पूर्णशील, पूर्णसवर, पूर्णनिर्जरा होनेसे मुनिराज मुक्ति अवस्थाके सम्मुख होते है।

सुवर्णानुगता वर्णा यथा पञ्चदशप्रमाः । लोके तथात्र विज्ञेया गुणाश्चैते चतुर्दश ॥ १७१
जपापुष्पादिसान्निध्याद्यः स्वभावः प्रजायते । स्फटिकादौ तथा जीवे लेश्या स्यात्कर्मयोगतः ॥१७२
कृष्णा नीला च कापोता पीता पद्मा तथा पुनः । शुक्ला च षड्विधा लेश्या जीवेऽभाणि विचक्षणैः॥
जीवतत्त्वमिदं तावद्युक्तं वा युक्तमेव वा । किञ्चिदागमतो ज्ञात्वा भणितं यन्मया पुनः ॥ १७४
श्रीजिनेन्द्रमतं पूर्वसूरिसूर्यप्रकाशितम् । तत्खद्योतनिभेनैतत्किं मया वत भाष्यते ॥ १७५
दुष्षमाकालयोगेन सम्यग्ज्ञानविवर्जितैः । सर्वत्र संशयानैस्तन्मादृशैः किं निगद्यते ॥ १७६
केवलं तत्त्वविज्ञानलिप्सालुब्धोहमुच्चकैः । दरिद्रोऽपि हि किं लोके सौराज्यं नाभिवाञ्छति ॥ १७७

जैसे सुवर्णमे पंदरह वर्ण–भेद दिखते है वैसे इस जगतमे चौदह गुणस्थान होते है। जैसे अधिक वर्णमे उत्तरोत्तर शुद्धता बढती है और पदरहवे वर्णमे सोना पूर्ण प्राय. शुद्ध होता है वैसे इस गुणस्थानमे आत्माकी उत्तरोत्तर विशुद्धता होती होती चौदहवे गुणस्थानमे निर्मलता पूर्ण-प्राय होती है ॥ १७१ ॥

[लेश्यावर्णन]– स्फटिकादिक पदार्थोमे जैसे जपापुष्पादि पदार्थोके सान्निध्यसे जो स्वभाव प्रगट होता है, वैसे जीवमे कर्मयोगसे लेश्या होती है। स्पष्टीकरण– ‘ कषायानुरजिता योग-प्रवृत्तिर्लेश्या ’ कषायके उदयसे जो मनवचनकी प्रवृत्ति होती है जिससे आत्माके प्रदेशोमे कप उत्पन्न होता है वह लेश्या है। इस लेश्याकेद्वारा जीव अपनेको पुण्य और पापसे लिप्त करता है। ऐसे लेश्याके आचार्यने छह भेद बताये है। वे इसप्रकार—

कृष्णा, नीला और कापोता, पीता, पद्मा और शुक्ला ऐसी छह लेश्याये जीवमे चतुर सूरियोने बताई है। स्पष्टीकरण– इनमे पहिली तीन लेश्याये क्रमसे अशुभतम, अशुभतर और अशुभ ऐसी है और पीत, पद्म तथा शुक्ललेश्या क्रमसे शुभ, शुभतर और शुभतम है। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंधमेसे कषायोदयसे स्थितिबंध और अनुभागबंध होता है। तथा योगसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है। जहापर कषायोदय नहीं होता है, वहा केवलयोगको उपचारसे लेश्या कहते है। यह भावलेश्याका स्वरूप समझना चाहिये, क्योकि शरीरके रगको द्रव्यलेश्या कहते है ॥ १७२–१७३ ॥

यह जीवतत्त्व कुछ आगमको जानकर युक्त तथा अज्ञानसे कुछ अयुक्त मैने कहा है। यह जिनेन्द्रका मत पवित्र और आचार्यरूपी सूर्यसे प्रकाशित हुआ है। मै तो जुगनूके समान हू। जिनेन्द्रमतविषयमे मैं अधिक क्या कह सकता हू ॥ १७४–१७५ ॥

मेरे सदृश लोग दुष्षमाकालके प्रभावसे सम्यग्ज्ञानरहित हो गये है और सर्वत्र सशययुक्त हुए है। इसलिये हम क्या कह सकते है। परतु तत्त्वज्ञान प्राप्तिकी इच्छासे मै अत्यन्त लुब्ध हुआ हू। योग्यही है, कि इस जगतमे क्या दरिद्री मनुष्यभी उत्तम राज्यको नहीं चाहता है ? अर्थात् दरिद्रीकोभी जैसे राज्यप्राप्तिकी इच्छा होती है वैसे मुझे तत्त्वज्ञानकी तीव्र इच्छा हुई है ॥१७६–१७७॥

कालस्यापेक्षया धर्मो नष्ट सर्वत्र सर्वथा। तं प्रकाशयतां किञ्चित् पक्षपातो भविष्यति ?॥ १७८
इति वाग्देवता जैनी दुष्षमाकालवर्तिनाम्। मां प्रलपन्तमित्युच्चैर्विज्ञायोद्धरतु क्षणम्॥ १७९
स्वरूपादिविभेदेन जीवतत्त्वं निरूपितम्। साम्प्रतं गतिभेदेन निगदामि यथागमम्॥ १८०
इति निगदितमेतज्जीवतत्त्वं विदित्वा। हृदि दधति पटिष्ठाः साधवो ये सुनिष्ठाः॥
त इह निहतकर्मव्यापदानन्दरूपम्। पदमधिगतबोधाः प्रस्फुरन्तः सरन्ति॥ १८१

धारयन्ति मुदितान्तरात्मका श्रीजिनेन्द्रमतमेतदद्भुतम्।
ये त एव कलयावलम्बिनो नापरे जगति जाड्यसङ्गताः॥ १८२

❀ इति श्रीसिद्धान्तसारसङ्ग्रहे पण्डिताचार्यनरेन्द्रसेनविरचिते जीवतत्त्वप्ररूपणः पञ्चमः परिच्छेदः॥ ❀

कालकी अपेक्षासे सर्वत्र सर्वथा सर्व प्रकारसे धर्म नष्ट हुआ है। परतु उसको प्रगट करनेवालोके विषयमे कुछ पक्षपात-प्रेम उत्पन्न होता है। इसलिये जिनेश्वरके मुखकमलसे निकली हुई वाग्देवता दुष्षमाकालमे उत्पन्न हुए लोगोको धर्मका स्वरूप कहनेवाले मुझको जानकर शीघ्र मेरा उद्धार करे॥ १७८–१७९॥

स्वरूपादिभेदोसे मैने जीवतत्त्वका निरूपण किया है। अब मै जिनागमानुसार गति भेदोसे- नारकी, मनुष्य, देव, पशु ऐसी चार गतियोकी अपेक्षासे जीवतत्त्वका वर्णन करूगा॥१८०॥

इसप्रकार कहा हुआ जीवका स्वरूप जानकर जो अतिशय चतुर और मधुरभाषी भले साधु हृदयमे धारण करते है वे कर्मजन्य आपत्तियोको नष्ट करनेवाले और आनदरूप-अनन्तसुख-रूप पदको सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करके वृद्धिगत होते हुए प्राप्त होते है॥१८१॥

जिनका अतरात्मा आनदित हुआ है ऐसे विद्वान् इस आश्चर्यकारक जिनेश्वरके मतको धारण करते है। वेही कलाके अवलम्बी है अर्थात् श्रेष्ठज्ञानी है परतु जिन्होने जिनमतको धारण नहीं किया है ऐसे अन्यलोग जाड्यसे सगत है-अज्ञानी है॥ १८२॥

पण्डिताचार्य नरेन्द्रसेन विरचित श्रीसिद्धान्तसारसग्रहमे जीवतत्त्वका वर्णन करनेवाला यह पाचवा अध्याय समाप्त हुआ।

---

१ आ. पक्षमात्रम् २ आ. मत्युच्चैः ३ आ क्षणात् ४ आ. [illegible] ५ आ. [illegible]
६ आ. इति श्रीसिद्धान्तसारसग्रहे आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते पञ्चम परिच्छेद समाप्त

षष्ठोऽध्यायः ।

नारकतिर्यङ्मानुष्यदेवगत्यादिभेदतः । चतुर्धा जायते जीवः संसारे सारवर्जिते ॥ १
आद्या रत्नप्रभानामा द्वितीया शर्कराप्रभा । वालुकादिप्रभाभूमिस्तृतीया बहुदुःखदा ॥ २
पङ्कप्रभा चतुर्थी स्यात्पञ्चमी धूमसत्प्रभा । षष्ठी तमःप्रभा निंद्याभिहिता[1] जिननायकैः ॥ ३
महातमःप्रभा घोरा घोरदुःखप्रदर्शिनी । सप्तमी पापिनां दुःखान्निर्मिता[2] पापकर्मणा ॥ ४
एताश्च भूमयः सर्वा घनाम्बुवलयस्थिताः । घनाम्बुवलयं तद्धि घनवातप्रतिष्ठितम् ॥ ५
घनादिवलयं तावत्तनुवातव्यवस्थितम् । तदाकाशस्थितं तद्धि स्वप्रतिष्ठमुदीरितम् ॥ ६
वलयानि च पिण्डेन त्रीण्येतानि प्रमाणतः । प्रत्येकं योजनानां हि सहस्राणि तु विंशतिः ॥ ७
मेरोराधारभूता स्यात्पृथ्वी रत्नप्रभाभिधा । रज्ज्वन्तरालवर्तिन्यस्ततोऽधोऽधः पराश्च षट् ॥ ८
ततोऽधस्ताद्धरा शून्यं रज्जुमानं सुदुस्तरम् । क्षेत्रमस्ति निगोतादिजीवस्थानमनेकधा ॥ ९
महापापभवानेकफलानीव हतात्मनाम् । त्रिंशन्नरकलक्षाणि विद्यन्ते प्रथमक्षितौ ॥ १०

छठा अध्याय ।

इस सारवर्जित ससारमे नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव ऐसी चार गतियोके भेदसे यह जीव चार प्रकारका होता है ॥ १ ॥

[नरकगतिके जीवोका आधारभूत स्थान ।] पहिली रत्नप्रभा, दूसरी शर्कराप्रभा, और अतिशय दु ख देनेवाली तीसरी वालुकाप्रभा नामक भूमि, चौथी पकप्रभा, पाचवी धूमप्रभा तथा छठी तम.प्रभा भूमि हैं। जिननायकोने वे भूमियाँ निंद्य है ऐसा कहा है। घोर दुःखको देनेवाली, प्राणियोके पाप कर्मने दु खसे निर्माण की गई सातवी महातम प्रभा नामक नरकभूमि है। ये सातोही भूमियाँ घनाम्बुवातवलयसे चारो तरफसे घिरी हुई है। घनाम्बुवातवलय घनवातके आधारसे रहा है, और घनवातवलय तनुवातवलयसे व्यवस्थित है। तथा वह तनुवातवलय आकाशमे है और आकाश स्वप्रतिष्ठित है– अपनेही आधारसे है अर्थात् वह आकाश स्वय अपनेको आधारभी है तथा अपनेमे रहनेसे आधेयभी है ॥ २–६ ॥

[तीन वातवलयोका विस्तार ।]--तीन वातवलयोमेसे प्रत्येकका पिण्डप्रमाण वीस वीस हजार योजनोका है। पहिली रत्नप्रभा नामक पृथ्वी मेरुको आधारभूत है। तदनन्तर दूसरी, तीसरी आदि छह पृथ्वियां एक एक रज्जुके अन्तरालमे हैं। उसके नीचे पृथ्वीरहित एक राजुविस्तारके अवकाशमें सुदुस्तर ऐसा स्थान है, जो कि निगोद जीवोका स्थान है और अनेक प्रकारका है ॥ ७–९

---

१ आ. नंदिता २ आ. प्राणिना मन्ये निर्मिता पापकर्मणाम् ।

द्वितीयायां पुनस्तानि विद्यन्ते पञ्चविंशतिः । तथा पञ्चदश प्राज्ञैस्तृतीयायां मतानि च ॥ ११
दशलक्षाणि विद्यन्ते चतुर्थ्यां नरकावनौ । नरकाणि निमेषार्द्धमपि सौख्यातिगानि च ॥ १२
पञ्चम्यां त्रीणि लक्षाणि षष्ठयां पुनरुदीरितम् । पञ्चोनमेकं लक्षं च सप्तम्यां पञ्चकं पुन ॥ १३
अथाशीतिसहस्रैश्च लक्षमेकमुदीरितम् । वाहुल्यं[1] बहुधा रत्नप्रभायां जिननायकैः ॥ १४
द्वात्रिंशच्च सहस्राणि पृथुत्व योजनानि तु । द्वितीयायां मतं प्राज्ञैः प्रगताशेषकल्मषैः ॥ १५
योजनानां सहस्राणि वाहुल्यं ह्यष्टविंशतिः । तृतीयायां भवन्त्यत्र[2] श्वभ्रभूमेर्विनिन्दितम् ॥ १६
विस्तारः कथितस्तज्ज्ञैश्चतुर्थ्यां नरकक्षितौ । योजनानां सहस्राणि चतुर्विंशतिरित्ययम् ॥ १७
पञ्चम्यां विंशतिः पिण्डः षष्ठयां षोडश वा पुन. । अष्टौ च सप्तमपृथ्व्यां योजनानां सहस्रका ॥ १८
पञ्चम्या नरकभूमेश्च विंशतिर्योजनं मतम् । षष्ठयां षोडशसंख्या च सप्तम्यां योजनाष्टकम् ॥ १९
तिर्यग्विस्तार एवासामेकरज्जुप्रमाणतः । मध्यस्थो लोकमानोऽत्र त्रसनालिर्विहिर्भवेत् ॥ २०

[नरकभूमियोमे बिलसख्या ।]– जो अत्यत दीन है ऐसे नारकियोके महापापोसे उत्पन्न मानो अनेक फल, ऐसे तीस लाख बिल पहिले नरकमे है। दूसरे नरकमे पच्चीस लाख बिल हैं। तीसरे नरकमे पद्रह लाख बिल है। चौथे नरकमे दस लाख नरक बिल है। ये सर्व नरक बिल निमिषार्द्धभी सुखयुक्त नही है। अर्थात् हमेशा इन बिलोमे नारकी दु.खही भोगते है। पाचवे नरकमे तीन लाख नरक बिल है। छठे नरकमे एक लाखमे पाच कमी अर्थात् निन्यानवे हजार नौसौ पिचानवे बिल है। पुन. सातवे नरकमे पाचही नरक बिल है ॥ १०–१३ ॥

जिननायकोने रत्नप्रभाका बाहुल्य-मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजनोका कहा है॥ १४ ॥

जिनका सपूर्ण पाप नष्ट हो गया है ऐसे बुद्धिमानोने दूसरे शर्कराप्रभानरककी मोटाई बत्तीस हजार योजन कही है ॥ १५ ॥

तिसरी निन्द्य नरकभूमि वालुकाप्रभाकी मोटाई अठ्ठावीस हजार योजन है ॥ १६ ॥

चतुर्थ नरक पङ्कप्रभाकी मोटाई तज्ज्ञ लोगोने विस्तृत चौवीस हजार योजनकी कही है ॥ १७ ॥

पाचवी नरकभूमीकी मोटाई बीस हजार योजनप्रमाणकी कही है। तथा छठी नरकभूमीकी मोटाई सोलह हजारकी कही है। और सातवी नरकभूमीकी मोटाई आठ हजार योजनोकी कही है ॥ १८–१९ ॥

इन सात पृथ्वियोका तिर्यग्विस्तार एक राजुप्रमाण है। यह लोग जिसके बीचमे नाभिके समान त्रसनालि है और वह लोकप्रमाण अर्थात् चौदह राजुप्रमाण ऊची है ॥ २० ॥

१ आ बाहल्य २ आ. भवत्यत्र

योजनानां सहस्रैकबाहुल्या मन्दराश्रया[1]। चित्रा मही तया सार्द्धमधोभागो[2] व्यवस्थितः ॥ २१
खरभागो भवेत्तावद्योजनानां हि षोडश। सहस्राणि स बाहुल्याद्बहुधा कौतुकावहः ॥ २२ युग्मम्
तदधस्तात्स विज्ञेयः पङ्कभागोऽपि विस्तरात्। योजनानां सहाण्यशीतिश्च चतुरुत्तरा ॥ २३
सहस्राशीतिबाहुल्यस्ततोऽब्बहुल[3] इत्यपि। भागो भवति भूरीणां नारकाणां समाश्रयः ॥ २४
एवं रत्नप्रभाभूमिर्भागत्रयविभाजिता। सहस्राशीतिलक्षैकबाहुल्या बहुदुःखदा ॥ २५
प्रथमं भावनानां हि भवनानि घनानि च। नवानां सन्ति साधूनि विचित्राकारधारिणाम् ॥ २६
तथा सप्तप्रकारेण[4] व्यन्तराणां सुशोभनाः। आवासाः सन्ति तत्रैव खरभागे विभागतः ॥ २७
पङ्कभागे पुनर्भव्यगृहाण्यसुररक्षसाम्। तृतीये नरका सन्ति नारकाणां समाश्रयाः ॥ २८
योजनानां सहस्रैकं सर्वासु श्वभ्रभूमिषु। उपर्यधः परित्यज्य पटलानि भवन्ति च ॥ २९

चित्रा नामक पृथ्वी जो कि मंदरपर्वतको आधारभूत है वह एक हजार योजनप्रमाणकी है। उसके नीचे उसके साथ अधोभाग व्यवस्थित हैं। उसके नीचे खरभाग है। वह मोटाईसे सोलह हजार योजनप्रमाणका है और अनेक प्रकारोसे कौतुकयुक्त है ॥ २१–२२ ॥

खरभागके नीचे पंकभागभी जानने योग्य है। उसका विस्तार चौरासी हजार योजनोका है। उसकेभी नीचे अब्बहुलभाग है। उसका विस्तारका प्रमाण अस्सी हजार योजनोका है। वह बहुत नारकी जीवोका आश्रयस्थान है ॥ २३–२४ ॥

इस प्रकार रत्नप्रभाभूमि खरभाग, पङ्कभाग और अब्बहुलभाग ऐसे तीन विभागोसे विभक्त हुई है। उसकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजनप्रमाणकी है और अतिशय दुःखदायक है ॥ २५ ॥

पहिले खरभागमें विचित्र आकार धारण करनेवाले नौ प्रकारके भवनवासियोके दृढ और सुदर रत्नमय भवन है। अर्थात् नाग, विद्युत्, सुपर्ण, अग्नि, वात, स्तनित, उदधि, द्वीप और दिक् ऐसे नौ प्रकारके भवनवासियोके स्थान है। तथा उसी खरभागमे सात प्रकारके व्यतरदेवोके सुंदर आवास विभागक्रमसे हैं। किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, भूत और पिशाच ऐसे सप्त व्यतरोके निवास है। खरपृथ्वीभागके ऊपरके हजार योजनोका और नीचेके हजार योजनोका प्रदेश छोडकर बीचके चौदह हजार योजनोके विस्तृत प्रदेशमे असुर और राक्षसोको छोडकर भवनवासी और व्यतरोके निवास है। पङ्कभागमे पुन. असुर और राक्षसोके भव्य गृह है। तीसरे अब्बहुल विभागमे नारकियोके निवासस्थान अर्थात् नरकबिल है ॥ २६–२७–२८ ॥

सपूर्ण नरकभूमियोमे ऊपरका और नीचेका हजार हजार योजनोका प्रदेश छोडकर मध्य-

१ आ. मन्दरोऽस्तु य. २ आ. भागे. ३ आ. बाहल्यः ४ आ. सतप्रकाराणा

सप्तम्यां मध्यभागे स्युर्नारका नरकाश्रयाः। अब्बहुलभागेऽन्यासु सर्वास्वेते निवेदिताः॥ ३०
पटलानि भवन्त्येव प्रथमायां त्रयोदश। एकादश नवैतानि सप्त पंच यथाक्रमम्॥ ३१
द्वितीयायां तृतीयायां चतुर्थ्यां च तथा पुनः। पंचम्यां त्रीणि षष्ठ्यां च सप्तम्यामेकमेव तत्॥ ३२ युग्म
तत्र सीमतसंज्ञं स्यात्प्रथमे प्रस्तरे विलम्। नृलोकपरिमाणं तत्प्रथमायां यदिन्द्रकम्॥ ३३
विलान्येकोनपञ्चाशच्छ्रेणीभूतानि सन्ति च। चतुर्दिक्ष्वप्यसङ्ख्यातयोजनानि दिशं प्रति॥ ३४
अष्टाधिका भवेत्तेषां चत्वारिंशद्विदिक्ष्वपि। दिगन्तरस्थितरूपाणां प्रकीर्णान्यन्तरे पुन॥ ३५
सर्वाण्येकोनपञ्चाशत्सर्वासु श्वभ्रभूमिषु। पटलानि च तेष्वेव क्रम एवं विवर्ण्यते॥ ३६
श्रेणिश्रेणिगतं किंतु पटल प्रति हीयते। एकैकमिति सप्तम्यां यावदेकदिश प्रति॥ ३७
प्रथमे प्रतरे तावन्नारकाणा समुच्छ्रयः। प्रथमायां त्रयो हस्ता ज्ञातव्यास्तत्त्ववेदिभिः॥ ३८
प्रतरे प्रतरे तावद्विवर्द्धन्ते यथाक्रमम्। सहार्धपद[3] च पञ्चाशदङ्गुलाश्च त्रयोदश॥ ३९

प्रदेशमे पटल है। सातवे नरकके मध्यभागमे नारकोंके आश्रयस्थान ऐसे नारकावास है। अब्बहुल भागमे और अन्य सर्व नारकपृथ्वीमे ये नारकावास कहे गये है॥ २९–३०॥

[नरकपटलोंका वर्णन।]— पहिली रत्नप्रभामे तेरह पटल है। दुसरीमे ग्यारह पटल है। तीसरीमे नौ है। चौथीमे सात है। पाचवीमे पाच है। छठीमे तीन है और सातवीमे एक है॥ ३१–३२॥

पहिली पृथ्वीमे पहिले प्रस्तरमे सीमत नामक बिल है। वह मनुष्यलोकपरिमाणका— पैतालीस लाख योजन परिमाणका है। पहिले नरकमे वही इन्द्रक बिल है॥ ३३॥

पहिले प्रस्तारमे प्रत्येक दिशामे-चार दिशामे उनचास उनचास श्रेणिबद्ध बिल है और वे असंख्यात योजनोंके है। विदिशाओंमे जो बिलश्रेणि है उनमे अडतालीस अडतालीस बिल है। दिशा और विदिशाओंके अन्तरालेमे प्रकीर्णक बिल है॥ ३४–३५॥

सर्व नरकोमे उनचास पटल है। अब उनमेही इसप्रकारसे वर्णन करते है॥ ३६॥

एकेक पटलकी श्रेणि श्रेणिमे एक एक बिल कम होता है। इसप्रकार कम होते होते सातवे नरकमे एक एक दिशामे एक एक बिल अवशिष्ट रहता है॥ ३७॥

[प्रथमनरकमे नारकियोंके शरीरकी ऊचाईका वर्णन।]— पहिली पृथ्वीमे पहिले प्रस्तारमे नारकियोंके शरीरकी ऊचाई तीन हाथ है, ऐसा तत्त्वज्ञोंने कहा है॥ ३८॥

प्रत्येक प्रस्तारमे यथाक्रम ऊचाई बढती जाती है। तेरहवे प्रस्तारतक साढे छप्पन अगुलतक बढती जाती है। अर्थात् दो हाथ साढे आठ अगुल बारह जौतक बढती जाती है। तेरहवे पटलमे सात धनुष्य, तीन हाथ और छह अगुलप्रमाण नारकियोंके देहकी ऊचाई है॥ ३९–४०॥

१ आ. तस्य च २ आ. एव ३ आ सहार्धानि च पञ्चाशदङ्गुलान्या त्रयोदशम्

धनूंषि सप्त जायन्ते त्रयो हस्ता. षडङ्गुलैः । समं त्रयोदशे मानं नारकाणां समुच्छ्रयः ॥ ४०
द्वितीयायां स एव स्यादुत्सेध. प्रथमे महान् । प्रतरे वर्धते तस्मात्त्रिकरैस्त्र्यङ्गुलाधिकम् ॥ ४१
एकादशे धनूंष्याहुः पञ्चाधिकतया दश । हस्तद्वयं शरीरस्य मानं सद्विदशाङ्गुलम् ॥ ४२
तृतीयायां स एव स्यात्प्रथमे प्रतरे महान् । उत्सेधो यो द्वितीयायां कथितश्चान्तिमे बुधैः ॥ ४३
सहार्द्धैकोनविंशत्या सप्तहस्तैः प्रकीर्तिता । वृद्धिस्ततः परा यावन्नवमप्रतरं भवेत् ॥ ४४
उत्सेधं च धनूंष्याहुरेकत्रिंशत्कराधिकम् । नवमे च तृतीयायां प्रतरे प्रज्ञयान्विता. ॥ ४५
चतुर्थ्यां हि स एव स्यात्प्रथमे प्रतरे तत. । वृद्धिर्धनूंषि पञ्चैव सा विंशत्यङ्गुलैः सह ॥ ४६
उत्सेधो नारकाणां च हस्तद्वयसमन्वित. । स्यात्स एव हि पञ्चम्यमादिमे प्रतरे ततः ॥ ४७
सप्तमे प्रतरे तत्स्याद्द्वाषष्टिर्धनुषां मतः । दश पंच च चापानि सार्धहस्तद्वयं पुनः ॥ ४८
प्रतरे प्रतरे वृद्धिर्यावत्पञ्चमकं भवेत् । पञ्चमे च शतं तस्माद्धनुषां पञ्चविंशतिः ॥ ४९

[दूसरे नरकमे नारकीके देहकी ऊचाई ।]– दूसरी पृथ्वीमे - शर्कराप्रभामे पहिले प्रस्तरमें वही उत्सेध है अर्थात् सात धनुष्य तीन हाथ और सहा अगुलप्रमाण नारकियोका देह ऊचा है । तदनतर प्रत्येक प्रस्तरमें तीन हाथके ऊपर तीन अंगुल वृद्धि होती है। ऐसी यह वृद्धि ग्यारहवे प्रस्तारतक होती जाती है। ग्यारहवे प्रस्तारमे पद्रह धनुष्य दो हाथ बारह अगुलका शरीर ऊचा रहता है ॥ ४१–४२ ॥

[तीसरे नरकमे नारक देहकी ऊचाई ।]– दूसरे नरकके अन्तिम पटलमे जो नारकियोके शरीरका उत्सेध विद्वानोने कहा है, वही तीसरे नरकके प्रथम प्रतरके नारकियोके शरीरका उत्सेध है। तदनतर आगे प्रत्येक प्रतरमें वृद्धि होती जाती है वह तीसरे नरकके नवमे प्रतरतक होती रहती हैं। तीसरे नरकके नवमे प्रतरतक सात हाथ साडे उन्नीस अगुलप्रमाण वृद्धि होती है। जो प्रज्ञासे युक्त है ऐसे गणधर देवने तीसरे नरकके नवमे पायडेमें नारकियोका शरीर इकत्तीस धनुष्य एक हाथ ऊचा कहा है ॥ ४३–४५ ॥

[चौथे और पाचवे नरकके नारकियोके देहका उत्सेध ।]– चौथे नरकके पहिले प्रतरमें वही शरीरोत्सेध है। उसके अनतर पाच धनुष्य और बीस अगुलप्रमाण वृद्धि प्रत्येक प्रतरमे होती हुई पाचवे नरकपृथ्वीके पहिले प्रतरमे नारकियोंका शरीरोत्सेध वही है–पूर्वोक्त है। तदनन्तर आगेके प्रतरोमे शरीरोत्सेध बढता हुआ सातवे प्रतरमे बासष्ठ धनुष्य हुआ है। तदनतर प्रत्येक प्रतरमे पद्रह धनुष्य अढाई हाथकी वृद्धि होती है और पांचवे प्रतरमें एकसौ पच्चीस धनुष्य प्रमाण शरीरका उत्सेध होता है। अर्थात् पांचवे नरकके अन्तिम पटलमे नारकियोंका शरीरोत्सेध एकसौ पच्चीस धनुष्य प्रमाणका होता है ॥ ४६–४९ ॥

---

१ आ. त्र्यङ्गुलाधिकं. २ आ नवमेऽनु तृतीयायाः

पञ्चम्यां पञ्चमेऽभाणि य उत्सेध. स आदिमे । षष्ठ्यां च प्रतरे प्राज्ञैः कथितो यतिनायकैः ॥ ५०
प्रतरे प्रतरे वृद्धिस्ततः सार्धद्व्यान्विता । जायते धनुषां षष्टिस्तृतीयं यावता भवेत् ॥ ५१
उत्सेधो जायते षष्ठ्यां तृतीये प्रतरे पुन. । पञ्चाशदधिकं तावद्धनुषां च शतद्वयम् ॥ ५२
सप्तम्यां प्रतरे तावन्नारकाणां समुच्छ्रयः । ख्यात. पञ्चाशतान्येषां धनुषां यतिनायकै. ॥ ५३
एकस्त्रयस्तथा सप्त दशसप्त दशापि वा । द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरास्तासु जीवितम् ॥ ५४
प्रथमाया यदुत्कृष्टं द्वितीयायां हि तत्पुनः । जघन्यमिति सर्वासु क्रमोऽयं वर्णितो बुधैः ॥ ५५
आयू रत्नप्रभाया तत्प्रथमे प्रतरे मतम् । दशवर्षसहस्राणि नवति परमं पुनः ॥ ५६
दशलक्षं जघन्य स्याद्द्वितीये नवति परम् । तदायुर्नारकाणां हि कथितं जिननायकै ॥ ५७
जघन्यं नवतिलक्षास्तृतीये कथित जिनैः । उत्कृष्टं पूर्वकोटी स्यादायुस्तत्र हतात्मनाम् ॥ ५८

[षष्ठनरकमे नारकियोका शरीरोत्सेध ।]– पाचवे नरकके पाचवे प्रतरमे जो शरीरोत्सेध नारकियोका कहा है, वही छठी पृथ्वीमे पहिले प्रतरमे विद्वान यतीश्वरोने कहा है। इसके अनंतर प्रत्येक प्रतरमे साडेबासष्ट धनुष्य प्रमाण शरीरोत्सेध बढता है। वह बढते बढते तृतीय प्रतरमे ढाईसौ धनुष्यप्रमाण शरीरका उत्सेध हुआ है ॥ ५०–५२ ॥

[सातवे नरकमे नारकियोका शरीरोत्सेध ।]– सातवे नरकके प्रथम प्रतरमे नारकियोकी शरीरकी ऊंचाई पाचसौ धनुष्य है ऐसा यतिनायकोने कहा है ॥ ५३ ॥

[सात नरकोमे नारकियोके आयुष्यका वर्णन ।] प्रथम नरकको आरभकर सातवे नरक-तक क्रमसे नारकियोका उत्कृष्ट आयुष्य एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, पद्रह सागर, बावीस सागर और तेहत्तीस सागर प्रमाण हैं। पहिले नरकमे जो उत्कृष्ट आयु कही है वह दूसरे नरकमे जघन्य है। इस प्रकारसे सातवे नरकतक विद्वानोने आयु.क्रमका वर्णन किया है ॥ ५४-५५

[पहिले नरकके प्रत्येक प्रतरमे जघन्य और उत्कृष्ट आयुका प्रतिपादन ।]– पहिले नरकके पहिले प्रतरमे दस हजार वर्षोकी जघन्य आयु है और उत्कृष्ट आयु नब्बे हजार वर्षकी है ॥ ५६ ॥

दूसरे प्रतरमे नारकियोकी जघन्य आयु नब्बे हजार वर्षकी है और उत्कृष्ट आयु दस लाख वर्षकी है ऐसा जिनेश्वरोने कहा है। तीसरे प्रतरमे दीन नारकियोकी जघन्य आयु नब्बे लक्ष है और उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटिवर्ष–प्रमाण है। चौथे प्रतरसे एक पूर्वकोटी आयु जघन्य है और उत्कृष्ट आयु सागरका दसवा भाग है। चतुर्थ प्रतरमे जो उत्कृष्ट आयु है, वह पाचवे प्रतरमे जघन्य समझना चाहिये। पाचवे प्रतरमे सागरका जो दशमअश जघन्य आयु कही है उसके दो अश प्रमाण आयु उत्कृष्ट है। छठे प्रतरमे जघन्य आयु सागरके दश अशमे दो अश है और उत्कृष्ट तीन अश है। आगेके प्रतरोमे एक एक अशकी वृद्धि होती है ऐसा निश्चय है। इसका स्पष्टीकरण ऐसा है– सातवे

१ आ. पञ्चम्या. २ आ. षष्ठ्याः ३ आ. सप्तम्या· ४ धृतिनायकः ५ आ. पूर्वकोटिः

चतुर्थे प्रतरे तस्याः पूर्वकोटिर्जघन्यकम् । दशमो भाग उत्कृष्टं सागरस्येह कथ्यते ॥ ५९
आयुस्त्रयोदशे ज्ञेयमुत्कृष्टं सागरोपमम् । जघन्यं तस्य भागायुर्नवैवेति सुनिश्चितम् ॥ ६०
पञ्चमे च जघन्यं तद्यदुत्कृष्टं चतुर्थके । तावेव द्वौ विभागौ स्यादुत्कृष्टं तस्य जीवितम् ॥ ६१
परेष्वेकोत्तरा वृद्धिर्भागानामिह निश्चिता । आयुर्जघन्यमुत्कृष्टं तथा तेषु निगद्यते ॥ ६२
ऊर्ध्वक्षितिस्थितेर्यस्तु विशेषः प्रतरैर्हृत. । स्वकीयैर्गुणितः स्वेच्छं तेनामोत्कृष्टमिष्यते (?) ॥ ६३
नित्याशुभतरा लेश्यास्तेषु ते सन्ति नारका । स्वभाववेदनादेहविक्रियादुष्टभागिनः ॥ ६४
प्रथमायां द्वितीयायां सर्वे कापोतलेश्यकाः । नारकाः सन्ति दुःखार्ताः पच्यमानाः पदे पदे ॥ ६५
उपरिष्टात्तृतीयायां जीवाः कापोतलेश्यका. । अधस्तान्नीललेश्या.स्युर्मिथ्यात्वचलभावनाः ॥ ६६

प्रतरमे जघन्य आयु तीन अश है उत्कृष्ट आयु चार अंश है। आठवे प्रस्तारमे सागरके चार अश जघन्य आयु है और सागरके पाच अंश उत्कृष्ट आयु ह। नौवे पाथडेमे जघन्य आयु पांच अश है उत्कृष्ट आयु छह अश है। दसवे प्रतरमे जघन्य आयु छह अश है और उत्कृष्ट आयु सात अश है। ग्यारहवे प्रतरमे जघन्य आयु सात अश है और उत्कृष्ट आठ अश है। बारहवे पाथडेमे जघन्य आयु सागरके आठ अश है और उत्कृष्ट आयु नौ अश है। तेरहवे पाथडेमे उत्कृष्ट आयुष्य एकसागरोपम है और जघन्य आयु सागरके नौ अंश प्रमाण निश्चित है॥ ५७--६१ ॥

आगेके प्रतरके भागोमे एक एक भाग अधिक वृद्धि होती है उसको उत्कृष्ट कहना चाहिये। तथा पूर्व पूर्वभाग मात्र आयु जो आगेके प्रतरमे होती है उसको जघन्य आयु कहते है॥ ६२ ॥

उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिका अन्तर निकालकर प्रतरोकी सख्यासे उसे भाजित कर पहिली पृथ्वीकी उत्कृष्ट स्थितिमे जोडनेपर दूसरी पृथ्वीके प्रथम पटलकी उत्कृष्ट स्थिति होती है॥६३॥

[नारकियोके लेश्यादिक अशुभतरही है ऐसा कथन।] उन सात नरकोमे वे नारकी हमेशा अशुभतर लेश्या, अशुभतर देह, अशुभतर वेदना, अशुभतर स्वभाव और अशुभतर विक्रिया आदिक दोषवाले होते है। स्पष्टीकरण-मध्यलोकमे तिर्यचोमे जो अशुभ लेश्या, देह, वेदनादिक होते है, उससे अधिक अशुभलेश्या, देह, वेदनादिक नारकियोके होते है, ऐसा अभिप्राय व्यक्त करनेके लिये ' अशुभतर ' कहा है। अथवा रत्नप्रभादि उपरके नरकोकी अपेक्षा नीचेके नरकोमे उत्तरोत्तर लेश्या, देह, वेदना परिणामादिक अशुभतर अशुभतर होते हैं॥ ६४ ॥

पहिले और दूसरे नरकमे सर्व नारकी कापोत लेश्यावाले तथा दुर्भावना युक्त और दु.खोसे पीडित और वहाके प्रतिस्थानमे वे दु खसे पचते रहते है। तथा वालुकाप्रभा नरकके उपरिष्ट भागमे उत्तम कापोत लेश्या है और नीचेके विभागमे नीललेश्या है। इन नारकियोके भाव मिथ्यात्वसे चचल होते है॥ ६५—६६ ॥

१ आ. तत्र

चतुर्थ्यां नीललेश्यास्ते पञ्चम्यामुपरि स्थिताः । नीला कृष्णास्त्वध. षष्ठ्यां कृष्णा एव निरन्तराः ॥
सप्तम्यां कृष्णकृष्णास्ते नारका नरकावनौ । क्षेत्रस्वभावतो हीना[1] जायन्ते ते नपुंसकाः ॥ ६८
असुरोदीरितानेकदु'खिनस्त्रिपु ते पुनः । ततः परस्परं दुःखान्युद्गिरन्ति दुराशयाः ॥ ६९
मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रैस्तीव्रभावगै' । जायते दुर्गति' सत्य सत्त्वानामिति नारका' ॥ ७०
वेदना द्विविधा तेषां बाह्याभ्यन्तरभेदतः । असातजनिताश्चित्तसम्भवा देहजा. परा. ॥ ७१
क्षेत्रस्वभावतो घोरा शीतोष्णजनिता परा । वेदना जायते तेषां नारकाणामसातजा ॥ ७२
आचतुर्थ्या भवन्त्येते नारका ह्युष्णवेदना. । पञ्चम्यामुपरिष्टात्ते द्वे लक्षे चोष्णवेदने ॥ ७३
लक्षमेकमधस्ताच्च तस्याः शीतैकवेदना' । षष्ठ्यां चैव तथा पञ्च सप्तम्यां शीतवेदना. ॥ ७४
असंज्ञिनश्च ये तावज्जीवाः पञ्चेन्द्रिया मृताः । यान्ति ते[2] नरकेऽधस्तात्प्रथमे न परेष्वमी ॥ ७५

चतुर्थी पृथ्वीमे--पकप्रभामे नीललेश्या है, पांचवी धूमप्रभाके उपरले भागमे नीललेश्या है और अधोभागमे कृष्णलेश्या है। छठे नरकमे कृष्णलेश्या है और सातवे भागमे कृष्णकृष्णलेश्या है। इसप्रकार नरकपृथिवीओमे लेश्याओका क्रम है। क्षेत्रस्वभावसे वे अतिशय दु खी, हीन है और वे नपुसक होते है ॥ ६७—६८ ॥

तीसरे नरकतक असुरोके द्वारा वे नारकी दु.खित किये जाते है। चौथे नरकसे सातवे नरकतक वे नारकी जीव दुर्भावनाओसे अन्योन्यको दु ख देते है। नानाप्रकारके दुःखोसे वे अन्योन्यको पीडित करते है ॥ ६९ ॥

तीव्र परिणामोसे युक्त ऐसा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे जीवोको दुर्गति प्राप्त होती है, अर्थात् वे जीव नरकमे नारकी होकर जन्मते है ॥ ७० ॥

उन नारकियोको नानाप्रकारकी वेदना भोगनी पडती है। वे वेदनाये बाह्यवेदना और अभ्यन्तर वेदना ऐसी दो प्रकारकी है। असातावेदनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई वेदनाए, मानसिक वेदनाये, और देहसे उत्पन्न हुई वेदनाये, क्षेत्रस्वभावसे भयकर शीत और उष्णसे उत्पन्न हुई वेदनाये ऐसे वेदनाके अनेक प्रकार है। वे असाता वेदनीयसे उत्पन्न होती है ॥ ७१-७२ ॥

[नरकबिलोके शीतोष्णत्वका वर्णन ।] — पहिली पृथ्वीसे आरभ कर चौथी पृथ्वीतक जो नरकबिल है वे उष्णवेदनाको उत्पन्न करते है। अर्थात् वहा अत्यंत उष्णता है। पाचवी पृथ्वीके उपरके दो लक्ष बिल उष्णवेदनाके धारक है। और पाचवी नीचले भागमे एक लाख नरकबिल शीतवेदनावाले होते है अर्थात् उन बिलोमे अत्यन्त शीतवेदना है। छठे नरकके एक लाख बिल और सातवी नरकके पाच बिल ये शीतवेदनाके है ॥ ७३-७४ ॥

कौन कौनसे जीव किस किस नरकमे उत्पन्न होते है— जो असज्ञी पचेन्द्रिय जीव हैं,

१ आ हीना २ आ. यान्ति चेन्नरके

द्वितीयायां मृता यान्ति सरटाः पक्षिणः पुनः । तृतीयामेव गच्छन्ति चतुर्थ्यामुरसर्पकाः ॥ ७६
सिंहाश्च हस्तिनो यान्ति पञ्चम्यां च तथा स्त्रियः । षष्ठयामेव प्रवघ्नन्ति नारकं कर्म दुस्तरम् ॥७७
मनुजेषु पुमांसश्च तथा मत्स्यादय' परे । सप्तम्यां च मृता यान्ति कर्मणा नारकेन च ॥ ७८
सप्तम्या निःसृता जीवा मानुषत्वं न जातुचित् । लभन्ते च भवन्त्येव तिर्यञ्चः केवलं पुनः ॥ ७९
षष्ठीतो निर्गता जीवा जायन्तेऽनन्तरे भवे । मानुषा यदि ते नैव संयमेन विभूषिताः ॥ ८०
संयमोऽपि भवत्येव पञ्चम्या आगतस्य च । न कर्मान्तक्रिया तस्य दुःखभावविभाविनः ॥ ८१
चतुर्थ्या निर्गतस्यास्य निर्वृतिर्जायते क्वचित् । न जातु तीर्थकारित्वं तथा शक्तेरभावतः ॥ ८२
तीर्थकारित्वमप्यस्य जीवस्य जायते ध्रुवम् । तृतीयाया द्वितीयायाः प्रथमान्निर्गतस्य च ॥ ८३
नरकान्निर्गतानां न तस्मिन्नेव भवे भवेत् । चक्रित्वं वासुदेवत्वं बलदेवत्वमित्यपि ॥ ८४
आहारोऽपि भवेत्तेषामाभोगविनिवृत्तित. । उच्छ्वसन्ति च ते सर्वे भस्त्रायन्त्रमिवानिशम् ॥ ८५

वे पहिले नरकमे उत्पन्न होते है। वे दूसरे तीसरे आदि नरकभूमिमे उत्पन्न नही होते। गिरगिट नामक प्राणी मरणोत्तर दूसरे नरककी भूमिमे उत्पन्न होते है। पक्षी जीव तीसरे नरकतक उत्पन्न होते है। इसके आगे वे उत्पन्न नहीं होते। छातीसे चलनेवाले गोह आदि प्राणी चौथे नरक-तक जाते है। उसके आगेके नरकमे वे उत्पन्न नहीं होते। सिह और हाथी ये प्राणी पाचवे नरकमे उत्पन्न होते है। अर्थात् पहिलेसे पाचवे नरकतक उत्पन्न होते है। स्त्रियाँ अर्थात् मनुष्य-स्त्रियाँ छठे नरकमे उत्पन्न होती है। अर्थात् छठी नरकभूमितकही पापसे उत्पन्न होनेकी योग्यता उनकी है। सातवे नरकमे उनका जन्म नही होता है। मनुष्योमे पुरुष तथा तिर्यचोमे मत्स्यादिक प्राणी सातवे नरकमे उत्पन्न होते है अर्थात् प्रथम नरकसे सातवे नरकतक वे उत्पन्न होते है ॥ ७५-७८

[कौनसी नरक भूमीसे निकले हुए जीव कौनसी अवस्थाको प्राप्त होते है ? उत्तर] – सातवी नरकभूमीसे निकले हुए नारकी जीव मध्यलोकमे अनतभवमे मनुष्यपर्याय कदापि धारण नहीं करते है अर्थात् सातवे नरकमेसे निकले हुए जीव मध्यलोकमे केवल तिर्यचोमेही जन्म धारण करते है। छठी पृथ्वीसे निकले हुए जीव अनतरभवमे यदि मनुष्यपर्याय धारण करे तो नियमसे, सयमभूषित नहीं होते है। पाचवे नरकसे निकला हुआ जीव मनुष्य होकर सयमभी धारण कर सकता है। परतु सक्लेशपरिणामोसे सस्कृत होनेसे उसको कर्मक्षय न होनेसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। चौथे नरकसे निकले हुए जीवको क्वचित् मोक्षप्राप्ति होती है। परतु तीर्थकरपना उसको प्राप्त नहीं होता है। क्योकि तीर्थकर होनेकी शक्ति उस जीवमे प्रगट नहीं होती है। जो जीव तीसरा नरक, दूसरा नरक और पहिले नरकसे निकलते है उनको तीर्थकरपदकी प्राप्ति होती है। नरकसे निकले हुए जीवोको उसीभवमे चक्रवर्तिपद, वासुदेवपद और बलदेवपदभी प्राप्त नहीं होता है। नारकियोको आहारभी होता है परतु उनको कभी तृप्ति नही होती है। और वे हमेशा भस्त्राके समान श्वासोच्छ्वास करते है ॥ ७९–८५ ॥

तप्तायोरसपानं च तप्तायस्तम्भरोहणम् । घनाभिघातनं तीक्ष्णवासीक्षुरविकर्तनम् ॥ ८६
तत्रैव क्षारतैलानामभिषेकं सुदु.सहम् । अयसः कुम्भीपाकैकभर्जनं यन्त्रपीडनम् ॥ ८७
छेदनं भेदनं दुष्टं त्रासनं भीषणं भयम् । इत्यादिबहुदु'खैकहेतुभूतं सुदुस्सहम् ॥ ८८
जन्तुघातभवानेकरौद्रध्यानविवर्द्धिनः । लभन्ते नारका ह्यर्थं दु कर्मपरिपाकत' ॥ ८९
ज्ञात्वेति भव्यजीवेन दुर्गतेर्दु.खमायतम् । अहिंसादिव्रतं पूतं ध्रियते श्रीजिनोदितम् ॥ ९०
संसारकानने भीमे नारकादिकुयोनिषु । सरन्नपि न विश्रामं ही जीवो याति जातुचित् ॥ ९१
मुक्त्वा जैनेश्वरं धर्मं सर्वशर्मकरं परम् । जीवो दुर्गतिदु.खेभ्यो ध्रियते केन सत्सुखे ॥ ९२
नरकगतिगतानां प्राणिनां वृत्तमेतत् । हृदि धृतमपि दु.खं यज्जनानां ददाति ॥

वहा नारकी आपसमे तपेहुए लोहेका रस पिलाते है, तपेहुए लोहेके खभोपर चढाते है, घनोसे मस्तकपर खूब पीटते हैं। तीक्ष्ण वासी और उस्तरेसे वे शरीरोको छीलते है, विदारण करते है। उन नरकोमे वे नारकी क्षारजलोका अभिषेक छीले हुए नारकियोके अगोपर करते है जिससे उनको अत्यत दुस्सह वेदना होती है। लोहेकी कढाईमे पकाना, भुजाना और यत्रमे पेलना, छेदन करना, भेदन करना, दोषयुक्त त्रास देना, भीषण भय दीखाना ये सब कार्य अत्यन्त दु खके मुख्य हेतुभूत है और अतिशय दुःस्सह है ॥ ८६–८८ ॥

नारकी जीव प्राणियोके घातसे उत्पन्न हुए अनेक रौद्रध्यानोको वढानेवाले ऐसे नारकीय अनर्थोको दुष्कर्म परिपाक होनेसे–अशुभ कर्मका उदय होनेसे भोगते है ॥ ८९ ॥

नारकियोको प्राप्त हुए दुर्गतिके विस्तीर्ण दु खोको इस प्रकार जानकर भव्यजीवोकेद्वारा श्रीजिनेश्वरने कहे हुए पवित्र अहिंसादि व्रत धारण किये जाते है ॥ ९० ॥

अरेरे ! इस भयकर ससाररूप–वनमे नारकादिक अनेक कुयोनियोमे इस जीवने स्वल्प विश्रामभी कदापि प्राप्त नही किया है ॥ ९१ ॥

सपूर्ण सुखको देनेवाला अर्थात् अनन्त सुखरूप मुक्तिको प्रदान करनेवाला जिनेश्वरका उत्तम धर्म छोडकर दूसरा कौनसा धर्म–वैदिकादि धर्म जीवको दुर्गतिदु.खोसे निकालकर उत्तम दु खरहित सुखमे स्थापना करता है ? अर्थात् जीवोको अन्यधर्म दु खरूप चतुर्गतिमे भ्रमण करानेके कारण है ॥ ९२ ॥

नरकगतिमे जो प्राप्त हुए है, ऐसे प्राणियोका यह वृत्त हृदयमे धारण करनेपरभी लोगोको दु खित करता है। तो भी ज्ञान और चारित्रसे हीन अर्थात् अज्ञानी और स्वच्छंदी पुरुष उन

१ आ. दुःख

तदपि यदि निहीना ज्ञानचारित्रहीना । न हि परिगणयन्ते हा हतास्ते हताशाः ॥ ९३
अतुलितमहिमानं वर्द्धमानं ह्यमानम् । जिनवरवरवीरं चारुचारित्रधीरम् ॥
हृदयगतमनूनं यो दधात्यत्र नूनम् । नरकगतिविशेषस्तस्य नामैकशेषः ॥ ९४

❀ इति[1] श्रीसिद्धान्तसारसङ्ग्रहे पण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते नरकगतिस्वरूपप्ररूपणः षष्ठः परिच्छेदः ❀

दु.खोको ध्यानमे नहीं लाते है। नरकोंमे तीव्र दुःख असदाचारसे भोगना पडता है इस बातका विचारही नहीं करते है। अहह ! ऐसे हताश पुरुप नष्टही हुए ऐसा समझना चाहिये ॥ ९३ ॥

जिनकी महिमा अनुपम है और जो अमान–गर्वरहित है अर्थात् उपलक्षणसे क्रोधादि कषाय और ज्ञानावरणादि कर्मोंसे रहित हुए है, जिनका ज्ञान पूर्ण वृद्धिंगत हुआ है, जो सर्वज्ञ हुए हैं, जिन्होने सुदर चारित्र--यथाख्यात चारित्र धारण किया है, तथा जो धीर है–अनन्त शक्तिमान् है, जो जिनवरमे गणधरादिकोमे वर–श्रेष्ठ हैं ऐसे वीरभगवानको, जोकि अनून अर्थात् महान् है, गुणोंसे परिपूर्ण हैं, जो हृदयमे उनको धारण करते है उनको नरकगतिका विशेप नामसेहि शेप है अर्थात् वे नरकगतिको प्राप्त होते नहीं ॥ ९४ ॥

इस प्रकार पण्डिताचार्य श्रीनरेन्द्रसेनजीके रचे हुए सिद्धान्तसार संग्रहमे नरकगतिका स्वरूप कथन करनेवाला छठा अधिकार समाप्त हुवा।

---

१ आ. इति श्रीसिद्धान्तसारसग्रहे आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते पष्ठः परिच्छेदः समाप्तः ॥

सप्तमः परिच्छेदः

अथ तिर्यङ्महालोकं कथयामि यथागमम् । तिर्यङ्मानवदेवानामानन्दैकप्रदायकम् ॥ १
जम्बूद्वीपादयो द्वीपाः शुभनामान इत्यमी । लवणोदादयः सर्वे समुद्रास्तत्र विश्रुताः ॥ २
जम्बूद्वीपस्ततो द्वीपो धातकीखण्ड इत्यपि । पुष्कराख्यस्तृतीयः स्याच्चतुर्थो वारुणीवर ॥ ३
पञ्चमः क्षीरनामा च षष्ठो घृतवरो मत' । सप्तमो मुनिभिर्गीतस्तथेक्ष्वादिवरो महान् ॥ ४
नन्दीश्वरस्तथा पूतश्चाष्टमो नवमः पुनः । अरुणाख्य इति ख्यातस्ततोऽरुणवरो महान् ॥ ५
अरुणादिवराभासो द्वीपश्चैकादशो मतः । द्वादशः कुण्डलाख्यश्च कुण्डलादिवर. पर. ॥ ६
चतुर्दशस्तदाभासः कथितो मुनिभास्करैः । शङ्खस्तत. परो ज्ञेयस्तस्माच्छङ्खवर. पर ॥ ७
ततः शङ्खवराभासो रुचकस्तत्परो वरः । रुचकादिवरस्तस्माद्रुचकाभास इत्यपि ॥ ८
भुजगः कथितो द्वीपो भुजगादिवरस्तत. । भुजगादिवराभास. कुशः कुशवरो महान् ॥ ९
कुशाभासश्च विज्ञेयः क्रौञ्च क्रौञ्चवरस्ततः । स क्रौञ्चादिवराभासो नामतोऽमी निवेदिताः ॥१०
अतः परमसङ्ख्याता द्वीपा' सन्ति सुशोभनाः । यावदन्तिमको द्वीप' स्वयम्भूरमणाभिध ॥ ११

[सातवा अध्याय]

अब मै (पडिताचार्यनरेन्द्रसेन) आगमका अनुसरण करके तिर्यंच, मनुष्य और देवोको आनन्द देनेवाले तिर्यङ्महालोकका वर्णन करता हू ॥ १ ॥

इस मध्यलोकमे जो शुभनाम है उनको धारण करनेवाले सर्व जम्बूद्वीपादिक प्रसिद्ध द्वीप है और शुभनाम धारण करनेवाले लवणोदादिक प्रसिद्ध समुद्र है ॥ २ ॥

[द्वीपोके नाम ।]– पहला जम्बूद्वीप है तदनन्तर धातकीखण्डद्वीप है। तीसरा पुष्करद्वीप है। चौथा वारुणीवर द्वीप, पाचवा क्षीरवरद्वीप, छठा घृतवर द्वीप, सातवा महान्द्वीप इक्षुवर हैं। आठवे द्वीपका नाम नन्दीश्वर है। नौवा द्वीप अरुणनामका है। दसवा द्वीप अरुणवर है। ग्यारहवा द्वीप अरुणवरभास नामका है। बारहवा द्वीप कुण्डल नामवाला है। कुण्डलवरद्वीप तेरहवा है। मुनिओमे सूर्यसमान तेजस्वी ऐसे गणधरोने चौदहवा द्वीप भास नामका कहा है। तदनतर शख नामक द्वीप पद्रहवा है। इसके अनतर सोलहवे द्वीपका नाम शखवर है। इसके अनतर शखवराभास, तद नन्तर रुचक, पुन. रुचकवर, तदनतर वीसवा द्वीप रुचकाभास नामका है। इसके अनतर भुजगद्वीप है। फिर भुजगवरद्वीप है। तदनतर भुजगवरभास नामका द्वीप है। इसके अनतर कुशद्वीप, तदनतर महान् कुशवर द्वीप है। पुनः कुशवराभास द्वीप है। पुनः क्रौच द्वीप है। तदनतर क्रौचवरद्वीप है। इसके अनतर क्रौचवराभास द्वीप है ऐसे नामोल्लेख करके अट्ठाईस द्वीप कहे हैं। इन द्वीपोके अनन्तरभी सुदर ऐसे असङ्ख्यातद्वीप हैं। और वे अन्तिमद्वीपतक है और अन्तिमद्वीपका नाम स्वयभूरमण है ॥ ३–११ ॥

---

१ आ. कथ्यते

लक्षयोजनमानेन जम्बूद्वीपः प्रमाणभाक्[1] । लक्षद्वयप्रमाणेन लवणोदेन वेष्टितः ॥ १२
चतुर्लक्षप्रमाणोत्थधातकीखण्ड इत्यपि । लक्षाष्टकप्रमाणेन कालोदवलयान्वितः ॥ १३
ततः षोडशलक्षैकविस्तारः पुष्कराभिधः । मानुषोत्तरशैलस्य वलयेन द्विधाकृतः ॥ १४
पुष्कराख्यसमुद्रेण द्विगुणेनाभिवेष्टितः । द्विगुणा द्विगुणास्तस्मात्सन्त्यन्ये द्वीपसागराः ॥ १५
वलयाकृतय. सर्वे तिर्यग्लोकव्यवस्थिताः । स्वयम्भूरमणो यावद्द्वीपश्चान्तिमको भवेत् ॥ १६
समुद्रा अपि सर्वेऽपि वलयाकृतयः परे[2] । विद्यन्ते द्वीपनामानो मुक्त्वाद्यद्वितयं पुनः ॥ १७
द्रवल्लवणसंवादि[3]रसतोयभृतौ मतौ । लवणोदस्तु कालोदः सत्यं तोयरसः स्मृतः ॥ १८
पुष्कराम्बुधिरप्येवं स्वयम्भूरमणोऽपि च । उदकैकरसौ ज्ञेयौ जिनागमनिवेदितौ ॥ १९
वारुणीवर इत्येवं यस्य नामेह विश्रुतम् । मदिरैकरसास्वादतोयसंपूरितः स च ॥ २०

[जम्बूद्वीपादि द्वीपसमुद्रोंका विस्तारवर्णन ।] – विस्तारसे एक लाख योजन प्रमाणको धारण करनेवाला जम्बूद्वीप दो लाख प्रमाण युक्त लवणोद समुद्रसे वेष्टित है । इस लवणसमुद्रको चार लाख योजन प्रमाणको धारण करनेवाले धातकी खंडने वेष्टित किया है । इसको आठ लाख योजनका विस्तार धारण करनेवाले कालोद समुद्रने घेरा है। इस कालोदसमुद्रको घेरनेवाला द्वीप पुष्कर नामका है । वह सोलह लाख योजन विस्तारवाला है । उसके बीचमे मानुषोत्तर पर्वतका वलय है। उससे वह द्विधा हुआ है अर्थात् उसके दो भेद हुए है। इस पुष्करद्वीपको पुष्करवरनामक समुद्रने जोकि बत्तीस लाख योजन विस्तारका है, घेरा है। इसके अनन्तर समुद्रसे द्विगुण विस्तार-वाला द्वीप और द्वीपसे दुगुने विस्तारवाला समुद्र ऐसे द्वीपसमुद्र है, वे सब वलयाकार है और तिर्य-ग्लोकमे विशिष्ट अवस्थासे व्यवस्थित है। उनका वर्णन आगममे है। इस तिर्यग्लोकमें अन्तिमद्वीप स्वयभूरमण नामवाला है। सब समुद्रभी द्वीपके समान वलयाकार है। जो समुद्र है वे द्वीपके नाम-वाले है परतु जम्बूद्वीप और धातकीखड ये दो द्वीप छोडकर अर्थात् जम्बूसमुद्र, धातकी समुद्र ऐसे नाम पहिले और दूसरे समुद्रके नहीं है। पहिले समुद्रका नाम लवणोदसमुद्र है और दूसरे समु-द्रका नाम कालोद है परंतु उनके आगेके समुद्रोके नाम द्वीपके नामका अनुसरण करते है अर्थात पुष्करद्वीप, पुष्करसमुद्र, वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरद्वीप, क्षीरसमुद्र इत्यादिमे सर्वत्र द्वीपके नामही समुद्रके नाम है ॥ १२–१७ ॥

[पहिले दो समुद्रोके जलका स्वाद ।] – द्रवीभूत नमकके समान स्वादवाला पानी लवणसमुद्रका है। और कालोदका पानी पानीके स्वादकाही माना है। पुष्करसमुद्रभी जलस्वाद-वाला है। तथा स्वयभूरमण समुद्रका पानीभी जलस्वादवालाही है ऐसा जिनागमने कहा है॥१८–१९॥

[अन्यसमुद्रके जलास्वादोका वर्णन ।] – इस मध्यलोकमें जिसका नाम वारुणीवर ऐसा प्रसिद्ध है वह केवल मदिरारसके आस्वादको धारण करनेवाले जलोसे भरा हुआ है। जो क्षीरो-

१ आ. सुवृत्तभाक् २ आ पराः ३ सवाद

क्षीरोदकवरो यस्तु समुद्रस्तेषु विश्रुतः । खण्डसम्मिश्रसत्क्षीररसास्वादाम्बुपूरितः ॥ २१
सुगन्धघृतसंस्वादितोयसन्दोहपूरितः । घृतादिकवरो वर्यैः कथितो जिननायकैः ॥ २२
मध्विक्षुरससंस्वादिजलजातप्रपूरिता. । शेषाः सर्वेऽपि विज्ञेयाः समुद्राः श्रीजिनागमात् ॥ २३
एषु द्वीपसमुद्रेषु पर्वताद्युपरि स्थिताः । व्यन्तराणां समावासा विद्यन्ते विविधाः पुन. ॥ २४
लवणोदे च कालोदे स्वयम्भूरमणाम्बुधौ । मत्स्यादयः प्रभूताः स्युर्न परेषु कदाचन ॥ २५
मेरुनाभि. शुभो वृत्तो मध्यस्थो[1] हि यतो महान् । जम्बूद्वीपस्ततोऽप्येवं कथयामि विशेषतः ॥ २६

दकवर नामक समुद्र समुद्रोमे प्रसिद्ध है वह खाण्डका मिश्रण जिसमे है ऐसे दूधके रसके आस्वादको धारण करनेवाले जलोसे भरा हुआ है ॥ २०—२१ ॥

श्रेष्ठ ऐसे जिननायकोने-वृषभादि तीर्थकरोने घृतवर-समुद्र सुगधित घीके समान आस्वादवाले जलसमूहोसे भरा हुआ है ऐसा कथन किया है । बाकीके समस्त समुद्र मधु और ईखके रसका स्वाद धारण करनेवाले जलसमूहोसे भरे हुए है ऐसा श्रीजिनेश्वरके आगमसे जानना चाहिये ॥ २२—२३॥

[व्यतरोके आवासस्थान ।] — इन द्वीपोमे और समुद्रोमे और विजयार्द्ध, कुलपर्वत, मेरुपर्वत और इतर पर्वतोपर व्यतरोके आवासस्थान है तथा और भी व्यंतरोके नाना निवासस्थान है । स्पष्टीकरण—इस जम्बूद्वीपसे आगे असख्य द्वीपसमुद्रोको उल्लघकर ऊपरके खरभागमे राक्षसोको छोडकर सात व्यतरोके निवासस्थान है, अर्थात् किन्नर, किपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, भूत और पिशाच ऐसे व्यतर जातियोके निवासस्थान है । राक्षसोके निवासस्थान पङ्कबहुलभागमे है । तथा इस भूतलपरभी द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, ग्राम, नगर, त्रिक—तीन मार्ग जहासे निकलते हैं उसको त्रिक कहते है, चतुष्क—जहासे चार मार्ग निकलते है ऐसा स्थान, गृहका अगण, तथा विस्तृत मैदान, जलाशय, उपवन, देवमदिरादिक अनेक निवासस्थान है, जहा व्यतरदेव रहते हैं। तथा गगादिक नदियोमे व्यतरदेवदेवियोके निवासस्थान है । समुद्रमे मागध, प्रभास आदिक व्यतरदेव रहते है । विजयार्ध पर्वतपर व्यतरोके निवासस्थान है । इस प्रकार व्यतरोके अनेक निवासस्थान है ॥ २४ ॥ (तत्त्वार्थवार्तिक अ ३ रा)

[मत्स्य कौनसे समुद्रोमे है ? उत्तर] — लवणोदसमुद्र, कालोदसमुद्र और स्वयम्भूरमण समुद्र इन तीन समुद्रोमे मत्स्यादिक जलचर प्रभूत है। परतु इनको छोडकर अन्य पुष्करादि समुद्रोंमें ये जलचर प्राणी कदापि उत्पन्न नहीं होते ॥ २५ ॥

[जम्बूद्वीपका विशेपतासे वर्णन ।] — यह जम्बूद्वीप शुभ, गोल-सूर्यमडलके समान है । असख्यात द्वीपसमुद्रोके बीचमे है । इस जम्बूद्वीपके बिलकुल बीचमे मेरुपर्वत है,वह इसकी मानो नाभि है । ऐसे महान् द्वीपका मै (नरेन्द्रसेनाचार्य) विशेपतासे वर्णन करता हूं ॥ २६ ॥

१ मध्यस्थोऽस्ति यो

तत्र सन्ति विचित्राणि सप्तक्षेत्राणि सर्वतः । भरतो हिमवर्षश्च हरिवर्षः सुशोभनः ॥ २७
विदेहो रम्यको नाम हैरण्यवतमायतम् । ऐरावतं ततः क्षेत्रं विद्यते विस्मयावहम् ॥ २८
पूर्वापरायता अस्य[1] पर्वतास्तद्विभाजिनः । हिमवानाद्य इत्येवं महादिहिमवान्परः ॥ २९
निषधश्च तृतीयोऽसौ चतुर्थो नील इष्यते । रुक्मी च शिखरी तस्मात् षडेते मणिपार्श्वकाः ॥ ३०
हिमवान्हेमवर्णोऽसौ पीतवस्त्रनिभः शुभः । शुक्लः सर्वोऽपि सर्वत्र द्वितीयो द्युतिमानयम् ॥ ३१
तपनीयमयस्तावत्तृतीयश्च चतुर्थक. । स वैडूर्यमयोऽभाणि मयूरग्रीवसन्निभ. ॥ ३२
रजतैकमयो ज्ञेय. पञ्चमः पर्वतो महान् । षष्ठो हेममयस्तस्मात्कथ्यते कौतुकावह. ॥ ३३
तेषामुपरि विद्यन्ते सरांसि ह्रदनामत. । पद्मो महादिपद्मश्च तिगिञ्छः केसरी ततः ॥ ३४
महादिपुण्डरीकश्च पुण्डरीक इति ध्रुवाः । ह्रदा. सर्वेऽपि विद्यन्ते नदीनां निर्गमाश्रयाः ॥ ३५
हिमवन्मस्तकस्थाच्च पद्मनाम्नो ह्रदान्नदी । गङ्गेति विश्रुता पूर्वतोरणेन प्रवर्तते ॥ ३६

[भरतादिक सप्तक्षेत्रोंके नाम ।] – इस जम्बूद्वीपमे विचित्र आश्चर्यावह भरतादिक सात क्षेत्र सर्वत्र हैं। अर्थात् इन क्षेत्रोंसे युक्त जम्बूद्वीपका भूदेश है। इनको छोडकर अन्य क्षेत्र नहीं है। इन क्षेत्रोंके नाम-भरत, हिमवर्ष-हैमवतक्षेत्र, सुदर हरिवर्ष-हरिक्षेत्र, विदेहक्षेत्र, रम्यकक्षेत्र, दीर्घ हैरण्यवतक्षेत्र, और तदनंतर विस्मय उत्पन्न करनेवाला ऐरावतक्षेत्र ऐसे सात क्षेत्र है ॥ २७–२८ ॥

[हिमवदादिक छह कुलपर्वत ।] – इस जम्बूद्वीपके जो हिमवदादि छह पर्वत है वे भरतादिक क्षेत्रोंके विभाग करनेवाले होनेसे उनको वर्षधर कहते है। अर्थात् भरतादिक वर्षको-क्षेत्रको विभक्त रखकर धारण करनेवाले ये पर्वत है। ये पर्वत पूर्वदिशासे पश्चिम दिशातक दीर्घ है। इनमे पहिला पर्वत हिमवान है। दूसरा पर्वत महाहिमवान है। तीसरा पर्वत निषध, चौथा नील पर्वत है, पाचवा पर्वत रुक्मी, और छठा शिखरी पर्वत है। इन छहो पर्वतोंके दोनो पसवाडे नाना-मणियोंसे विचित्रित है। हिमवान् पर्वत सुवर्णवर्णका है, पीले वस्त्रके समान वह दिखता है। दूसरा महाहिमवान् पर्वत है। वह सर्वत्र सपूर्ण शुक्ल है। तीसरा कान्तिमान् निषध पर्वत सुवर्णमय है। चौथा नीलपर्वत वैडूर्यमणिओंमे खचित् अर्थात् नील वर्णका है। मोरके कण्ठके समान नील रगका है। पाचवा महान् पर्वत सर्व बाजुओंसे रजतमय है चादीका हैं। उसको रुक्मी पर्वत ऐसा नाम है। छठा पर्वत शिखरी है, वह सुवर्णमय है और आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है ॥ २९–३३ ॥

[हिमवदादि पर्वतोंपरके सरोवरके नाम।] – उन पर्वतोंपर ह्रद नामके छह सरोवर है। उनके नाम पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ऐसे है। ये सरोवर अनादि-निधन–नित्य हैं, तथा गगादिनदियोंके उत्पत्तिके आधारस्थान है ॥ ३४–३५ ॥

[पद्मसरोवरसे निकली हुई गगानदीका वर्णन ।] – हिमवत्पर्वतके मस्तकपर जो पद्म

---

१ आ. स्तमपीयत्

पञ्चयोजनसुविस्तारा क्रोशाधिकतया पुनः । अर्धक्रोशावगाहा सा निर्गमे गदिता जिनैः ॥ ३७
पूर्वेण दिग्विभागेन पर्वतोपरि गच्छति । यावच्छतानि पञ्चैव योजनानां सुशोभना ॥ ३८
गंगाकूटसमीपे सा व्यावर्त्य दक्षिणेन तु । भूमिकुण्डे पतत्याशु सुविस्तीर्णे सुशोभने ॥ ३९
तस्य दक्षिणमार्गेण विनिर्गत्याभि गच्छति । भरतक्षेत्रमध्यस्थं रूप्याद्रि रूपसंयुतम् ॥ ४०
पूर्वापरमभिव्याप्य समुद्रान्तं स्थितो हि सः । विजयस्यार्द्धभागे यद्विजयार्ध इतीरितः ॥ ४१
पञ्चविंशतिरित्येवं योजनान्युदये मतः । विस्तरेण तु पञ्चाशद्योजनानि जयावहः ॥ ४२
अधस्ताद्योजनान्यस्य दशमत्वात्सुशोभने । विभागे श्रेणयः सन्ति विद्याधरसमाश्रयाः ॥ ४३
नगर्यः सन्ति पञ्चाशद्दक्षिणश्रेणिसंश्रिताः । उत्तरश्रेणिगाः षष्टिर्विचित्रजनसंकुलाः ॥ ४४
द्वितीयदशके सन्ति विचित्राकारधारिणः । व्यन्तराणां समावासा नवकूटानि मस्तके ॥ ४५
नवमे सिद्धकूटेऽस्ति पूर्वस्यां दिशि शोभने । जिनचैत्यगृहं रम्यमकृत्रिममनिन्दितम् ॥ ४६

नामक ह्रद है, उससे गगा नामकी प्रसिद्ध नदी उसके पूर्वतोरणसे निकलती हैं । उद्गमस्थानमे गगानदीका विस्तार छह योजन और एक कोश अधिक अर्थात् सव्वा छह योजन प्रमाणका है । तथा वह आधा क्रोश अवगाहवाली है ऐसा जिनोने कहा है। वह सुदर नदी पर्वतपरसे पूर्वदिशाके तरफ पाचसौ योजनतक वहती है। अनंतर गगाकूटके समीप पहुचकर वह दक्षिण दिशाको मुडती है । और वही सुदर तथा सुविस्तीर्ण ऐसे भूमिकुण्डमे गिरती है । उसके दक्षिण मार्गसे निकलकर वह नदी भरतक्षेत्रके मध्यस्थित सुदर रूप्याद्रि पर्वतके पास आती है ॥ ३६–४० ॥

[विजयार्द्धपर्वतका वर्णन ।] — यह विजयार्द्धपर्वत समुद्रके पूर्व और पश्चिम विभागको व्याप्त कर रहा है अर्थात् पूर्व समुद्र और पश्चिम समुद्रमे विजयार्द्धके तट प्रविष्ट हुए है। इसको विजयार्द्ध नाम अन्वर्थक है। क्योकि चक्रवर्तीके विजयका आधा भाग यहा पूर्ण होता है इसलिये इसे विजयार्द्ध कहते है । यह पर्वत पचीस योजन ऊचा है और इसका विस्तार पचास योजनोका है । चक्रवर्तीको विजयप्राप्ति करानेवाला यह पर्वत है । जमीनसे दश योजन ऊपर जानेपर पर्वतके विभागपर विद्याधरोके आधारस्थानरूप श्रेणियाँ है । उनमे-दक्षिणश्रेणिमे पचास नगरिया है । और उत्तर श्रेणीमे नानाजनोसे व्याप्त ऐसी साठ नगरिया है ॥ ४१–४४ ॥

विद्याधरश्रेणीके ऊपर पुन दशयोजन गमन करनेपर व्यन्तरदेवोके विचित्र आकृतिके धारक निवासस्थान है । अर्थात् जैसी दो विद्याधरश्रेणिया कही है वैसीही दश योजन विस्तारवाली और पर्वतकी जितनी लबाई है उतनी दीर्घतावाली व्यतरोकी दो श्रेणिया हैं। वहा सोम, यम, वरुण और वैश्रवण ऐसे इद्रके लोकपाल और आभियोग्य जातीके व्यतरदेवोके निवासस्थान है। इस पर्वतके ऊपर नौ कूट है । उनमेसे आठ कूटोपर दक्षिणार्धभरत, वृत्तमाल्यदेव आदिकोके प्रासाद हैं । उनमें उन उन नामोके देव रहते है । नौवे कूटपर सिद्धकूट नामका अकृत्रिम जिनमदिर है ॥ ४४–४६

---

१ आ पञ्चयोजनानि विस्तारः २ आ समीपात् ३ आ तस्मात् ४ आ. रित्येव ५ आ. दश गता

तमिस्रायां[1] विशालायां मार्गान्निर्गत्य[2] गच्छति । आर्यखण्डमभिव्याप्य किञ्चित्पूर्वपयोनिधौ ॥ ४७
चतुर्दशसहस्रैः सा नदीनां परिवारिता । प्रवेशे विस्तृता सार्धं द्विषष्टिर्योजनानि च ॥ ४८
विस्तरेणावगाहेन परिवारप्रदेशितः[3] । गङ्गावत्सिन्धुरप्यस्ति भारतेऽत्र महानदी ॥ ४९
आरोपितमहाचापसमाकारं सुविस्तरम् । नदीभ्यां विजयार्द्धेन षट्खण्डं भारतं भवेत् ॥ ५०
विस्तारेण तदेव स्याद्योजनानां शतानि च । पञ्चैव हि षड्विंशत्या सहितानि कलाश्च षट् ॥ ५१
पद्मनामहृदः पूतो दीर्घेणैकसहस्रकम् । योजनानां तदर्धं स्याद्विस्तरेणेति[4] विस्तृत. ॥ ५२
तच्छ्रीदेवी निवासैकस्थान तन्मध्यगं महत् । सत्पद्मं विद्यते चारु चारुतारदलाकुलम्[5] ॥ ५३

इस पर्वतमे दो गुहाये है उनके नाम तमिस्रागुहा और खडप्रपातागुहा । विशाल तमिस्रागुहामेसे जो गगानदीको मार्ग मिला उससे वह निकलकर आर्यखडमे आई और उसे कुछ व्याप्त करके पूर्व समुद्रमे उसने प्रवेश किया । चौदह हजार परिवारनदियोसे मिलकर उसने जहा प्रवेश किया है, उस स्थानमे वह साडेबासठ योजनप्रमाण विस्तृत हुई है ॥ ४७–४८ ॥

जैसा गंगा नदीका अवगाह और विस्तार है तथा जितनी परिवारनदियॉ उसको मिली है, वैसाही अवगाह और विस्तार सिंधुनदीका है तथा उतनीही परिवार नदिया सिंधुको मिली है। वह सिंधुनदीभी इस भारतमे आर्यखडमे आकर पश्चिम समुद्रमे प्रविष्ट हुई है ॥ ४९ ॥

[भरतक्षेत्रका सक्षेपसे विवरण ।] — यह भरतक्षेत्र सज्य किये हुए महाधनुष्यके समान आकृतिको धारण करनेवाला है और उत्तम विस्तारवाला है। दो नदियोसे (गगा और सिंधु) तथा विजयार्द्ध-पर्वतसे इस भरतके छह विभाग हुए है। स्पष्टीकरण—भरतक्षेत्रके बिलकुल मध्यमे विजयार्ध पर्वत पूर्वसे पश्चिम दिशातक सीधा दीवारके समान खडा हुआ है। इससे भरतके दक्षिण भरत और उत्तर भरत ऐसे दो विभाग हुए है। तथा गगानदी और सिन्धु नदी ये दो नदियाँ उत्तर भरत और दक्षिण भरतके बीचमेसे बहती हुई लवणसमुद्रको जाकर मिली है, इससे उत्तर भरतके तीन विभाग और दक्षिण भरतके तीन विभाग होनेसे भरतक्षेत्र षट्खण्ड युक्त हुआ है ॥ ५० ॥

यह भरतक्षेत्र विस्तारसे पाचसौ छब्बीस योजन और छह कला प्रमाण है। अर्थात् एक योजनके उन्नीस भागोमेसे छह भाग लेना चाहिये इतना भरतखण्डका विस्तार है ॥ ५१ ॥

[पद्महृदका और हिमवान् पर्वतका वर्णन ।] — हिमवान् पर्वतपर पद्मनामका अनादि निधन और पवित्र सरोवर है। वह एक हजार योजनप्रमाण लबा है। तथा पाचसौ योजनप्रमाण चौडा है। इसप्रकार उसका विस्तार कहा है। यह सरोवर श्रीदेवीका मुख्य निवासस्थान है। इस सरोवरके बिलकुल बीचमे प्रशस्त और सुदर पद्मनामक महाकमल है वह सुदर और प्रकाशमान दलोसे पूर्ण है ॥ ५२–५३ ॥

---

१ आ. तिमिस्राया २ आ. गगा ३ आ. प्रदेशतः ४ आ णाति ५ दलसङ्कुलम्

हिमवानुदयेऽभाणि योजनानां शतं पुन.। सहस्रसद्विपञ्चाशत्कला द्वादश विस्तरात्॥ ५४
हिमवन्मस्तकस्थानपद्मादिकह्रदात्पुन'। रोहितास्या नदी रम्या निःसरत्युत्तरेण सा॥ ५५
योजनार्धेन सन्त्यज्य नाभिपर्वतमुत्तमम्। तमर्धदक्षिणं कृत्वा पश्चिमं याति वारिधिम्॥ ५६
गंगासिन्धुनदीसक्तस्वरूपाद्द्विगुणा श्रिता[1]। स्वरूपेण स्वरूपं किं वर्ण्यतेऽस्या कवीश्वरैः॥ ५७
महाहिमवतः साधुमस्तकस्थात्सुशोभनात्। महापद्मह्रदाद्रोहिन्नदी निर्गत्य गच्छति॥ ५८
नाभिदक्षिणतो मुक्त्वा पर्वतं योजनार्द्धत.। रोहितास्यास्वरूपा च पूर्वस्यां याति वारिधौ॥ ५९
पद्मादिकह्रदात्सोऽयं महापद्मह्रदो महान्। ह्रीदेवता निवासोऽयं द्विगुणोऽभाणि सूरिभि.॥ ६०

हिमवान् पर्वतका उदय अर्थात् ऊंचाई सौ योजनोंकी कही है। और उसका विस्तार एक हजार बावन योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे बारह भाग अर्थात् बारह कला इतना हैं॥ ५४॥

हिमवत्पर्वतके मस्तकपर जो पद्मसरोवर है, उसके उत्तरतोरणद्वारसे रोहितास्यानामक रमणीय महानदी निकली है॥ ५५॥

वह नदी उत्तम नाभिपर्वतसे आधा योजनप्रमाण दूर रहकर तथा उसको दूरसे आधी प्रदक्षिणा देकर पश्चिम समुद्रमे प्रविष्ट हुई है॥ ५६॥

गगानदी और सिधु नदीके जो स्वरूप है उससे इसका विस्तार दुगुना है, अर्थात् साडेबारह योजन विस्तार इस नदीका है। एक योजनप्रमाण इसकी धाराकी मोटाई हैं। इस नदीका अवगाह उत्पत्ति स्थानमे एक कोसका है और प्रवेशस्थानपर अवगाह ढाई योजनका है। उत्पत्ति-स्थानमे इसकी चौडाई साडेबारह योजनोंकी है और मुखमे सवासौ योजन विस्तार है। इत्यादि स्वरूप गगानदीके स्वरूपसे द्विगुण है। गगानदीके स्वरूपसे इसका स्वरूप कवीश्वरोंके द्वारा क्या कहा जावेगा ?॥ ५७॥

[महाहिमवान और महापद्मसरोवरका वर्णन।] – महाहिमवत्पर्वतके सुदर और पवित्र मस्तकपर जो महापद्मसरोवर है उससे रोहित् नामक नदी निकलकर नाभिपर्वतके समीप जाती है। उसको आधा योजनके फासलेपर प्रदक्षिणा देकर उसे छोडकर आगे बहती है और पूर्वदिशामें समुद्रमे प्रवेश करती है। इसका स्वरूप, अवगाह, विस्तार सबकुछ रोहितास्या नदीके समान है॥ ५८–५९॥

महापद्मह्रद पद्मसरोवरसे बडा है अर्थात् उसकी लबाई, विस्तार, अवगाह दुगुने है। इस महापद्मसरोवरमे महापद्मनामक कमलके बीचमे सुदर प्रासादमे ह्री देवीका निवासस्थान है। वह पद्म कमलस्थित प्रासादसे द्विगुणप्रमाणका है ऐसा आचार्योंने कहा है॥ ६०॥

---

१ आ. मता,

हिमवत्पर्वतात्प्रोक्तो महादिर्हिमवान् शुभः[1] । द्विगुणोत्सेधसंयुक्तो विशुद्धतरदर्शनैः ॥ ६१
सहस्राणि तु चत्वारि योजनानां शतद्वयम् । दशाधिकश्च विस्तारो महाहिमवतो मतः[2] ॥ ६२
तयोर्मध्येऽतिविस्तीर्णं क्षेत्रं हैमवतं महत् । तन्मध्ये नाभिपूर्वत्वान्नाभिपूर्वोऽस्ति पर्वतः ॥ ६३
योजनानां हि तत्क्षेत्रं सहस्रद्वयमायतम् । शतं च पञ्चभिर्युक्तं कलाः पञ्च तथा पुनः ॥ ६४
जघन्या भोगभूमिस्तत्कल्पवृक्षसमन्वितम् । पल्योपमायुषस्तत्र क्रोशैकोत्सेधमानवाः ॥ ६५
हरिकान्ता नदी तस्मान्महापद्मह्रदात्पुनः । उत्तरेण विनिर्गत्य नाभिं मुक्त्वार्द्धयोजनम्[3] ॥ ६६
रोहिन्नद्याः स्वरूपेण द्विगुणा समुदायतः । अनेकाश्चर्यसंयुक्ता पश्चिमं याति वारिधिम् ॥ ६७
निषधस्थमहागाधतिगिञ्छह्रदनिर्गता । हरिन्नामनदी याति पूर्ववत्पूर्ववारिधिम् ॥ ६८
महापद्मह्रदात्सोऽपि तिगिञ्छो द्विगुणो मतः । धृतिदेवीनिवासश्च पुण्डरीकसमन्वितः ॥ ६९

[हैमवत जघन्यभोगभूमिका वर्णन ।] – हिमवत्पर्वतसे शुभ और विशुद्धतर-अतिशय शुभ्र वर्णका धारक महाहिमवान् पर्वत द्विगुण ऊंचाईवाला है । अर्थात् दोसौ योजनप्रमाण ऊंचा है । इस पर्वतका विस्तार चार हजार दोसौ दस योजनप्रमाण है । हिमवान् और महाहिमवान् इन दो पर्वतोके वीचमे महान् हैमवतक्षेत्र हैं वह अतिविस्तीर्ण है । इस क्षेत्रकी मानो नाभि ऐसा नाभि पर्वत ठीक वीचमे है । यह हैमवतक्षेत्र दो हजार एकसौ पाच योजन और पाच कलायुक्त है । यह हैमवतक्षेत्र जघन्य भोगभूमि है । इसमे दश प्रकारके कल्पवृक्ष है । उनसे यहाके भोगभूमिजोकी इच्छाये पूर्ण होती है । यहाके भोगभूमिजोकी आयु एक पल्यकी कही है। उनकी ऊंचाई एक कोसकी है । इस क्षेत्रकी दीर्घता दो हजार एकसौ पाच योजनप्रमाणकी है । तथा पाच कला अधिक है ॥ ६१–६५ ॥

[हरिकान्ता नदीका वर्णन ।] – उस महापद्मसरोवरसे हरिकान्ता नामक नदी उत्तर तोरणद्वारसे निकलती है । तथा नाभिपर्वतको अर्धयोजन अन्तरसे छोडकर अनेक आश्चर्योसे युक्त होती हुई पश्चिम समुद्रको जाकर मिलती है । यह हरिकान्ता नदी रोहिन्नदीके समान है अर्थात् दीर्घता, अवगाह, परिवार नदियोकी सख्या आदिक वाते रोहित् नदीके समान हैं ॥ ६६–६७ ॥

[निषधपर्वत, तिगिञ्छ सरोवर और हरिन्नदीका वर्णन ।] – निषधपर्वतके महान् और अगाध ऐसे तिगिञ्छ सरोवरसे निकली हुई हरित् नामकी नदी पूर्वनदीके समान अर्थात् हरिकान्ता नदीके समान पूर्वसमुद्रमे जाकर प्रवेश करती है ॥ ६८ ॥

महापद्म–सरोवरसे वह तिगिञ्छ सरोवरभी द्विगुण है अर्थात् चार हजार योजन दीर्घ और दो हजार योजन चौडा तथा चालीस योजन अवगाहवाला है । इस सरोवरके मध्यभागमे जो कमल है, उसके महलमे धृति देवीका निवास है । इसके आसमन्तात् अनेक कमल परिवार है ॥ ६९ ॥

१ आ. हिमवच्छुभः २ आ. मतम् ३ आ. अर्धयो ने

निषधोऽप्युदयेऽभाणि योजनानां चतु.शती । विस्तरे तु सहस्राणि पोडशाष्टशतानि च ।। ७०
चत्वारिंशच्च विज्ञेया द्व्यधिका च कलाद्वयम् । पूर्वापरसमुद्रान्तं यावद्दीर्घेण सुस्थितः ।। ७१ युग्मम्
तस्य दक्षिणत. पूतो हरिवर्ष इतीरितः । मध्यमा भोगभूमिश्च कल्पवृक्षसमाकुला ।। ७२
पल्योपमद्वय तत्र जीवन्ति युगलानि च । द्विक्रोशोत्सेधयुक्तानि भोगयुक्तानि नित्यश ।। ७३
निषधस्थह्रदात्पूतादुत्तरेण विनिर्गता । सीतोदेति नदी याति मध्ये देवकुरो. कियत् ।। ७४
गजदन्तं विभिद्यैषा मुक्त्वा मेरुप्रदक्षिणा । सहस्रार्द्धेन विस्तीर्णा पश्चिमं याति वारिधिं ।। ७५
विदेहो भण्यते मध्ये नीलस्य निषधस्य च । यतो देहं विमुञ्चन्ति तीर्थेशा यत्र सर्वदा ।। ७६
नाभिभूतोऽस्य विख्यात. सुवर्णाद्रि. सुशोभनः । उत्सेधेन सहस्राणां नवतिश्च नवाधिका ।। ७७
अवगाहः सहस्रं स्यादादौ भूमिगतः पुन' । योजनानां सहस्राणि दश वृत्तो विराजते ।। ७८

निपध पर्वतकी उच्चता चारसौ योजन है । और उसकी चौडाई सोलह हजार आठसौं त्रियालीस योजन और दो कला है । यह पर्वत पूर्वसमुद्र और पश्चिमसमुद्रको अपनी दीर्घतासे स्पर्श करता है ।। ७०–७१ ।।

[हरिवर्ष क्षेत्रका वर्णन ।] — इस निषध पर्वतके दक्षिणमे हरिवर्ष नामक पवित्र क्षेत्र है । इसमें शाश्वत मध्यभोगभूमि है । इसमे दश प्रकारके कल्पवृक्ष हैं । यहा की भोगभूमिजो कि–मनुष्य और पशुओकी आयु दो पल्योपम है । ये सब भोगभूमिज युगलरूपसे जन्म लेते है । इन युगलोकी शरीरकी ऊंचाई दो कोसकी होती है । हमेशा उनको कल्पवृक्षसे नाना भोगोकी प्राप्ति होती है ।। ७२–७३ ।।

[सीतोदानदी वर्णन ।] — पवित्र निपध पर्वतके ह्रदसे अर्थात् तिगिञ्छ सरोवरके उत्तर तोरणद्वारसे सीतोदा नामक नदी निकली है । वह देवकुरुभोगभूमिके मध्यप्रातमे कुछ प्रवेश कर गजदन्त पर्वतको भेदकर मेरुका स्पर्श न करती हुई उसको प्रदक्षिणा देकर मुखमे पाचसौ योजन विस्तीर्ण होकर पश्चिम समुद्रको प्राप्त होती है ।। ७४–७५ ।।

[विदेह क्षेत्रमे सीता और सीतोदा नदी तथा मेर्वादिक पर्वत और विदेहके देशोका सविस्तर वर्णन ।] — नील और निपध पर्वतोके बीचमे विदेह क्षेत्र है । इसमे हमेशा तीर्थकर देहका त्याग करके मुक्त होते है, इसलिये इस देशको जिनेश्वर विदेह कहते है ।। ७६ ।।

इस विदेह क्षेत्रकी मानो नाभि ऐसा सुदर और प्रसिद्ध मेरु पर्वत है । वह सुवर्णमय है । उस.की ऊंचाई निन्यानवे हजार योजन प्रमाणकी है । इस मेरुका अवगाह अर्थात् नीव जमीनमे एक हजार योजनकी है । तथा इसका जमीनपर विस्तार दश हजार योजनका है । यह सामान्य कथन है । स्पष्टीकरण–तत्त्वार्थवार्तिकमे मेरुका जमीनपरका विस्तार सूक्ष्मतासे इस प्रकार कहा है– ' दश

---

१ आ सुह्रदात् २ आ. योजनार्द्धेन ३ आ भूमितले

एकादशसहस्राणि[1] उपर्युपरि हीयते । यावत्सहस्रमेकं स्यान्मस्तके विस्तृतो महान् ॥ ७९
देवसद्मवनानेकविचित्राश्चर्यसङ्कुलः । तथा कृत्रिमसच्चैत्यगृहाणामालयोऽपि च ॥ ८०
तस्योत्तरविभागे च दक्षिणे च सुशोभनम् । गजदन्तसमाकारं पर्वतानां चतुष्टयम् ॥ ८१
नीले च निषधे लग्नमग्रभागेन चायतम् । तिष्ठत्यकृतजैनेन्द्रचतुश्चैत्यालयान्वितम् ॥ ८२
तेषां द्वयोर्द्वयोर्मध्ये मेरोरुत्तरदक्षिणे । उत्कृष्टभोगभूसंज्ञमस्ति क्षेत्रद्वयं महत् ॥ ८३
उत्तरादिकुरुर्मेरोरुत्तरं कथ्यते जिनैः । दक्षिणं देवकुर्वाख्यं कल्पवृक्षसमन्वितम् ॥ ८४
उत्तरादिकुरोर्मध्ये मेरोरीशानदिक्पथे । सीतानीलान्तरे रम्ये जम्बूवृक्षोऽस्त्यकृत्रिमः ॥ ८५

हजार नव्वे योजन और एक योजनके ग्यारह भाग कर उनमेसे दस भाग ग्रहण करना चाहिये । ” ॥ ७७–७८ ॥

यह मेरु पर्वत दीवारके समान नहीं है। इसके ग्यारह हजार योजन ऊचीपर जानेसे इसका एक हजार योजनका विस्तार घटता है। घटते घटते मस्तकपर मेरुपर्वत एक हजार योजनका रह जाता है । इस मेरुके ऊपर देवोके निवासस्थान आदि अनेक आश्चर्योंके स्थान है । अर्थात् यह अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओसे भरा हुआ है । तथा यह पर्वत अकृत्रिम सुदर जिनमदिरोका स्थान है । अर्थात् सौमनस, भद्रशाल, नंदन और पाण्डुवनमे प्रत्येकमे चार चार अकृत्रिम जिन-मदिर हैं ॥ ७९–८० ॥

इस मेरुके उत्तर विभागसे और दक्षिण विभागसे सुदर चार गजदन्त पर्वत है, जो कि हाथीके दातके आकार सदृश दिखते हैं । इसलिये ‘ गजदन्त ’ ऐसा उनका अन्वर्थ नाम है ॥८१॥

इन गजदन्त पर्वतोके अग्रभाग नील और निषध पर्वतोको स्पर्श करते है । तथा इन गजदन्त पर्वतोपर चार अकृत्रिम जिनमदिर है। अर्थात् प्रत्येक गजदन्तपर एक एक अकृत्रिम जिन-मंदिर है ॥ ८२ ॥

मेरुपर्वतकी उत्तर दिशामे दो गजदन्त पर्वत है, और मेरुकी दक्षिणमे दो गजदन्त पर्वत है । इन दो दो गजदन्त पर्वतोके बीचमे अर्थात् मेरुके उत्तरमे और दक्षिणमे उत्कृष्ट भोग-भूमि नामक दो बडे क्षेत्र हैं । उनमेसे जो क्षेत्र मेरुकी उत्तरदिशामे है उसको जिनोने उत्तरकुरु उत्तम भोगभूमि कहा है । और मेरुकी दक्षिण दिशामे जो है, उसे देवकुरु उत्तम भोगभूमि कहा है । ये दोनो भोगभूमियाँ दस प्रकारके कल्पवृक्षोसे सम्पन्न हैं ॥ ८३–८४ ॥

मेरुपर्वतकी ऐशानदिशामे उत्तर कुरुक्षेत्रमे सीतानदी और नीलपर्वतके सुदर मध्यप्रदेशमें अकृत्रिम जम्बूवृक्ष है ॥ ८५ ॥

---

१ आ. एकादशाशहान्या.

सीतोभयतटे रम्ये पर्वतद्वितयं मतम् । युग्मकाख्यमिति ख्यातं प्रख्यातं मुनिपुङ्गवैः ॥ ८६
तस्माच्च युग्मकद्वन्द्वाद्दक्षिणे कियदन्तरम् । सीतायाश्च नदीमध्ये पद्मादिह्रदपञ्चकम् ॥ ८७
सान्तरं विद्यते येषां पार्श्वयोरुभयोः पुन. । प्रत्येकं पर्वतानां च दशकं दशकं मतम् ॥ ८८
सौवर्णाश्चारुसंस्थाना जिनालयविमण्डिताः । ते सर्वे प्राणिनां मन्ये पुण्यपुञ्जा इव स्थिताः ॥ ८९
मेरोर्दक्षिणभागे च तथा सर्वैर्विचक्षणै । शाल्मलीवृक्षसंयुक्तं ज्ञातव्यं नान्यथा क्वचित् ॥ ९०
एकादशसहस्राणि शतानामष्टकं पुनः । चत्वारिंशद्द्वयोपेता योजनानां कलाद्वयम् ॥ ९१
उत्तरादिकुरोश्चैष विस्तार कथितो जिनैः । विस्तारो विस्तृतज्ञानैस्तथा देवकुरोरपि ॥ ९२
सुमेरो. पूर्वदिग्भागे श्रीभद्रसालसद्वनम् । द्वाविंशतिसहस्राणि विष्कम्भं चारुवेदिकम् ॥ ९३
तत्र या वेदिका तस्याः पूर्व कच्छाभिधं मतम् । सीतोत्तरतटे क्षेत्रं क्षेमानामपुरीयुतम् ॥ ९४
ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽत. परं महत् । सुकच्छा क्षेत्रमध्ये च चारुक्षेमपुरीयुतम् ॥ ९५
विभङ्गाख्या ततः सिन्धुस्तस्या. पूर्वं सुपुष्कलम् । महाकच्छाभिधं क्षेत्रमरिष्टाख्यपुरी युतम् ॥ ९६

[युग्मकपर्वत तथा सौ सुवर्णपर्वत ।] — सीताके दो तटोपर 'युग्मक' नामसे प्रसिद्ध और मुनियोद्वारा वर्णन किये हुए दो पर्वत है जिनको यमकपर्वतभी कहते है । उन दो युग्मक पर्वतोके दक्षिणदिशासे कुछ अन्तर चले जानेसे सीतानदीके मध्यमे पद्मादिक पाच ह्रद है, जो कि अन्तरसहित है ॥ ८६–८७ ॥

प्रत्येक सरोवरके दोनो तटपर दश दश पर्वत है । वे सुवर्णके है और उनकी आकृति सुदर है । तथा वे जिनालयोसे भूषित है । मानो वे सर्व पर्वत प्राणियोके पुण्यपुज है ऐसा मै (नरेन्द्रसेनाचार्य) समझता हू ॥ ८८–८९ ॥

मेरुके दक्षिणभागमे देवकुरुक्षेत्रमे शाल्मलिवृक्षसयुक्त भूप्रदेश है ऐसा सर्व विद्वान जाने । जैनागममे कहाभी अन्यथा प्रतिपादन नही है ॥ ९० ॥

[उत्तरकुरु और देवकुरुका विस्तार ।] — विस्तृतज्ञानी जिनेश्वरोने उत्तरकुरु भोगभूमिका विस्तार ग्यारह हजार आठसौ बियालीस योजन और दो कला कहा है । इतनाही विस्तार देवकुरुकाभी कहा है ॥ ९१–९२ ॥

[भद्रसालवन और कच्छादि देश तथा वक्षार पर्वत वर्णन ।] — सुमेरुपर्वतकी पूर्व दिशाके विभागमे शोभायुक्त प्रशस्त भद्रशाल वन है । वह बावीस हजार योजनप्रमाण विस्तारवाला तथा सुंदर वेदिकावाला हैं । उसकी वेदिकाकी पूर्व दिशामे कच्छ नामक देश है । वह सीतानदीके उत्तर तटपर है । उसमे क्षेमापुरी नामक नगरी (राजधानीका स्थान) है ॥ ९३–९४ ॥

२ तदनन्तर वक्षार नामका महान् पर्वत है । इसके अनन्तर महान् सुकच्छ नामक देश है । उसमे क्षेमपुरी नामक सुदर राजधानी है ॥ ९५ ॥

३ इसके अनन्तर विभगा नामकी नदी है । उसकी पूर्व दिशामे विस्तृत महाकच्छ नामक देश है । और उसकी राजधानी अरिष्टा नामकी नगरी है ॥ ९६ ॥

---

१ आ. सत्पर्वतद्वन्द्वात् २ आ. तेषा ३ आ रिष्टादिनगरी

ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतः परं महत् । क्षेत्रं कच्छावती नाम गरिष्ठादिपुरीयुतम् ॥ ९७
विभङ्गाख्या ततः सिन्धुस्तस्याः पूर्वं सुपुष्कलम् । आवर्ताख्यं महाक्षेत्रं खड्गनामपुरीयुतम् ॥ ९८
ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतः परं महत् । लाङ्गलावर्तकं क्षेत्रं मापूपानगरीयुतम् ॥ ९९
विभङ्गाख्या ततः सिन्धुस्तस्याः पूर्वं सुपुष्कलम् । पुष्कलानाम तत्क्षेत्रं वृषभानगरीयुतम् ॥ १००
ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतः परं महत् । पुष्कलादिवतीक्षेत्रं यत्पुरी पुण्डरीकिणी ॥ १०१
ततः पूर्वसमुद्रस्य समीपतरवर्ति यत् । देवारण्यं च विस्तीर्णा वेदिका विद्यते परा ॥ १०२
सीतादक्षिणतो भान्ति क्षेत्राणि विविधानि च । नगराण्यपि तेषां हि विभागः कथ्यतेऽधुना ॥ १०३
देवारण्याश्रिता या तु विद्यते वेदिका स्फुर्ता । तस्याः पश्चिमतः क्षेत्रं वत्सानाम सुशोभनम् ॥१०४
सुसीमानगरीयुक्तं विचित्राश्चर्यकारकम् । प्राणिनां बहुपुण्येन निर्मितं वा विभाति यत् ॥ १०५

---

४ तदनतर पुनः वक्षार पर्वत है । इसके आगे महान् क्षेत्र कच्छावती नामका है और उसमे गरिष्ठानामक नगरी है ॥ ९७ ॥

५ तदनंतर विभंगा नामक सिन्धु नदी है । तथा उसके पूर्वमे विस्तृत आवर्त नामक महादेश है और उसमे 'खड्गा' नामक नगरी (राजधानी) है ॥ ९८ ॥

६ पुनः वक्षार पर्वत है और उसके अनतर लागलावर्त नामक क्षेत्र-देश है उसके राजधानीका नाम मापूषा है ॥ ९९ ॥

७ तदनतर विभगा नामकी नदी है और उसके पूर्व दिग्भागमे सुविस्तृत आवर्तष नामक महाक्षेत्र-देश है और उसकी राजधानीका नाम वृषभानगरी ऐसा है ॥ १०० ॥

८ पुनः वक्षार पर्वत है और इसके अनतर महान् पुष्कलावती नामक क्षेत्र है और उसमें पुण्डरीकिणी नामक नगरी है ॥ १०१ ॥

[देवारण्य और उसकी वेदिका ।] – इसके अनतर पूर्वसमुद्रके अधिक समीप देवारण्य नामक वन है और उसकी सुदर वेदिका है अर्थात् वह वन उत्तम वेदिकासे सुशोभित है ॥१०२॥

सीता नदीके दक्षिण तटपर अनेक क्षेत्र और उनकी नगरियॉ (राजधानी) शोभायमान हैं । अब उनका विभाग हम कहते हैं ॥ १०३ ॥

देवारण्यके आश्रयसे जो उत्तम वेदी है उसकी पश्चिम दिशामे वत्सा नामक शोभायुक्त क्षेत्र-देश है । उसकी राजधानी सुसीमा नामक नगरी हैं ॥ १०४ ॥

१ यह क्षेत्र नानाप्रकारके आश्चर्योसे भरा हुआ है। जो मानो प्राणियोके विपुल पुण्योने उत्पन्न किया हुआसा शोभता है ॥ १०५ ॥

---

१ आ. मयूषा २ आ. पुष्कलानामसत्क्षेत्र ३ आ. वर्तिनः ४ आ. देवारण्यस्य ५ आ. यानि ६ आ. शुभा

ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतः परं महत् । सुवत्सा नाम सत्क्षेत्रं कुण्डलापू.समन्वितम् ॥ १०६
विभङ्गाख्या ततः सिन्धुस्तस्याः पश्चिमतः परम् । महावत्साभिधं क्षेत्रं यत्पूरस्त्यपराजिता ॥ १०७
ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतः परं महत् । प्रभाकरीपुरीयुक्तं सत्क्षेत्रं वत्सकावती ॥ १०८
विभङ्गाख्या ततः सिन्धुस्तस्याः पश्चिमतः परम् । रम्यानामधरं क्षेत्रं पुरी पङ्कावती[1] परा ॥ १०९
ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽत. परं महत् । रम्यकानामसत्क्षेत्रं पद्माख्यपुरसंयुतम् ॥ ११०
विभङ्गाख्या ततः सिन्धुस्तस्याः पश्चिमतः परम् । अस्ति रम्यामहाक्षेत्रं शुभानामपुरीयुतम् ॥ १११
ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽत.परं महत् । मङ्गलादिवती क्षेत्रं यत्पुरं रत्नसञ्चयम् ॥ ११२
क्षेत्राणि षोडशैतानि मेरोः पूर्वगतानि च । तावन्त्यस्तेषु विद्यन्ते नगर्योऽप्यतिसुन्दराः ॥ ११३
द्वाविंशतिशतान्येषां समं द्वादशभिः पुनः । सर्वेषां विस्तर. किञ्चिदधिकः कथ्यते जिनैः ॥ ११४
शतानां नवकं तावद्द्वाविंशतिसमन्वितम् । सहस्रे द्वे च विस्तारो देवारण्यस्य कथ्यते ॥ ११५

२ उसके अनतर वक्षार नामक पर्वत है और इसके अनंतर महान् सुवत्सा नामक उत्तम क्षेत्र है । उसकी राजधानी कुण्डला नामक नगरी है ॥ १०६ ॥

३ विभंगा नामक नदीकी पश्चिम दिशामे महावत्सा नामक विशालदेश है । इस देशकी राजधानी अपराजिता नामक नगरी है ॥ १०७ ॥

४ तदनतर वक्षार नामक पर्वत है और इसके अनंतर वत्सकावती नामक देश है, जो कि प्रभाकारीनामक राजधानीसे युक्त है ॥ १०८ ॥

५ तदनतर विभंगा नामक सिन्धु नदी है । उसकी पश्चिम दिशामे रम्या नामक क्षेत्र है । उसमे पकावती नामक उत्तम राजधानीका नगर है ॥ १०९ ॥

६ इसके अनतर वक्षार पर्वत है और उसके आगे रम्यका नामक उत्तम क्षेत्र है, जो कि पद्मपुरसे युक्त है ॥ ११० ॥

७ इसके अनतर विभगा नदीकी पश्चिम दिशामे रम्या नामक महाक्षेत्रमे शुभा नामक नगरी है ॥ १११ ॥

८ इसके अनतर फिर वक्षार पर्वत है और उसके अनतर मंगलावती नामक सुदर देश है । उसमे रत्नसचय नामक सुदर राजधानीका नगर है ॥ ११२ ॥

ये सोलह क्षेत्र अर्थात् देश मेरूके पूर्वदिशामे है । और इन सोलह देशोमे अतिशय सुदर सोलह राजधानीके नगर है ॥ ११३ ॥

ये जो सोलह देश कहे है, उनका विस्तार बावीससौ बारा योजनोसे किञ्चित् अधिक है, ऐसा जिनेश्वरोने कहा है ॥ ११४ ॥

देवारण्यका विस्तार दो हजार नौसौ बावीस योजन है, ऐसा जिनेश्वरोने कहा है ॥ ११५ ॥

१ आ. पुर्यपङ्कावती

इति पूर्वविदेहोऽसौ मेरोः पूर्वविभावितः । पश्चिमेन तथैव स्याद्विदेहः पश्चिमाभिधः ॥ ११६
नामान्येव विभिद्यन्ते तत्र नान्यत्किंयत्पुनः । क्षेत्राणां च पुरीणां च तान्यतो निगदाम्यहम् ॥ ११७
सीतोदा दक्षिणे पद्मा सुपद्मा च तथा पुनः । महापद्मा ततोऽपि स्यात्सत्क्षेत्रं पद्मकावती ॥ ११८
संख्या च नलिना तस्मात्कुमुदा सरिता सह । इत्येवं क्षेत्रनामानि ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ॥ ११९
अश्वादिकापुरी सिंहपुरी चापि महापुरी । विजयारजा च विरजाऽशोका वीतादशोकिका ॥ १२०
नगर्यः क्षेत्रमध्यस्थाः सुविस्तीर्णाः सुशोभनाः निषधस्योत्तरे भागे विद्यन्ते क्षेत्रमध्यगाः ॥ १२१
भूतारण्यवनं देवारण्यवद्विस्तृतं मतम् । तस्य या वेदिका तस्याः पूर्वतः क्षेत्रमुत्तमम् ॥ १२२
सीतोदायास्तटे रम्ये नीलपर्वतदक्षिणे । वप्रानाममहाक्षेत्रं विजयानगरान्वितम् ॥ १२३
सुवप्राथ महावप्रासत्क्षेत्रं वप्रकावती । गंधिका च सुगन्धा च गन्धिला गन्धमालिनी ॥ १२४
क्षेत्राण्यष्टातिरम्याणि ज्ञातव्यानि मनीषिभिः । नगर्योऽपि तथा तावच्छ्रीभद्रा सालवेदिका ॥ १२५

मेरुके पूर्व दिशामे बसे हुए विदेहक्षेत्रके देशोको पूर्व विदेह कहते है और मेरुकी पश्चिम दिशामें विद्यमान विदेहदेशोको पश्चिम विदेह कहते हैं। इन दोनो विदेहोके देशोके और नगरियोके नामही भिन्न भिन्न है इनसे व्यतिरिक्त कुछ विशेषता उनमे नहीं है । इनके विस्तारादिक समान हैं। अब क्षेत्रोके और नगरियोके नाम मै कहता हू ॥ ११६–११७ ॥

सीतोदा नदीके दक्षिण तटपर जो देश है, उनके नाम इस प्रकार है–पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मकावती, संख्या, नलिना, कुमुदा और सरिता ऐसे आठ देशोके नाम विद्वानोके जानने योग्य हैं ॥ ११८–११९ ॥

[नगरियोके नाम ।] – अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयापुरी, अरजापुरी, विरजापुरी, अशोकापुरी, तथा वीतशोकापुरी ये आठ नगरिया उपर्युक्त आठ क्षेत्रोके बीचमे है । ये नगरिया विस्तीर्ण और सुदर है । निषधपर्वतके उत्तर भागमे और क्षेत्रके मध्यमे है ॥ १२०–१२१ ॥

देवारण्यके समान भूतारण्य विस्तृत है और उसकी जो वेदिका है उसके पूर्वभागमें उत्तम क्षेत्र है ॥ १२२ ॥

सीतोदाके रमणीय तटपर और नील पर्वतके दक्षिण दिशामे वप्रा नामक महाक्षेत्र है, जो कि विजया नामक नगरीसे युक्त है । तदनतर सुवप्रा महावप्रा, वप्रकावती, गंधिका, सुगंधा, गंधिला और गंधमालिनी ऐसे आठ क्षेत्र अत्यत रमणीय है, सो विद्वानोके द्वारा जानने योग्य है ॥ १२३–१२४ ॥

[इन देशोके नगरियोके नाम ।] – भद्रसाल वनकी वेदीपर्यन्त ये आठ देश और नगरिया है । नगरियोके नाम इस प्रकार है–वैजयन्तीपुरी, जयन्तीपुरी, रम्यापुरी, अपराजितापुरी,

---

१ आ. दक्षिणा २ आ. गवा ३ आ. यावत्

वैजयन्ती जयन्ती च पुरी रम्यापराजिता । चक्रादिका पुरी पूता तथा खड्गपुरी परा ॥ १२६
अयोध्या च तथावध्या ज्ञातव्या सुमनीषिभिः । शेषं पूर्वविदेहस्य स्वरूपं पूर्वमेव तत् ॥ १२७
त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि शतानि षट् तथा पुनः । चतुर्भिरधिकाशीतिः कलानां हि चतुष्टयम् ॥ १२८
विदेहस्यापि विष्कम्भ. कथित' कथितप्रियैः । जिनेन्द्रैर्जितकर्मौघैराधिविध्वसकारिभि ॥ १२९युग्मम
पूर्वापरविदेहे स्याच्चतुर्थेन सम. सदा । काल' कोटिश्च पूर्वाणां जीवितव्यं नृणां परम् ॥ १३०
मेरोरुत्तरतो यानि क्षेत्राणि विविधानि च । विद्यन्ते तानि सर्वाणि दक्षिणानीव सर्वथा ॥ १३१
केशर्यादिह्रदेष्वता. केवलं सन्ति देवताः । आद्ये कीर्तिस्ततो बुद्धिर्लक्ष्मीश्चान्त्ये व्यवस्थिता ॥ १३२
नरकान्ता च नारी च रूप्यकूला तथा पुनः । सुवर्णा च मता कूला रक्ता रक्तोदका पुन. ॥ १३३
रम्यकादिषु विद्यन्ते नद्यो नामविभेदत' । शेषं दक्षिणवत्सर्वं जानन्ति यतिनायका ॥ १३४
चतुर्गोपुरसंयुक्त' प्राकारोऽस्ति महानघ.[2] । मर्यादायाः पर हेतुर्जम्बूद्वीपसमुद्रयो. ॥ १३५

चक्रापुरी, पवित्र खड्गपुरी, अयोध्यापुरी और अवध्यापुरी ऐसी आठ नगरिया विद्वानोको जानने योग्य है । अन्य सब स्वरूप पूर्वविदेहके समान है ॥ १२५–१२७ ॥

[विदेहक्षेत्रका विस्तार ।] – विदेहक्षेत्रका विस्तार तेहतीस हजार छसौ चौरासी योजन और चार कला इतना है । जिन्होने कर्मसमूह नष्ट किया है, जिनकी मानसिक व्यथा अथवा सपूर्ण परिग्रह नष्ट हुए है, जिनका कथन प्रिय है, ऐसे जिनेश्वरोने इस प्रकार विदेहका विस्तार कहा है ॥ १२८–१२९ ॥

पूर्वविदेहक्षेत्रमे और अपरविदेहक्षेत्रमे चतुर्थ काल सदा समान विद्यमान है और इन क्षेत्रोमे रहनेवाले मानवोका जीवितव्य अर्थात् आयु एक कोटिपूर्व वर्षोकी है । यह उनके उत्कृष्ट आयुका प्रमाण कहा है ॥ १३० ॥

[मेरुके उत्तर दिशाके क्षेत्रादिकोका सक्षिप्त कथन ।] – मेरुके उत्तर दिशामे जो अनेक क्षेत्र है, वे सर्वथा दक्षिणके भरतादिक क्षेत्रोके समान समझने चाहिये । केसरी, पुण्डरीक और महा-पुण्डरीक सरोवरोमे देवताये निवास करती है । केसरी सरोवरमे कीर्ति देवता, पुण्डरीकमे बुद्धि देवता और महापुण्डरीकमे लक्ष्मी देवता ऐसी देवताये निवास करती है ॥ १३१–१३२ ॥

नरकान्ता नदी, नारी, रूप्यकूला, सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तोदा ये नदियाँ रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रके बीचमेसे बहती हुई पूर्वसमुद्र और पश्चिमसमुद्रमे प्रवेश करती हैं । बाकीका सर्व स्वरूप यतिनायक जिनेश दक्षिणके क्षेत्र, नदी, सरोवरादिकोके समान जानते हैं ॥ १३३–१३४ ॥

[जम्बूद्वीप और लवणसमुद्रके तटका वर्णन ।] – जम्बूद्वीप और लवणसमुद्रका जो तट है वह चार गोपुरोसे विराजित है और अतिशय निर्दोप रचनावाला है । वह इस द्वीप तथा

१ आ. रघ २ आ महानथ

योजनानि स विस्तीर्णो भूमुखे द्वादशैव हि । ऊर्ध्वभागे च चत्वारि तथाष्टौ मध्यमे[1] पुनः ।। १३६
तस्योपरि महापद्मवेदिका विद्यते परा । द्विक्रोशोत्सेधसंयुक्ता क्रोशपादं सविस्तरा[2] ।। १३७
लक्षत्रयं सहस्राणि षोडशैव तथा पुनः । योजनानां शतद्वन्द्वं[3] सप्तविंशतिसंयुतम् ।। १३८
गव्यूतित्रितयं तस्माच्छतं च धनुषां पुनः । अष्टाविंशतिसंयुक्तमङ्गुलानि त्रयोदश ।। १३९
अङ्गुलार्द्धमिति ज्ञेयो जम्बूद्वीपस्य शोभनः । परिक्षेपोऽप्रमज्ञानैः कथितो मुनिपुङ्गवैः ।। १४०
जम्बूद्वीपपरिधिः ३१६२२७ यो ३ गव्यू. १२८ ध. १३ अंगुलानि तथा अर्धाङ्गुलम् ।।
पूर्वेण विजयद्वारं वैजयन्तं सुदक्षिणे । जयन्तं पश्चिमे भागे ह्यपराजितमुत्तरे ।। १४१
तद्बहिः सुमहॉल्लक्षत्रयं वलयविस्तृतः । जलोत्सेधः सहस्राणि योजनानां हि षोडश ।। १४२
विद्यते लवणाम्भोधेर्बहुधा कौतुकावहः । लक्षयोजनगम्भीरो[4] वडवाग्निसमन्वितः ।। १४३
ततोऽस्ति धातकीखण्डो द्वीपो मेरुयुगान्वितः । योजनानां चतुर्लक्षैर्वलयै[5]र्विस्तृतो महान् ।। १४४
चतुर्भिरधिकाशीतिर्योजनानां समुन्नतम् । क्षुद्रं मेरुद्वयं तत्र विद्यते विस्मयावहम् ।। १४५

समुद्रको मर्यादाभूत है। यह तट प्रारभमे बारह योजनोंका है, ऊपरके भागमे चार योजनोका और मध्यभागमे आठ योजनोका । इस तटके ऊपर सुदर महापद्म नामकी वेदिका है । वह दो कोश उंचाईको धारण करती है । और पाव कोसकी रुंद है ।। १३५–१३७ ।।

इस तटका परिक्षेप तीन लाख सोलह हजार दोसौ सत्ताईस योजन तीन गव्यूति (तीन कोस) एकसौ अट्ठाइस धनुष्य तेरह अगुल और अर्धाङ्गुल अधिक इतना है। (राजवार्तिकमे तेरह अगुलके अनतर अर्धांगुलसे कुछ अधिक अंगुल ऐसा उल्लेख है) ।। १३८–१४० ।।

इस तटको पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चार दिशाओमे क्रमसे विजयद्वार, वैजयन्तद्वार, जयन्तद्वार और अपराजित द्वार ऐसे चार द्वार है ।। १४१ ।।

उस तटके बाहर महान् तीन लाख योजनोकी और वलयाकार विस्तृत ऐसी लवणसमुद्रकी जलकी ऊचाई है, जो कि सोलह हजार योजन प्रमाणकी है और नाना प्रकारके कौतुक उत्पन्न करनेवाली है । यह लवणसमुद्र एक लाख योजन परिमाणकी गभीरता धारण करता है और वडवाग्निसे युक्त है ।। १४२–१४३ ।।

[धातकीखडका सक्षेपसे वर्णन ।] — लवणसमुद्रको जिसने घेर रखा है, ऐसा धातकीखड चार लक्ष योजन परिमाणवाला वलयाकार विस्तृत है । इसमे चौरासी हजार योजन ऊचे दो मेरु पर्वत है । जम्बूद्वीपस्थ मेरुसे छोटे होनेसे इनको क्षुद्र मेरु कहते है । लवणसमुद्र और कालोदसमुद्रकी वेदिकाको स्पर्श करनेवाले दो इष्वाकार पर्वत है, एक दक्षिण दिशामे और दूसरा उत्तर-

---

१ आ. प्रावुदये मत. २ आ. सुविस्तरम् ३ आ. द्वय ४ आ. गम्भीर ५ आ. वलये

लवणाम्भोधिकालोदवेदिकास्पर्शकारकौ । इष्वाकारगिरी तत्र विद्येते दक्षिणोत्तरौ ॥ १४६
योजनानां सहस्रं स विष्कम्भे क्षुदये पुनः । शतानां च चतुष्कं स्यात्तद्द्वीपार्धविभागकृत् ॥ १४७
जम्बूद्वीपे यथा सर्वं भरताद्यं मतं तथा । खण्डद्वयेऽपि तत्सर्वं तत्र मेरुद्वयाश्रितम् ॥ १४८
तत्र ये सन्ति विस्तीर्णाः सर्वेऽपि कुलपर्वताः । चक्रारवत्सुसंस्थाना वर्षास्तद्विवराणि वा ॥ १४९
वेष्टितं वलयेनैतत्कालोदस्य पयोनिधेः । पुष्करद्वीपमप्यस्ति धातकीखण्डवत्तत ॥ १५०
योजनानां सुलक्षाणि विस्तीर्णः षोडशावनौ । तदर्द्धे वलयाकारो मानुषोत्तरपर्वत ॥ १५१
यस्तु कश्चिद्विशेषोऽस्ति द्वीपद्वयसमाश्रितः । जम्बूद्वीपात्स विज्ञेय. सर्वो लोकानुयोगत ॥ १५२
मानुषोत्तरशैलान्ते[१] मानुषं क्षेत्रमुत्तमं । तद्बहिर्न यत. सन्ति मानुषा इत्यतोऽन्वयात् ॥ १५३
मानुषोत्तरशैलाग्रे स्वयम्भूरमणार्द्धके । नागेन्द्राख्यो नग सर्वं परिक्षिप्य व्यवस्थित ॥ १५४

दिशामे है । वे दोनो पर्वत एक हजार योजन चौडाईको धारण करनेवाले है और चारसौ योजनकी उनकी ऊचाई है । इन दो पर्वतोने इस धातकीखंडके दो विभाग किये है ॥ १४४–१४७ ॥

जम्बूद्वीपमे जैसे भरतादिक क्षेत्र, हिमवदादिक पर्वत, पद्मादिक सरोवर, गगासिन्ध्वादिक नदियाँ है वैसे धातकीखंडमेभी है और पुष्करार्द्धमेभी है। सिर्फ इन दो खडोमे दो दो मेरु होनेसे भरतादिक क्षेत्र दो दो है। हिमवदादिक पर्वतभी दो दो हैं। पद्मादिक सरोवरभी दो दो है । ऐसेही गगासिन्ध्वादिक नदियाँभी दो दो है ॥ १४८ ॥

धातकीखडमे क्षेत्रादिकोकी सख्या द्विगुण कही है। इस धातकीखडमे जो सर्व विस्तीर्ण कुलपर्वत है वे चक्रके आरेकी आकृतिको धारण करते है तथा उनमे जो क्षेत्र हैं वे विवरोका आकार धारण करते है ॥ १४९ ॥

[पुष्करद्वीपका सक्षिप्त वर्णन ।] — कालोदसमुद्रके वलयसे वेष्टित धातकी खण्डके समान पुष्करद्वीप नामक द्वीप है । वह द्वीप सोलह लाख योजन विस्तारको धारण करता है। इस द्वीपके आधे भागमे वलयाकार मानुषोत्तर नामक पर्वत है। जम्बूद्वीपकी अपेक्षा इन दोनो द्वीपोमे जो कुछ विशेषता है वह सब लोकानुयोग नामक शास्त्रसे जानने योग्य है ॥ १५०–१५२ ॥

[मनुष्यक्षेत्र कहातक है ?] — मानुषोत्तर पर्वतके अन्ततक उत्तम मनुष्यक्षेत्र है। इस मनुष्यक्षेत्रके बाहर मनुष्य नहीं है, अत. मानुषोत्तर यह नाम अथवा मनुष्यक्षेत्र यह नाम योग्य है ॥ १५३ ॥

मानुषोत्तर शैलके आगे और स्वयभूरमण द्वीपके आधे भागमे नागेन्द्र नामक पर्वत वलयाकार है उसने आधे स्वयम्भूरमण द्वीपको घेर रखा है ॥ १५४ ॥

१ आ. शैलान्तर्मानुष

ततः पूर्वेष्वसङ्ख्येषु द्वीपेषु सागरेषु च । विद्यन्ते व्यन्तरावासास्तिर्यञ्चोऽपि निरन्तराः ॥ १५५
तिरश्चां जीवितं तस्मिन्नेकपल्योपमप्रमम् । भोगभूमिर्जघन्यासौ यतो जैनैर्निवेदिता ॥ १५६
नागेन्द्राच्च बहिर्भागे स्वयम्भूरमणार्द्धके । विदेहवत्समुद्रे च कर्मभूमिर्विचक्षणैः ॥ १५७
परं न मानुषा. सन्ति मानुषान्ते च केवलम् । द्वीपेष्वर्द्धतृतीयेषु तेऽपि द्वेधा भवन्त्यमी ॥ १५८
आर्या म्लेच्छाश्च ते सर्वे कर्मजा भोगभूमिजाः । आर्यखण्डभवास्त्वार्या म्लेच्छाश्च म्लेच्छखण्डजाः
कर्मभूमिप्रसूता ये [2] सर्वे ते कर्मभूमिजाः । भोगभूमिसमुद्भूताः कथ्यन्ते भोगभूमिजाः ॥ १६०
द्वीपेष्वर्द्धतृतीयेषु स्युस्त्रिंशद्भोगभूमयः । तथा पंचदशैवात्र सन्त्येताः कर्मभूमय. ॥ १६१
गुणैरर्यन्त इत्यार्यास्तेऽपि द्वेधा भवन्ति च । केचिदृद्धीस्तु संप्राप्ताः केचित्तदितरे पुनः ॥ १६२

मानुषोत्तरपर्वतके असख्यात द्वीप समुद्रोमे नागेन्द्र पर्वततक व्यतरदेवोके निवासस्थान है और पशुभी सर्वत्र रहते है ॥ १५५ ॥

इन द्वीपसमुद्रमे तिर्यञ्चोकी आयु एक पल्योपम वर्षोकी है। इन द्वीपादिकोको जिनेश्वरोने जघन्य भोगभूमि कहा है ॥ १५६ ॥

नागेन्द्र पर्वतके बाह्यभागमे, आधे स्वयभूरमण द्वीपमे और स्वयंभूरमण समुद्रमे विदेहके समान कर्मभूमि है ऐसा विद्वानोने—आचार्योने कहा है। परतु इनमे मनुष्य नहीं है। मनुष्य सिर्फ मानुषोत्तर पर्वततक है यानी ढाई द्वीपोमे है और वे दो प्रकारके हैं ॥ १५७–१५८॥

[आर्य और म्लेच्छ मनुष्योका वर्णन ।] — आर्य और म्लेच्छ ऐसे मनुष्योके दो भेद है। वे सब कर्मभूमिज और भोगभूमिज हैं। आर्यखण्डमे जो उत्पन्न हुए है वे आर्य है, और म्लेच्छ खण्डमे जो उत्पन्न हुए है, वे म्लेच्छ है। कर्मभूमिमे जो उत्पन्न हुए है वे सब कर्मभूमिज है। तथा भोगभूमिमे जो उत्पन्न हुए है वे सब भोगभूमिज है ॥ १५९–१६० ॥

ढाई द्वीपोमे तीस भोगभूमियॉ है और कर्मभूमियॉ पद्रह है। पाच हैमवत, पाच हरिक्षेत्र, पाच रम्यकक्षेत्र, पाच हैरण्यवत, पाच देवकुरु और पाच उत्तरकुरु क्षेत्र ऐसी तीस भोगभूमियॉ है। इनमे पाच उत्तरकुरु और पाच देवकुरु, उत्तम भोगभूमियॉ है। पाच हैमवत और पाच हैरण्यवत जघन्य भोगभूमियॉ है। पाच हरिवर्ष और पाच रम्यक मध्यमभोगभूमियॉ है। कर्मभूमियॉ पद्रह है। पाच भरतक्षेत्र, पाच विदेहक्षेत्र और पाच ऐरावतक्षेत्र ऐसी पद्रह कर्मभूमियॉ है ॥ १६१ ॥

[आर्योका वर्णन ।] — जो सम्यग्दर्शनादि गुणोसे सेवे जाते है उन्हे आर्य कहना चाहिये अर्थात् जिनमे सम्यग्दर्शनादि गुण उत्पन्न होते है, जो आर्योके कुलमे उत्पन्न होते है वे आर्य हैं। वे आर्य दो प्रकारके है। कोई ऋद्धिको प्राप्त किये हुए है उनको ऋद्धि-प्राप्तार्य कहते

१ आ. मैया २ आ. ते

त एते ऋद्धीसम्पन्नाः पञ्चधा परिकीर्तिताः। क्षेत्रार्याश्च सुजात्यार्याः कर्मार्याश्च तथा पुनः॥१६३
चारित्रार्याश्च विज्ञेया दर्शनार्याश्च ते पुनः। श्रीजिनेन्द्रस्य सद्वाक्यविश्वस्तैर्मुनिभिः सदा ॥ युग्मम्

है और कोई जिनको ऋद्धि प्राप्त नहीं हुई है वे अनृद्धि-प्राप्तार्य है। जो ऋद्धि-प्राप्तार्य हैं वे पाच प्रकारके कहे है। क्षेत्रार्य, सुजात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य। श्रीजिनेन्द्रके सत्य वचनोपर विश्वास रखनेवाले मुनियोने अनृद्धिप्राप्तार्यके ऐसे पाच भेद कहे है॥ १६२–१६४ ॥

स्पष्टीकरण-- १ क्षेत्रार्य–काशीकोशलादि स्थानोमे उत्पन्न हुए जो आर्य है उनको क्षेत्रार्य कहते हैं। २ जात्यार्य–इक्ष्वाकुआदिवशोमे उत्पन्न हुए आर्योको जात्यार्य कहते है। अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और ब्राह्मणोके जो अनेक वशभेद है उनमे उत्पन्न हुए आर्योंको जात्यार्य कहना चाहिये। ३ कर्मार्यके तीन भेद है–सावद्य कर्मार्य, अल्पसावद्य कर्मार्य और असावद्य कर्मार्य।

१ सावद्यकर्मार्योंके छह भेद हैं–असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वणिक् कर्म अर्थात् असिकर्मार्य, मसिकर्मार्य, कृषिकर्मार्य, विद्याकर्मार्य, शिल्पकर्मार्य और वणिक्कर्मार्य।

१ असिकर्मार्य–तरवार, धनुष्य आदि आयुधोके प्रयोगमे कुशल आर्योंको असिकर्मार्य कहते है। २ मसिकर्मार्य–धनकी आय और व्ययादि लिखनेमे चतुर आर्योको मसिकर्मार्य कहते है। ३ कृषि कर्मार्य–हल आदि खेतीके उपकरणोके जानकार आर्योंको कृषिकर्मार्य कहते है। ४ विद्याकर्मार्य–चित्रकला गणितादि बाहत्तर कलाओमे चतुर आर्योको विद्याकर्मार्य कहते है। ५ शिल्पकर्मार्य–धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार, सुनार आदिकोको शिल्पकर्मार्य कहते है। ६ वणिक्कर्मार्य–चन्दनादिगध, घी, तेल आदिक रस, शाली आदिक धान्य, कपास आदिकोके वस्त्र, मोती, रत्न आदि नाना वस्तुओका सग्रह करनेवाले आर्योको वणिक्कर्मार्य कहते है। ये छहोप्रकारके आर्य अविरतियुक्त होनेसे सावद्य कर्मार्य कहे जाते है।

२ अल्पसावद्य कर्मार्य अर्थात् श्रावक, जोकि स्थावरहिंसाके त्यागी नहीं हैं और त्रस-हिंसाके त्यागी तथा अणुव्रतके पालक होते है।

३ असावद्यकर्मार्य – सपूर्ण हिंसादिपापोके पूर्ण त्यागी मुनिराज असावद्यकर्मार्य है। क्योकि कर्मक्षयके लिये उद्यत ऐसे विरतिरूप परिणामोके वे धारक होते है।

चारित्रार्य--इनके अभिगत--चारित्रार्य और अनभिगत–चारित्रार्य ऐसे दो भेद हैं। चारित्र-मोहकर्मका उपशम होनेसे और क्षय होनेसे बाह्य उपदेशकी अपेक्षाके बिना आत्माकी प्रसन्नता होनेसेही चारित्रपरिणामोको धारण करनेवाले उपशात-कषाय और क्षीण-कषाय मुनिराजोको अभि-गतचारित्रार्य कहते है।

अनभिगत चारित्रार्य–अतरगमे चारित्रमोहकर्मका क्षयोपशम होनेसे और बाह्यमे उपदेशका निमित्त प्राप्त होनेसे जिनको विरतिरूप परिणाम होते हैं उनको अनभिगतचारित्रार्य कहते है।

विक्रियाबुद्धिसत्क्षेत्रवलौषधितपोरसैः । ऋद्धिमन्तो मताः सप्त प्रकारास्ते तथाविधैः ॥ १६५

दर्शनार्य–दश प्रकारके है। १ आज्ञा दर्शनार्य–भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ प्रणीत आज्ञामात्रको प्रमाण मानकर श्रद्धा करनेवाले आर्य आज्ञादर्शनार्य है। २ मार्गदर्शनार्य–परिग्रहरहित मोक्षमार्गका श्रवण करनेसे जिनको रुचि उत्पन्न हुई है, ऐसे आर्य मार्गदर्शनार्य है। ३ उपदेश दर्शनार्य–तीर्थकर बलदेव आदिकोके शुभचरित सुननेसे जिनको श्रद्धा हुई है वे उपदेशदर्शनार्य है। ४ सूत्रदर्शनार्य-दीक्षा, और मुनियोके आचारोके सूत्रोके श्रवणसे जिनको रुचि हुई है ऐसे आर्योको सूत्रादर्शनार्य कहते है। ५ बीजदर्शनार्य-बीजरुचि-बीजपदोको ग्रहण करनेसे सूक्ष्मार्थका परिज्ञान होनेसे जिनको श्रद्धा होती है, वे बीजदर्शनार्य कहे जाते हैं। ६ संक्षेपदर्शनार्य–जीवादि पदार्थोके सामान्य उपदेश-श्रवणसे जिनको सम्यग्दर्शन हुआ है ऐसे आर्योको संक्षेपदर्शनार्य कहते हैं। ७ विस्तारदर्शनार्य–अग और पूर्वोके विषय भूत जीवादि पदार्थोका विस्तार प्रमाण और नयोके द्वारा सुननेसे जिनको श्रद्धा हुई है, ऐसे आर्य विस्तारदर्शनार्य है। ८ अर्थदर्शनार्य–वचनविस्तारसे रहित ऐसा अर्थग्रहण होनेसे जिनको श्रद्धा हुई है ऐसे आर्य अर्थदर्शनार्य है। ९ अवगाढदर्शनार्य–आचारागादि द्वादशागोका ज्ञान होनेसे जिनके श्रद्धानमे दृढता आई है ऐसे आर्योको अवगाढदर्शनार्य कहते है और १० परमावगाढ-दर्शनार्य–परमावधिज्ञान, केवलज्ञानसे प्रकाशित जीवादिक पदार्थविषयक श्रद्धानको धारण करनेवाले आर्योको परमावगाढ दर्शनार्य कहते है। (राजवार्तिक अध्याय ३ रा आर्या म्लेच्छाश्च सूत्रका भाष्य)

[ऋद्धि प्राप्तार्योके भेद ।] – विक्रियाऋद्धि, बुद्धिऋद्धि, क्षेत्रऋद्धि, बलऋद्धि, औषध-ऋद्धि, तपऋद्धि और रसऋद्धि आदि ऋद्धियोसे युक्त ऐसे आर्योको ऋद्धिमदार्य कहते है ॥ १६५ ॥

विक्रियाऋद्धिमदार्य-- अणिमा, महिमा आदिक आठ प्रकारकी विक्रिया है। छोटा रूप धारण करना, बडा रूप धारण करना, एक अनेक रूप धारण करना आदि विक्रियाके धारकोको विक्रियाऋद्धिमदार्य कहते है।

बुद्धिऋद्धिमदार्य– बुद्धिऋद्धि अठारह प्रकारकी है। केवलज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्यय-ज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारित्व, सभिन्नश्रोतृत्व, दूरसे आस्वादन, दर्शन, स्पर्शन, घ्राण, श्रवण इनमे समर्थता, दशपूर्वित्व, चतुर्दशपूर्वित्व, अष्टागमहानिमित्तज्ञत्व, प्रज्ञाश्रवणत्व, प्रत्येकबुद्धता और वादित्व। इन ऋद्धियोको धारण करनेवाले आर्योको बुद्धिऋद्धिमदार्य कहते है। सम्यग्ज्ञानाधिकारमे इनका वर्णन आया है।

क्षेत्रऋद्धि–के धारक आर्य दो प्रकारके होते है। अक्षीणमहानस और अक्षीणमहालय। अक्षीणमहानस–लाभान्तराय कर्मका क्षयोपशम जिनमे अतिशय प्रकर्षको प्राप्त हुआ है, ऐसे मुनि-राजोको जिस पात्रमेसे आहार दिया जाता है उस पात्रका आहार चक्रवर्तीके सपूर्ण सैन्यकोभी दिया जाय तो भी कमी नहीं होता है। ऐसे मुनीश्वरको अक्षीणमहानसार्य कहते है।

अक्षीणमहालय– इस ऋद्धिके मुनि जहाँ बैठते है, वहा देव, मनुष्य, पशु सब यदि बैठ जाय तो भी वे परस्परोको बाधा न देते हुए सुखसे बैठते है। ऐसे मुनिको अक्षीणमहालयमुनि कहते है।

बलऋद्धि–मनोबलऋद्धि, वचनबलऋद्धि, और कायबलऋद्धि, मन.श्रुतावरणकर्मका और वीर्यान्तरायकर्मका क्षयोपशम परमप्रकर्षको प्राप्त होनेसे अन्तर्मुहूर्तमे सपूर्ण श्रुतज्ञानके अर्थका चिन्तन करनेमे चतुरता प्राप्त होती है।

वचनबलऋद्धि–मन श्रुतावरण, जिह्वाश्रुतावरण और वीर्यान्तरायकर्मका अतिशय प्रकर्ष-युक्त क्षयोपशम होनेसे अन्तर्मुहूर्तमे सपूर्ण श्रुतका उच्चारण करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है। और सतत तथा उच्च उच्चारण करनेपरभी श्रमरहित और कठमे विकाररहितपना उत्पन्न होता है।

कायबलऋद्धि–वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे शरीरमे असाधारण सामर्थ्य उत्पन्न होता है। जिससे मासिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक आदिकालका प्रतिमायोग धारण करनेपरभी श्रम और थकावट आतीही नही–प्रसन्नता रहती है।

औषधऋद्धि– आठ प्रकारकी होती है। जिनके हस्तपादादिक अवयवोके स्पर्शसे असाध्य रोगभी नष्ट होते है वह आमर्शौषध ऋद्धि है। जिनके मुखकी लाली औषधके समान रोग दूर करती है वे मुनि क्ष्वेलौषधर्द्धिके धारक है। जिनके पसीनेमे मिली हुई धूलि रोगहरण करती है ऐसे मुनीश्वरोको जल्लऋद्धिके धारक कहते है। जिनके कान, नाक, दन्त और आखोके मल औषधरूप हुए है वे मल्लौषधर्द्धिके धारक है। जिनकी विष्ठा औषधस्वरूप होकर रोग दूर करती है वे विडौषधर्द्धिके धारक है।

सर्वौषधिऋद्धि–जिनके अग, प्रत्यग, नख, केशादिक सर्व अवयव औषधरूप बने है तथा जिनको स्पर्श करनेवाले वायु जलादिकभी औषधमय होते है वे मुनि सर्वौषधर्द्धिके धारक हैं।

आस्याविषर्द्धि– उग्रविषयुक्त आहारभी जिनके मुखमे जानेपर निर्विष होता है अथवा जिनके मुखसे निकले हुए वचन सुनकर महाविषसे व्याप्त शरीरवालेभी जीव निर्विष होते है उनको आस्याविष मुनि कहते है।

दृष्टयविष– जिनके दर्शनसे अतितीव्र विषसे दूषित लोगभी निर्विष होते हैं वे दृष्टयविष ऋद्धिके धारक है।

तपोऽतिशयर्द्धि–सात प्रकारकी है। १ उग्र तपऋद्धि–चतुर्थ, षष्ठ (दो उपवास) अष्टम (तीन उपवास) दशम (चार उपवास) द्वादश (पाच उपवास) पक्ष (पद्रह उपवास) और मास (एक महिनेके उपवास) इस प्रकारके उपवासोमेसे कोई एक प्रकारका उपवास आमरण करने-वाले मुनीश्वरोको उग्र तपऋद्धिके धारक कहते है।

२ दीप्ततपस्–महोपवास करनेपरभी जिनका मनवचनशरीर सामर्थ्य बढताही है,

जिनका मुख दुर्गंधरहित है, जिनका श्वासोच्छ्वास पद्मके समान गधवाला होता है तथा जिनका शरीर कान्तियुक्त होता है वे दीप्ततप ऋद्धिके धारक मुनिराज है।

३ तप्ततपस्– तपे हुए कटाहपर पडे हुए जलबिंदु सूख जाते है वैसा जिन्होने लिया हुआ आहार मलरुधिरादिरूपतासे परिणत् नहीं होता है, वे मुनि तप्ततपस्ऋद्धिके धारक है।

४ महातपस्–सिंहनिःक्रीडितादि महोपवास करनेवाले मुनि महातप ऋद्धिके धारक है।

५ घोरतपस्–नाना प्रकारके रोगोसे पीडित होनेपरभी उपवास कायक्लेशादि तपश्चरणको नहीं त्यागनेवाले मुनीश्वरको घोरतपऋद्धिके मुनि कहते है।

६ घोर पराक्रम–वे ही मुनि जब अपना उपवास कायक्लेशादि तप अधिकाधिक बढाते है तब उन्हे घोर पराक्रम ऋद्धि धारक कहते है।

७ घोर ब्रह्मचारी–जिनका ब्रह्मचर्य अस्खलित होता है और जिनको कभी दुःस्वप्न पडतेही नहीं वे घोरब्रह्मचारी है।

रसऋद्धिके छह भेद होते है–१ आस्यविष–उत्कृष्ट तपोबलके धारक मुनि 'तू मर' ऐसा जिसको कहते है वह तत्काल विषव्याप्त होकर मरता है ऐसे मुनीश्वरको आस्यविषऋद्धि होती है।

२ दृष्टिविष–उत्कृष्ट तपस्वी क्रुद्ध होकर जिसे देखते है वह तत्काल उग्रविषसे व्याप्त होकर मरता है, ऐसे मुनि दृष्टिविषर्द्धिके धारक समझना चाहिये।

३ क्षीरास्रावि– विरस अन्नभी जिनके हाथमे पडनेपर दूधके रससे परिणत होता है वे क्षीरास्राविऋद्धिके धारक है। अथवा जिनके वचन दूधके समान क्षीणलोगोको संतुष्ट करनेवाले होते है वे क्षीरास्रावि मुनि है।

४ मध्वास्रावि–जिनके हाथमे पडा हुआ आहार नीरस होनेपरभी मधुररसवाला और शक्तिवर्धक होता है, तथा जिनके वचन दुःखपीडितोको मधुके समान पुष्ट करते है वे मध्वास्रावि मुनिराज है।

५ सर्पिरास्रावि–जिनके हाथमे आया हुआ आहार नीरस होनेपरभी रूक्ष होनेपरभी घीके समान रस और शक्तिवाला होता है अथवा जिनके वचन प्राणियोको घीके समान सन्तोषप्रद होते हैं वे मुनि सर्पिरास्रावी ऋद्धिके धारक है।

६ अमृतास्रावि– जिनके हस्तपुटमे पडा आया हुआ अन्न अमृत हो जाता है अथवा जिनके भाषण अमृतके समान प्राणियोपर अनुग्रह करते है वे अमृतास्रावी ऋद्धिके धारक मुनि है।

तत्त्वार्थवर्तिकमे इन सात ऋद्धिके सिवाय क्रियाऋद्धि आठवी ऋद्धि मानी है। इस ऋद्धिके दोन भेद है, चारणत्व और आकाशगामित्व। चारणभी अनेक प्रकारके है। जल, जंघा, तन्तु, पुष्प, पत्र, श्रेणि, अग्निशिखादिकोका अवलंबन लेकर गमन करनेवाले चारणमुनि जलादिकमे, जमीनके समान पाव उठाकर रखते हुए गमन करते है। तथापि जलादिकोके जन्तुओको पीडा नहीं

म्लेच्छाश्च द्विविधाः प्रोक्ताः कार्माश्च म्लेच्छभूमिजाः। कर्मभूमिषु ये सन्ति ते सर्वे कर्मभूमिजाः॥१६६
अन्तर्द्वीपजास्तावदन्तरद्वीपवर्तिनः। ते च द्वीपा भवन्त्यत्र जम्बूद्वीपपयोनिधौ ॥ १६७
योजनानि शतान्यस्मात्तिर्यक् पञ्च प्रविश्य ते। दिक्षु द्वीपा भवन्त्यष्टौ लवणाम्भोधिमध्यगाः॥१६८
सार्द्धपञ्चशतान्यस्माद्योजनानां प्रविश्य च। द्वीपा विदिक्षु ते ह्यष्टौ विद्यन्ते कौतुकावहा. ॥ १६९
वेदिकायाः समुद्रान्तः षड्योजनशतेषु च। गतेषु पर्वतान्तेषु द्वौ द्वौ द्वीपौ मतौ तत ॥ १७०
चतुर्विंशतिसंख्यास्ते जम्बूद्वीपस्य सन्निधौ। तत्सङ्ख्या धातकीखंडसमीपे गदिता जिनै. ॥ १७१
शतयोजनविस्तारा दिक्षु द्वीपा अमी पुनः। स्युर्विदिक्षु तदर्द्धास्ते शैलान्ते पञ्चविंशति. ॥ १७२
प्राच्यामेकोरुका' सर्वेऽपाच्यां ते तु विषाणिनः। लाङ्गलिन. प्रतीच्यां यदुदीच्यां वाग्विवर्जिता.॥

होती है। जमीनपरसे चार अंगुल ऊपर आकाशमे अतिशय शीघ्र सकडो योजन गमन करनेवाले मुनि जंघाचारण मुनि है।

आकाशगामी–पर्यङ्कासनसे अथवा कायोत्सर्गसे पाव नहीं उठाते हुए आकाशमे गमन करनेवाले मुनि आकाशगामी ऋद्धिके धारक है। इस प्रकार ऋद्धिमदार्योका वर्णन हुआ। (राजवार्तिक 'आर्याम्लेच्छाश्च' सूत्रका भाष्य)

[म्लेच्छोके भेदोका वर्णन।] – कर्मभूमिज म्लेच्छ और म्लेच्छभूमिज म्लेच्छ ऐसे म्लेच्छोके दो भेद है। जो कर्मभूमिमे रहते है वे सर्व कर्मभूमिज म्लेच्छ है ॥ १६६ ॥

अन्तरद्वीपमे रहनेवाले म्लेच्छोको आन्तरद्वीपज म्लेच्छ कहते है तथा ये अन्तर्द्वीप जम्बूद्वीपके समुद्रमे है। अर्थात् लवणसमुद्रके द्वीपोमे उत्पन्न हुए मनुष्योको आन्तरद्वीपज म्लेच्छ कहते है। इनको कुभोगभूमिजभी कहते है ॥ १६७ ॥

लवणसमुद्रके अदर पाचसौ योजन प्रवेश करनेपर लवणसमुद्रके मध्यमे पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर ऐसी चार दिशाओमे आठ द्वीप है ॥ १६८ ॥

तथा लवणसमुद्रमे साडे पाचसौ योजनतक प्रवेश करनेपर विदिशाओमे आश्चर्यकारक आठ द्वीप है ॥ १६९ ॥

वेदिकासे लवणसमुद्रमे छइसौ योजन प्रवेश करनेपर पर्वतोके अन्तपर–टोकोपर दो दो द्वीप है। सब मिलकर जम्बूद्वीपके सन्निध चौवीस द्वीप है। धातकीखडके समीपके द्वीपोकीभी जिनेश्वरोने ऐसीही सख्या कही है। अर्थात् धातकीखडके कालोद समुद्रमेभी चौवीस अन्तरद्वीप हैं ॥ १७१ ॥

दिशाओमे जो द्वीप है वे सौ योजन विस्तारवाले है और विदिशाओमे जो द्वीप है वे पच्चीस योजन विस्तारवाले है। तथा पर्वतोपर जो द्वीप है वे पच्चीस योजन विस्तारवाले है ॥१७२॥

पूर्व दिशाके द्वीपोमे जो अन्तर्द्वीपज मनुष्य है वे सब एकोरुक है अर्थात् एक पाववाले है। दक्षिण दिशाके द्वीपोमे सीगवाले मनुष्य है। पश्चिम दिशाके द्वीपोमे पूछवाले मनुष्य है और

शशादिशंकुलीकर्णा महिष्यावरणाः पुनः । लम्बकर्णा विदिक्ष्वेते भवन्ति मनुजाधमाः ॥ १७४
अश्वसिंहमुखास्तावच्छ्वमुखेभमुखाः पुनः । वराहव्याघ्रकाकैककपिवर्गमुखाः परे ॥ १७५
विद्युन्मेषमुखाः सर्वे पार्श्वयोरुभयोर्मताः । शिखर्याख्यस्य शैलस्य विविधाकारधारिणः ॥ १७६
मत्स्यमेषमुखा. कालमुखा हिमवतस्ततः । तत्पार्श्वे उभयोः सन्ति सर्वे पल्योपमायुषः ॥ १७७
आदर्शहस्तिवक्त्राश्च पार्श्वयोरुभयोर्मताः । उत्तरस्यां हि रूप्याद्रेः समुद्रान्तैकवर्तिनः ॥ १७८
दक्षिणस्यां हि रूप्याद्रेः पार्श्वयोरुभयोः पुनः । गोमेषवदनाः सन्ति मानुषाश्चिरजीवनाः ॥ १७९
एकोरुका मृदाहारा गुहायां सन्ति वासिनः । शेषाः पुष्पफलाहारा वृक्षैकतलवासिनः ॥ १८०
द्वीपाः सर्वेऽपि ते तोयात् योजनोत्सेधवर्तिनः । कालोदेऽपि तथा ज्ञेयाः कुत्सिता भोगभूमयः ॥१८१
कर्मभूमिभवाः सर्वे पुलिन्दा नाहलादयः । पापकर्मरता नित्यं दुष्टा दुर्गतिगामिनः ॥ १८२

उत्तर दिशाके द्वीपोमे वचनरहित अर्थात् मूक मनुष्य है। विदिशाओमे जो द्वीप है उनमे रहनेवाले मनुजाधमोके कान शशके समान, शष्कुलीके समान–भैंसके समान है तथा आवरणके समान कर्ण है और लंब कर्ण है ॥ १७३–१७४ ॥

अश्वके समान मुखवाले, सिहके समान मुखवाले, कुत्तेके समान मुखवाले, हाथीके समान मुखवाले, वराह-सूकर, व्याघ्र, कौवा और वंदर इन प्राणिओके समान मुखवाले ऐसे अन्तर्द्वीपज विदिशाके द्वीपमे रहते हैं ॥ १७५ ॥

विजलीके समान मुखवाले, मेष-बकरेके समान मुखवाले, मनुष्य शिखरी नामक कुल पर्वतके दोनो पार्श्वोपर जो द्वीप है उनमे रहते है। हिमवान पर्वतके दोनो पार्श्वोपर जो द्वीप है उनमे मत्स्यमुखवाले, मेषके मुखवाले और काले मुखवाले ये सर्व मनुष्य है। ऐसे विविधाकारको धारण करनेवाले ये सर्व मनुष्य एक पल्योपम आयुके धारक है। समुद्रके बीचमे जिसके अन्त घुस गये है ऐसे विजयार्द्ध पर्वतके उत्तरके जो पार्श्व भाग है उनके द्वीपोमे दर्पणके समान मुखवाले और हाथीके समान मुखवाले म्लेच्छ रहते है। विजयार्द्ध पर्वतके दक्षिणके दो पार्श्वभागमे जो द्वीप है उनमे गायके मुख समान मुखवाले और बकरेके मुखसमान मुखवाले दीर्घकालीन आयुवाले मनुष्य है ॥१७६-१७९

जो एक पाववाले हैं वे गुहामें रहते है और मृत्तिकाभक्षण करते हैं। तथा बाकीके पुष्प और फलोका आहार लेते हैं तथा वृक्षके तलमे रहते हैं ॥ १८० ॥

वे सर्वद्वीप पानीसे एक योजनकी ऊचाईपर है। कालोदसमुद्रमेभी लवणसमुद्रके समान कुत्सित भोगभूमि है ॥ १८१ ॥

पुलिन्द, नाहल–पक्षियोको पकडनेवाले पारवी, आदि शब्दसे शक, यवन, शबर आदिक कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं। वे कर्मभूमिज म्लेच्छ पापकर्म करनेमें प्रीति रखते हैं। हमेशा दुष्ट होनेसे दुर्गतिमे जानेवाले हैं ॥ १८२ ॥

सर्वार्थसिद्धिसौधैकप्रापकस्य सुकर्मणः । दुःकर्मणस्त्वधोभूमिप्रापकस्य समाश्रय ॥ १८३
यास्ताः कर्मभुवो ज्ञेयाः शेषा भोगैकभूमिका. । कर्ममात्राभिसंस्थानं जगत्सर्वं निगद्यते ॥ १८४
षड्विधस्य महापापकर्मणः कर्मभूमयः । सस्थानं पात्रदानादि सुमहाकर्मणोऽपि च ॥ १८५
समस्तकर्मणां मोक्षं भव्याः कुर्वन्ति यत्र वा । नान्यस्मिन्नत एवासौ कर्मभूमिर्निगद्यते ॥ १८६
कर्मभूमावपि प्राप्य मानुषत्वं सुदुर्लभम् । ही मोहान्धतमश्छन्नो नात्मानमधियास्यति[1] ॥ १८७

[कर्मभूमिका स्वरूप ।] – सर्वार्थसिद्धिरूपी प्रासादकी प्राप्ति करानेवाले शुभकर्मका बध जहा होता है तथा जो सप्तमनरक–भूमिकी प्राप्ति करानेवाले दुष्कर्मका बध करानेवाली है उसे कर्मभूमि कहते है। तात्पर्य यह है, कि सर्वार्थसिद्धिकी प्राप्ति करानेवाले तथा तीर्थकरत्व महाऋद्धिको उत्पन्न करनेवाले असाधारण शुभ कर्मका बध जीवको कर्मभूमीमेही होता है। अन्यत्र ऐसा उत्कृष्ट शुभ कर्मबध नहीं होता। तथा अप्रतिष्ठान नरकभूमिमे ले जानेवाला अत्यत अशुभकर्म कर्मभूमीमे ही जीव उपार्जित करते है। अन्यत्र अत्यत तीव्र अशुभकर्मका बध नहीं होता। क्योकि कर्मबध जो होता है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे होता है। कर्मभूमिमेही उत्कृष्ट शुभाशुभ कर्मबध होने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोका सयोग होता है अन्यत्र नहीं। तथा ससारकारण कर्मोकी निर्जरा भी यहाही होती है। अतः एव भरतादि क्षेत्रोकोही आचार्योने कर्मभूमि कहा है ॥ १८३ ॥

उपर्युक्त कर्मभूमिका लक्षण जिनमे है उनको कर्मभूमि कहते है। बाकीकी भूमियाँ भोगभूमियाँ कही है। यद्यपि आठ प्रकारके कर्मबध सर्व मनुष्यक्षेत्रोमे साधारण हैं तथापि विशिष्ट कर्मबंधकी अपेक्षासे यहा कर्मभूमिका लक्षण किया है, तथा वह लक्षण देवकुरु, उत्तरकुरु विरहित समस्त विदेहक्षेत्र, भरतक्षेत्र और ऐरावतक्षेत्रमे चला जाता है। अत. उनकोही कर्मभूमि कहना चाहिये। बाकीके स्थान भोगभूमि स्वरूप है, क्योकि सपूर्ण जगत् सामान्यतया कर्मबधनका स्थान है॥ १८४ ॥

असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ऐसे छह प्रकारके महापाप उत्पन्न करनेवाले कर्मोकी प्रवृत्ति कर्मभूमिमेही देखी जाती है। तथा देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, सयम, तप और दान ऐसे छह शुभ कर्मोमे प्रवृत्तिभी इस कर्मभूमिमेही देखी जाती है। यहाही सपूर्ण कर्मोका नाश कर भव्य मोक्षप्राप्ति कर लेते है। अत भरतादि क्षेत्रोकोही कर्मभूमि कहना चाहिये। अन्यत्र जीवनके षट्कर्म, देवपूजादि शुभ षट्कर्म, और कर्मनिर्जरा तथा कर्ममुक्तता नहीं होती है। अत ऐसे देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक, हैरण्यवत आदि क्षेत्रोको भोगभूमिही कहते है ॥१८६॥

कर्मभूमिमेभी मनुष्यपना प्राप्त करके मोहान्धकारसे व्याप्त होकर मनुष्य अपने आत्माकी प्राप्ति नहीं करता है यह बात उसको दूषणास्पद है ॥ १८७ ॥

---

१ आ. मधियस्यति ।

पल्योपमत्रयं तावन्नृणामायुरथोत्तमम् । जघन्यं जायते तेषामान्तर्मुहूर्तकं पुनः ॥ १८८
व्यावहारिकमाद्यं स्यादुद्धाराख्यं द्वितीयकम् । अद्धापल्यं तृतीयं तदिति पल्यत्रयं मतम् ॥ १८९
व्यवहारैकहेतुत्वादुत्तरस्यादिमं मतम् । व्यवहारैकपल्यं तदर्थेनैव च केवलम् ॥ १९०
उद्धाराख्यं द्वितीयं स्याल्लोमच्छेदैस्तदुध्दृतैः । भवत्यत्र यतस्तस्याप्यन्वर्थः स्फुट एव हि ॥ १९१
अद्धाकालस्थितिर्यस्माज्जायते तत्त्वगोचरैः । इत्यन्वर्थवलात्तस्याप्यद्धापल्यत्वमीरितम् ॥ १९२
प्रमाणाङ्गुलसम्भूतयोजनैकप्रमाणतः । दीर्घावगाहविष्कम्भः कुसूलः पल्यमिष्यते ॥ १९३

[मनुष्यकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु ।]– मनुष्योकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है, तथा उनकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्तकी होती है ॥ १८८ ॥

[पल्योपम–संख्याका निर्णय ।] – पल्यके तीन भेद है, व्यवहार पल्य, यह पहिला पल्य है, दूसरा पल्य उद्धार नामक है, तथा तीसरा पल्य अद्धापल्य है। ऐसे तीन पल्य जैन शास्त्रमे माने है ॥ १८९ ॥

पहिला पल्य आगेके पल्योके व्यवहारका कारण होनेसे व्यवहारपल्य नामसे कहा जाता है । अत· उसका नाम अन्वर्थक है ॥ १०० ॥

दूसरे पल्यका नाम ' उद्धार पल्य ' ऐसा है, क्योकि उससे निकाले गये लोमच्छेदोसे द्वीपसमुद्र सख्याका निर्णय किया जाता है । इसलिये 'उद्धारपल्य' यह नाम अन्वर्थ है, सो स्पष्टही है ॥ १९१ ॥

अद्धा-कालको अद्धा कहते है। इससे स्थितिका–कालका निर्णय होता है । इसलिये यह अद्धापल्य नाम तत्त्वगोचर–यथार्थताका विपय है । अन्वर्थता होनेसे इसकोभी अद्धापल्य कहते है ॥१९२॥

[व्यवहारपल्यका स्वरूप । – प्रमाणाङ्गुलोसे उत्पन्न हुए योजनके प्रमाणसे जिसकी दीर्घता अवगाह और विष्कभ–विस्तार है ऐसा एक कुसूल गडहा खोदना चाहिये । उसको पल्य कहते है । स्पष्टीकरण–आठ यवमध्योका एक उत्सेधागुल होता है । इस उत्सेधागुलको पाचसौ सख्यासे गुणनेसे प्रमाणागुल होता है । यह प्रमाणागुल अवसर्पिणीमे प्रथम चक्रवर्तीका आत्मागुल माना जाता है । उस आत्मागुलसे चक्रवर्तीके समयोके ग्राम नगरादि–प्रमाणका निर्णय होता है। इतर समयमे जो मनुष्योका आत्मागुल होता है उससे ग्रामनगरादि प्रमाणका निर्णय होता है। जो प्रमाणागुल है, उससे द्वीपसमुद्र, जगतीवेदिका, पर्वत, विमान, नरकप्रस्तार, आदिक अकृत्रिम द्रव्योके दीर्घता, विस्तार आदि जाने जाते हैं । इस प्रमाणागुलसे उत्पन्न हुए योजनके द्वारा किया हुआ एक प्रमाण योजनके अवगाहका, एक प्रमाण योजन दीर्घतासे युक्त और एक प्रमाण योजन विस्तारवाला ऐसा गड्ढा खोदना चाहिये उसे पल्य कहते है ॥ १९३ ॥

तदहर्जाविलोमाग्रच्छेदैः पूर्णं घनीकृतम् । व्यवहारमिदं पल्यं कथ्यते यतिनायकैः ॥ १९४
एकैकलोमसंकर्षाद्धृते वर्षशते शते । यावद्रिक्तं भवेत्पल्यं स च पल्योपमो मतः ॥ १९५
असंख्याताब्दकोटीनां यावन्तः समयाः पुनः । तावन्मात्रपरिच्छिन्नतल्लोमच्छेदसम्भृतम् ॥ १९६
उद्धाराख्यं मतं पल्यं समये पूर्णता ततः । एकैकस्मिन्हृते लोम्नि यावद्रिक्तं प्रजायते ॥ १९७
स सर्वोपि मतः कालो ह्युद्धारः पल्यसञ्ज्ञकः । कोटीकोट्यो दशैतेषां उद्धार. सागरोपमः ॥ १९८
अर्द्धतृतीयसंख्यानां उद्धाराणां भवन्ति ये । रोमच्छेदाश्च तावन्तः कथ्यन्ते द्वीपसागराः ॥ १९९
पुनरुद्धारपल्यस्य रोमच्छेदैः प्रजायते । शताब्दसमयच्छिन्नैरद्धापल्यं प्रपूरितम् ॥२००
एकैकस्मिन्हृते तस्मिन्समये समये ततः । यावद्रिक्तं भवेत्सोऽयमद्धापल्योपमो मतः ॥ २०१
कोटिकोट्यो दशैतेषां स्यादद्धा सागरोपमः । कोटिकोट्यो दशैतेषां एका स्यादवसर्पिणी ॥ २०२
तथैवोत्सर्पिणी ज्ञेया यस्यामुत्सर्पणं सदा । सर्वेषां हि पदार्थानामायुरुत्सेधपूर्विणाम् ॥ २०३

जिनको जन्म लेकर एक दिन हुआ है ऐसे मेषोंके केशाग्रोसे-जिनका पुन. टुकडा नहीं होता है ऐसे केशाग्रोसे वह गड्ढा दृढतया भरना चाहिये तब उसको यतिनायक व्यवहारपल्य कहते है ॥ १९४ ॥

[व्यवहारपल्योपमका लक्षण ।] — सौ वर्ष बीतनेपर एक रोमाग्र निकालना चाहिये। पुनः सौ वर्ष समाप्त होनेपर दूसरा लोमाग्र निकालना चाहिये,पुनः सौ वर्ष समाप्त होनेपर तीसरा, इसप्रकार लोमाग्र निकालते निकालते जब वह गड्ढा जितने कालसे पूर्ण रिक्त होता है उतने कालको व्यवहार-पल्योपम कहते है ॥ १९५ ॥

[उद्धारपल्योपमका लक्षण ।] — पुनः असख्यात वर्ष–कोटियोके जितने समय होते हैं उतने समयोसे परिगणित एक एक मेषकेशाग्रोसे भरा हुआ जो गड्ढा उसको उद्धारपल्य कहते है । वह उद्धारपल्य पूर्ण भरनेपर एक समयमे एक रोमाग्र निकालना चाहिये, पुन. एक समयमे एक रोमाग्र निकालना चाहिये, इस प्रकारसे निकालते निकालते जब वह गड्ढा जितने कालसे खाली हो जाता है– रिक्त होता है उतने बडे कालको उद्धारपल्योपम कहा जाता है । दश कोटि कोटि उद्धारपल्योपमोका एक उद्धारसागर होता है । ढाई उद्धारसागरोपमोके जितने रोमच्छेद होते हैं उतने इस मध्यलोकमे द्वीप और समुद्र है ॥ १९६–१९९ ॥

[अद्धापल्योपम अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीका लक्षण ।] — सौ वर्षोके जितने समय होते है उतने टुकडे उद्धार पल्यके एक एक रोमच्छेदके करने चाहिये। और ऐसे रोमच्छेदोसे वह अद्धापल्य भरना चाहिये। इसके अनतर एक एक समयमे एक एक रोमच्छेद वहासे निकालना चाहिये। ऐसा निकालते निकालते जब वह रिक्त होगा तब उस कालको उसे अद्धापल्योपमकाल कहते है। दस कोटी कोटी अद्धापल्योपमोका एक अद्धासागरोपम होता है। और दस कोटीकोटी

---

१ आ. धै व्यावहारिक पल्य. २ आ. सकर्षाहृते ३ आ. समये समेय ततः ४ आ. सञ्ज्ञकः

अवसर्पणतस्तेषामेवांभाण्यवसर्पिणी । तस्याः कालकलाषट्कं सुषमासुषमादयः ॥ २०४
कोटीकोट्यश्चतस्रः स्युः[2] सुषमासुषमादयः । सुषमासुषमाकालः सर्वसौख्याकरो नृणाम् ॥ २०५
कोटीकोट्यस्तथा तिस्रः सुषमाकाल इष्यते । सुषमादुःषमाकालः[3] कोटीकोटिद्वयं मतः ॥ २०६
दुष्षमासुषमाकालः[4] कोटीकोटिर्निगद्यते । द्विचत्वारिंशता हीनः सहस्राणां हि कोविदैः ॥ २०७
एकविंशतिरुद्गीता सहस्राणां हि दुःषमा[5] । तथातिदुःषमाकालो[6] वहुदुःखप्रदो नृणाम् ॥ २०८
उत्सर्पिण्यास्तथा चैते षट्कालाः सम्प्रकीर्तिताः । अतीवदुष्षमा[7] आद्यसुषमासुषमान्तिका ॥ २०९
नारकतिर्यग्देवानां मनुष्याणामनेन च । अद्धापल्येन कर्मायुःकालस्थितिरुदीर्यते ॥ २१०
तिरश्चामायुरुत्कृष्टं त्रिपल्योपममीरितम् । अन्तर्मुहूर्तकं[8] तेषां जघन्यं मुनिनायकैः ॥ २११
उत्सेधः परमो नृणां क्रोशानां त्रितयं मतम्[9] । अङ्गुलासङख्यभागश्च जघन्यो मध्यमः परः ॥ २१२

अद्धासागरोपमकालकी एक अवसर्पिणी होती है। उत्सर्पिणीकालका परिमाणभी दस कोटीकोटी अद्धासागरोपमकाल है। दोनो मिलकर अर्थात् वीस कोटीकोटी अद्धासागरोपमकालको एक कल्पकाल कहते है। जिसमे सर्व पदार्थोंकी आयु, ऊचाई, आदि गुण वढते है उस कालको उत्सर्पिणीकाल कहते है, तथा ये जिसमे कम कम होते है उसे अवसर्पिणीकाल कहते है। इस कालके सुषमासुपमादिक छह भेद हैं। पहिला सुषमासुषमाकाल मनुष्योको सर्व प्रकारके सुखोको देनेवाला है। यह काल चार कोटीकोटी सागरोपमवर्षोंका है। तीन कोटीकोटी सागरोपमकाल सुपमा नामका है। सुपमादुःपमानामका काल दो कोटीकोटी सागरोपमवर्षोंका है और दुःषमासुषमानामक काल एक कोटीकोटी सागरोपमवर्षोंका है। मात्र उसमेसे बियालीस हजार वर्ष कम करने चाहिये ऐसा विद्वान् लोग कहते है। उसमे दुःपमाकाल इकईस हजार वर्षोंका है और अतिदुःपमाकालभी इतनाही है और वह मनुष्योको अतिशय दुःखप्रद है। उत्सर्पिणीके छह काल कहे है, परन्तु उसमे अतिदुःपमा पहिला भेद है और सुषमासुपमा यह अन्त्यका अर्थात् छठा भेद है ॥ २००–२०९ ॥

[अद्धापल्यसे कौनसी वस्तुओकी गणना की जाती ?] – नारकी, तिर्यञ्च, देव और मनुष्य इनकी अद्धापल्यके द्वारा कर्मस्थिति, भवस्थिति, आयु. स्थिति और शरीरस्थिति जानने योग्य होती है ॥ २१० ॥

[तिर्यञ्चोकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु ।] – तिर्यञ्चोकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है ऐसा मुनिनायक कहते है और उनकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त परिमाण की है ॥ २११ ॥

[मनुष्योकी उत्कृष्ट और जघन्य ऊचाईका कथन] – मनुष्योकी उत्तम ऊचाई तीन कोसोकी है। और जघन्य ऊचाई अङ्गुलासख्यात भाग है और मध्यम ऊचाई अनेक प्रकारकी है ॥ २१२ ॥

---

१ आ. मेपा २ आ स ३ आ. दुःखमा ४ आ. दुःखमा ५ आ. दुःखमा ६ आ. दुःखमा ७ आ. अतीव दुःखमा था सा सुखमासुखमान्तिका ८ आ. मौहूर्तिक ९ आ. मतः

मत्स्यानां पूर्वकोट्येका परमायुः प्रकीर्तितम् । कर्मभूमिगतानां च तथैव मुनिपुङ्गवैः ॥ २१३
वर्षाणां च सहस्राणि चत्वारिंशद्द्विरुत्तरा । सर्पाणां च परं प्रोक्तमायुरायुर्विवर्जितैः ॥ २१४
द्विसप्ततिसहस्राणि[1] पक्षिणामायुरुत्तमम् । कथयन्ति जिनाधीशा विविधागमपारगाः ॥ २१५
लवणाम्बुधिमध्यस्थमत्स्यदेह प्रमाणत. । योजनान्यष्टसंयुक्तदशैतानि मतो जिनैः ॥ २१६
नदीमुखेषु सर्वेषु पुनरेतत्प्रमाणतः । योजनानि नवैवाहुर्विश्वतत्त्वविचारकाः ॥ २१७
षट्त्रिंशद्योजनान्याहुः कालोदे मत्स्यविग्रहम् । अष्टादश नदीद्वारे प्रमाणाद्यतिनायकाः ॥ २१८
स्वयम्भूरमणे सन्ति मत्स्याः सहस्रकायिकाः[2] । अन्ये पञ्चशतान्येते परमोत्सेधधारिणः ॥ २१९
मसूरिकाकुशाग्रस्थविन्दुसूचिपताकिन. । पृथ्व्युदकाग्निवाताश्च संस्थानेन निरूपिताः ॥ २२०
नानासंस्थानसंयुक्ता हरित्कायास्तथा त्रसाः । अव्यक्तहुण्डसंस्थाना नारकाः कथिता जिनैः ॥ २२१

[मत्स्योकी उत्कृष्ट आयु ।] — कर्मभूमिगत मत्स्योकी उत्कृष्ट आयु पूर्व कोटीकी है ऐसा श्रेष्ठ मुनियोने कहा है ॥ २१३ ॥

[सर्पोकी उत्कृष्ट आयु ।] — आयुकर्मरहित तीर्थकर परमदेवोने सर्पोकी आयु चौरासी हजार वर्षोकी कही है ॥ २१४ ॥

[पक्षियोकी उत्कृष्ट आयु ।]— नानाविध आगमोके पारगामी जिनेश्वरोने पक्षियोकी आयु बहात्तर हजार वर्षोकी कही है ॥ २१५ ॥

[मत्स्योकी शरीरावगाहनाका वर्णन ।] — लवणसमुद्रके मध्यमे रहनेवाले मत्स्योका शरीरावगाहन अठारह योजनप्रमाणका है ऐसा जिनेश्वरोने कहा है। विश्वतत्त्वका विचार जिन्होने किया है ऐसे गणधरोने गगादि नदियोके मुखमे रहनेवाले मत्स्योकी शरीरावगाहना नौयोजनप्रमाणकी कही है । कालोदसमुद्रमे मत्स्योकी शरीरावगाहना छत्तीस योजनोकी है । गगादिनदियोके मुखमे अठारह योजनोकी मत्स्यशरीरोकी अवगाहना है। स्वयभूरमणसमुद्रमे मत्स्य हजारयोजनोके रहते है और नदियोके मुखमें पाचसौ योजनोकी अवगाहनावाले मत्स्य है ऐसा यतिनायकोने कहा है ॥ २१६–२१९ ॥

[पृथ्वीजलादिकोका आकार ।] — पृथ्वीजीवका आकार मसूरके समान है । जलका आकार दर्भाग्रके ऊपरकी जलविन्दु समान, अग्निका आकार सूईयोके समूहके समान, वातका आकार पताकाके समान हैं ॥ २२० ॥

[वनस्पति त्रस और नारकियोका आकार ।] — वनस्पति और त्रसोके आकार नाना-विध है । तथा नारकियोका आकार हुड सस्थानका है ऐसा जिनेश्वरोने कहा है। अर्थात् नारकियोके शरीरका आकार अव्यक्त टेडामेडा अनेक प्रकारका होता है, बीभत्स होता है ॥ २२१ ॥

१ आ सप्तत्यब्दसहस्राणि २ आ. साहस्रिकान्तराः

उत्कर्षेणैव जायन्ते ज्योतिर्व्यन्तरभावनाः । मिथ्यादृशस्तपोदानयुक्ताअपि सुनिश्चितम् ॥ २२२
ब्रह्मलोकावधिं कृत्वा तापसानां परा गतिः । मिथ्यात्वबलयुक्तानां न पुरस्तात्कदाचन ॥ २२३
जीविकाया निमित्तं ते[1] जिनलिंगं समाश्रिताः । तन्मिथ्यात्वममुञ्चन्तो ब्रह्मव्रतसमन्विताः ॥ २२४
यदि यान्ति मृताः स्वर्गं सहस्रारं न चाग्रतः । ततोऽन्यलिङ्गिनां नास्ति समुत्पत्तिः कदाचन ॥ २२५
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयाज्ञामात्रधारिण. । उत्कृष्टतपसा यान्ति यावद्ग्रैवेयकं परम् ॥ २२६
निर्ग्रन्थश्रावकाणां च समुत्कर्षात्प्रजायते । आरणाच्युतदेवानामुपपादो मनोरमः ॥ २२७
दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयस्यैकधारकाः[2] । निर्ग्रन्था एव जायन्ते पंचानुत्तरवर्तिनः ॥ २२८
ये मिथ्यात्ववशात्प्राप्ता देवत्वमतिनिन्दितम् । आ ऐशानाच्च्युतास्तेऽमी गच्छन्त्येकेन्द्रियेषु च ॥
ततः परं सहस्राराद्यावत्ते प्रच्युताः पुनः । अनन्तरभवे यान्ति तिर्यङ्मानवयोनिषु ॥ २३०
ततः परं सुधर्मेण पूर्वं वा स्वर्गगामिनः । तस्माच्च्युता मनुष्येषु तिर्यक्षु न कदाचन ॥ २३१

[मिथ्यादृष्टियोकी उत्पत्तिका निर्णय ।] – मिथ्यादृष्टि जीव तप करनेपर और दान देनेपरभी निश्चयसे उत्कृष्ट ज्योतिष्क, व्यन्तर और भवनवासि देवोमे उत्पन्न होते है । जो मिथ्यादृष्टि तापसी साधु है वे मिथ्यात्वसहित ब्रह्मस्वर्गतकही जन्म लेते है । उनकी उत्कृष्ट गति वहांतकही है । उसके आगे कभीभी उनकी उत्पत्ति नही होतीं है ॥ २२२–२२३ ॥

जिन्होने जीविकाके निमित्त जिनलिंगका आश्रय किया है, जो मिथ्यात्वको नहीं छोडते हुए ब्रह्मचर्य व्रतके धारक है, वे यदि मरनेके बाद स्वर्गमे जाते है तो सहस्रारस्वर्गतक जायेंगे, उसके आगे अन्यलिंगियोकी उत्पत्ति कदापि नहीं होती है ॥ २२४–२२५ ॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र इस रत्नत्रयकी आज्ञा फक्त धारण करनेवाले मुनि उत्कृष्ट तपसे ग्रैवेयकतक जन्म ग्रहण करते है ॥ २२६ ॥

[निर्ग्रंथ मुनि और श्रावक इनकी उत्पत्ति] – निर्ग्रंथ मुनि और श्रावक इनका उत्कर्षसे मनोहर जन्म आरण अच्युत देवोमे होता है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके धारक ऐसे निर्ग्रन्थही पचानुत्तरपर्यन्त उत्पन्न होते है ॥ २२७–२२८ ॥

जिन्होने मिथ्यात्व वश होकर ऐशान स्वर्गतक निन्दित देवत्व प्राप्त किया है, वे आयुष्य समाप्ति होनेपर एकेन्द्रियोमे उत्पन्न होते है । तथा जो मिथ्यादृष्टि जीव सहस्रारस्वर्गतक देव होकर उत्पन्न हुए है, वे जब वहासे आयु समाप्त होनेपर च्युत होते है, तब अनन्तरभवमे तिर्यंच अथवा मनुष्यभवमे जन्म धारण करते हैं ॥ २२९ ॥

जिन्होने पूर्वभवमे सुधर्मसे–रत्नत्रयसे स्वर्ग प्राप्त किया है, वे आयुष्य समाप्त होनेपर वहासे च्युत होकर मनुष्योमे जन्म धारण करते है, वे तिर्यचोमे कदापि जन्म धारण नहीं करते ॥ २३० ॥

लोकके भेदस्वरूपी तिर्यग्लोकका किञ्चित् वर्णन मैने किया है । अब ऊर्ध्व लोकके आश्रयसे किञ्चित् वर्णन करना चाहता हू ॥ २३१ ॥

---

१ आ. ये २ आ. सम्यग्दर्शनचारित्रत्रितयस्यैक

तिर्यग्लोकगता किञ्चित्कृता लोकस्य[1] वर्णना। ऊर्ध्वलोकाश्रिता तावत्साम्प्रतं सा विधीयते॥ २३२

इत्याद्यनेकभवगर्तविवर्तवर्तियोनिष्वनादि विचरन्नपि जीव एष।
नाद्यापि भङ्गमलमङ्ग समाकलय्य जैनेश्वरं श्रयति हा किमिहातनोमि॥ २३३

जैनेश्वरं मतमिहाप्य च सिद्धबोधा शृण्वन्ति साधु कलयन्ति विचारयन्ति।
ये ते जगत्त्रयशिरःशुभशेखरत्वमात्मन्यनन्तसुखमाशु निमापयन्ति॥ २३४

❀ इति श्रीसिद्धान्तसारसङ्ग्रहे पण्डिताचार्य[2]श्रीनरेन्द्रसेनविरचिते मध्य[3]लोकविचारणानिरूपणं समाप्तम्। सप्तमः परिच्छेदः। ❀

पूर्वमें कहा हुआ जो संसाररूपी गडहा वही भौंरारूपी जो चौरासी हजार योनि उनमें यह जीव अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है। हे जीव! यह संसार अद्यापि नष्ट नहीं होता ऐसा जानकर तू जिनेश्वरके मतका आश्रय कर। हे जीव! अब मैं इससे अधिक तुझे क्या कहूं? जिनका ज्ञान निर्मल है ऐसे जो भव्य जीव जिनेश्वरका मत प्राप्त करके उसे सुनते हैं, धारण करते हैं और उसका विचार करते हैं, वे जगत्त्रयको सुखदायक ऐसे जिनमतमें स्थिर रहकर शुभकार्योंमें शेखररूप–अर्थात् श्रेष्ठ ऐसा अनन्त सुख आत्मामें प्राप्त करते हैं॥ २३३–२३४॥

श्रीपंडिताचार्य नरेन्द्रसेनविरचित सिद्धान्तसारसङ्ग्रहमें मध्यलोकविचारणाका निरूपण करनेवाला सातवां अध्याय समाप्त हुआ।

---

१ आ. जीवस्य २ आ. 'पण्डित' इति नास्ति ३ आ. मध्य इति नास्ति

अष्टमः अध्यायः ।

देवा निकायभेदेन जायन्तेऽत्र चतुर्विधाः । यतो दीव्यन्ति सर्वत्र तन्नामाभ्युदये सति ॥ १
भावना व्यन्तरास्तस्माज्ज्योतिष्काः कल्पवासिनः । चतुर्विधा भवन्त्येते विविधर्द्धिसमन्विताः ॥ २
कृष्णा नीला च कापोता पीता चैव तथा पुनः । आदितस्त्रिपु देवानां लेश्याः समुपवर्णिताः ॥ ३
भावना दशधा देवा व्यन्तराश्चाष्टधा मता. । ज्योतिष्काः पञ्चधा कल्पवासिनो द्वादशप्रमाः ॥ ४

आठवा अध्याय ।

[ऊर्ध्वलोक वर्णन तथा देव निरुक्ति ।] — इस लोकमे निकायोके भेदसे देव चार प्रकारके होते है । देवगतिनाम कर्मका उदय होनेसे जो सर्वत्र क्रीडा करते है उनको देव कहते है । स्पष्टीकरण—जो अभ्यन्तर कारण देवगतिनाम कर्मका उदय और बाह्य कारण जो कान्ति ऐश्वर्यादिक उनसे द्वीप, समुद्र, सरोवर, पर्वतादि स्थलोमे यथेष्ट क्रीडा करते है उनको देव कहते है ॥ १ ॥

[देवोके चार भेद ।] — भावन-भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी ऐसे ये देव चार प्रकारके होते है । इनमे अणिमा, महिमा आदि नानाप्रकारकी विक्रिया ऋद्धिया होती है । स्पष्टीकरण—अणिमा-अतिशय छोटा शरीर बनाना । महिमा-मेरूसेभी वडा शरीर बनाना । गरिमा-वज्रसेभी अधिक वजनवाला शरीर बनाना । लघिमा-वायुसेभी हलका शरीर बनाना । प्राप्ति-जमीनमे खडे होकर अगुलीके अग्रभागसे मेरुशिखर सूर्यादिकोको स्पर्श करना । प्राकाम्य-जमीनपर जैसा गमन करते है वैसा पानीमे गमन करना । पानीमे जैसा उन्मज्जन निमज्जन करते है वैसा भूमिमे करना । ईशित्व-त्रैलोक्यके ऊपर प्रभुत्व रखना । वशित्व-सर्व जीवोको वश करना । अप्रतिघात-पर्वतमे आकाशके समान गमनागमन करनेका सामर्थ्य रहना । अन्तर्धान-अदृश्यरूप धारण करना । कामरूपित्व-युगपत्-एककालमे अनेक आकारके रूप प्रगट करनेका सामर्थ्य होना । ऐसी अनेक प्रकारकी ऋद्धिया देवोको प्राप्त होती है ॥ २ ॥ (राजवार्तिक आर्या म्लेच्छाश्च सूत्रका भाष्य)

[पहिलेके तीन निकायोके देवोमे लेश्याये ।] — प्रथमके तीन निकायोमे-भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोमे कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याये है ॥ ३ ॥

स्पष्टीकरण—लेश्याका स्वरूप पूर्व अध्यायमे कहा गया है । कृष्णलेश्यावालेके लक्षण-कृष्णलेश्यावाला जीव तीव्र क्रोधी, वैरको न छोडनेवाला, लडनेका स्वभाव धारण करनेवाला, धर्म और दयासे रहित, और किसीके वश न होनेवाला होता है । नील लेश्यावाला जीव मद, कार्य करनेमें विवेकरहित, कलाचातुर्य-रहित, इन्द्रियलंपटी, मानी, कपटी, अतिशय निद्रालु और दूसरोको ठगानेमे अतिदक्ष, धनधान्योमे तीव्र अभिलाषी होता है ।

कापोत लेश्यावाला जीव — दूसरेके ऊपर रोष करनेवाला, निन्दा करनेवाला, भययुक्त और शोक करनेवाला, दूसरेके ऐश्वर्यादिक सहन नहीं करनेवाला, अन्योका तिरस्कार करनेवाला, स्वप्रशंसा करनेवाला, दूसरेके ऊपर विश्वास न करनेवाला, तथा प्रशंसकोको धन देनेवाला होता है ।

असुरादिकुमारास्ते नागविद्युत्कुमारकाः । सुपर्णाग्निकुमाराश्च तथा वातकुमारकाः ॥ ५
स्तनितोदधिसद्द्वीप दिक्कुमारा भवन्त्यमी । भावना भवनावासास्तत्सामान्यविशेषत' ॥ ६
किन्नराः किम्पुरुषाश्च व्यन्तरास्ते महोरगाः । गन्धर्वाश्च तथा यक्षा राक्षसा भीमविग्रहा. ॥ ७
भूतांश्चेति पिशाचाश्च विविधान्तरवासिन । यतोऽमी व्यन्तरास्तस्मान्निगद्यन्ते मनीषिभिः ॥ ८

पीतलेश्यावाला – कार्य अकार्यको समझता है, सेव्य असेव्यको जानता है। सबके विषयोमे समदर्शी, दया और दानमे तत्पर, और कोमलपरिणामी होता है।

पद्मलेश्यावाला – दानशील, भद्रपरिणामी, उत्तम कार्य करनेवाला, क्षमाशील तथा मुनि, गुरु आदिकी पूजामे तत्पर होता है।

शुक्ललेश्यावाला – पक्षपात नहीं करता है, निदान नहीं बाधता है, समदर्शी होता है, इष्टसे राग और अनिष्टमे द्वेष नहीं करता है।

पहिले तीन निकायोके देवोकी कृष्णादिक चार लेश्याये भावलेश्याये है। द्रव्यलेश्याये इन देवोकी भिन्न भिन्न हुआ करती है। भावलेश्याके अनुसार द्रव्यलेश्याये इनकी नहीं होती है।

[भवनादि देवोके प्रभेद ।] – भवनवासी देव दश प्रकारके, व्यन्तर देव आठ प्रकारके, ज्योतिष्क देव पाच प्रकारके और कल्पवासी देव बारह प्रकारके है ॥ ४ ॥

[भवनवासियोके दश प्रकार ।] – असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ऐसे भवनवासी देव दश प्रकारके है। स्पष्टीकरण—सामान्यकी अपेक्षासे इन दश प्रकारके देवोको 'भवनवासी देव' कहते है और विशेषकी अपेक्षासे असुरादि भेद है। मूलकर्म देवगति नाम है। उसके अन्तर्भेद भवनवास्यादि चार है, तथा असुरादिक विशेष सज्ञाये है, और वे विशिष्ट नामकर्मोदयसे प्राप्त हुई है। अत ये सब भेद देवगति-नामकर्मके है। अर्थात् इस गतिनामकर्मके असख्यात भेद होते है। इन सर्व देवोकी आयु और स्वभाव निश्चित होनेपरभी कुमारावस्थावालोके समान उद्धतवेष, भाषा, आभरण, आयुध, यान वाहनादिक रहते है। रागक्रीडामे इनको अत्यत रुचि रहती है। इसलिये इनको कुमार कहते है ॥ ५–६ ॥

[व्यतरोके अवान्तर भेद ।] – किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गधर्व, यक्ष और भयानक शरीरवाले राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद व्यतरोके है। व्यतर यह इन देवोकी सामान्य सज्ञा है। विविध देशोमे इनके निवासस्थान है इसलिये इनको व्यन्तर कहते है। इनके जो किन्नरादिक आठ भेद कहे है वे किन्नर नामकर्मोदय, किंपुरुष नामकर्मोदय, महोरग नामकर्मोदय इत्यादिकसे उत्पन्न हुए है। ये सब देवगति नामकर्मके विशेष भेद है ऐसा विद्वान लोग कहते हैं ॥ ७–८ ॥

---

१ आ. श्वेते

सूर्याचन्द्रमसौ तस्माद्ग्रहनक्षत्रतारकाः । ज्योतिःस्वभावरूपत्वाज्ज्योतिष्काः कथिता जिनैः ॥ ९
तारकाणां विमानानि शतानि सप्तसंयुताः । नवतिश्च जिनैः प्रोक्ता योजनानि महीतलात् ॥ १०
अस्मादेव समाद्भूमिविभागाद्योजनानि च । नवत्यामा शतान्यूर्ध्वे सप्त सन्ति सुतारकाः ॥ ११
दशैव योजनान्यूर्ध्वे ततः सूर्याश्चरन्ति ते । ततोऽशीति परित्यज्य तदूर्ध्वे शीतभानवः ॥ १२
नक्षत्राणि च विद्यन्ते योजनानां त्रये ततः । योजनत्रितयं गत्वा ततोऽप्यूर्ध्वे बुधाश्रयाः ॥ १३
योजनत्रितये शुक्रास्तदूर्ध्वे त्रितये पुनः । बृहस्पतिविमानानि विद्यन्ते शोभनानि च ॥ १४
अङ्गारकास्तदूर्ध्वे ते योजनानां चतुष्टये । विचरन्ति ततोऽप्यूर्ध्वे तथैते च शनैश्चराः ॥ १५
ज्योतिर्ग्रहगणाकीर्णप्रदेशो नभसो मतः । दशाधिकशतं तावद्योजनानां स विस्तरात् ॥ १६
तिर्यक्पुनः स विज्ञेयस्तिर्यग्लोकप्रमाणतः । मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयस्ते नृमण्डले ॥ १७
एकविंशतिसंयुक्ताः शतैकादशयोजनैः । मेरुं त्यक्त्वा[1] भ्रमन्त्यत्र[2] ज्योतिष्का भ्रमणान्विताः ॥ १८
आभियोगिकदेवौघैरुह्यमानविमानकैः[3] । तैरेव क्रियते सर्वः कालोऽयं व्यावहारिकः[4] ॥ १९

[ज्योतिष्क देवोके अवान्तर भेद ।] -- सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारका ये पाच प्रकारके देव ज्योतिःस्वभाववाले होनेसे ज्योतिष्क देव कहे जाते है । सूर्य, चद्र, ग्रह—शुक्र, बुध, अश्विनी आदिक सज्ञाविशेप नामकर्मोदयसे उत्पन्न होते है, ऐसा जिनेश्वरोने कहा है ॥ ९ ॥

तारकाओके विमान इस समान भूमिभागसे ऊपर सातसौ नब्बे योजन आकाशमे ऊंचे जानेपर सुशोभित है ऐसा जिनेश्वरोने कहा है ॥ १०—११ ॥

इनके ऊपर दश योजन जानेसे सूर्य भ्रमण करते है । तदनन्तर अस्सी योजन पुनः ऊपर जानेपर चन्द्र भ्रमण करते है। उनके ऊपर तीन योजन जानेपर नक्षत्र फिरते है । पुनः तीन योजनोपर जानेसे बुधोके स्थान है। पुन· तीन योजनोपर शुक्र है। पुनः तीन योजनोपर बृहस्पतिके विमान है । उनके ऊपर चार योजन क्षेत्र जानेसे अगारक—मगल भ्रमण करते है । उसके ऊपर चार योजन जानेसे शनैश्चर विहार करते है। इस प्रकार ज्योतिष्क देवसमूहसे आकाशप्रदेश व्याप्त हुए है, अर्थात् एकसौ दस योजनप्रमाणका आकाश इन्होने व्याप्त किया है । इतने आकाशके विस्तारमे ज्योतिर्गण है । तथा आसमन्तात् तिर्यग्लोकप्रमाण आकाशमे ज्योतिर्मडल है । ये सब ज्योतिष्क देव मडलाकारसे मेरुको प्रदक्षिणा देते है और इनका घूमना सतत चलता है । ये ज्योतिष्क देव ग्यारह सौ इक्कीस योजनतक मेरुको छोडकर उसके आसपास भ्रमण करते है ॥ १२—१८ ॥

आभियोग्य देव, ज्योतिष्क देवोके—सूर्य, चद्र, ग्रह, नक्षत्र और तारकाओके विमान लेकर घूमते है तथा वे ही सर्व व्यावहारिक काल समय, आवली, घटिका, मुहूर्त, प्रहर, दिन, पक्ष, मास आदिक रूप कालको उत्पन्न करते हैं ॥ १९ ॥

---

१ आ. मुक्त्वा २ आ. भ्रमन्त्येते ३ आ. आभीतियोगिकैर्देवैः ४ आ. वैवहारिकः

नृलोकान्ते बहिर्भागे सर्वे तावदवस्थिता.। विद्यन्ते प्रस्फुरज्ज्योति प्रकाशितदिगन्तरा ॥ २०
जम्बूद्वीपे मतं प्राज्ञैः सूर्यचन्द्रद्वयं द्वयम्। ते चत्वारश्च चत्वारो लवणाम्भोधिमध्यगा ॥ २१
आदित्याश्च तथा चन्द्राश्चत्वारिंशद्द्विरुत्तरा । कालोदाम्बुधिमध्यस्था निगद्यन्ते मनीषिभि. ॥ २२
द्वादश द्वादश प्राज्ञैश्चन्द्रादित्या निवेदिता । धातकीखण्डमध्यस्था परमोद्योतकारिणः ॥ २३
सप्ततिर्द्व्यधिका प्रोक्ता पुष्करार्द्धेऽतिविस्तृते। चन्द्राणां भास्कराणां च तमस्तोमापहारिणाम् ॥ २४
जम्बूद्वीपान्तरेऽशीतिर्योजनानां तथा शतम्। लवणाम्भोनिधौ त्रिशतानि च ततः परम् ॥ २५
चारक्षेत्रमिदं तावत्प्रथितं चन्द्रसूर्ययोः। समुदायेन पञ्च स्यु शतानि दशभिः समम् ॥ २६
चतुर्भिरधिकाशीतिः शतमादित्यवर्त्मनाम्। पंचदशैवं चन्द्रस्य कथितान्यत्र तद्विदैः ॥ २७
जम्बूद्वीपान्तरे तत्र सङ्क्रान्तौ कर्कटस्य च। दक्षिणायनसंरंभे ह्यादिमार्गेण गच्छतः ॥ २८
आदित्यस्य विमानस्थं जिनबिम्बमिहाद्भुतम्। ज्ञात्वायोध्यास्थितश्चक्री भरतोऽयं प्रणमति ॥ २९

ततः प्रभृति लोकोऽयमादित्येऽर्घं प्रयच्छति। परमार्थमजानन्तस्तत्र जैनेश्वरं मह.॥ ३०
योजनानां सहस्राणि नवतिश्चतुरुत्तरा। पञ्चविंशतियुक्तानि तथा पञ्चशतानि च॥ ३१
दक्षिणायनसंरम्भे ह्याद्यमार्गावलम्बिनः। रवेर्घर्मस्य विस्तार पौर्वापर्येण सम्मतः॥ ३२
अष्टादशमुहूर्तैःस्याद्दिवसस्तत्र विस्तृतः। रात्रिर्द्वादशभिः प्रोक्ता मुहूर्तैस्तत्प्रकर्षत.॥ ३३
तन्मुहूर्तद्वयस्यैकषष्टिभागीकृतस्य च। भागैको हीयते तस्माद्दिवस दिवसं प्रति॥ ३४
क्रमादातपहानौ च सङ्क्रान्तौ मकरस्य च। यावत्पयोनिधावन्त्ये मार्गे सूर्योऽधिगच्छति॥ ३५
सहस्राणां त्रिषष्टिः स्याद्योजनानि तु षोडश। तत्रादित्यविमानस्य घर्मविस्तार इष्यते॥ ३६
द्वादशभिर्मुहूर्तैः स्याद्दिनं रात्रिस्तु जायते। अष्टादशमुहूर्तैश्च जघन्येनोत्तरायणे॥ ३७
कोटिकोटिस्तु षट्षष्टि. सहस्राणि तथा नव। शतानि पञ्चसप्तत्या समं चन्द्रस्य तारकाः॥ ३८
अष्टाशीतिर्ग्रहाणा च नक्षत्राण्यष्टविंशति.। इत्येवं परिवारोऽपि चन्द्रस्यैकस्य कथ्यते॥ ३९
सर्वज्योतिर्विमानानां पीष्ठर्द्धकपित्थवत्। तस्योपरि तथा सन्ति प्रासादाश्च यथाभवम्॥ ४०

लोगभी सूर्यको अर्घ्य देने लगे। सूर्यविमानमे जिनबिंब है और उसको भरतचक्रवर्ती पूजता है, अर्घ्य देता है इस परमार्थ अभिप्रायको लोगोने नहीं जाना॥ २८–३०॥

[पहिले मार्गपर आनेसे सूर्यका प्रकाश कितने योजन फैलता है?] – दक्षिणायनके प्रारभमे जब सूर्य प्रथम मार्गका आश्रय लेता है तब सूर्यका जो प्रकाश आगे और पीछे फैलता है उसका विस्तारप्रमाण चौरानवे हजार पाचसौ पच्चीस योजनोका होता है॥ ३१–३२॥

[दक्षिणायनमे रात्रि और दिनका प्रमाण।] – दक्षिणायनके प्रारभमे अठारह मुहूर्तोका दिवस होता है और रात्रिका प्रमाण दिनका प्रकर्ष होनेसे बारह मुहूर्तका रह जाता है॥ ३३॥

तदनतर दो मुहूर्तके इकसठ भाग करने चाहिये और प्रत्येक दिनमे एक एक भाग कम कम होता जाता है। इस प्रकार क्रमसे सूर्यके प्रकाशकी हानि होती जाती है और मकर-सङ्क्रान्तिके समयमे जब सूर्य लवणसमुद्रके अन्त्यमार्गमे चला जाता है, तब सूर्यके विमानका प्रकाशविस्तार त्रेसठ हजार सोलह योजन प्रमाणवाला होता है। और उस समय दिन बारह मुहूर्तका होता है और रात्रि अठारह मुहूर्तकी होती है। अर्थात् उत्तरायणके प्रारभमे दिन रात्रिकी जघन्यतया ऐसी परिस्थिति होती है॥ ३४–३७॥

[चन्द्रके तारका, नक्षत्र, ग्रहादिपरिवारका वर्णन।] – एक चन्द्रका तारकापरिवार छयासठ हजार नौ सौ पचत्तर कोडाकोडी है। तथा ग्रहोका परिवार अठासी और नक्षत्रोका अट्ठाईस है॥ ३८–३९॥ (देखो ति. प. भाग २ अ ७ गाथा ७१ पृ. ६६१)

सपूर्ण ज्योतिर्विमानोका तलभाग आधे कैथके समान है और उसके ऊपर यथायोग्य प्रासादोकी रचना है॥ ४०॥

---

१ आ. अजानानः २ आ. तु ३ आ. अभिगच्छति ४ आ दिवसो ५ आ. मु ६ आ भवेत्

सर्वोऽपि वर्तुलाकारो गोलको मिलितोऽपि सः । मध्याह्ने वा पराह्ने वा पूर्वाह्ने वृत्तदर्शकः ॥ ४१
मानुषोत्तरशैलाद्या विद्यन्ते द्वीपवेदिका. । तस्या. सहस्रपञ्चाशद्योजनानि पयोनिधौ ॥ ४२
वलयाकारसत्पङ्क्त्या क्षेत्रं वेष्टय समन्तत' । आदित्याश्च तथा चन्द्राः सर्वे तिष्ठन्ति निश्चलाः ॥४३
चतुर्भिरधिका तावच्चत्वारिंशच्छतं तथा । सन्त्यत्र वलये सर्वचन्द्राश्च बहुशोभनाः ॥ ४४
लक्षे लक्षे ततः सन्ति योजनानां गते सति । सूर्याणा च तथेन्दूना वलयानि यथाक्रमम् ॥ ४५
परं विशेष एवायं वलये वलये स्वतः । सूर्याश्चन्द्राश्च चत्वारो वर्द्धन्ते यावदष्टमम् ॥ ४६
अष्टमाच्च पुनस्तस्मात्प्रथम वलयं भवेत् । आद्याद्द्विगुणसूर्येन्दुसहितं साधवो जगु' ॥ ४७
लक्षे लक्षे ततः सन्ति वलयाँ[1] येपु केवल । सूर्याश्चन्द्राश्च वर्द्धन्ते चत्वारो यावदन्तिमम् ॥ ४८
स्वयम्भूरमणाम्भोधेर्बहिर्या वज्रवेदिका । तावत्पर्यन्त एवायं ज्योतिष्कै[2]क्रम इष्यते ॥ ४९
एकपल्योपम' कालस्तेषां समधिक. कियान् । आयुरुत्कृष्टमाख्यातं तदष्टांशो जघन्यकम् ॥ ५०
एकापै[3]ष्टिर्विभागा ये योजनस्य विभाजिताः । षट्पञ्चाशद्विभागास्ते विमाना रोहिणीपतेः ॥ ५१

सर्वज्योतिष्क देवके विमान वर्तुलाकार गोलकरूप है । तथा मध्याह्नमे, अपराह्नमे और पूर्वाह्नमे वे गोलही दिखते हैं ॥ ४१ ॥

मानुषोत्तर पर्वतसे आगे जो द्वीपोकी वेदिकाये है उनमे पचास हजार योजनके अन्तरपर चन्द्र और सूर्योंके वलय है । तथा मानुषोत्तर पर्वतके आगे जो जो समुद्र है उनमेभी पचास पचास हजार योजनोके अन्तरपर चन्द्रसूर्योंके वलय है और वे उतना उतना क्षेत्र वेष्टित करके रहते है। सपूर्ण वलयोमेसे प्रत्येक वलयमे एकसौ चवालीस चन्द्र और सूर्य है । तदनन्तर एक एक लाख योजन अन्तर चलकर जानेमे सूर्य और चन्द्रके क्रमसे वलय होते है । परतु विशेषता यह है, कि प्रत्येक वलयमे चार चन्द्र और चार सूर्य बढते है । ऐसा बढना आठवे वलयतक होता है । आठवे वलयके अनतर पुन' पहिला वलय होता है और वह वलय–प्रथम वलय दुगुने चन्द्र और सूर्योंसे सहित होता है ऐसा मुनिराज कहते है । फिर एक एक लाख योजनके फासलेपर एक एक वलय होता है । और उसमे चार सूर्य और चार चन्द्र प्रतिवलयमे बढते जाते है। यह बढना स्वयभूरमण समुद्रकी जो बाहरकी वज्रवेदिका है वहातक है ऐसा ज्योति क्रम समझना चाहिये ॥ ४२–४९ ॥

[ज्योतिष्क देवोका उत्कृष्ट और जघन्य आयुष्य ।] – ज्योतिष्क देवोकी उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम और कुछ अधिक है और जघन्य आयु पल्योपमका अष्टमाश हैं ॥ ५० ॥

[चन्द्रके विमानका प्रमाण ।] – योजनके इकसठ विभाग करके उनमेसे छप्पन विभागोका जो प्रमाण होगा उतने प्रमाणवाले चन्द्रोके विमान होते है ॥ ५१ ॥

स्पष्टीकरण–चन्द्रके विमानोका विस्तार और दीर्घता ऊपर बताये हुए प्रमाणका अनुसरण करते है । और उनके विमानकी मोटाई योजनके इकसठ भागोमेसे अठाईस भागप्रमाण है । ये

१ आ वलयान्येपु २ आ ज्योतिषा ३ आ एकषष्टि

चत्वारिंशन्मतास्तावदष्टाधिकतया पुनः । विभागास्तादृशा एव विमानं भास्करस्य च ॥ ५२
अन्यदागमतः सर्व ज्ञातव्यं चन्द्रसूर्ययोः । दिङ्मात्रं तदिदं किञ्चिन्निर्लज्जेन मयाकथि ॥ ५३
भावनव्यन्तराणां च विमाना[1]ः कथिताः पुरा । आयुरुत्सेधसौख्यादि ज्ञातव्यं पुरतः पुनः ॥ ५४
आदौ मध्ये तथान्ते च द्वादशाष्टौ चतुष्टयम् । योजनानि तु विस्तीर्णा चत्वारिंशत्तथोच्चका[2] ॥ ५५
या मेरुचूलिका रम्या तस्या उपरि शोभनं । ऋज्वाख्यं[3] सद्विमानं स्यात्केशाग्रान्तरितं महत् ॥ ५६
तद्विमानं विधायादौ मेरुं[4] मध्ये विधाय च । सौधर्मैशानयोर्युग्मं विचित्राश्चर्यकारकम् ॥ ५७
सार्धैकरज्जुमान यन्मेरुशैलात्सुशोभनम् । आकाशक्षेत्रमस्त्येव तत्पर्यन्त विभाव्यते ॥ ५८
सार्धैकरज्जुपर्यन्तं ततःस्याद्युगलं पुनः । सनत्कुमारमाहेन्द्रस्वर्गयोर्निगदन्ति[5] तत् ॥ ५९

विमान सोलह हजार देवोके द्वारा धारण किये जाते है । इस विमानके पूर्वादिक दिशाओमे चार चार हजार देव सिंह, हाथी, अश्व और बैलके रूप धारण करके इस विमानको धारण करते है ।

[सूर्योके विमानोका प्रमाण] — सूर्योके विमान योजनके इकसठ भागोमेसे अडतालीस भागप्रमाणके है । योजनके इकसठ भागोमेसे छप्पन भाग चन्द्रके विमानके है । और सूर्यके विमानके विभाग ऊपर कहे है ।

स्पष्टीकरण—सूर्यके विमान तप्तसुवर्णके समान है, लोहित्तमणिमय और अर्धगोलकाकार है । सोलह हजार देव क्रमसे विमानके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर भागमे सिंह, हाथी, बैल और अश्वके रूप धारण करके विमानको वहते है ॥ ५२ ॥

चन्द्र और सूर्यके विषयमे इतर अनेक बाते आगमसे जानने योग्य है । यहा निर्लज्ज होकर अर्थात् अज्ञान होकरभी मैने थोडासा कहा है ॥ ५३ ॥

भावनदेव और व्यन्तरदेवोके विमान पूर्वमे कहे है । आयुष्य, शरीरकी ऊचाई, सुख आदिकोका वर्णन आगे ज्ञातव्य है ॥ ५४ ॥

[ऋजुविमान मेरुचूलिकाके ऊपर है ।] — जो मेरुपर्वतकी रम्य चूलिका चालीस योजनोकी ऊची है । तथा वह आरभमे बारह योजन विस्तीर्ण है, मध्यमे आठ योजन विस्तीर्ण है और अन्तमे चार योजन विस्तीर्ण है । इस चूलिकाके ऊपर महान् ऋजुनामक विमान है और वह चूलिकासे एक केशाग्र अन्तरपर है ॥ ५५–५६ ॥

[सौधर्म ऐशान आदिक स्वर्गयुगलोका वर्णन ।] — ऋजुविमानको आरभ कर और मेरुको मध्यमे कर सौधर्मैशान स्वर्गके युगल विचित्र और आश्चर्यकारक है । मेरुपर्वतसे ऊपर जो डेड रज्जुपर्यन्त आकाशक्षेत्र है वहातक सौधर्मैशान-स्वर्गका युगल है । इसके ऊपर डेड रज्जुपर्यन्त आकाशक्षेत्रमे सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गका युगल है, ऐसा आचार्य कहते है ॥ ५७–५९ ॥

---

१ आ. निवासा. २ आ न्नता ३ आ. ऋत्वाख्यम् ४ आ. मेरुमध्ये ५ आ. शुभसंयुतम्

ततो रज्ज्वर्धपर्यन्तं ब्रह्मब्रह्मोत्तराभिधम् । स्वर्गयुग्म हि विस्तीर्णं कीर्तयन्ति क्रियाविद. ॥ ६०
ततो रज्ज्वर्द्धपर्यन्तं स्वर्गयोर्युगलं महत् । चारुलान्तवकापिष्ठसञ्ज्ञयोर्निगदन्ति तत् ॥ ६१
ततो रज्ज्वर्धपर्यन्तं स्वर्गयोर्युगल महत् । अस्ति शुक्रमहाशुक्राभिधानं चारुतान्वितम् ॥ ६२
ततो रज्ज्वर्धपर्यन्तं स्वर्गयोर्युगलं महत् । सच्छतारसहस्रारसंज्ञया प्रथितं भवेत् ॥ ६३
ततो रज्ज्वर्धपर्यन्तं स्वर्गयोर्युगलं महत् । आनतप्राणताह्वं स्यात्सर्वसौख्याकरं वरम् ॥ ६४
ततो रज्ज्वर्धपर्यन्तं स्वर्गयोर्युगलं महत् । आरणाच्युतसंज्ञ यद्विद्यते विस्मयावहम् ॥ ६५
आद्ये युग्मद्वये तत्र तन्नामानः सुशोभनाः । इन्द्राश्चत्वार एवामी विज्ञेया ऋद्धिसयुताः ॥ ६६
तदूर्ध्वं सिद्धिसोपानस्वर्गयुग्मचतुष्टये । प्रत्येकमेक एवेन्द्रस्तन्नामासौ निगद्यते ॥ ६७
तदूर्ध्वं च युगद्वन्द्वे इन्द्राश्चत्वार एव च । सर्वे स्वर्गेषु जायन्ते द्वादशैते समासतः ॥ ६८
एकरज्ज्वन्तरे तस्मादूर्ध्वग्रैवेयकानि च । ततश्चानुदिशान्याहुर्नवानुत्तरपञ्चकम् ॥ ६९
द्वादशयोजनान्यस्मादूर्ध्वं मुक्तिशिला मता । अष्टयोजनबाहुल्या नृलोकपरिमाणत. ॥ ७०

उसके अनन्तर अर्थात् सानत्कुमारमाहेन्द्र—स्वर्गयुगलके अनतर आधी रज्जुपर्यन्तके आकाशप्रदेशमे ब्रह्मब्रह्मोत्तर—स्वर्गका युगल है । इसके अनन्तर अर्ध रज्जु—प्रमित आकाशप्रदेशोमे लान्तवकापिष्टका युगल है, इसके अनन्तर अर्धरज्जुपर्यन्तके आकाशप्रदेशमे शुक्र महाशुक्र नामक सुदर स्वर्गयुगल है । उसके अनन्तर अर्धरज्जु—प्रमित आकाशप्रदेशमे शतारसहस्रारयुगल है । तदनतर अर्ध रज्जुप्रमाण आकाशमे आनत प्राणत नामक स्वर्गयुगल है, जो कि उत्तम और सर्व सुखोका आकर है । इसके अनतर आधे रज्जुके आकाशप्रदेशमे आरणअच्युत नामक महान् स्वर्ग-युगल है, जो कि जीवोको अपनी रचनासे आश्चर्यचकित करता है ॥ ६०—६५ ॥

[सोलह स्वर्गोमे अधिपति इद्रोका वर्णन ।] — पहिले दो युगलोमे अर्थात् सौधर्मसे सानत्कुमारतक चार स्वर्गोमे सौधर्मादि स्वर्गके नामवाले शोभायुक्त चार इद्र है । वे महर्द्धिके धारक हैं । उनके ऊपर सिद्धि—मुक्तिके पैडी के समान चार स्वर्गयुगलोमेसे प्रत्येकमे स्वर्गके नामवाला एक एक इन्द्र है । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गमे ब्रह्मेन्द्र नामक इन्द्र है । लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गमे लातवेन्द्र है । शुक्रमहाशुक्रमे शुक्रेन्द्र है और शतारसहस्रारमे शतारेन्द्र हैं । ऐसे चार इद्र हैं । इनके ऊपर आनतादि दो स्वर्गयुगलमे चार इद्र है । ऐसे सर्व स्वर्गोमे-सोलह स्वर्गोमे बारह इन्द्र है ॥ ६६—६८ ॥

[एकरज्जु प्रदेशमें नवग्रैवेयकादिक और सिद्धजीव है ।] — एकरज्जुके अन्तराल रूप आकाशप्रदेशमे नव ग्रैवयक विमान, नव अनुदिश विमान, और पचानुत्तर विमान है । पञ्चानुत्तरके ऊपर द्वादश योजन जानेपर मुक्तिशिला है । वह आठ योजन मोटी और मनुष्यलोकके समान

---

१ आ. तु २ आ. हि ३ आ. सर्व ४ आ. मोक्ष

तस्या उपरि यत्तावद्वातत्रयमुदीर्यते । तनुवातेऽत्र तिष्ठन्ति सिद्धा लोकाग्रवर्तिनः ॥ ७१
भावनानां जघन्येन जीवितं कथितं जिनैः । दशवर्षसहस्राणि सागरोपममुत्तमम् ॥ ७२
तत्रासुरकुमाराणां सागरोपममीर्यते । पल्यत्रयं तु नागानां सार्धपल्यद्वयं पुनः ॥ ७३
सुपर्णेषु मतं द्वीपकुमारेषु द्वयं तथा । सार्धपल्यं च शेषेषु परमायुरिति ध्रुवम् ॥ ७४
दशवर्षसहस्राणि व्यन्तराणां जघन्यकम् । साधिकं पल्यमुत्कृष्टं जीवितं विविधात्मनाम् ॥ ७५
उत्कर्षतो मतं चन्द्रे जीवितं लक्षसंयुतम् । पल्यमेकं सहस्रेण सहितं तद्धि भास्करे ॥ ७६
सौधर्मैशानयोरायुः साधिक पल्यमीरितम् । जघन्यं हि तदुत्कृष्टं साधिकं सागरद्वयम् ॥ ७७
सानत्कुमारमाहेन्द्रयुगले जीवितं परम् । साधिकं कथितं जैनै. सागरोपमसप्तकम् ॥ ७८
ब्रह्मब्रह्मोत्तरे युग्मे साधिका दशसागराः । गिरन्ति गरिमायुक्ता गुरवो गुरुसंयमाः ॥ ७९
ततो लान्तवकापिष्ठयुग्मे जीवितमुत्तमम् । चतुर्दशाधिकाः किञ्चित्तथैते सागरोपमाः ॥ ८०
आयुः शुक्रमहाशुक्रयुगले परमं मत । सागराः साधिकाः किञ्चित्षोडश क्षिप्तकल्मषैः ॥ ८१

पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाली है। इसके ऊपर जो तीन वातवलय कहे गये हैं उनमे अन्तिम तनुवातमे–लोकके अग्रभागमे सिद्धपरमेष्ठी विराजमान है ॥ ६९–७१ ॥

[भवनवासी और व्यन्तरोके आयुका वर्णन ।] -- भवनवासी देवोका जघन्य आयुष्य जिनोने दस हजार वर्षोका और उत्कृष्ट आयुष्य सागरोपम वर्षोका कहा है। असुरकुमारोकी आयु सागरोपम है। नागकुमारोकी आयु तीन पल्योकी है। ढाई पल्योपम आयु सुपर्णकुमारोकी है। द्वीपकुमारोकी आयु दो पल्योपमकी है तथा शेष छह कुमारोकी आयु डेढ पल्योपमकी है। ऐसा भवनवासियोके उत्कृष्ट आयुका क्रम कहा है ॥ ७२–७४ ॥

अनेक स्वभाव धारण करनेवाले व्यतरोकी जघन्य आयु दस हजार वर्षोकी है और उत्कृष्ट आयु एक पल्य और कुछ अधिक कही है ॥ ७५ ॥

[चद्रसूर्योकी उत्कृष्ट आयु ।] – चन्द्रकी उत्कृष्ट आयु एक पल्य और एक लाख वर्षकी है। तथा सूर्यकी आयु एक पल्य और एक हजार वर्षोकी है ॥ ७६ ॥

[सौधर्मादि अच्युतान्त देवोकी जघन्य और उत्कृष्ट आयु ।] – सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोकी जघन्य आयु एक पल्य और कुछ अधिक है। और उत्कृष्ट आयु दो सागर और कुछ अधिक है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोकी उत्कृष्ट आयु सात सागरोपम वर्षोकी और कुछ अधिक है ऐसा जैनोने-गणधरादिकोने कहा है। ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गके देवोकी उत्कृष्ट आयु दस सागरसे कुछ अधिक है ऐसा महान् सयम धारण करनेवाले प्रभावशाली गुरु कहते है। तदनन्तर लान्तव और कापिष्ट स्वर्गमें देवोकी उत्तम आयु चौदह सागरोसे कुछ अधिक कही है। जिन्होने पापविनाश किया है, ऐसे महापुरुषोने शुक्र और महाशुक्र स्वर्गके देवोकी उत्तम आयु सोलह सागरोसे कुछ अधिक कही है ॥ ७७–८१ ॥

शतारे च सहस्रारे ते चाष्टादशसाधिका. । आनतप्राणतद्वन्द्वे जीवितं विंशतिं परम् ॥ ८२
आरणाच्युतयुग्मे तद्द्वाविंशतिमुदीरितम् । एकैकं वर्द्धते तस्मान्नवग्रैवेयकेषु च ॥ ८३
नवस्वनुदिशेष्वेतत् द्वात्रिंशत्परम मतम् । अनुत्तरेषु सर्वेषु त्रयस्त्रिंशन्नदीगिन ॥ ८४
पूर्वस्वर्गे यदुत्कृष्टं जघन्यं हि तदुत्तरे । मुक्त्वा सर्वार्थसिद्धिं च तस्यामुत्तममेव तत् ॥ ८५
प्रतरादिषु सर्वेषु विशेषो यस्तु कश्चन । सर्वो लोकानुयोगात्स ज्ञातव्यो नात्र गौरवात् ॥ ८६
इन्दन्त्यपरदेवानामसाधारणवृत्तितः । आज्ञैश्वर्यगुणोपेता इन्द्रास्ते गदिता जिनै ॥ ८७
सप्तधातुविनिर्मुक्ता[1] गुरूपाध्यायवत्सदा । आयुर्वीर्यादिभिस्तेषां समा सामानिका मता ॥ ८८

शतार और सहस्रार स्वर्गके देवोकी उत्तम आयु अठारह सागरोपमसे कुछ अधिक कही है। तथा आनत प्राणत स्वर्गोके देवोकी उत्तम आयु बीस सागरोपमकी कही है। आरण और अच्युत स्वर्गोमे देवोकी उत्तम आयु बाईस सागरोपमोकी होती है। तदनतर नव ग्रैवेयकोमे एक एक सागर आयु बढती है, अन्तिम नववे ग्रैवेयकमे एकत्तीस सागरोपमकी उत्कृष्ट आयु है। और नव अनुदिशोमे बत्तीस सागरोपमकी उत्तम आयु है तथा सर्व अनुत्तरोमे अर्थात् विजय, वैजयत, जयत, अपराजित और सर्वार्थसिद्धिमे तेत्तीस सागरोपम उत्तम आयु है ॥ ८२–८४ ॥

[स्वर्ग, नवग्रैवेयक, नवानुदिश तथा सर्वार्थसिद्धिके बिना चार अनुत्तरोमे जघन्य आयुका वर्णन ।] – पूर्व स्वर्गमे जो उत्कृष्ट आयु होती है वह उत्तर स्वर्गमे जघन्य होती है ऐसा क्रम सर्वार्थसिद्धिको छोडकर चार अनुत्तर विमानोतक समझना चाहिये। जैसे सौधर्म स्वर्गमे उत्कृष्ट दो सागर आयु है वही सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके देवोकी जघन्य समझनी चाहिये। आरणाच्युत देवोकी उत्तम आयु बाईस सागर है वही प्रथम ग्रैवेयककी जघन्य आयु समझनी चाहिये। नौवेग्रैवेयककी उत्तम आयु इकत्तीस सागरकी है वह अनुदिशोमे जघन्य समझना। अनुदिशोकी बत्तीस सागर आयु उत्कृष्ट है वह चार अनुत्तरोमे जघन्य समझे, परतु सर्वार्थसिद्धिमे कभी जघन्य आयुर्बंधवाला जन्मही नहीं लेता है, इसलिये सर्वार्थसिद्ध देव उत्कृष्ट आयुके-तेत्तीस सागर आयुवालेही होते है ॥ ८५ ॥

सपूर्ण प्रतरादिकोमे तथा स्वर्गपटलोमे जो कुछ विशेष होता है वह सर्व लोकानुयोग ग्रथसे जानना योग्य है। यहा विस्तारके भयसे हम नही कहते है ॥ ८६ ॥

[देवोके इन्द्रादि–दश–भेदोका वर्णन ।] – १ इन्द्र–इतर देवोमे नहीं पाये जानेवाले असाधारण अणिमामहिमादि गुणोसे जो परमैश्वर्यवाले माने जाते है, जिनकी आज्ञा इतर देव शिरोधार्य समझते है, जो ऐश्वर्यगुणसे युक्त है ऐसे देव, जिनेश्वरके द्वारा इन्द्र कहे जाते है ॥ ८७ ॥

२ सामानिक देव – सब देव सप्तधातुओसे रहित अर्थात् दिव्य शरीरवाले होते है, उनमे जो गुरु और उपाध्यायके समान है तथा जो आयु, वीर्य, परिवार तथा भोगोपभोगादि सामग्रियोसे इन्द्रके समान है परतु आज्ञा और ऐश्वर्य जिनका इन्द्रके समान नहीं है ऐसे देवोको सामानिक देव कहते है ॥ ८८ ॥

---

१ आ. आज्ञैश्वर्यविनिर्मुक्ताः

पुरोहितमहामंत्रिस्थानीया ये दिवौकसः। त्रयस्त्रिंशत्सुसंख्यानास्त्रायस्त्रिंशा भवन्त्यमी ॥ ८९
पीठमर्दनसङ्काशाः परिषत्परिवर्तिनः। देवाः पारिषदाः सर्वे तेऽत्र संवादिनो मताः ॥ ९०
अङ्गरक्षसमाना ये ते सर्वे ह्यात्मरक्षकाः। लोकैकपालनोद्युक्ता लोकपाला भवन्त्यमी ॥ ९१
सप्तानीकभुवोऽनीकाः प्रकीर्णाः पौरसन्निभाः। आभियोग्यमता दासा देवा देवगतावपि ॥ ९२
ये चान्तेवासिवन्नीचा दीना दुर्गतिगामिनः। प्रायशो बहुदुःखार्ताः किल्बिषाः सम्प्रकीर्तिताः ॥ ९३
इत्येवं दशधा देवा निकायेषु निवेदिताः। लोकपालास्त्रयस्त्रिंशा न ज्योतिर्व्यन्तरेषु च ॥ ९४
द्वौ द्वाविन्द्रौ मतौ तेषु भावनव्यन्तरेषु च। सर्वेषां ज्योतिषामिन्द्रौ सूर्याचन्द्रमसौ पुनः ॥ ९५

---

३ त्रायस्त्रिंश — पुरोहित तथा महामन्त्रियोंके समान जो देव है, तथा जिनकी संख्या तेतीसही नियत रहती है वे त्रायस्त्रिंश देव है।

४ पारिषद — जो देव मित्र और हसी मस्करी करनेवालोंके समान सभामें बैठते है, तथा जो सभामें प्रामाणिक माने जाते है, उनको पारिषद देव कहते है।

५ आत्मरक्ष — अंगरक्षकोंके समान जो देव हाथमें शस्त्र धारण कर इन्द्रके पीछे रहते हैं, उनको आत्मरक्ष देव कहते है।

६ लोकपाल — प्रजाके समान देवोंको पालन करनेवाले देव लोकपाल कहे जाते है।

७ अनीक — सात प्रकारके सैन्योंके समान जो देव होते है उनको अनीक देव कहते है।

८ प्रकीर्णक — प्रजाके समान जो देव है उनको प्रकीर्णक देव कहते है।

९ आभियोग्य — देवगतिके होनेपरभी जो देव दासके समान वाहनादि बनकर उच्च देवोंकी–अपने स्वामियोंकी सेवा करते है उनको आभियोग्य देव कहते है।

१० किल्बिषिक–जो अन्तेवासियोंके समान अर्थात् चाण्डालोंके समान नीच है, दीन है तथा दुर्गतिको जानेवाले है, प्राय बहुदु.खोंसे पीडित है उनको किल्बिष कहते है। किल्बिष–पाप जिनको है अर्थात् जिनको पापोंका उदय है ऐसे देवोंको किल्बिषिक कहते है ॥ ८९–९३ ॥

ये दश प्रकारके देव चार निकायोंमें इस प्रकारसे कहे गये है। परतु लोकपालदेव और त्रायस्त्रिंशदेव ये दो प्रकारके देव भवनवासि देव और व्यतरदेवोंमें नहीं होते है। भवनवासिदेव और व्यन्तरदेवोंमे दो दो इन्द्र माने है। तथा सपूर्ण ज्योतिष्कदेवोंके चन्द्र और सूर्य ऐसे दो इन्द्र माने गये है ॥ ९४–९५ ॥

स्पष्टीकरण–भवनवासी देवोंके दस भेद है और उनमे प्रत्येक भेदके दो दो इन्द्र है अतः भवनवासियोंके इन्द्र बीस है। व्यनरोंके भेद आठ है तथा प्रत्येक भेदमें दो दो इंद्र होनेसे व्यतरोंके सब इन्द्र सोलह होते है।

आ ऐशानान्मता देवाः सङ्क्लिष्टपरिणामतः । कायेनैव प्रवीचारं प्रकुर्वाणा मनुष्यवत् ॥ ९६
सानत्कुमारमाहेन्द्रद्वये देवा भवन्त्यमी । दिव्यदेवाङ्गनास्पर्शमात्रेणापि सुनिर्वृताः ॥ ९७
तत. कापिष्टपर्यन्ते देवा दवीविलोकनात् । परमं सुखमायान्ति वहुपुण्यमनोरमाः ॥ ९८
आसहस्रारमत्यन्तमधुरस्वरमात्रतः । देवीनां सौख्यमश्नन्ति देवा दिव्याङ्गधारिण' ॥ ९९
अच्युतान्तेपु सर्वेपु तदूर्ध्वं स्मरणादपि । देवीनां दिव्यरूपाणां सुखिन. सर्वदैव ते ॥ १००
अच्युतादूर्ध्वत सर्वे प्रवीचारविवर्जिता । सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तं सङ्क्लेशापगता यतः ॥ १०१
भावनेष्वसुराणां हि प्रमाणं पञ्चविंशति. । धनुषाणि तु देहस्य कथितं पूर्वसूरिभि ॥ १०२
धनूषि दश शेपाणां व्यन्तराणां च दर्शनम् । ज्योतिष्काणां च सप्तैव धनूंषि कथितं वपु. ॥ १०३
सौधर्मैशानयो. सप्तहस्तो देहो निगद्यते । सनत्कुमारमाहेन्द्रयुग्मे हस्ताश्च षट् पुन ॥ १०४
तत. कापिष्टपर्यन्त पचहस्ता प्रमाणतः । देहमानं च देवानां दिव्यरूपैकधारिणाम् ॥ १०५
आसहस्रारमस्माच्च देवानां देह उच्यते । चतुर्हस्तप्रमाणश्च स्फुरद्द्युतिसमन्वित. ॥ १०६
आनतप्राणतद्वन्द्वे सार्द्धहस्तप्रमाणत. । आरणाच्युतयोर्हस्तत्रयं देहो दिवौकसां ॥ १०७

[प्रवीचारयुक्त और अप्रवीचारयुक्त देवोका वर्णन ।] — भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क देव तथा सौधर्म और ऐशान स्वर्गवासी देव ये सक्लेशयुक्त परिणाम होनेसे मनुष्योके समान शरीरके द्वारा मैथुनसेवन करते है । सानत्कुमार और माहेन्द्र-स्वर्गमे जो देव है वे दिव्य ऐसी देवाङ्गनाओके स्पर्शमात्रसे अतिशय सुखी होते है । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट स्वर्गतक देव, जो कि विशाल पुण्यसे मनोहर हैं, वे देवियोको देखकर अतिशय सुखी होते है । शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्गतकके दिव्यागधारक देव देवियोके अत्यन्त मधुर स्वर सुनकर सुखी होते है । सहस्रार स्वर्गके ऊपर आनत-प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गके देव देवियोके दिव्यरूपका स्मरण कर सर्वदा सुखी होते है। अच्युत स्वर्गके ऊपर सर्वार्थसिद्धितक जो अहमिन्द्रदेव है, वे प्रवीचार—कामसेवासे वर्जित-रहित है अर्थात उनके सक्लेशपरिणामोका अभाव है । क्यो कि उसके सद्भावमे कामेच्छा प्रगट होती है ॥ ९६—१०१ ॥

[देवोके देहोकी उच्चताका वर्णन ।] — भवनवासियोमे असुरोके देह पचीस धनुष्य प्रमाणके होते है ऐसा पूर्वाचार्य कहते है । नागकुमारादि नौ भवनवासि देव तथा व्यतरदेवोके देहका उत्सेध दश धनुष्य-प्रमाण होता है । ज्योतिष्क देवोके शरीरकी ऊचाई सात धनुष्य प्रमाण है । सौधर्मैशान स्वर्गके देवोकी शरीरकी ऊचाई सात हाथकी है । सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोके शरीर छह हस्तप्रमाण है । अनतर दिव्य-रूपकोही धारण करनेवाले कापिष्ठ स्वर्गतक देवोकी शरीरकी ऊचाई पाच हस्त प्रमाणकी है । कापिष्ठ स्वर्गसे सहस्रारस्वर्गतकके सुदर, कान्तियुक्त देवोके देहकी ऊचाई चार हस्त प्रमाणवाली है । आनत प्राणत स्वर्गके देवोके शरीर साडेतीन

१ आ. दिव्या २ आ. कल्पेपु ३ आ. देवताः ४ आ सर्वप्रवीचारविवर्जिताः ५ आ. तथा दश ६ आ. हस्ताः ७ आ हस्तत्रय मतः

अधोग्रैवेयकेपूक्तं सार्द्धहस्तद्वयं पुन. । देहमानं हि देवानां मध्यग्रैवेयके द्वयम् ॥ १०८
सार्द्धहस्तप्रमाणोऽयं देहोऽभाणि पुरातनै. । ऊर्ध्वग्रैवेयकस्थाना देवानां द्युतिशालिनाम् ॥ १०९
तत परं हि सर्वेषां देवानां देह उच्यते । एकहस्तप्रमाणेन प्रमाणज्ञैर्यतीश्वरै ॥ ११०
सौधर्मैशानयोः पीतलेश्या देवा भवन्त्यमी । सनत्कुमारमाहेन्द्रा पीतपद्मादिलेश्यकाः ॥ १११
ब्रह्मब्रह्मोत्तरे कल्पे लांतवे च तथा पुनः । कापिष्ठे सर्वदेवा. स्युः पद्मलेश्या समन्तत. ॥ ११२
शुक्रे चापि महाशुक्रे शतारे सर्वसुन्दरे । सहस्रारे च देवानां पद्मशुक्ला हि सा पुनः ॥ ११३
आनतादच्युतान्तेषु शुक्ललेश्या दिवौकस. । महाशुक्लैकलेश्याः स्युस्ततो यावदनुत्तरम् ॥ ११४
पूर्व ग्रैवेयकेभ्यो ये देवास्ते कल्पवासिन. । कल्पातीता. परे सर्वे पुण्यपक्वफलाशिन ॥ ११५
लौकान्तिकाश्च ते देवा ब्रह्मलोकान्तवासिन । अथानन्तर एवामी भवे लोकान्तकारिण. ॥ ११६
पूर्वोत्तरविभागे ते सन्ति सारस्वता मता. । पूर्वस्या हि तथादित्या आग्नेय्यामग्निसंज्ञका[१] ॥ ११७

हस्तप्रमाण है । और आरण अच्युतके देवोंके शरीर तीन हस्तप्रमाण है। अधोग्रैवेयकके अहमिन्द्रोंके देहकी ऊंचाई ढाई हाथकी है । मध्यमग्रैवेयकके देवोंका देहमान दो हाथका है । कान्तिशाली ऐसे जो ऊर्ध्वग्रैवेयकके देव है उनका देह पुरातन आचार्योंने डेढ हाथ प्रमाणका कहा है । तथा उसके आगेके सपूर्ण देवोंका देह हस्तप्रमाग है, ऐसा देव देहप्रमाण देह यतीश्वरोंने कहा है । अर्थात् नव अनुदिश और पचानुत्तरके निवासी अहमिंद्र देवोंका देह एक हस्तप्रमाण है ॥ १०२–११० ॥

[सौधर्मसे सर्वार्थसिद्धितक देवोंकी लेश्याये ।] – सौधर्मैशान स्वर्गके देव पीतलेश्याके धारक है । सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देव पीतलेश्या और पद्मलेश्याके धारक है । ब्रह्मस्वर्ग तथा ब्रह्मोत्तरस्वर्गके देवोंमे तथा लांतवकापिष्ट स्वर्गके देवोंमे सर्वत्र पद्मलेश्या हैं । शुक्र, महाशुक्र तथा सर्वमनोरम ऐसे शतारस्वर्गमे और सहस्रारस्वर्गमे देवोंकी पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या है । आननसे अच्युनतकके देव शुक्ललेश्यावाले हैं । तदनन्तर नवग्रैवेयकसे लेकर पचानुत्तरतक सपूर्ण अहमिन्द्र देव महाशुक्लरूप ऐसी एकलेश्याके धारक है ॥ १११–११४ ॥

[कल्पवासी और कल्पातीत ।]– नवग्रैवेयकोंके पूर्वके देव अर्थात् सौधर्मस्वर्गसे अच्युततकके जो देव है, उनको कल्पवासी देव कहते हैं । और नवग्रैवेयकसे पचानुत्तरतक सपूर्ण अहमिन्द्रोंको कल्पातीत कहते है । ये सर्वदेव पुण्यरूपी पक्वफल भक्षण करनेवाले है ॥ ११५ ॥

[लौकान्तिक देवोंका स्वरूप ।] – ब्रह्मस्वर्गके अन्तिम पटलमे निवास करनेवाले देवोंको लौकान्तिक देव कहते है । ये देव अनन्तर मनुष्यभव धारण कर लोकान्तकारी –ससारका अन्त करनेवाले होते हैं । उनके सारस्वतादिक आठ भेद है, तथा अग्न्याभसूर्याभादि सोलह भेद हैं । पूर्वोत्तर दिशाके कोनेमें सारस्वत विमानमे सारस्वतनामक लौकान्तिक देव रहते है । पूर्व दिशाके आदित्य विमानमे आदित्यनामक

---

१ आ. पद्मा २ आ. मर

अरुणा दक्षिणस्यां च नैऋत्ये गर्दतोयका । तुषिताः पश्चिमायां च अव्याबाधास्तदन्तरे ॥ ११८
उत्तरस्यामरिष्टाना विमानानि तदन्तरे। द्वौ च द्वौ च गणौ ज्ञेयौ विचित्राकारधारिणौ ॥ ११९
अग्निसूर्याभनामानौ चन्द्रसत्याभनायकौ। श्रेयः क्षेमङ्करावेतौ वृषकामचरौ वरौ ॥ १२०
निर्माणादिरजोदिग्वदिगन्तरसुरक्षितौ। आत्मरक्षितसर्वादिरक्षितौ दिव्यविग्रहौ ॥ १२१
मरुद्वसवश्वविश्वौ च क्रमादन्तरवर्तिनौ। लौकान्तिकसुदेवानामिति वाचो विपश्चिताम् ॥ १२२
देवानामर्चनीयास्ते सर्वे लौकान्तिकामराः। प्रतिबोधपरास्तीर्थकृतां पूर्वधराः पुनः ॥ १२३
तेषामायुः प्रमाणं स्यात्तदष्टौ सागरोपम। देवर्षयश्च ते सर्वे संक्लेशेन विवर्जिताः ॥ १२४
विजयादिषु ये देवास्ते तद्द्विचरमा मताः। तस्मिन्नेव भवे मुक्ताश्च्युताः सर्वार्थसिद्धितः ॥ १२५

देव रहते है। पूर्व दक्षिण दिशामे-आग्नेय दिशामे अग्निनामक देव रहते है। दक्षिण दिशामे अरुण विमानमे अरुण देव रहते है। नैऋत्य दिशामे गर्दतोय विमानमे गर्दतोय देव रहते है। पश्चिम दिशामे तुषित देव रहते हैं। उत्तरपश्चिम दिशाके अव्याबाध विमानमे अव्याबाधनामक देव रहते है। उत्तर दिशाके अरिष्ट-नामक विमानमे अरिष्टनामक देव रहते हैं। तथा इन सारस्वतादिकोंके बीचमे औरभी दो दो देव-गण, जो आश्चर्यकारक आकार धारण करते है, रहते है। उनका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—सार-स्वत और आदित्यके अन्तरालमे अग्न्याभ और सूर्याभ देव रहते है। आदित्य और वह्निके अन्तरमे चन्द्राभ और सत्याभ देव रहते है। वह्नि और अरुणके अन्तरालमे श्रेयस्कर क्षेमकर देव रहते है। अरुण और गर्दतोयके अन्तरालमे वृषभेष्ट और कामचर ये देव रहते है। गर्दतोय और तुषित देवोंके अन्तरालमे निर्माणरज और दिगतरक्षित देव रहते है। तुषित और अव्याबाधके मध्यमे आत्म-रक्षित और सर्वरक्षित देव रहते हैं। अव्याबाध और अरिष्टके अन्तरालमे मरुद् और वसु रहते है। अरिष्ट और सारस्वतोंके मध्यमे अश्व और विश्व देव रहते है। ये सर्व लौकान्तिक देव देवोमे श्रेष्ठ हैं ऐसा विद्वान कहते हैं। ये सर्व लौकान्तिक देव देवोंके द्वारा पूजनीय हैं। तीर्थकरोको जब वैराग्य होता है, तब उनको प्रतिबोध करनेमे तत्पर रहते है। ये चौदह पूर्वोके ज्ञानको धारण करते हैं। उनके आयुका प्रमाण आठ सागरोपम वर्षोका होता है। इनको देवर्षि कहते है, क्योकि ये सक्लेशपरिणामोसे रहित होते है ॥ ११६–१२४ ॥

[द्विचरम देवोका स्पष्टीकरण।] — विजय, वैजयंत, जयत, अपराजित, तथा नव अनु-दिश विमानवासि देव द्विचरम है। मनुष्यभवकी अपेक्षासे चरमत्व यहा समझना चाहिये। जिनके दो चरम देह है उनको द्विचरम कहना चाहिये। विजयादिकोंसे च्युत होकर सम्यक्त्वसे मनुष्योमे उत्पन्न होते है। पुनः सयमकी आराधना कर विजयादिकोमे उत्पन्न होते है और पुनः वहासे च्युत होकर सम्यक्त्वके साथ मनुष्यभव धारण कर मुक्त होते है इसलिये वे द्विचरम देहवाले कहे जाते है।

---

१ आ. देव्योबाधाः २ आ. देवगणौ

उपपादो हि देवानां देवीनां च तथा पुनः । आ ईशानात्ततो नैव देवीनां ते निवेदिताः ॥ १२६
आरणाच्युपर्यन्तं देवा गच्छन्त्यतः परम् । न गच्छन्ति न चायान्ति विज्ञेयमिति निश्चितम् ॥ १२७
सद्व्यन्तरकुमाराणामवधिः पञ्चविंशतिः । सङ्ख्यातयोजनान्येप ज्योतिष्काणां जघन्यतः ॥ १२८
असुराणामसंख्यातकोट्यः शेषेषु सोऽवधिः । असंख्यातसहस्राणि ज्योतिष्काणां परो मतः ॥ १२९
सौधर्मैशानदेवानामवधिः प्रथमावनिः । सनत्कुमारमाहेन्द्राः जानन्त्याशर्कराप्रभम् ॥ १३०
ब्रह्मब्रह्मोत्तरे कल्पे लान्तवे तस्य चापरे । दिव्यावधिर्भवत्येषामातृतीयावधिर्महान् ॥ १३१
आसहस्रारमेतेभ्यो जायतेऽवधिरुत्तमः । चतुर्थं नरकं तावदभिव्याप्नोति निर्मलः ॥ १३२
आनते प्राणते देवाः पश्यन्त्यवधिना पुरः । पंचमं नरकं यावद्विशुद्धतरभावतः ॥ १३३
आरणाच्युतदेवानां षष्ठीपर्यन्त इष्यते । ग्रैवेयकेषु सर्वेषु सप्तम्या विधितोऽवधिः ॥ १३४

तथा जो अहमिन्द्र सर्वार्थसिद्धिसे यहां मनुष्यजन्म धारण करते है, वे उसी भवमे मुक्त होते है; क्योकि सर्वार्थसिद्धि यह नाम अन्वर्थक होनेसे वहाके अहमिन्द्र देव एकचरम होते है ॥ १२५ ॥

[देव और देवियोका उपपादस्थान ।] – देव और देवियोके सौधर्म ऐशान तक उपपाद जन्मस्थान है। देवोके तो सर्व स्वर्गोमे उपपादस्थान है; परन्तु देवियोके उपपादस्थान ऐशान स्वर्गके आगे नहीं है । नीचेके देव आरण अच्युतपर्यन्त जाते है और आते है, परतु उसके ऊपर ग्रैवेयकादिकोमे नीचेके देव न जाते है और न आते है ऐसा निश्चित है ॥ १२६–१२७ ॥

[भवनत्रिकमे अवधिज्ञानकी मर्यादा ।] – व्यतरदेवोको पच्चीस योजनपर्यन्तका अवधिज्ञान होता हैं । जहा उनके अवधिज्ञानका उपयोग किया हो वहासे पच्चीस योजनतकका क्षेत्र द्रव्य, काल और भाव उनके अवधिज्ञानका विषय होता है। ज्योतिष्कदेवोका जघन्यसे अवधिज्ञान क्षेत्र सख्यात योजनोका होता है । असुरकुमार देवोका अवधिज्ञान क्षेत्र असख्यात कोटि योजनोका है । बाकी नागकुमारादिक नव भवनवासियोका अवधिक्षेत्र असख्यातसहस्र योजनोका होता है। ज्योतिष्कदेवोका उत्कृष्ट अवधिज्ञान असख्यात सहस्र योजनोका है ॥ १२८–१२९ ॥

[कल्पवासि और कल्पातीत देवोका अवधिज्ञान ।]– सौधर्मैशानदेवोका अवधिज्ञान-क्षेत्र पहिला नरक है । वे पहिले नरकमे अवधिज्ञानसे नारकियोकी प्रवृत्तियाँ जानते है। सानत्कुमार और माहेन्द्रदेव शर्कराप्रभातक अवधिज्ञानसे जानते है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लातव और कापिष्ठ स्वर्गके देवोका महान् दिव्यावधिज्ञान तीसरे नरकतक जानता है । शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार एेसे चार स्वर्गके देवोका उत्तम निर्मल अवधिज्ञान चौथे नरकको व्यापता है । आनत प्राणत स्वर्गके देव विशुद्धतर परिणामोसे पाचवे नरकतक देखते है। आरण और अच्युत स्वर्गके देवोका अवधिज्ञान छठे नरकतक होता है । सपूर्ण ग्रैवेयकोमे अवधिज्ञान सातवे नरकतक होता है। और उसके

१ आ. उपपादा २ देव्यो ३ आ. न्यावालुकप्रभम् ४-५ आ तावत्, चान्तरे ६ आ. आनत प्राणते

ततः परे च पश्यन्ति सर्वलोकावधिं पुनः । सम्यग्ज्ञानादिसद्धर्मप्रभावप्रभवा यतः ॥ १३५
तथा रत्नप्रभायां स नारकोऽवधिरुच्यते । योजनैकप्रमाणोऽसौ क्रोशार्द्धं हीयते ततः ॥ १३६
शक्राग्रमहिषी शक्रैर्लोकपालामराश्च ते । दक्षिणेन्द्राश्च लौकान्ताश्च्युता निर्वृतिगामिनः ॥ १३७
आज्योतिष्काश्च ये देवास्तेऽनन्तरभवे न हि । शलाकापुरुषा ये तु केचिन्निर्वृतिगामिनः ॥ १३८
सम्यग्दर्शनसज्ज्ञानसच्चारित्रविभूषिताः । निर्धूय सर्वकर्माणि निर्वृतिं यान्ति मानवाः ॥ १३९
अनन्तसुखनिर्मग्ना जरामृत्युविवर्जिताः । अव्याबाधाश्च ते तत्र भाविनं कालमासते ॥ १४०
यत्कन्दर्पसुखं लोके यच्च दिव्यं महासुखम् । न तन्मोक्षसुखस्यास्यानन्तभागो निगद्यते ॥ १४१
अहो धर्ममहो धर्मं सद्रत्नत्रयलक्षणम् । ये श्रयन्ति महाभव्यास्तेषां किमिह दुर्लभम् ॥ १४२

बाद नव अनुदिश और पचानुत्तरके देवोका अवधिज्ञान सर्व लोककी मर्यादा धारण करनेवाला होता है । ये सब अवधिज्ञान सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र, तप आदिक धर्माचारसे उत्पन्न होते हैं । इसलिये इनमे उपर्युक्त सामर्थ्य प्रगट होता है ॥ १३०-१३५ ॥

[नारकियोका अवधिज्ञान ।] - रत्नप्रभा नामक पहिले नरकमे नारकियोको जो अवधिज्ञान होता है वह एक योजनतकका विषय जानता है । आगे दूसरे नरकसे सातवे नरकतक आधा आधा कोस कम होता है । अर्थात् दूसरे नरकमे साडे तीन कोस, तीसरे नरकमे तीन कोस, चौथे नरकमे ढाई कोस, पांचवे नरकमें दो कोस, छठे नरकमे डेढ कोस और सातवेमे एक कोसका होता है ॥ १३६ ॥

[एक भव धारण कर मुक्त होनेवालोका वर्णन ।] - सौधर्मेन्द्र और उसकी अग्रमहिषी अर्थात् शची देवी, सौधर्मेन्द्रके लोकपालदेव-कुबेर, यम, वरुण और ईशान ये देव, दक्षिण दिशाके इन्द्र तथा लौकान्तिक देव ये स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्यभव धारण करते हैं और वे उसी भवमे कर्मक्षयसे मुक्त होते हैं ॥ १३७ ॥

भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिष्क देव वे अनंतरभवमे शलाका पुरुष नहीं होते है । अर्थात् तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र नहीं होते है । परंतु इनमेसे कोई मनुष्यभवमे आकर मोक्षगामी होते है ॥ १३८ ॥

[मोक्षप्राप्ति किनको होती है ।] - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रोसे भूषित हुए मानव सर्व कर्मोका नाश कर मुक्तिको जाते है । मोक्षमे सिद्ध हुए जीव तत्काल और भावी कालमें अनंत सुखी होते है, जरामरणसे रहित होते है और बाधारहित होकर रहते है। उनका संपूर्ण भावी काल उपर्युक्त गुणोसे परिपूर्ण होता है ॥ १३९-१४० ॥

[मोक्षसुख ।] - जो जगतमे कामसुख है, तथा जो जगतमे दिव्य ऐसा महासुख है वह मोक्षसुखके अनंतवे अंशकाभी साम्य नहीं धारण करता ॥ १४१ ॥

उत्तम-अतिचाररहित रत्नत्रय लक्षण-धर्म आश्चर्यकारक और प्रशंसनीय धर्म है । इसका

---

१ आ. सर्वे लोकावधिं २ आ. सुराः ३ आ. तेषां ४ आ. गक्रो ५ आ. दिव्य

यदित्थमनुवादेन[1] किञ्चिदागमरूपतः । अविज्ञातपरार्थेन जीवतत्त्वं निरूपितम् ॥ १४३
अन्यानुवादतो नास्ति सा शक्तिर्मम वर्णने । जीवतत्त्वस्य सर्वस्याथवा ग्रन्थस्य गौरवात् ॥ १४४
सद्गुणाद्यनुवादेन जीवतत्त्वमनेकधा । यदुक्तं मुनिभिः पूर्वं तन्मया कथ्यते कथम् ॥ १४५
गुणस्थानानि चत्वारि देवानां नारकेषु च । तिरश्चां पंच विद्यन्ते मनुष्येषु चतुर्दश ॥ १४६
इत्याद्यागमतः सर्वं ज्ञातव्यं तत्त्ववेदिभिः । न ज्ञातुं नैव कर्तुं वा शक्तोऽहं बुद्धिवर्जितः ॥ १४७
ज्ञात्वा जीवमजीवं जिनवरवरवीरभाषितं जगति । हिंसासत्यादीनां परिहारो युज्यते नृणाम् ॥१४८

जो महाभव्य आश्रय करते है उनको इहलोकमे कौनसी वस्तु दुर्लभ है ? सर्व उत्तम वस्तु इस श्रेष्ठ रत्नत्रयधर्मसे प्राप्त होती है ॥ १४२ ॥

जिसको जीवादि-पदार्थोका ज्ञान नहीं है, ऐसे मैने इस प्रकार अनुवादसे आगमद्वारा किञ्चित् जीवतत्त्वका निरूपण किया है । निर्देशादिक अनुयोगके आधारसे मैने यह वर्णन किया है । सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शनादि अनुयोगोके द्वारा जीवादितत्त्वोका वर्णन करनेमे मै असमर्थ हू ॥ १४३–१४४ ॥

उत्तम गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास इत्यादिक अनुवादोकी अपेक्षासे मुनियोने जीव-तत्त्वका अनेक प्रकारोसे पूर्व कालमे वर्णन किया है । वैसा वर्णन करनेमे मै समर्थ नहीं हूं ॥१४५॥

[चतुर्गतिमे गुणस्थान ।] – देवोमे मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि ऐसे चार गुणस्थान होते है । नारकियोकोभी वेही चार गुणस्थान होते है । पशुओको उपर्युक्त चार और पाचवा देशसयम ऐसे पाच गुणस्थान होते है तथा मनुष्योको चौदह गुणस्थान होते है (इन गुणस्थानोका वर्णन पूर्वमे आया है) ॥ १४६ ॥

[ग्रथकारकी नम्रता ।] – तत्त्व जाननेवाले आचार्योंको गुणस्थानादिकोका सर्व स्वरूप आगमसे जानना चाहिये । उनका स्वरूप मै जाननेके लिये और कहनेके लिये असमर्थ हू, क्योकि मै बुद्धि रहित हू ॥ १४७ ॥

जिनोमे – मुनियोमे वर-श्रेष्ठ ऐसे गणधरोके नायक-स्वामी श्रीवीरप्रभुके द्वारा उपदेशे गये जीव और अजीव तत्त्वोको जानकर इस जगतमे मनुष्योको हिंसा, असत्य भाषण, चोरी आदि पातकोका त्याग करना योग्य होता है, अर्थात् जीवादिद्रव्योका स्वरूप समझनेसे हिंसादिकका क्यो त्याग करना चाहिये ? इस शकाका स्पष्टीकरण हो जाता है । सम्यग्ज्ञान होनेसे जीव-राग-द्वेषादिकोके कारण हिंसा, असत्य भाषणादिपापोका त्याग करता है । जिससे वह चारित्रसपन्न, रत्न-त्रययुक्त होकर शुद्धात्म स्वरूपकी प्राप्ति कर लेता है ॥ १४८ ॥

---

१ आ इत्थ गत्यनुवादेन

सुविहितचरणः शरणे जिनवरनाथस्य करणहतवृत्तिः।
न सरति स कथं पटुतामटति भवाम्भोधिसन्तरणे॥ १४९

इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे पण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते गत्यनुवादद्वारे जीवतत्त्व-प्ररूपणं अष्टमोऽध्यायः ॥

जिसने उत्तम चारित्रका पालन किया है, जो गणधरोंके स्वामी है ऐसे वीर प्रभूको जो शरण आया है, परन्तु इन्द्रियोंके वश होनेसे जिसका मन चारित्रभ्रष्ट हुआ है, वह पुरुष यदि पुनः चारित्रमार्गमे प्रवेश नहीं करेगा तो संसारसमुद्रके पार जानेमे कैसे समर्थ होगा? तात्पर्य–चारित्रसे रत्नत्रयपूर्ण होता है और उससे यदि जीव च्युत होगा तो वह ससारसमुद्रमे डूबे विना नहीं रहेगा॥ १४९॥

* पडिताचार्य श्रीनरेन्द्रसेन–विरचित सिद्धान्तसारसंग्रह शास्त्रमे गत्यनुवादद्वारसे जीव-तत्त्वका निरूपण करनेवाला आठवा अधिकार समाप्त हुआ। *

नवमोऽध्यायः ।

यो जीवनगुणाज्जीवस्तस्मादन्योऽभिधीयते । अजीव इति सूत्रज्ञैः सामान्येन जिनागमे ॥ १
धर्माधर्मनभःकालपुद्गला इति पञ्चधा । विशेषेण पुनः प्राज्ञैः कथितस्तत्त्ववेदिभिः ॥ २
जीवपुद्गलयोर्यौ तौ गतिस्थितिनिबन्धनौ । धर्माधर्मौ तथाकाशमवकाशैकलक्षणम् ॥ ३
वर्तनालक्षणः कालः स च कायविवर्जितः । परे पञ्चास्तिकायाः स्युर्जीवतत्त्वसमन्विताः ॥ ४

नववाँ अध्याय ।

जीवनगुण—चेतना—ज्ञानदर्शनसे जो युक्त है उसे जीव कहते हैं। जिसमे जीवनगुण नहीं है उसे सूत्रज्ञ आचार्य जिनागममे सामान्यतया ' अजीवतत्त्व ' कहते है ॥ १ ॥

स्पष्टीकरण—जीवका लक्षण उपयोग-ज्ञानदर्शनस्वरूपता कहा है । यह लक्षण जिसमे नहीं पाया जाता वह अजीव तत्त्व है । धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये अजीवतत्त्वके विशेष हैं ।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये अजीवतत्त्वके पांच विशेष भेद है ऐसा तत्त्वज्ञोने कहा है ॥ २ ॥

[धर्माधर्मादि-द्रव्योका लक्षण ।] — जीव और पुद्गलोकी गति होनेमे जो कारण है उसे धर्मद्रव्य कहते है, तथा जो इनके स्थितिके लिये कारण है उसको अधर्मद्रव्य कहते है। अर्थात जीव और पुद्गलोकी गतिमे जो द्रव्य सहायक होता है उसे धर्मद्रव्य कहते है । तथा जो उनकी स्थितिमे सहायक है वह अधर्मद्रव्य है । ऐसे इन द्रव्योके लक्षण कहे हैं । तथा जो संपूर्ण द्रव्योको-धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीवद्रव्योको अवकाश अवगाह-स्थान देता है उसे आकाशद्रव्य कहते है ॥ ३ ॥

वर्तना यह लक्षण जिसका है ऐसे द्रव्यको कालद्रव्य कहते है। वह कायरहित है। जीवतत्त्वके साथ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य तथा पुद्गलद्रव्य ऐसे पाच द्रव्योको ' पंचास्तिकाय ' कहते हैं। जीवादिक द्रव्योमें जो पर्याये उत्पन्न होती है उनकी उत्पत्तिमें जो असाधारण-साधकतम है उसको कालद्रव्य कहते हैं, जैसे दीपक अथवा प्रकाशके विना अध्ययन नहीं होता इसलिये वह जैसा अध्ययनका साधकतम कारण है वैसा यह कालद्रव्य जीवादिकोके पर्याय उत्पन्न होनेमें साधकतम है। उसके विना जीवादिकी पर्याये उत्पन्नही नहीं होती । अतः वर्तना-पर्याय उत्पन्न करना यह कार्य जिस कारणरूपके होनेसे होता है वह काल है ऐसा कालका लक्षण है। जो पदार्थोमें नया, पुराना इत्यादि पर्यायें उत्पन्न होती है उसे धर्मादिक द्रव्य कारण नहीं है, आकाशभी कारण नहीं है। वह केवल अवकाशदान देनेका कार्य करता है अतः कल, आज, नया,

रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवर्णसमन्वितः । गलनात्पूरणाद्वापि पुद्गलः स मतो जिनै ॥ ५
पुद्गलस्य च कायत्वं युक्तमन्येषु तत्कथम् । शरीराभावतस्तस्मादुपचारेण तद्भवेत् ॥ ६
पुद्गलप्रचयात्मत्वाच्छरीरं काय इष्यते । प्रदेशप्रचयात्मत्वात्तथान्ये चोपचारत. ॥ ७
यदुक्तं सूरिभिः पूर्वमसंख्येया. प्रदेशकाः । धर्माधर्मैकजीवानामसाधारणवर्तिनाम् ॥ ८
कायाभावश्च कालस्य ह्येकप्रादेशिकत्वत. । अणोरपि[2] भवेत्तस्याप्यणूनां हि तथा स्थिते ॥ ९

पुराना इत्यादि पदार्थोंकी अवस्थाओकी उत्पत्तिमें जो सहायक है वह कालही है ऐसा समझना चाहिये ॥ ४ ॥ (वर्तनापरिणाम इस सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीका)

[पुद्गलका लक्षण ।] – रूप, गध, रस, स्पर्श, शब्द तथा वर्ण ऐसे गुणोसे जो द्रव्य-युक्त है अर्थात् जिसमे रूपादिक रहते है उसे पुद्गलद्रव्य कहना चाहिये। अथवा जिनमे गलन और पूरण होता है उन्हे पुद्गल कहते है। अर्थात् भेदसे, सघातसे और भेदसघातसे जिनमें पूरण और गलन होता है उसे पुद्गल कहते हैं। यह पुद्गल शब्द इस प्रकारसे अन्वर्थक है। अर्थात एक पुद्गलस्कन्ध फूटकर अलग होता है, तब उसकी गलन क्रिया हुई। दूसरे स्कन्धमे मिल जानेसे पूरणक्रिया उसने की और एकसे फूटकर दूसरेमे मिल जानेसे पूरण गलन दोनों क्रियाये हुई। इसलिये इस द्रव्यको जिनेश्वर पुद्गलद्रव्य कहते हैं ॥ ५ ॥

[अन्य द्रव्योमे कायपना औपचारिक है।] – पुद्गलको कायपना है, यह योग्यही है, परतु अन्यद्रव्योमे कायपना कैसे समझना चाहिये ? काय शब्दका अर्थ शरीर होता है, और पुद्गलके बिना अन्यद्रव्य शरीररहित होनेसे-शरीररूप न होनेसे उनको काय कैसे कहा जायगा ? इस प्रश्नका उत्तर–उपचारसे अन्यद्रव्योको काय कहना चाहिये। स्पष्टीकरण–शरीर पुद्गलसमूहरूप होनेसे उसको काय कहते है। वैसे प्रदेशोका समूह धर्म, अधर्म, आकाश और जीवोमें पुद्गलके समान होनेसे इन द्रव्योकोभी 'काय' कहना योग्यही है। अत एव धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा एक जीव, जो कि असाधारण लक्षणयुक्त है, उनमे आचार्योंने असंख्यात प्रदेश कहे है ॥६–८॥

[कालमें कायत्व नहीं है।] – कालद्रव्य एक एक अणुरूप है और उसमे एकप्रदेशसे अधिक प्रदेश रहतेही नहीं ? परन्तु जो पुद्गलाणु है उसमे कायत्वभी है, क्योकि अणु अन्य अणुओसे रूक्षता और स्निग्धता गुण होनेसे मिलकर स्कन्धरूप होता है। वैसे कालाणु आपसमें अन्योन्यमे नहीं मिलते है। वे रत्नराशिके समान अलग अलग रहते हैं। इसलिये कालाणुओंको उपचारसेभी काय नहीं कहते है ॥ ९ ॥

१ आ पुदलोऽसौ २ आ. अणोरिव

यथा दर्शनविज्ञानसुखवीर्यचतुष्टयम् । जीवसाधारणं तद्वत्त्वरूपादिचतुष्टयम् ॥ १०
पुद्गलेऽपि मतं सर्वं साधारणमतीन्द्रियम् । अणोरपि हि तच्छुद्धे जीवे ज्ञानादिवद्भवेत् ॥ ११
रागादिस्नेहयुक्तत्वात्कर्मबन्धव्यवस्थितौ । सज्ज्ञानादेरशुद्धत्वमात्मनोऽपि यथा भवेत् ॥ १२
स्निग्धरूक्षगुणत्वेन द्विगुणादौ व्यवस्थितेः । बन्धस्यास्यापि रूपादेरशुद्धत्वं निगद्यते ॥ १३
यथा शुद्धात्मरूपस्य भावनाया बलेन च । रागादिस्नेहहानौ स्याज्ज्ञानादेः शुद्धतात्मनि ॥ १४
जघन्यैकगुणानां तदणूनां केवलात्मनाम् । बन्धाभावात्स्वरूपादेः शुद्धत्वं गदितं जिनैः ॥ १५
जीवेनैव समं तानि षड्द्रव्याणि जिनागमे । भूपयःपवनाग्नीनां मनसः पुद्गलात्मता ॥ १६

[जीव पुद्गलोका साधारणलक्षण ।] – जैसे दर्शन, ज्ञान, सुख और शक्ति ये चार गुण समस्त जीवोंमे है, इसलिये उनको जीवके साधारण-गुण कहते है । वैसे संपूर्ण पुद्गलोमे भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये गुण रहते है, इसलिये ये पुद्गलके साधारण गुण हैं । जैसे शुद्ध जीवमे ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति ये चार गुण अतीन्द्रिय है वैसे पुद्गलाणुमे ये स्पर्शादिक चार गुण अतीन्द्रिय है । परमाणु इद्रियोसे नहीं जाना जाता है, वह अतीन्द्रिय है । जो अतीन्द्रिय पदार्थ होते है उनके गुणभी इंद्रियग्राह्य न होनेसे अतीन्द्रिय होते है । शुद्ध जीव इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इसलिये उसके ज्ञानादि गुण अतीन्द्रिय होते है ॥ १०–११ ॥

पुद्गलमे स्निग्धगुण और रूक्षगुण रहते है । इनसे बंध होता है । एक परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ इन गुणोसे बंध होता है । तथा दो गुण अधिक जिसमे रहते है, वह परमाणु बंध योग्य होता है । अर्थात् जिसमे दो गुण कम है उसके साथ उसका बध होता है । परतु जब जिन दो परमाणुओंमें समगुण होगे वे परमाणु रूपी कहे जाते है और ऐसे रूपी परमाणुओंको शुद्ध कहते है और उनका बध नहीं होता है ॥ १२ ॥

जब आत्माके सम्यग्ज्ञानादिक गुण रागादि-स्नेहसे युक्त होते है तब जीव कर्मोसे बद्ध होता है और आत्माके सम्यग्ज्ञानादिक गुणभी अशुद्ध होते है ॥ १३ ॥

जैसे शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावनाका सामर्थ्य जब अत्यत वृद्धिगत होता है, तब रागादि स्नेहकी हानि होती है । जिससे आत्मामे ज्ञानादिक गुणोकी निर्मलता होती है । वैसे जिनमे जघन्य एक गुण है ऐसे अणुओको 'केवल' कहते है। उनका किसीभी परमाणुके साथ बध नहीं होता अतः उनके स्वरूपको उनके स्पर्शादिकोको जिनेश्वरने 'शुद्ध' कहा है ॥ १४–१५ ॥

जीवके साथ धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन द्रव्योको जिनागममे षड्द्रव्य कहा है । तथा पृथ्वी, पानी, हवा-वायु, अग्नि और मनको जिनागममे पुद्गल कहा है ॥ १६ ॥

---

१ आ. जीवे २ आ. मनगा

पुद्गलत्वं कथं तेषामेषा भाषा न युज्यते । तद्रूपाद्यन्वयत्वेन तत्स्वभावविभावनात् ॥ १७
अथेदमुच्यते चित्ते बाह्यरूपाद्यदर्शनात् । तत्रान्वयाप्रसिद्धत्वात्कथं पुद्गलतानयोः ॥ १८
तन्न युक्तमनुद्भूतरूपो वायुर्यतो मतः । अत एव न चक्षुर्भ्यां गृह्यते परमाणुवत् ॥ १९
रूपादिमानयं वायुः स्पर्शवत्त्वाद्घटादिवत् । प्रसिद्धो धीमतां यस्मात्[1]पुद्गलात्मा प्रभञ्जनः ॥ २०
चक्षुषाग्रहणान्नास्य तदभावो विभाव्यते । अतिप्रसङ्गदोषेण दुष्टत्वात्परमाणुषु ॥ २१
तथापो गन्धवत्यश्च पृथ्वीवत्स्पर्शवत्वतः । तेजोऽपि रसगन्धाढ्यं रूपित्वात्तद्वदेव हि ॥ २२

[इन पदार्थोंमें पुद्गलत्वकी सिद्धि ।] – इन पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि और मनको पुद्गल कैसा कहे ? ऐसी भाषा अर्थात् ऐसा प्रश्न पूछना योग्य नहीं है । क्योंकि पुद्गलके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इन गुणोंका अन्वय पृथिवी, पानी आदिकमें दिखता है । अत एव इनमें पुद्गलके स्वभाव प्रगट हैं, ऐसा माननेमें कुछ विरोध नहीं दिखता । अर्थात् जलादिकमें स्पर्श, रस, गंधादिक गुण, जो कि पुद्गलमें दिखते हैं वे होनेसे उनकोभी पुद्गल कहना चाहिये ॥ १७ ॥

[वायु और मनकी पुद्गलत्व सिद्धि ।] – अब आप इस विषयमें ऐसा कहेंगे कि मनमें रूप स्पर्शादिक नहीं दिखते हैं । वायुमें स्पर्श दिखता है परंतु रूपादिक गुण नहीं दिखते हैं, अनुभवमें नहीं आते हैं । अतः मन, और वायुको पुद्गलपना नहीं है । आचार्य उत्तर देते हैं– " आपका कहना योग्य नहीं है, क्योंकि, वायुभी पुद्गल है उसमें रूपगुण है । परंतु वह अनुद्भूत है अप्रगट है । इसलिये वह आंखोंसे नहीं दिखता । हम अनुमानसे वायुमें रूप–गुणकी सिद्धि करते हैं–जैसे ' वायु रूपरसादि-गुणवाला है, क्योंकि वह स्पर्शयुक्त है जैसे घडा ' । अतः विद्वान लोग वायु स्पर्शवान् होनेसे उसे पुद्गलात्मा–रूपवान् मानते हैं यह बात प्रसिद्ध है । यदि आप इसके ऊपर फिरभी ऐसा कहोगे " वायु आंखोंसे ग्रहण नहीं किया जाता । अतः उसमें रूपका अभाव है " यह आपका कहना योग्य नहीं है । यह आपका कहना अतिप्रसंग-दोषसे दुष्ट है; क्योंकि आप परमाणुओंमें रूप मानते हैं परंतु क्या वह आंखोंसे दिखता है ? नहीं दिखता है । एतावता वायुमें रूप नहीं है ऐसा कहोगे तो परमाणुमेंभी रूप नहीं दिखता है । अतः परमाणु रूपगुणरहित मानो ऐसा हम कहेंगे जिससे परमाणुमें अतिप्रसंगदोष आवेगा । जब परमाणुमें आप रूपवत्व मानते हैं तो वायु, जो कि स्पर्शनेन्द्रियसे अनुभवमें आता है उसमें तो अवश्य रूपवत्व माननाही चाहिये । परमाणुको कोईभी इन्द्रिय नहीं जानती है । वायु तो स्पर्शनेन्द्रियसे जाना जाता है । अतः उसे रूपवान् मानना विरोधरहित है ॥ २१ ॥

[जलादिकभी पुद्गल है ।]– जैसा वायु रूपवान् है वैसा जलभी गंधयुक्त है, क्योंकि उसमें स्पर्शगुण है जैसा पृथ्वीमें है । अग्निभी रस और गंधसे युक्त है, क्योंकि वह रूपवान् है ।

---

१ आ अस्मात्

मनो द्विविधमाख्यातं द्रव्यभावप्रभेदतः । तत्र भावमनो ज्ञानमात्मन्यन्तर्भवेद्यतः ॥ २३[1]
आत्मैव कथ्यते तावदान्तरं द्रव्यमानसम् । बाह्यं रूपादिमत्त्वात्तत्पुद्गलद्रव्यमीर्यते ॥ २४
ज्ञानोपयोगहेतुत्वान्मनो रूपादिवन्मतम् । चक्षुरिन्द्रियवत्प्राज्ञैः प्रगताशेषकल्मषैः ॥ २५
शब्दे मूर्तेऽपि तद्दृष्ट्वा व्यभिचारो न युज्यते । तस्य पौद्गलिकत्वेन मूर्तिमत्त्वोपवर्तिनः[2] ॥ २६
पुद्गलत्वं न चासिद्धं शब्दे तस्य प्रसाधनात् । बहिरिन्द्रियसंग्राह्यः शब्दो यस्माद्घटादिवत् ॥ २७
शिखरादिप्रपातस्याभिघातात्कथमन्यथा[3] । ततः स एव शब्दस्य पुद्गलत्वं प्रसाधयेत् ॥ २८

जैसी पृथ्वी रूपवती है। इन दो अनुमानोंसे जल और अग्निमें वायुके समान पुद्गलस्वरूपता जैनाचार्योंने सिद्ध की है ॥ २२ ॥

[भावमन आत्मतत्वमें और द्रव्यमन पुद्गलमें अन्तर्भूत है ।]- द्रव्य और भाव ऐसे भेदसे मनभी दो प्रकारका कहा है। अर्थात् द्रव्यमन और भावमन ऐसे मनके दो भेद है। उनमें भावमन ज्ञानरूप होनेसे आत्मामें उसका अन्तर्भाव होता है क्योंकि भावमन वास्तविक आत्माही है। वह आत्मरूप होनेसे उसे अन्तःकरण कहते है। नो इन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे युक्त जो आत्मप्रदेश हैं उन्हे भावमन कहते है। जिनका सब पाप नष्ट हुआ है ऐसे विद्वानोंने चक्षुके समान रूपादियुक्त होनेसे बाह्य द्रव्यमनको पुद्गलद्रव्य माना है। जैसा चक्षु ज्ञानोपयोगको कारण होनेसे पुद्गलरूप है वैसा मनभी ज्ञानोपयोगको कारण होनेसे रूपादिमान् है ॥ २३–२४ ॥

[शब्दभी पौद्गलिकही है ।] – नैयायिकादिक कहते है, कि शब्द अमूर्त होकरभी ज्ञानोपयोगके लिये हेतु होता है। अर्थात् मूर्तिमान् पदार्थही ज्ञानोपयोगके हेतु होने है ऐसा समझना ठीक नहीं है। अमूर्तिक पदार्थभी ज्ञानोपयोगके हेतु होते है। अतः मूर्तिमत्त्व मनमें सिद्ध करनेके लिये दिया हुआ ज्ञानोपयोग हेतु विपक्षभूत अमूर्तिक पदार्थोंमें चला जानेसे अनैकातिक हुआ ऐसा प्रतिपक्षीने कहा। इसके अनन्तर वादी जैन कहते है, कि यह व्यभिचार दोष योग्य नहीं है, क्योंकि जिस शब्दको आप अमूर्तिक समझ रहे है वह वैसा नहीं है, क्योंकि वहभी चक्षुरादि इन्द्रियोंके समान मूर्तिमान् है। इसलिये उसकोभी जैन पौद्गलिकही कहते है। शब्दमें पुद्गलत्व असिद्ध नहीं है, क्योंकि घटादिक जैसे बाह्य इन्द्रियसे–चक्षुरादिकसे ग्रहण किये जाते है वैसे शब्दभी बाह्य इन्द्रियसे ग्रहण किये जाते है अत. वेभी पौद्गलिक है ॥ २५–२७ ॥

पर्वतके शिखरादिक पडनेसे बडा शब्द उत्पन्न होता है, जो कि कर्णके ऊपर आघात करता है। इसलिये शब्द पौद्गलिक अर्थात् मूर्तिक है, अमूर्तिक वस्तुका आघात नहीं होता, मूर्तिक वस्तु आघातयोग्य-अभिभवयोग्य होती है। इसलिये अभिघात होना, अभिघात करना इत्यादि धर्म

१ आ. आत्मन्यन्तर्भवत्यपि २ आ मूर्तिमत्त्वोपपत्तितः ३ आ. शिखराद्दे.

सूक्ष्मस्थूलादिधर्मत्वाच्छब्दोऽयं पुद्गलात्मकः । यतोऽमी पुद्गलद्रव्यपर्याया गदिता जिनैः ॥ २९
अतिस्थूलं तथा स्थूलं स्थूलसूक्ष्मं च सूक्ष्मकम् । सूक्ष्मस्थूल सूक्ष्मसूक्ष्मं[१] कथयन्ति जिनेश्वराः ॥ ३०
ततस्तद्धर्मयुक्तत्वाच्छब्दोऽयं पुद्गलात्मकः । भाषाभाषात्मकत्वेन द्विप्रकारो भवत्यपि ॥ ३१
चतुर्भाषात्मको यस्तु स भाषात्मा निगद्यते । आर्यम्लेच्छमनुष्येषु व्यवहारैकहेतुतः ॥ ३२

शब्दकी पुद्गलताके साधक है । शब्दमे सूक्ष्मधर्म, स्थूलताधर्म अभिघातधर्म, अभिभाव्यधर्म आदि धर्म होनेसे यह पुद्गलात्मक है । स्थूलता, सूक्ष्मतादिक पुद्गलद्रव्यके पर्याय है ऐसा जिनेश्वरने कहा है ॥ २८–२९ ॥

जिनेश्वरने पुद्गलद्रव्य छह प्रकारका है ऐसा कहा है । वे प्रकार–अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल और सूक्ष्मसूक्ष्म । अतिस्थूल इसको बादरबादरभी कहते है । जिसका छेदन, भेदन, अन्यत्र प्रापण–दूसरे स्थानमे पहुंचाना होता है वह अतिस्थूल है । जैसे पृथ्वी, काष्ठ, पाषाण आदि । स्थूल–जिसका छेदन, भेदन न हो सके परतु अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्धको स्थूल या बादर कहते है । जैसे जल, तैल आदि । स्थूलसूक्ष्म–जिसका छेदन, भेदन अन्यत्र प्रापण कुछभी न हो सके ऐसे नेत्रसे देखने योग्य स्कन्धको स्थूलसूक्ष्म कहते है जैसे–छाया, आतप, चादनी आदि । सूक्ष्मस्थूल–नेत्रको छोडकर शेष इद्रियोके विषयभूत पुद्गल स्कन्धको सूक्ष्मस्थूल कहते हैं जैसे शब्द, गध, रस आदि । सूक्ष्म–जिसका किसी इद्रियके द्वारा ग्रहण न हो सके उस पुद्गल स्कन्धको सूक्ष्म कहते है जैसे कर्म । और सूक्ष्मसूक्ष्म जो स्कधरूप नही है ऐसे अविभागी पुद्गल-परमाणुको सूक्ष्मसूक्ष्म कहते है । पुद्गलके ऊपरके श्लोकमे जो धर्म बताये है, वैसे धर्म शब्दमे होनेसे शब्द पुद्गलात्मक है । तथा यह शब्द भाषात्मक और अभाषात्मक ऐसा दो प्रकारकाभी होता है ॥ ३०–३१ ॥

जो चार भाषात्मक है उसे भाषात्मक शब्द कहते है । यह भाषात्मक शब्द आर्य और म्लेच्छोको व्यवहारके लिये कारण है । स्पष्टीकरण–सत्यभाषा, असत्यभाषा, उभयभाषा और अनुभय-भाषा ऐसे भाषाके चार भेद है । अथवा सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और भूतभाषा ऐसी चार भाषाये काव्यका शरीर मानी गई है । दस प्रकारके सत्यार्थके वाचक वचनको सत्यवचन कहते है । जो इससे विपरीत हे उसको असत्यभाषा कहते है । जो कुछ सत्य और कुछ असत्यका वाचक है उसे उभयभाषा कहते है । तथा जो सत्यरूप न हो और मृषारूप–असत्यरूप न हो उसको अनुभय-वचन कहते है । असज्ञियोकी समस्त भाषा और सज्ञियोकी आमत्रणी आदिक भाषाये अनुभयभाषा कही जाती है । आमत्रणी आदिक नौ भाषाये अनुभय-वचन-रूप मानी है । क्योकि इनके सुननेसे

---

१ आ सुसूक्ष्म च

अभाषात्मा तिरश्चां स्याच्छ्रीजिनेन्द्रध्वनावपि । स च प्रायोगिकोऽन्यश्च वैस्रसिकस्तथा परः ॥ ३३
वीणावंशादिसंभूतः प्रायोगिक इतीरितः । वैश्रसिकश्च मेघादिप्रभवोऽनेकधा पुनः ॥ ३४
पुद्गलोत्पन्न एवायं पौद्गलिकोऽपि कथ्यते । उपचारेण जीवस्य तद्व्यापारप्रयोगतः ॥ ३५
ततो न व्यभिचारोऽस्ति मनोरूपित्वसाधने । शब्दज्ञानोपयोगित्वात्तस्य पौद्गलिकत्वतः ॥ ३६
ततः पृथ्वी पयश्छाया चतुरिन्द्रियगोचरम् । कर्माणि परमाणुश्च पर्यायाः पुद्गलस्य च ॥ ३७
दिशोऽप्याकाश एवायमादित्याद्युदयादिह । तस्य पङ्क्तिव्यवस्थासु व्यवहारोपपत्तितः ॥ ३८
तस्मात्षडेव द्रव्याणि नाधिकानि जिनागमे । धर्माधर्मनभःकालास्तेषु नित्या मता जिनैः ॥ ३९

व्यक्त और अव्यक्त दोनोही अशोका बोध होता है। इसलिये सामान्य अशके व्यक्त होनेसे असत्यभी नहीं कह सकते है, और विशेष अशके व्यक्त न होनेसे सत्यभी नहीं कह सकते है ॥ ३२ ॥

यह अनुभयभाषा तिर्यचोकी–द्वीन्द्रियादि-जीवोकी है तथा श्रीजिनेश्वरकी जो दिव्यध्वनि है वहभी अनुभयभाषात्मक है। अभाषात्मक शब्दके प्रायोगिक और वैस्रसिक ऐसे दो भेद है। वीणावशादि वाद्योसे जो शब्द उत्पन्न होता है उसे प्रायोगिक कहते है। मेघादिकसे उत्पन्न होनेवाला शब्द वैस्रसिक है और उसके अनेक प्रकार है। यद्यपि शब्द पुद्गलसेही उत्पन्न होता है। इसलिये उसको पौद्गलिक कहते है तोभी उपचारसे शब्द जीवकाभी कहा जाता है; क्योकि उसके प्रयत्न उसकी उत्पत्तिमे कारण होते है। इतने विवेचनसे मनको रूपी सिद्ध करनेमे जो 'ज्ञानोपयोगहेतुत्व' नामक हेतु दिया है, शब्दको पौद्गलिकत्त्व साधनेमे वह उपयुक्त होनेसे अनैकान्तिक हेतु नहीं होता है। इतने विवेचनसे पृथ्वी, जल, छाया और नेत्रेन्द्रियको छोडकर शेष चार इंद्रियोका विषय, कर्म और परमाणु ये सब पुद्गलके पर्याय है ऐसा सिद्ध हुआ है ॥ ३३–३७ ॥

[दिशाका आकाशमे अन्तर्भाव होता है।] – दिशाओका आकाशमे अन्तर्भाव होता है, क्योकि आकाशके प्रदेशोमेही सूर्य-चन्द्रादिकोके उदयसे पूर्व पश्चिम इत्यादि व्यवहार होता है। अत. दिशा यह द्रव्य अलग नहीं है। उसका आकाशमेही अन्तर्भाव होता है ॥ ३८ ॥

[जैनागममे छहही द्रव्य कहे है।] – इसलिये जिनागममे छहही द्रव्य कहे है उनसे अधिक नहीं है। छहो द्रव्योमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य जिनेश्वरोने नित्य माने है। जो लक्षण जिस द्रव्यका आचार्यने कहा है, वह लक्षण इससे कभी नष्ट नहीं होता है। अर्थात् उस द्रव्यमे उसका लक्षण हमेशाही रहता है। अन्यथा वह द्रव्य कैसे पहचाना जायगा? धर्मद्रव्यका गतिहेतुत्व लक्षण है, अधर्मद्रव्यका स्थितिहेतुत्व लक्षण है, आकाशका अवगाहनहेतुत्व लक्षण है और कालका वर्तना लक्षण है। ये लक्षण अपने अपने द्रव्योको कभीभी नहीं

१ आ पङ्क्तिप्रदेशेषु

अमूर्ता निःक्रियाश्चामी जिनागमे विशेषतः । तथात्मकपरिज्ञानं कर्तव्यं सुमनीषिभि ॥ ४०
आकाशस्य प्रदेशाः स्युरनन्ता. पुद्गलस्य च । तेऽसङ्ख्येयाश्च सङ्ख्येया अनन्ताश्च भवन्त्यपि ॥ ४१
कश्चित्सङ्ख्येयदेशः स्यादसंख्येयप्रदेशभाक् । कश्चित्कस्याप्यनन्तास्ते प्रदेशाः समुदीरिता. ॥ ४२
असंख्यातप्रदेशो वा लोक' सर्वोऽपि कथ्यते । तत्रानन्तप्रदेशस्य तस्याधारो विरुध्यते ॥ ४३
नैष दोषो यतः सूक्ष्मपरिणामावगाहतः । आकाशैकप्रदेशेऽपि तदानन्त्येन तिष्ठति ॥ ४४
सूक्ष्मावगाहसच्छक्तिस्तेषामव्याहतास्ति च । प्रमाणप्रतिपन्नत्वादग्नेर्दाहकशक्तिवत् ॥ ४५
नाणोः प्रदेशनानात्वमविभागस्वभावत । नास्मादल्पप्रमाण तत्किञ्चिदल्पप्रमाणकम् ॥ ४६

छोडते हैं इसलिये इनको नित्य कहना योग्यही है। ये द्रव्य नित्य है, अमूर्तिक है, और नि क्रिय है, ऐसा जिनागममे विशेषत प्रतिपादन किया है। जैसा आगममे प्रतिपादन किया है, वैसा विद्वान् उनको जान लेवे ॥ ३९–४० ॥

[आकाश और पुद्गलोके प्रदेशोका वर्णन ।]– आकाशके प्रदेश अनन्त है, पुद्गलोके प्रदेश सख्यात, असख्यात और अनत है। अर्थात् पुद्गलोके प्रदेश तीनो प्रकारके है। कोई पुद्गल सख्यात प्रदेशवाला, कोई पुद्गल असंख्यात प्रदेशवाला और कोई पुद्गल अनत प्रदेशवाला है। इस प्रकारसे पुद्गलोके प्रदेश तीन प्रकारके कहे है ॥ ४१–४२ ॥

लोकाकाश असख्यात प्रदेशवाला है। वह अनत प्रदेशवाले पुद्गलोका आधार कैसे होता है? इस शंकाका उत्तर—

सर्व लोकाकाश असख्यात प्रदेशवाला है ऐसा कहा जाता है और पुद्गल अनत प्रदेशवालाभी है। अतः वह अनन्तप्रदेशवाले पुद्गलोका आधार कैसे हो सकता है? यह बात विरुद्ध है। आचार्य कहते है, कि इसमे दोष नहीं है। सूक्ष्मत्वशक्ति और अवगाहनशक्ति परमाणुओमे और द्व्यणुकादिकोमे अव्याहत है। इसलिये उपर्युक्त शका यहा उत्पन्न नहीं होती। परमाणु और द्व्यणुकादिक स्कध सूक्ष्मभावसे परिणत होकर एकेक आकाशप्रदेशमेभी अनतानत रहते है। अवगाहनशक्तिभी इनकी अव्याहत है। इसलिये एक आकाशप्रदेशमेभी अनतानत परमाणुओका और सूक्ष्मस्कधोका वास्तव्य विरुद्ध नहीं। जैसे अग्निकी दाहशक्ति लोहेके गोलेमे प्रवेश करती है वैसे पुद्गलपरमाणु और सूक्ष्मस्कधोमे अवगाहनशक्ति होनेसे एक आकाशप्रदेशमेभी अनतानत परमाणुओका स्कंधभी रहता है ॥ ४३–४५ ॥

[परमाणुका स्वरूप]– परमाणुमे अनेक प्रदेश नहीं है क्योकि वह अविभागि स्वभाववाला है। परमाणुके पुन खड नहीं होते है। वही सबसे अल्पप्रमाणवाला है। उससे कोई छोटा पदार्थ हैही नहीं ॥ ४६ ॥

---

५ आ. त्रयात्मक

लोकाकाशेऽवगाहोऽस्ति धर्मादीनामशेषत. । आकाशस्यावगाहस्तु स्वात्मन्येव व्यवस्थितः ॥ ४७
धर्मादीनि विलोक्यन्ते यत्र लोकः स इष्यते । तमभिव्याप्य सर्वत्र धर्माधर्मौ व्यवस्थितौ ॥ ४८
यत्र लोकस्तदेवाहुर्लोकाकाशं जिनेश्वरा. । तद्रहितमनन्तं तदलोकाकाशमञ्जसा ॥ ४९

स्पष्टीकरण– जैसे एक आकाशप्रदेशमेभी दूसरा प्रदेश न होनेसे उसे अप्रदेशी कहते हैं वैसे परमाणुमेभी सिर्फ प्रदेशमात्रत्व होनेसे प्रदेशभेद नहीं है। यदि परमाणुसेभी कोई छोटी वस्तु होती तो परमाणुमे प्रदेशभेद मानना पडता। परमाणु स्वत' आत्मआदि, आत्ममध्य और आत्माअन्त है। जिसमें प्रदेशाधिक्य होता है उसमें आदि, मध्य, अन्त ऐसे भागोकी कल्पना होती है। परमाणुमें प्रदेशभेद न होनेसे– वह स्वयप्रदेशमात्र होनेसे वह स्वत.ही आदिरूप है, मध्यरूप है और अन्तरूपभी है। जैसे किसी मनुष्यको एकही पुत्र होता है, तो उसमेंही बडा, छोटा और मध्यमकी कल्पना करनी पडती है; वैसे परमाणुमें स्वयं आदि, मध्य और अन्तकी कल्पना करनी पडती है। तथा वह परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं है ॥ ४६ ॥

[लोकाकाशका वर्णन ।] – धर्मादि द्रव्योंका लोकाकाशमेंही अवगाह है। लोकाकाशने धर्मादि द्रव्योको अपनेमें आश्रय दिया है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य पुद्गलद्रव्य, जीवद्रव्य और कालद्रव्य लोकाकाशमेही हैं। लोकाकाशमें धर्मादिक अमूर्तद्रव्य अन्योन्य प्रदेशोमे विना व्याघातसे रहे हैं। तथा जितना लोकाकाश है. उतने प्रदेशोमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्यके अणु समान रूपसे रहे हैं। लोकाकाशके एक प्रदेशमें धर्मद्रव्यका एक प्रदेश, अधर्मद्रव्यका एक प्रदेश और एक अणुरूप कालद्रव्य रहता है। लोकाकाशके जितने प्रदेश है उतनेही धर्मद्रव्यके प्रदेश हैं, उतनेही अधर्मद्रव्यके प्रदेश हैं और उतनेही कालाणु हैं। इसलिये तिलमे जैसा तैल सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है वैसे धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशमे समानरूपसे व्याप्त होकर रहे हैं। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशके बाहर नहीं है, ऐसा अभिप्राय व्यक्त करनेकेलिये यहां धर्मादिक आधेय और लोकाकाश आधार है ऐसी कल्पना है। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशमें हैं, परतु लोकाकाश अथवा आकाश स्वय अपनेमेंही है। एवभूतनयकी अपेक्षासे सभी द्रव्य स्वस्वरूपमेंही रहते हैं। आकाशसे दूसरा कोईभी द्रव्य अधिक परिमाणका नहीं है जिसमे आकाश स्थित होगा। वह सर्वत. अनन्त है ॥ ४७–४८ ॥

धर्मादिक द्रव्य जिसमे देखे जाते हैं, उसको लोक कहते हैं। इस लोकको व्याप्त करके धर्म और अधर्म सर्वत्र व्यवस्थित रहे हैं। जहां यह लोक है, जिनेश्वर उसको लोकाकाश कहते हैं। तथा इस लोकसे रहित सर्वत्र जो अनत आकाश फैला है, उसे परमार्थतया अलोकाकाश कहते हैं ॥ ४९ ॥

असंख्येयविभागादिष्ववगाहक्रमादयम् । जीवानां तत्र जानन्ति यावल्लोकं विशारदाः ॥ ५०
यद्येवमप्यसंख्येया विभागा जगतो मताः । आश्रयाः सर्वजीवानां कथं तेषामनन्तता ॥ ५१
नैष दोषो यतो जीवा सूक्ष्मवादरभेदत । भवन्ति द्विविधाः सर्वे विविधाकारधारिणः ॥ ५२
सप्रतीघातदेहास्ते बादराः परितो मताः । सूक्ष्माश्च न तथा सूक्ष्मभावादेव भवन्त्यमी ॥ ५३
सूक्ष्मनिगोदजीवैकावगूढैकप्रदेशके । सूक्ष्माः साधारणानन्तास्तिष्ठन्त्यन्योन्यमिश्रिताः ॥ ५४
न ते बादरवर्गाणां[1] व्याहन्यन्ते परस्परम् । अतः श्रीगुरुपादानां न दोषस्तन्निवेदने ॥ ५५
जीवानां पुद्गलानां च गतिस्थित्युपकारकौ । धर्माधर्मौ तदाकाशमवगाहोपकारकम् ॥ ५६
जलवन्मत्स्यदेहस्य गच्छतो गतिकारणम् । धर्मद्रव्यं हि जीवस्य पुद्गलस्य न तिष्ठतः ॥ ५७
अधर्मद्रव्यमप्येवं तिष्ठत. स्थितिकारणम् । जीवपुद्गलयोर्नापि गच्छतोस्तत्कदाचन ॥ ५८

[जीव लोकाकाशके कितने असख्यातवे भागमे रहता है इस प्रश्नका निर्णय।] — लोकाकाशके असख्यात भाग करनेपर जो एक भाग, दो भाग, तीन भाग आदिक भागभी असख्यात प्रदेशोकेही होते है, क्योकि असख्यातको छोटे असख्यातसे भाजित करनेपर जो भागाकार आता है, वह असख्यातरूपकाही आता है। जीवका अवगाह लोकाकाशके एक दो तीन आदि असख्येय भागोमे होता है। तथा लोकपूरण समुद्घातके समय जीवका अवगाह सपूर्ण लोकमे होता है। एक जीवकी अपेक्षासे यह कथन किया। नाना जीवोकी अपेक्षासे तो सर्व लोक अवगाह है ॥ ५० ॥

यद्यपि लोकाकाशके असंख्येयविभाग माने गये है और वे जीवोके आश्रयभूत हैं, किन्तु जीव तो अनत है और आश्रय असख्येयरूप है। इसलिये द्रव्यप्रमाणसे अनन्तानन्त सशरीर जीव उनमे कैसे अवगाह पा सकेगे? आचार्य इस शकाका परिहार करते हैं—यह दोष नहीं है, क्योकि विविध आकार धारण करनेवाले जीव दो प्रकारके है अर्थात् सूक्ष्मजीव और बादरजीव। जिनका देह सप्रतिघात है, अर्थात् दूसरेसे जिनको बाधा पहुचती है वे सप्रतिघात-बादरदेह है। सूक्ष्मजीव सशरीर होनेपरभी उनमे सूक्ष्मता होनेसे एक निगोदजीव जितने आकाशके प्रदेशोमे रहता है उतनेमे साधारण शरीरवाले जीव अनन्तानन्त रहते है। परतु वे अन्योन्यसे बाधित नहीं होते है और बादरोसेभी बाधित नहीं होते है। इसलिये श्रीगुरुपादोका उनका वर्णन करनेमे कुछभी दोष नहीं है ॥ ५१—५५ ॥

[धर्म, अधर्म आकाशद्रव्योके उपकारोका वर्णन ।]— जीव और पुद्गलोके गतिमे उपकारक धर्मद्रव्य है। जीव और पुद्गलद्रव्यके स्थितिमे अधर्मद्रव्य उपकारक है और आकाशद्रव्य अवगाहमे उपकारक है। पानी जैसा चलनेवाले मत्स्यदेहके गतिमे कारण है उसी तरह धर्मद्रव्यभी गतिमे कारण है, परतु स्थिर जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्यकी, गतिकेलिये कारण नहीं है। अधर्मद्रव्यभी जो पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य स्थिर है उनकी स्थितिमे कारण है। परतु जो जीव और पुद्गल गतिमान् हो रहे है उनके स्थितिमे अधर्मद्रव्य कारण नहीं है ॥ ५६—५७—५८ ॥

---

१ आ. बादरवर्गेण

शरीरपञ्चकैर्वाचा मनसा च तथा पुनः । प्राणापानकजीवानां पुद्गलोपकृतिर्मता ॥ ५९
अथ कार्मणदेहस्य पुद्गलत्वमसङ्गतम् । अनाकारत्वतस्तस्य साकारत्वेन निर्णयात् ॥ ६०
तन्न युक्तं विपाकेन मूर्तिमत्त्वस्य साधनात् । विपाकः सर्वभावेषु मूर्तेष्वेव विलोक्यते ॥ ६१
उदकादिकसम्बन्धाद्व्रीह्यादेः परिपाकतः । तथा पुद्गलता सिद्धा तेषां कर्मण्यबाधिता ॥ ६२
स्वाद्वम्लकटुलावण्यस्रग्वनितादियोगतः । कण्टकाद्यस्त्रसंयोगात्तद्विपाकोऽपि दृश्यते ॥ ६३
तस्मात्तत्पच्यमानत्वात्कर्म पौद्गलिकं मतम् । अन्यद्रव्यस्य सम्बन्धे व्रीह्यादिवदनेकधा ॥ ६४
मनोवाक्पुद्गलत्वं च पूर्वमेव निवेदितम् । प्राणापानस्वरूपं तु किञ्चिदत्र निगद्यते ॥ ६५

[पुद्गलके उपकारका वर्णन ।]– औदारिकादिक पाच शरीर, वचन, मन, श्वास और उच्छ्वास इनकेद्वारा पुद्गल जीवके ऊपर उपकार करता है। यहां शिष्यने शका की है– कार्मण-देहको आप पुद्गल मानते है यह असंगत है। क्योकि वह अनाकार है– आकाररहित है, जो आकाररहित है उससे उपकार होना शक्य नही है। उपकारके लिये साकारत्वकी आवश्यकता है। आचार्य खुलासा करते है– यह आपका कहना योग्य नही है। कार्मणशरीरका विपाक होता है, उसका उदय होकर नया कर्म बध-जाना आदि फल मिलता है इससे वह मूर्तिमान् है ऐसा सिद्ध होता है। कार्मणशरीरका उदय मूर्तिमान् पदार्थके संबंधसे होता है और वह उसके सबधसे सुख-दुःखादि फल देता है। सर्व अवस्थामे जो कर्मविपाक होता है, वह मूर्तिक होनेसेही होता है। जैसे जलादिकका सबध होनेसे शालि आदिक धान्य पक जाता है वैसे विप कण्टकादिकोका सबध होनेसे कार्मणशरीर विपाकयुक्त होकर सुखदु.खरूप फल देता है। नये रागद्वेपादिक विकार उत्पन्न करता है, जिससे नये कर्म बध जाते हैं ॥ ५९–६१ ॥

जल, हवा आदिके सयोगसे व्रीहि आदिक धान्य परिपक्व होता है अर्थात् जलादिक मूर्तिक पदार्थोका सयोग होनेसे व्रीह्यादि बीज अकुररूप होकर उससे व्रीह्यादि फलनिष्पत्ति होती है। तद्वत् कार्मणशरीरमे अबाधित ऐसा पुद्गलपना सिद्ध होता है। मिष्ट, अम्ल, कडु, क्षार आदि पदार्थ पुष्पमाला, स्त्री आदिकोका सयोग होनेसे तथा कण्टक, शस्त्रादिकोका सयोग होनेसे कर्मकाभी सुख दु ख रूप फल देने रूप विपाक दिखता है। इसलिये कर्म अनाकार होनेसे पुद्गल नही, इत्या-दिक कहना अयुक्त है ॥ ६२–६४ ॥

मन और वचन ये पुद्गल है ऐसा पूर्वमेव कह चुके है। प्राण और अपानके स्वरूपके विषयमे यहाँ कुछ कहते है ॥ ६५ ॥

---

१ प्राणापानैश्च

क्षयोपशमतो ज्ञानावृतिवीर्यान्तराययोः । आत्मनोदस्यमानस्तु प्राण' कोष्ठ्यः समीरणः ॥ ६६
आत्मनाभ्यन्तरे यस्तु वाह्यो वायुर्विधीयते । निश्वासलक्षण. सोऽयमपान इति कथ्यते ॥ ६७
समानोदानसद्व्याना अभिन्नाः सन्ति वायवः । स्वरूपमनयोरेव तेषां समवतिष्ठते ॥ ६८
तेषामपि मनःप्राणापानादीना हि मूर्तता । सप्रतीघाततः सिद्धा हन्त हन्तुं न शक्यते ॥ ६९
सुरामूर्च्छादिभिस्तस्य मनसो भयहेतुभिः । दृश्यते सप्रतीघातस्तत. पौद्गलिक मन' ॥ ७०
सत्प्राणापानयोर्बाधाः श्लेष्महस्ततलादिभि. । व्याघातो दृश्यते तस्मान्मूर्तित्वमनयोर्ध्रुवम् ॥ ७१
अत एवात्मनः सिद्धिस्तत्कर्मापेक्षया मता । यथा यन्त्रमये रूपे चेष्टा पुरुषहेतुका ॥ ७२
आभिमानिकसत्सौख्यं जीवितं मरणं तथा । दुःखं वा जीवतत्त्वस्य पुद्गलेभ्यः प्रजायते ॥ ७३

[प्राणापानका स्वरूप ।] — ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे तथा अंगोपाग नामके उदयकी अपेक्षासे आत्माके द्वारा वाहर जो निकाला जाता है ऐसे कोठेके वायुको प्राण कहते है। इसका दूसरा नाम उच्छ्वास है। बाहरका वायु आत्माके द्वारा अभ्यन्तरमे ग्रहण किया जाता है उसको अपान कहते है, इसको निश्वासभी कहते है । समान, उदान, व्यान आदि जो वायु है, वे प्राण और अपानसे अभिन्न है अर्थात् समानादिकभी वायुही है । प्राण और अपानका जो स्वरूप है वही स्वरूप समानादिकोकाभी है । स्थानभेदसे एकही वायु भिन्न भिन्न नामधारक है ॥ ६६–६८ ॥

मन, प्राण और अपानादिकभी मूर्तिक है क्योंकि ये प्रतिघातसहित है। इनकी मूर्तिकता अबाधित है । स्पष्टीकरण—भयके कारण वज्रपात इत्यादिकसे मनको आघात पहुंचता है। मद्यपानादिकसे मनका अभिभव होता है । वह विचारशून्य बनता है । इसलिये मन पौद्गलिक है। हाथसे मुख दबानेसे उच्छ्वासनिश्वासका घात होता है । जब श्लेष्मा बढता है तब उच्छ्वास नि.श्वासमे बाधा आती है । प्राणापानादिकके सद्भावसे क्रियावान् आत्माकी सिद्धि होती है । जैसे यत्रमय प्रतिमाकी-कठपुतलीकी जो चेष्टा होती है वह किसी नचानेवाले पुरुषसे होती है । विना उसके वह यत्रप्रतिमा चेष्टा नहीं करती । वैसे प्राणापानादिककी क्रियाकी अपेक्षासे आत्माकी सिद्धि होती है ॥ ६९–७२ ॥

[पुद्गलके और भी उपकार ।]—अन्तरग कारण सद्वेदनीय कर्मका उदय होनेपर तथा [illegible] पुष्पमालादिक बाह्य कारण प्राप्त होनेपर जीवके अन्त करणमे जो प्रसन्नता–प्रीति उत्पन्न होती है, उसे सुख कहते है । इस प्रीतिसे मै सुखी हू ऐसा अभिमान जीवमे उत्पन्न होता है । भवधारणका कारण आयुकर्म है । उसके उदयसे जीवको भवस्थिति प्राप्त होती है । और प्राण अपानका सद्भाव रहता है इसकोही जीवित कहते है । भवधारणका कारणरूप आयुकर्म जब अनुभव देकर समाप्त होता है तब प्राणअपानका सद्भाव नहीं रहता है अर्थात् जीवनक्रियाका उच्छेद होता है । इसको मरण कहते है । अन्तरग कारण असद्वेद्यका उदय और बाह्यकारण विष, कण्टक, शत्रु आदिक

जीवस्याजीवद्रव्याणामुपकारो निवेदितः । जीवे जीवोपकारस्तु कीदृशोऽसौ निगद्यते ॥ ७४
परस्परोपकारस्तु जीवानामुदितो जिनैः । स्वामी भृत्यस्तथाचार्यः शिष्य इत्येवमादिकः ॥ ७५
अजीवद्रव्यनिर्देशोऽप्युद्देशेन निवेदितः । अन्यैरन्यत्र सिद्धान्ते ज्ञातव्यः सूत्रवेदिभिः ॥ ७६
इदानीमास्रवं किञ्चित्स्वरूपादवबुध्यते । समासाद्वच्मि भव्यानामुपकाराय चात्मनः ॥ ७७
यस्तु वीर्यान्तरायस्य क्षयोपशमतो भवेत् । कायवाङ्मानसापेक्षो व्यापारो ह्यात्मनश्च सः ॥ ७८
आस्रवोऽभाणि सूत्रज्ञैः कर्मास्रवनिमित्ततः । यथा सरसि तोयस्यास्रवणद्वारमात्मनः ॥ ७९
शुभाशुभभवाद्भेदात्कर्म द्वेधा व्यवस्थितम् । शुभः शुभस्य विज्ञेयोऽशुभस्याशुभ एव सः ॥ ८०

प्राप्त होनेपर जो अप्रीतिरूप परिणाम उत्पन्न होता है उसे दु.ख कहते है। ये अजीव द्रव्यके जीवपर उपकार बतलाये है । अब जीवके ऊपर जीवका उपकार कैसा होता है ? इसका उत्तर दिया जाता है ॥ ७३ ॥

[जीवके ऊपर जीवका उपकार ।] – जिनेश्वरोने जीवोका अन्योन्य उपकार कहा है । वह उपकार स्वामी और नोकरसबधी आचार्य और शिष्यसबधी इत्यादि अनेक रूपका होता है । मालिक नोकरको धन देकर उपकार करता है । नोकरभी हितकार्य करना, अहितकार्यसे मालिकको दूर रखना इत्यादि रूपसे मालिकपर उपकार करता है । आचार्य इहलोकमे और परलोकमे सदाचार दुराचारसे भला बुरा फल मिलता है ऐसा उपदेश देकर शिष्यके ऊपर उपकार करते है, तथा शिष्यभी उनके अनुकूल चलते है यह शिष्योका आचार्यके ऊपर उपकार है ॥ ७४–७५ ॥

हमने यहा अजीव द्रव्यका नाममात्र कथन किया है अन्य सूत्रज्ञ विद्वानोको अन्य-सिद्धान्त ग्रथोसे इसका स्वरूप जानना योग्य है ॥ ७६ ॥

[आस्रवतत्त्वकथनकी प्रतिज्ञा ।] – अब आस्रवतत्त्वका कुछ स्वरूप, जो कि मै जानता हू, सक्षेपसे भव्योके उपकारके लिये और मेरे उपकारके लिये कहता हू ॥ ७७ ॥

[आस्रवका लक्षण ।] – वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे शरीर, वचन और मनकी अपेक्षा लेकर जो आत्माकी चेष्टा होती है, उसे सूत्रके ज्ञाताओने कर्मास्रवोका निमित्त होनेसे आस्रव कहा है । जैसे सरोवरमे पानी आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं, वैसे आत्मामे कर्मागमनके कारण ऐसी जो मन वचन कायकी प्रवृत्ति उसे आस्रव कहते है ॥ ७८–७९ ॥

स्पष्टीकरण–वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेसे औदारिकादि सात प्रकारकी वर्गणा-ओमेसे किसी एक वर्गणाके साहाय्यसे जो आत्मप्रदेशमे चचलता उत्पन्न होती है उसे काययोग कहते है ।

वचनयोग–शरीरनामकर्मके उदयसे आई हुई वचनवर्गणाओका आलबन प्राप्त होने-पर वीर्यान्तराय तथा मत्यक्षरावावरण कर्मके क्षयोपशमसे आत्मामे बोलनेकी लब्धि-शक्ति प्राप्त होती है, जिससे आत्मा जब बोलनेकी चेष्टा करता है तब उसके प्रदेशोमे चचलता उत्पन्न होती है, उसे वचनयोग कहते है ।

प्राणातिपातनादत्तादानमैथुनसेवनात् । अशुभः काययोगोऽयं कथितो मुनिपुङ्गवै. ॥ ८१
असत्याद्यशुभोऽभाणि वाग्योगो गतिनायकैः । अशुभस्तु मनोयोगो वधेर्ष्याचिन्तनादित.[1] ॥ ८२
तस्मादन्यस्त्रिधाप्येष शुभोऽवाचि विचक्षणैः । आत्मनस्तु तथाभूतस्वभावैर्विनिर्वर्तते[2] ॥ ८३
संसारहेतुः[3] कोपादिः सकषायस्य सूरिभिः । इतरश्चाकषायस्य[4] कषायस्तेन वर्ज्यते ॥ ८४

मनोयोग—अभ्यन्तर वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेसे तथा नो इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे मनोलब्धि प्राप्त होती है, और बाह्य कारणरूप मनोवर्गणाका आगमनभी होता है। तब मनकी परणतिके सम्मुख हुए आत्माके प्रदेशोमे चचलता होती है, उसे मनोयोग कहते है।

[शुभयोग और अशुभयोग ।] – शुभपरिणामोसे उत्पन्न होनेवाली मन, वचन और शरीरकी चेष्टासे आत्मामे शुभ कर्मका आगमन होता है और अशुभपरिणामोसे उत्पन्न होनेवाली मन, वचन और शरीरकी चेष्टासे अशुभ कर्मका आगमन होता है। इस प्रकारसे कर्मके शुभकर्म और अशुभकर्म ऐसे दो भेद होते हैं। शुभयोग शुभास्रवका—पुण्यास्रवका कारण है, और अशुभयोग अशुभास्रवका—पापका कारण है ऐसा समझना चाहिये ॥ ८० ॥

प्राणिहिंसा करना, नहीं दी हुई वस्तु ग्रहण करना, मैथुनसेवन करना ऐसे अकार्यको मुनिश्रेष्ठ अशुभकाययोग कहते हैं। असत्य भाषण करना, निन्दा करना, द्वेषवचन बोलना यह अशुभ वचनयोग है, ऐसा पचमगतिके नायक जिनेश्वर कहते हैं। किसीके वधका विचार करना, इर्ष्या करना, परगुणोको सहन न करना इत्यादिसे अशुभ मनोयोग होता है, और इन अशुभ मन वचन काययोगोसे उलटे स्वरूपको धारण करनेवाले शुभ मन वचन और शुभकाययोग ऐसे तीन शुभयोग है। परोपकार करना, देवपूजा करना इत्यादि शुभ काययोग हैं। सत्यभाषण करना, धर्मोपदेश देना शुभ वचनयोग है और किसीको जिलानेका विचार करना, गुणोका मनसे आदर करना आदि शुभ मनोयोग है, ऐसा चतुर पुरुष कहते हैं। ये शुभयोग वैसे शुभ परिणामोसे उत्पन्न होते है ॥ ८१–८३ ॥

[आस्रवके भेद ।] – क्रोध, मान, माया और लोभसे उत्पन्न हुए आस्रवको—कर्मागमनको सापरायिक आस्रव कहते हैं। सापरायका अर्थ ससार है। ससार जिसका प्रयोजन है, ऐसे आस्रवको सापरायिक आस्रव कहते हैं। यह आस्रव कषायवाले जीवको होता है और ईर्यापथ-आस्रव अकषाय जीव—कषायरहित जीवको होता है। इसलिये आचार्य कषायोका त्याग करते हैं जिससे सापराय आस्रव उनको होते नहीं ॥ ८४ ॥

---

१ आ. चिन्तया मतः २ आ. अभिवर्तिन ३ आ. संसारहेतुक्रोधादि ४ आ. [illegible]

स चतुर्धा मतः क्रोधलोभमायादिमानतः[1] । कषाय इव जीवानां कर्मरागैकहेतुकः ॥ ८५
संज्वलनस्तथान्यश्च प्रत्याख्यानः स इष्यते । अप्रत्याख्यान इत्येवं तथानन्तानुबन्धिकः ॥ ८६
प्रत्येकमिति चत्वारो भेदाः क्रोधादिना मताः । सर्वे सम्मिलिताः सन्ति षोडशैतेऽतिदुर्धराः ॥ ८७
संज्वलनोऽथ क्षणध्वंसी[2] विलास[3] इव विद्युताम् । यः प्रत्याख्यायते कालात्स प्रत्याख्यान ईरितः ॥ ८८
कियत्कालेन यो याति विनाशं स्वत एव हि । अप्रत्याख्याननामानं तमाहुर्गणनायकाः ॥ ८९
अनन्तसंसृतेर्हेतोः कर्मबन्धैकहेतुकः । यश्चानन्तानुबन्ध्याख्यः[4] कषायः स निगद्यते ॥ ९०
कषायास्रव इत्थं यश्चतुर्धा गदितो जिनैः । वर्जयन्ति त्रिधाप्येनं भव्याः संसारभीरवः ॥ ९१

स्पष्टीकरण — सांपरायिक आस्रव कषायसहित जीवोंके होते हैं और वे दसवे गुणस्थान-तकके जीवोंको होते हैं। ग्यारहवे गुणस्थानमे कषायोंका उपशम होता है तथा बारहवे आदिक गुणस्थानोंमे जीवोंके कषाय पूर्ण नष्ट हुए हैं; अतः उन गुणस्थानवर्ती जीवोंको ईर्यापथ आस्रव होते हैं। ईर्याशब्दका अर्थ योग होता है, और पथ शब्दका अर्थ मार्ग-द्वार ऐसा होता है। अर्थात् केवल योगके द्वारा कर्मागमन जिससे होता है ऐसे आस्रवको ईर्यापथास्रव कहना चाहिये। ईर्यापथास्रव संसार-परिभ्रमणका कारण नहीं है, क्योंकि उससे जो कर्म आता है वह प्रकृतिबंधसे और प्रदेशबंधसे युक्त होता है। तथा सांपरायिकास्रव स्थितिबंध और अनुभागबंधको उत्पन्न करनेवाला होता है।

[कषायकी निरुक्ति भेद और स्वरूप।] — वह कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे भेदसे चार प्रकारका है। जैसे कषाय—अर्थात् वटवृक्षकी छाल, हर्रे और बेहडाके कषाय रससे धोये वस्त्रपर रंग जम जाता है, वैसे ये क्रोधादि कषाय कर्मरूपी रंगको जमानेमे कारण होते हैं। अतः क्रोधादिकोंका कषाय यह नाम अन्वर्थक है। कषायोंके संज्वलन, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान और अनंतानुबंधी ऐसे चार भेद हैं और प्रत्येकके क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार चार भेद हैं। मिलकर सर्व भेद सोलह होते हैं। ये भेद अतिशय दुर्धर हैं, क्योंकि इनसे आत्मा अलग होना महाकठिन कार्य है ॥ ८५–८७ ॥

सञ्ज्वलन कषाय जल्दी नष्ट होता है जैसे विद्युत्का प्रकाश क्षणके अनंतर नष्ट होता है। सं—सम्यक् शीघ्र ज्वलन-जलनेवाला—नष्ट होनेवाला ऐसी संज्वलन शब्दकी निरुक्ति है। प्रत्याख्यान-जो कषाय कालसे त्यागा जाता है उसे प्रत्याख्यान कषाय कहते हैं। कुछ परिमित कालसे जो स्वयं नष्ट होता है उसे गणनायक—गणधर अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं। अनंत संसारका जो हेतु है तथा जो कर्मबंधका मिथ्यात्वके समान मुख्य हेतु है ऐसे कषायको अनंतानुबंधी कहते हैं। इस प्रकारसे जो कषायास्रव चार प्रकारका जिनेन्द्रोंने कहा है, संसारसे डरनेवाले भव्य जीव उसे मन वचन और शरीरसेभी छोडते हैं ॥ ८८–९१ ॥

१ आ. मायाभिमानतः २ आ. सञ्ज्वलनः क्षणध्वंसी ३ आ. विस्फार ४ आ. यस्त्वनन्तानु

पञ्चेन्द्रियवशात्कर्म यदास्रवति दुर्धरम्[1]। स चेन्द्रियास्रवोऽभाणि पञ्चधा परमेश्वरैः ॥ ९२
क्रियास्रवस्तु विज्ञेयः पञ्चविंशतिसख्यकः। जिनागमपयोऽम्भोधिपारगै. कथितो बुधै. ॥ ९३
चैत्यानां सुगुरूणा च सिद्धान्तस्यापि शक्तितः। पूजादिलक्षणाभाणि क्रिया सम्यक्त्ववर्धिनी ॥९४
कुलिङ्गदेवपाखण्डचारित्रस्तवनादिका। या क्रिया क्रियते विद्धिर्मता मिथ्यात्ववर्धिनी ॥ ९५
शुभाशुभनिमित्तैकगतप्रत्यागतक्रिया। प्रायोगिकी मता प्राज्ञैः प्रगताशेषकल्मषैः ॥ ९६
संयतस्य सतो यच्चाविरतिं प्रतिवर्तना। आभिमुख्येन सावादि समादानक्रिया बुधै. ॥ ९७
ईर्यापथविशुद्ध्यर्थं प्रवृत्तिर्या विधीयते। तामीर्यापथिकामाहुः क्रियां शश्वत्क्रियाविदः ॥ ९८
क्रोधावेशात्प्रवृत्तिर्या यत्र तत्राविचारतः। प्रादोषिकी क्रियां दक्षाः कथयन्त्यतिदु.खदाम् ॥ ९९

[इन्द्रियास्रवके भेद।] – पाच इन्द्रियोके विपयोमे लुब्ध होनेसे दुर्धर कर्म जीवमे आता है उसे इन्द्रियास्रव कहते है इसके जिनेश्वरने पाच भेद कहे है। स्पर्शनेन्द्रियके वश होकर जो कर्मास्रव होता है उसे स्पर्शनेन्द्रियास्रव कहते है। इसी तरह रसनेन्द्रियास्रव, घ्राणेन्द्रियास्रव, चक्षुरिन्द्रियास्रव और श्रोत्रेन्द्रियास्रव ऐसे इन्द्रियास्रवके पाच भेद है ॥ ९२ ॥

[क्रियास्रवके पच्चीस भेद।] – जिनागमरूप समुद्रके दूसरे किनारेको पहुचे हुए विद्वानोने क्रियास्रवके पच्चीस भेद कहे है ॥ ९३ ॥

[सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया।] – जिनप्रतिमा, निर्ग्रन्थगुरु और जिनागमकी यथाशक्ति पूजा, आदर, भक्ति, विनय आदि करना सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया कही गई है ॥ ९४ ॥

[मिथ्यात्ववर्द्धिनी।] – मिथ्यात्वी साधु, हरिहरादिक मिथ्यादेव और पाखण्डियोके चारित्रकी जो स्तुति–प्रशसा आदि की जाती है उसे विद्वान् मिथ्यात्ववर्धिनी क्रिया कहते है ॥ ९५ ॥

[प्रायोगिकी क्रिया।] – शुभ और अशुभ कार्योके निमित्त जो शरीरादिसे और वाहनोसे जाना आना आदि क्रिया की जाती है उसे जिनका समस्त पाप नष्ट हुआ है ऐसे विद्वानोने प्रायोगिकी क्रिया कहा है ॥ ९६ ॥

[समादान क्रिया।] – सयत अर्थात् मुनिका मुख्यतासे अविरतिके प्रति झुक जाना समादान क्रिया है ऐसा विद्वानोने कहा है ॥ ९७ ॥

[ईर्यापथिका क्रिया।] – ईर्यापथकी विशुद्धताके लिये जो क्रिया की जाती है, उसे नित्यक्रियाके स्वरूपके ज्ञाता–ईर्यापथक्रिया कहते है। अर्थात् सूर्योदय होनेपर चार हाथ जमीन देखकर सावधानतासे गमन करना ईर्यापथ क्रिया है ॥ ९८ ॥

[प्रादोपिकी क्रिया] – क्रोधके आवेशसे किसीभी कार्यमे विचार किये विना जो प्रवृत्ति होती है उसे चतुर लोग अतिशय दु.ख देनेवाली प्रादोषिकी क्रिया कहते है ॥ ९९ ॥

---

१ आ. दुर्धरः

प्रदुष्टस्य सतः कश्चिदत्युद्यमविधिर्महान्[1] । यत्र विज्ञायते निन्द्या क्रिया कायभवा हि सा ॥ १००
हिंसोपकरणादानकारिणी भवधारिणीम् । क्रियामाहुः क्रियावन्तस्तामाधिकरणीमिह ॥ १०१
यस्यां हि क्रियमाणायां दु:खोत्पत्तिः प्रजायते । जीवानां मुनिभिर्गीता सा क्रिया पारितापिकी ॥१०२
प्रमत्तयोगतः सर्वप्राणानां व्यपरोपणम् । यथा विधीयते सेयं क्रिया प्राणातिपातिकी ॥ १०३
रामारम्यैकरूपादिविलोकनपरा मतिः । यत्र तामिह गायन्ति प्रदुष्टां दर्शनक्रियाम् ॥ १०४
प्रमादैकवशाद्यस्याः स्पर्शनीयस्य वस्तुनः । स्पर्शे चिन्तानुबन्धः स्यात्सा हि संस्पर्शनक्रिया ॥ १०५
आधारादेरपूर्वस्योत्पादात्प्रात्ययिकी मता । क्रिया क्रियावतां मान्यैर्मुनिभिर्मलवर्जितैः ॥ १०६
स्त्रीपुरुषादिसम्पातिदेशे मलविसर्जनम् । क्रियते सा क्रियाभाणि समन्तादनुपातिनी ॥ १०७
अमृष्टादृष्टभूमौ यत्कायादीनां निवेशनम् । विधीयते क्रिया सैषा प्रोक्तानाभोगिता जिनैः ॥ १०८

[कायिकी क्रिया] – किसी कार्यमे लोभादिके वश होकर शरीरसे महान् उद्यम करना वह निन्द्य कायिकी क्रिया समझनी चाहिये ॥ १०० ॥

[आधिकरणिकी क्रिया] – हिंसाके उपकरणभूत शस्त्रादिग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया है। यह क्रिया ससारको धारण करनेवाली है ऐसा क्रियावान्‌चारित्र पालनेवाले मुनिराज कहते है ॥ १०१ ॥

[पारितापिकी क्रिया] – जो क्रिया करनेसे जीवोको दु:ख उत्पन्न होता है उस क्रियाको मुनियोने पारितापिकी क्रिया कहा है ॥ १०२ ॥

[प्राणातिपातिकी क्रिया] – आयु, इन्द्रिय, बल और प्राण- श्वासोच्छ्वास ऐसे प्राणोका वियोग करनेका यह कार्य जिससे होता है वह प्राणातिपातिकी क्रिया कहते हैं ॥ १०३ ॥

[दर्शनक्रिया] – जिस क्रियामे स्त्रियोका रमणीयरूप उनके सुंदर अग, हावभाव देखनेमें बुद्धि तत्पर हो जाती है ऐसी दुष्ट क्रियाको मुनि दर्शनक्रिया कहते है ॥ १०४ ॥

[स्पर्शनक्रिया] -- रागभावसे युक्त होकर और प्रमादी बनकर स्पर्शयोग्य वस्तुको स्पर्श करनेका सतत मनमे चिन्तन होना स्पर्शनक्रिया है ॥ १०५ ॥

[प्रात्ययिकी क्रिया ।] – अपूर्व ऐसे अधिकरण--पदार्थ उत्पन्न करना वह प्रात्ययिकी क्रिया है ऐसा दोषरहित मान्य मुनि कहते हैं ॥ १०६ ॥

[समन्तानुपातिनी क्रिया ।] – जहा स्त्रीपुरुष आते जाते है ऐसे स्थानमे मलविसर्जन करना ऐसी क्रियाका नाम समन्तानुपातिनी है ॥ १०७ ॥

[अनाभोगक्रिया ।] -- जो जमीन झाडकर स्वच्छ नहीं की है, तथा जो आखोसे सम्यक् नहीं देखी है ऐसी भूमिपर शरीरसे बैठना, सोना, हाथ पॉव फैलाना वह अनाभोगिता क्रिया हैं ॥ १०८ ॥

---

१ आ. अभ्युद्यमः

परेणाङ्गीकृतां तावदङ्गीकृत्य करोति यः । क्रियां तामिह भाषन्ते स्वहस्तविनिवर्तिताम्[1] ॥ १०९
पापादानप्रवृत्तेर्यद् भ्यनुज्ञा विधीयते । निसर्गाख्यां क्रियामाहुर्मुनयोऽनयनिर्गता: ॥ ११०
परेण विहितछन्नसावद्यादिप्रकाशनम् । विदारणक्रिया दुष्टा कुर्वतां तत्प्रजायते ॥ १११
आज्ञाव्यापादिकीमाहुः क्रियां सच्चरणादिषु[2] । स्वयं कर्तुमशक्तो यो योजनं कुरुतेऽन्यथा ॥ ११२
शाठ्यालस्यवशे जीवे ह्यागमोद्दिष्टसद्विधेः । कर्तव्योऽनादरः सैषानादरादिक्रियाधमा ॥ ११३
छेदभेदादिदुःकर्मपरत्वं परतोऽपि वा । प्रारम्भे तस्य यो हर्षः सा प्रारम्भक्रिया मता ॥ ११४
परिग्रहाविनाशार्था सा पारिग्राहिकी क्रिया । ज्ञानदर्शनचारित्रनिन्दां[3] मायाक्रियां विदुः ॥ ११५
मिथ्यादर्शनविज्ञानक्रियाकरणकारणे तदाविष्टे प्रशंसा या सा मिथ्यादर्शनक्रिया ॥ ११६

[स्वहस्तक्रिया ।] – दूसरे जिस क्रियाको करते हैं ऐसी क्रियाका स्वय आचरण करना उसको विद्वान् स्वहस्तविनिवर्तन क्रिया कहते है ॥ १०९ ॥

[निसर्गक्रिया ।] -- जिससे पापका आगमन होता है, ऐसी क्रिया करनेके लिये सम्मति देना उसे मुनि, जोकि कुनयसे दूर हुए हैं, वे निसर्गक्रिया कहते हैं ॥ ११० ॥

[विदारणक्रिया ।] -- दूसरे स्त्रीपुरुषोने जो कुछ गुप्त पापादि किये होगे उनको प्रकाशित करना विदारण क्रिया है । उसे प्रकाशित करनेवालोसे यह क्रिया होती है ॥ १११ ॥

[आज्ञाव्यापादिकी क्रिया ।] – जमीनपर बैठना, चलना इत्यादि कार्योंके विषयमे जो आगमाज्ञा है, उसके अनुसार स्वय चलनेमे असमर्थ है और दूसरोको जो आगमाज्ञाविरुद्ध चलनादि क्रियाओमें प्रवृत्त करता हैं उसकी वह प्रवृत्ति आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है ॥ ११२ ॥

[अनादर क्रिया ।] – जो जीव सदा आलसी है, वह आगममे कही गई शुभक्रियाओके कर्तव्यमे अनादर करता है । उसकी यह अधम अनादर क्रिया है ॥ ११३ ॥

[प्रारम्भक्रिया ।] – छेदनभेदनादि दुष्कर्म करनेमे स्वय तत्पर रहना और दूसरे यदि ऐसी क्रिया करते है तो उसमे हर्ष मानना वह प्रारभ क्रिया मानी गई है ॥ ११४ ॥

[पारिग्राहिकीक्रिया और मायाक्रिया ।] – अपने परिग्रहोका नाश न होवे एतदर्थ जो संरक्षणादिमे तत्पर रहना वह पारिग्राहिकी क्रिया है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रकी निन्दा करना मायाक्रिया है ॥ ११५ ॥

[मिथ्यादर्शन क्रिया ।] – मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रमें स्वय तत्पर होना और दूसरोको तत्पर कराना, जो इनमे प्रविष्ट है उसकी प्रशसा करना यह मिथ्यादर्शन क्रिया है ॥ ११६ ॥

१ विनिवर्तितम् २ आ. तच्चरणादिकम् ३ आ निन्दा

उदयात्कर्मणो निन्द्यात्संयमस्य विघातिनः । या निवृत्तिर्भवत्यस्य सा प्रत्याख्यानकी[1] क्रिया ॥ ११७
पञ्चविंशतिसङ्ख्याकः क्रियास्रव इहेरितः । कर्मास्रवत्यनेनेति व्युत्पत्तेः पूर्वसूरिभिः ॥ ११८
आस्रवस्य विशेषोऽपि प्राणिना जायते महान् । भावैस्तीव्रैस्तथा मन्दैस्तद्विशेषैरनेकधा[2] ॥ ११९
ज्ञाताज्ञातैस्तथा वीर्यभावादिभिरयं पुनः । आस्रवस्य विशेषोऽस्ति तारतम्यविशेषतः[3] ॥ १२०
बाह्याभ्यन्तरहेतुभ्यस्तत्कालुष्यमिवाम्भसि । आत्मन्युद्रेकबाहुल्यं तीव्रो भावो निगद्यते ॥ १२१
विपरीतो मतो मन्दो मन्दधर्मास्रवोऽपि[4] सः । तद्विशेषस्तु विज्ञेयस्तारतम्येन तत्परः ॥ १२२
अयं प्राणी निहन्तव्य इति ज्ञात्वा प्रवर्तनम् । ज्ञातभावोऽत्र जीवानां महास्रवनिबन्धनम्[5] ॥ १२३
यत्प्रमादवशाज्जीवो[6] दुष्टाचारेषु वर्तते[7] । अविज्ञातेषु सर्वेषु तमज्ञातं जगुर्बुधाः ॥ १२४

[प्रत्याख्यान क्रिया ।] – संयमका घात करनेवाले निंद्य अशुभ कर्मका उदय आनेसे संयमसे मुनिका निवृत्त होना प्रत्याख्यान क्रिया है ॥ ११७ ॥

जिसकी संख्या पचीस है ऐसा क्रियास्रव मैंने यहां कहा है । ' इन क्रियाओंसे कर्मका आस्रव होता है, इसलिये इनको क्रियास्रव कहते हैं ' ऐसी पूर्वाचार्योंने क्रियास्रव शब्दकी व्युत्पत्ति की है ॥ ११८ ॥

[आस्रवविशेषका वर्णन ।] – तीव्रभाव, मंदभाव और उसके विशेष तीव्रतर, तीव्रतम, मंदतर, मंदतम आदि भावोंसे महान् आस्रवविशेष होता है । वैसे ज्ञातभाव, अज्ञातभाव तथा वीर्य इत्यादि भावोंसे पुनः तारतम्यादि प्रकारोंसे आस्रवोंमें विशेषता उत्पन्न होती है ॥ ११९--१२० ॥

[तीव्रभाव तथा मंदभावका लक्षण] – बाह्यकारणोंसे और अन्तरंगकारणोंसे जो आत्मामें अर्थात् आत्माके परिणामोंमें उत्कटता होती है, जो उद्रेककी अतिशयता उत्पन्न होती है, उसे तीव्रभाव कहते हैं । जैसे पानीमें कलुषता उत्पन्न होती है । तथा इससे विपरीत ऐसी जो आत्मामें परिणति होती है उसे मन्द कहते हैं । इस मंदपरिणामसे मंद आस्रव आता है । इस तीव्रभाव और मंदभावके जो विशेष प्रकार उत्पन्न होते हैं वे तारतम्यसे मंदभाव और तीव्रभावके समझने चाहिये ॥ १२१–१२२ ॥

[ज्ञातभाव और अज्ञातभाव ।] – यह प्राणी मारना चाहिये ऐसा समझकर प्रवृत्ति करना ज्ञातभाव है और वह महास्रवका कारण है ॥ १२३ ॥

प्रमादके वश होकर असावधानता, आलस्य आदिसे जिनका स्वरूप नहीं मालूम है ऐसे दोषयुक्त सर्व आचरणोंमें जीवकी जो प्रवृत्ति होती है उसे विद्वान् लोग अज्ञातभाव कहते हैं ॥ १२४ ॥

१ आ. ख्यानिका २ आ. धारा ३ तारतम्यादेकशः ४ आ. कर्मा ५ आ. निबन्धन ६ आ जीवे ७ आ. वर्तनम्

भावरूपाधिकरणो[1] जीवाजीवाश्रयो मतः । वीर्यभावेस्वसामर्थ्य[2] द्रव्यस्य गदितं बुधैः ॥ १२५
तद्विशेषास्रवं किञ्चिन्निगदामि यथागमम् । यदि जानामि[3] जीवानां परिहारविशुद्धये ॥ १२६
कर्ममात्रास्रवाश्चैते ये सन्ति वहुधा पुनः । तद्विशेषाश्च विज्ञेयाः परमागमतो बुधैः ॥ १२७
तत्त्वज्ञानस्य सन्मोक्षसाधनस्य निवेदने । अन्तःपैशून्यमन्यस्य प्रदोष इह निश्चितः ॥ १२८
कुतश्चित्कारणान्नास्ति न जानामीति यः पुनः । विज्ञानस्यापलापोऽन्यं प्रत्यपह्नव इष्यते ॥ १२९
विभावितमपि ज्ञानं दानयोग्यमपि ध्रुवम् । पैशुन्याद्दीयते नैतत्तन्मात्सर्यमुदीरितम् ॥ १३०
पठने पाठने चापि ज्ञानविच्छेदकारिता । अन्तरायो मतो दुष्टो विशिष्टज्ञानशालिभिः ॥ १३१
कायेन वचसा वापि ज्ञानज्ञानवतोरिह । प्रकाशव्याहतौ प्रोक्तमासादनमनिन्दितैः ॥ १३२

[अधिकरण और वीर्य] – ऐसे भाव होनेमें जो आधारभूत वस्तु है वह जीवरूप और अजीवरूप है। उनको क्रमसे जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण कहते है। वस्तुका द्रव्यका जो स्वसामर्थ्य उसको बुद्धिमान् वीर्यभाव कहते है॥ १२५ ॥

जीवोंके वधके त्यागमे विशुद्धताप्राप्ति होनेके लिये इनके विशेष आस्रवोको मै जिनागमके अनुसार कहता हू॥ १२६ ॥

सपूर्ण कर्मोके जो नानाप्रकारके आस्रव हैं और उनके जो विशेष है वे विद्वानोके द्वारा परमागमसे जानने योग्य हैं॥ १२७ ॥

[ज्ञानदर्शनावरणोके आस्रव ।] – १ प्रदोष–साक्षात् मोक्षकी प्राप्तिमे साधनभूत ऐसे तत्त्वज्ञानका कोई पुरुष निवेदन कर रहा हो तो उसके विषयमे मनमे जो दुष्ट भाव उत्पन्न होना, उसकी प्रशंसा तो दूरही रही उलटा मनमे दुष्टभाव धारण करना ऐसे दुष्टभावको प्रदोष कहते है॥ १२८ ॥

२ निह्नव – कोई शास्त्रकी कुछ बाते जाननेके लिये पूछता है तो बतानेवाला पुरुष किसी कारणसे मुझमे वह ज्ञान नहीं है, मै नहीं जानता हू ऐसा कह कर ज्ञानको छिपाता है॥१२९

३ मात्सर्य – खूब परिश्रम करके जो ज्ञान प्राप्ति कर लिया है, तथा जो निश्चयसे दूसरोको देनेके योग्य है, ऐसाभी ज्ञान कुछ कारणोसे नहीं देना वह मात्सर्य है॥ १३० ॥

४ अन्तराय – विद्यार्थियोके पढनेमे तथा गुरुजीके पढानेमे ज्ञानका विच्छेद करना यह अन्तराय दोष है, ऐसा विशिष्ट ज्ञानवानोने माना है॥ १३१ ॥

५ आसादन – ज्ञान और ज्ञानी इनको प्रकाशमे लानेके कार्यमे मनसे वचनसे और शरीरसे व्याघात उत्पन्न करना आसादन है, ऐसा प्रशसनीय जनोने–गणधरादिकोने कहा है॥१३२॥

१ आ. भावस्त्वाधिकरण्योऽपि २ आ. श्च ३ आ. यदि जानामि

प्रशस्तस्यापि बोधस्य बाधाविरहितस्य च । दूषणं ह्युपघातोऽयं मतो मतिमतामिह ॥ १३३
प्रदोषादय इत्येवं ज्ञानावृतिनिबन्धनम् । दर्शनावरणस्यापि भवन्ति भविनामिह ॥ १३४
तुल्येऽप्यत्र प्रदोषादौ कारणे न विरुद्ध्यते । ज्ञानावृतिदृगावृत्योः कार्यत्वं हि प्रदीपवत् ॥ १३५
ज्ञानस्य विषयाः स्युर्वा ज्ञानावृतिनिबन्धनम् । यथा दृग्विषयाः सर्वे दृगावृतिनिबन्धनम् ॥ १३६
दुःखैकशोकसन्तापवधाक्रन्दनदेवनैः । स्वपरात्मोभयस्थैः स्यादसद्वेद्यं नृणामिह ॥ १३७

---

६ उपघात – जो ज्ञान प्रशसनीय है और बाधारहित निर्दोष है उसकाभी नाश करनेका विचार रखकर उसको दूषण लगाना उसे मतिमान् लोक उपघात कहते है ॥ १३३ ॥

ये प्रदोषादिक, जो कि संसारी प्राणियोको ज्ञानावरण कर्मके आस्रवमे कारण है, वेही दर्शनावरण कर्मके आस्रवमेभी कारण है ॥ १३४ ॥

ये प्रदोष निह्नवादि कारण समान होनेपरभी इनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रव-रूपी कार्य होना विरुद्ध नहीं है, क्योकि एक कारणसे अनेक कार्य सिद्ध होते है। जैसे एक प्रदी-पसे प्रकाश मिलता है, अंधकारका नाश होता है, भय दूर होता है। उसके साहाय्यसे अध्ययन किया जाता है। ऐसे अनेक कार्य एक प्रदीपरूप कारणसे होते है वैसे प्रदोषादिक अनेक--ज्ञान और दर्शनके आवरणोके आस्रवमे कारण होते है ॥ १३५ ॥

अथवा जब ये प्रदोषादिक ज्ञानके विषयमे होते है तब ज्ञानावरणके कारण होते है और जब दर्शन विषयके होते है तब दर्शनावरणके कारण होते है ऐसा समझना चाहिये ॥ १३६ ॥

[असद्वेद्य कर्मके आस्रवके कारण ।] – दु खशोक, सन्ताप, वध, आक्रन्दन और देवन अपनेमे, दूसरोमे और दोनोंमे करना मनुष्योको यहा असद्वेदनीयकर्मके आस्रवके कारण होते है।

१ दुःख–पीडारूप परिणामको दु ख कहते है।

२ शोक–जिसने अपने ऊपर उपकार किया था उस व्यक्तिका वियोग होनेपर जो व्याकुलता उत्पन्न होती है उसे शोक कहते है।

३ सताप–किसीने अपनी निंदा की, किसीने मानभग किया, किसीके कर्कश वचन सुने ऐसे कारणोसे चित्त कलुषित होनेसे जो पश्चात्ताप–खेद होता है उसे संताप कहते है।

४ आक्रदन–बहुत सतापसे अश्रुपात होना, प्रचुर विलाप होना इत्यादिकोसे रुदन करना आक्रदन है।

५ वध, आयुष्य, इन्द्रिय, वल और श्वासोच्छ्वासका वियोग करना वध है।

---

१ आ. निबन्धनाः २ आ. तथा

दानसंयमसच्छौचक्षान्तियोगानवक्रता । भूतव्रत्यनुकम्पा च सर्वे सद्वेद्यकारणम् ॥ १३८
केवलिश्रुतसङ्घाना देवे धर्मे तथा पुनः । जायतेऽवर्णवादेन कर्म दर्शनमोहकम् ॥ १३९
केवली कवलाहारं गृह्णात्येष तथा पुनः । नीहारं कुरुते पश्चाद्दोष. केवलिनो मतः ॥ १४०

---

६ परिदेवन–संक्लेशपरिणामोसे गुणस्मरण और गुणवर्णनपूर्वक अपने ऊपर और अन्योके ऊपर किया गया उपकार जिसका विषय है ऐसा दया उत्पन्न करनेवाला जो रोना उसे परिदेवन कहते है । अन्तरगमे क्रोधादि आवेशसे युक्त होकर यदि ऐसे दु.खोके प्रकार स्वपरोभयमे किये जाते हैं तो वे असद्वेद्य कर्मके आस्रवके निमित्त होते है । मुनि अथवा व्रतिक उपवासादिक शास्त्रविहित कर्म करते है परतु उनमे सक्लेश परिणाम नहीं है ससारदु खसे दूर होनेके लिये उनसे उपवासादिक किये जाते है, उनके करनेपर दु.ख होता है तोभी सक्लेशपरिणाम न होनेसे असद्वेद्य-कर्मास्रव उनके आत्मामें नहीं होते है। पापबंध नहीं होता है, प्रत्युत महान् पुण्यास्रव होते है ॥१३७॥

[सद्वेद्यकर्मास्रवके कारण ।]– दान, संयम, शौच, क्षान्ति, योग, अवक्रता, भूतानुकम्पा, और व्रत्यनुकम्पा ये सव सद्वेद्यकर्मके कारण हैं ।

दान–दूसरोपर तथा अपने परभी अनुग्रह करनेकी बुद्धिसे अपने धनका त्याग करना दान है ।

सयम–प्राणियोका रक्षण करनेकी प्रवृत्ति होना और इद्रियोको अशुभप्रवृत्तिसे रहित कर शुभ प्रवृत्तिमे लगाना ।

सच्छौच–लोभका त्याग करना ।

क्षान्ति–क्रोधादिकोका त्याग । क्रोध, मान और मायाओका त्याग ।

योग–शुभध्यान ।

अवक्रता–मनमे निष्कपट होना ।

भूतानुकम्पा–कर्मोदयसे उन उन गतियोमे उत्पन्न हुए प्राणियोको भूत कहते है । उन भूतोमे दया करना अर्थात् अनुग्रह करनेकी इच्छासे आर्द्रचित्त होकर दूसरोको होनेवाली पीडा मानो स्वतःको हो रही है ऐसी भावना होना दया है ।

व्रत्यनुकम्पा–अणुव्रत पालनेवाले गृहस्थ और महाव्रत धारण करनेवाले मुनिराज इनको व्रती कहते हैं। इनके ऊपर मन दयायुक्त होना ऐसी सर्व अच्छी प्रवृत्तिया जीवोको सद्वेद्यकर्मास्रवके लिये कारण होती है । इन कार्योंसे जीव आगेके भवमे देवगतिमे तथा मनुष्यगतिमे नानाविध सुखोको प्राप्त करता है ॥ १३८ ॥

[दर्शनमोहकर्मके आस्रवकारण ।] – केवली, श्रुत-जैनागम, सघ, इनमे दोष न होने परभी दोषारोपण करना केवल्यादिकोका अवर्णवाद है । देव, धर्म–अहिंसात्मक धर्म, जो कि जैनागमका कहा हुआ है इनके ऊपर दोषारोपण करनेसे दर्शन-मोहकर्मके आस्रव उत्पन्न होते है।

सामान्यसंयतस्येहावर्णवादेन दुर्गतिं । यान्ति केवलिनस्तेन क ते लोका न वेद्म्यहम् ॥ १४१
मांसचर्मोदकादीनामनवद्यनिरूपणम् । शास्त्रे जैनेऽपि शास्त्रस्यावर्णवादः सतां मतः ॥ १४२
नग्नाश्चण्डाश्च बीभत्साः सर्वथा शुचिवर्जिता । इत्याद्याभाषणं संघावर्णवादो विभाव्यते ॥ १४३
आसुरोऽयं मतो धर्मो जैनेन्द्रो निर्गुणस्तथा । इत्याद्याभाषणं धर्मावर्णवादोऽतिदुःसहः ॥ १४४
सुरामांसवधादीनामभावं निगदन्नयम् । तदेव तस्य वर्णस्यावर्णवादो निगद्यते ॥ १४५
य. कषायोदयात्तीव्रः परिणामः प्रजायते । चारित्रमोहनीयस्य स हेतुः कर्मणो मतः ॥ १४६
कषायोत्पादनं स्वस्य परस्य च तथा पुनः । क्लिष्टलिङ्गग्रहो वापि व्रतिनां व्रतदूषणम् ॥ १४७

केवली अवर्णवाद–जिनका ज्ञान आवरणरहित हुआ है, ऐसे सर्वज्ञ जिनेश्वर, सामान्य-केवली और गणधरकेवली ये कवलाहार करते हैं, तथा इनको नीहारभी है अर्थात् मलमूत्रभी है इनको रोग होता है, उपसर्ग होता है, वे नग्न होते हैं परन्तु वस्त्राभरणमंडित दीखते है इत्यादि ऐसे दोषोंका आरोपण करना केवली अवर्णवाद है सामान्य मुनिके विषयमेभी दोषारोपण करनेसे प्राणीको दुर्गतिकी प्राप्ति होती है फिर जो लोग केवलीके ऊपर उपर्युक्त झूठे आक्षेप करते है, उनको कौनसी दुर्गति प्राप्त होगी, मैं नहीं जानता ॥ १४१ ॥

श्रुतावर्णवाद–मांसभक्षण करना, चर्ममें रखा हुआ पानी पीना, मद्यपान करना, रात्रिभोजन करना, जलगालन नहीं करना, माता तथा बहिनके साथ संभोग करना, कंदमूलभक्षण करना आदि पापोंकोभी जैनशास्त्र विधेय बतलाता है ऐसा जैनशास्त्रपरभी आक्षेप करना यह श्रुतावर्णवाद है ।

संघावर्णवाद–रत्नत्रययुक्त मुनिसमूहको संघ कहते हैं उनके ऊपर इस प्रकारसे आक्षेप मिथ्यात्वी कहते है-ये जैनमुनि नग्न रहते हैं, अतिशय कोपी होते है और बीभत्स तथा अपवित्र रहते हैं कलिकालमें ये उत्पन्न हुए हैं ऐसा आक्षेप करना संघावर्णवाद है ॥ १४३ ॥

धर्मावर्णवाद – यह जैनधर्म असुरोंका है, और गुणरहित है इत्यादि आक्षेप करना यह धर्मावर्णवाद अतिशय दुःखकारक है ॥ १४४ ॥

देवावर्णवाद – देव मदिरापान करते हैं, मांस सेवन करते है यज्ञादिकमें आकर बली-ग्रहण करते हैं इत्यादि बातें देवोंका अवर्णवाद है। (श्रुतसागरी अध्याय छठा)

मदिरा, मांस, प्राणिवध आदिका अभाव कहनेवाला देव नहीं हो सकता ऐसा कहना यह देवदेवके ऊपर अवर्णवाद है ॥ १४५ ॥

[चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रव-कारण ।] -- कषायोंके उदयसे जो तीव्र परिणाम होता है, वह चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है ॥ १४६ ॥

अपनेमें तथा दूसरोंमें कषाय उत्पन्न करना, संक्लेशपरिणाम युक्त होकर मिथ्यासाधुका

---

१ आ. न देवो देवदेवस्य वर्णवादो निगद्यते

इत्याद्यनेकधाभाणि जिनागमविशारदैः । कषायवेदनीयस्य ह्यास्रवद्वारमायतम् ॥ १४८
समानधर्मिणो[1] हास्यं दीनानामतिहासता । बहुधा विप्रलापश्च सोपहासैकशीलता ॥ १४९
इत्याद्यनेकदुर्वृत्त कथितं पूर्वसूरिभि. हास्यैकवेदनीयस्य कारणं दु.खधारणम् ॥ १५०
क्रीडैकपरता नित्यं व्रतशीलारुचिस्तथा । रत्यादिवेदनीयस्य कारणं कथितं जिनैः ॥ १५१
परस्यारतिकारित्वं तत्पापिजनसङ्गमः । अरतेर्वेदनीयस्य कारणत्वेन निश्चितम् ॥ १५२
स्वशोकोत्पादनं तावत्परशोकाभिनन्दनम् । शोकादिवेदनीयस्य ह्यास्रवद्वारमीरितम् ॥ १५३
आत्मनो भयभीरुत्वं परस्य भयकारिता । भयादिवेदनीयस्याप्यास्रवः श्रमणैर्मत. ॥ १५४
कालकौशलमाश्रित्य क्रियाचारविदस्तु या । जुगुप्सा सा जुगुप्सादिवदनीयस्य कारणम् ॥ १५५
अलीकस्याभिधानादिपरत्वं वृद्धरागता । आस्रवोऽस्त्यादिवेदस्य कर्मण. कथितो जिनैः ॥१५६[2]

भेष धारण करना, व्रतियोके व्रतोमे दूषण लगाना, सक्लेश परिणाम उत्पन्न करनेवाला लिंगग्रहण करना इत्यादिक अनेक प्रकारसे कषायवेदनीयका दीर्घ आस्रवद्वार जिनागममे निपुण विद्वानोने कहा है ॥ १४७-१४८ ॥

साधर्मिकोकी हसी करना, दीनोका अतिशय उपहास करना, अनेकप्रकारोसे विरुद्ध भापण करना । हमेशा विनोद हसी करनेका स्वभाव होना, इत्यादिक अनेक दुर्वृत्त-दुराचारोमे प्रवृत्त होना ये हास्यवेदनीयके दु.ख देनेवाले कारण है ऐसा पूर्वाचार्योने कहा है॥ १४९-१५० ॥

रतिवेदनीयके कारण — हमेशा क्रीडा करनेमे तत्पर रहना, व्रत और शीलमे अरुचि उत्पन्न होना, ये रतिवेदनीय कर्मके आस्रवके दु:खदायक कारण है ॥ १५१ ॥

अरतिवेदनीयके कारण -- दूसरेमे अरति-अप्रेम उत्पन्न करना, पाप करनेवाले लोगोके साथ सहवास रखना, ये अरतिवेदनीयके निश्चित कारण है ॥ १५२ ॥

शोकवेदनीयके कारण -- अपनेमे शोक उत्पन्न करना, कोई शोकयुक्त हुआ है ऐसा देखकर आनदित होना ये शोकवेदनीयके आस्रवद्वार कहे है ॥ १५३ ॥

भयवेदनीयके कारण — स्वयं भययुक्त होना, दूसरोको भयभीत करना, ये भयवेदनीयके आस्रव है ऐसा मुनियोने कहा है ॥ १५४ ॥

जुगुप्सावेदनीयके कारण — काल और कुशलताका आश्रय लेकर जो कुशल आचारोका पालन कर रहे है, उनकी ग्लानि करना जुगुप्सावेदनीयके कारण है ॥ १५५ ॥

स्त्रीवेदके कारण -- अलीक-असत्य भापण करनेकी आदत होना, दूसरोको फसाना, दूसरोके दोप देखनेमे तत्पर रहना, तीव्र रागभाव उत्पन्न होना आदिक स्त्रीवेदके कारण हैं ऐसा जिनेश्वरने कहा है ॥ १५६ ॥

---

१ आ धर्मणो २ आ. स्त्रीवेद्यकर्मणो हेतुमास्रव

अनुत्सिक्तत्वं स्वल्पक्रुत्स्वदारपरितुष्टता । आस्रवोऽभाणि सर्वज्ञैः पुंवेद्यस्य तु कर्मणः ॥ १५७
प्रचुरैककषायत्वं परगुह्यप्रकाशनम् । इन्द्रियोद्रेकिता नित्यं परस्त्रीसेवने रतिः ॥ १५८
इत्येवमादिकं सर्वं आस्रवद्वारमायतम् । नपुंसकादिवेदस्य गृणन्ति गरिमान्विताः ॥ १५९
चारित्रमोहनीयस्य कर्मण' कथितो मया । आस्रवः साम्प्रतं तावदायुषो निगदामि तम् ॥ १६०
हिंसादिक्रूरकार्याणामजस्रं परिवर्तनम् । सर्वस्वहरणं निन्द्यविषयस्यातिगृद्धिता ॥ १६१
कृष्णलेश्याभिसंजातरौद्रध्यानैकतानता । नारकस्यायुषो हेतुर्मरणाद्बालबालतः ॥ १६२
प्रपञ्चबहुला वृत्तिर्मिथ्याधर्मोपदेशना । अप्रियस्यातिसंधानं नीलकापोतलेश्यता ॥ १६३
आर्तध्यानभवो मृत्युरित्यादिकमनेकधा । कथितं संयतैरेतत्तिर्यग्योनेस्य कारणम् ॥ १६४

पुंवेदवेदनीयके कारण – गर्व न धारण करना, अल्प क्रोध, स्वस्त्रीमे संतोप, ये पुंवेदकर्मके कारण है ऐसा जिनेश्वरोने कहा है ॥ १५७ ॥

नपुसकवेदनीयके कारण – प्रचुर कपाय होना, दूसरोके गुह्य प्रगट करना, इंद्रियोद्रेक धारण करना–अत्यत कामाकुल होना, हमेशा परस्त्री सेवनमे आसक्त होना इत्यादिक सर्व नपुंसकवेदके आस्रवके कारण है, ऐसा गरिमाको–माहात्म्यको धारण करनेवाले आचार्य कहते है ॥ १५८–१५९ ॥

यहातक मैने चारित्रमोहनीयके आस्रव कारण कहे है । अब आयुकर्मके आस्रव कारण मैं कहता हू ॥ १६० ॥

[नरकायुके आस्रवकारण] – हिंसादिक क्रूरकार्योमे सतत तत्पर रहना, लोगोका सपूर्ण धन, स्त्री आदिक अत्यत प्रिय वस्तुओका हरण करना, जो कि अत्यंत निंद्य कार्य माना है, पचेंद्रियोके स्त्री आदिक विपयोमे अत्यत अभिलापा–लंपटता रखना, कृष्णलेश्यासे उत्पन्न हुए रौद्रध्यानमे लवलीन होना, और बालमरणसे मरना । ये सब कारण नरकायुआस्रवके होते है । ऐसीही क्रिया निंद्य करना जिसमे प्राणियोको पीडा होती है और धनधान्यादि परिग्रहोमें अत्यासक्ति होना ये नरकायुके आस्रवके कारण है ॥ १६१–१६२ ॥

[तिर्यगायुके आस्रवके कारण ।] – अतिशय धोखा देनेवाला स्वभाव होना, मिथ्यात्व युक्त धर्मोपदेश देना, अप्रिय लोगोको फसाना, नीललेश्या और कापोतलेश्यायुक्त स्वभाव होना, आर्तध्यानसे मरण होना इत्यादिक तिर्यंचायुके कारण हैं, ऐसा सयतोने-जैन मुनियोने कहा है । चारित्रमोहकर्मके उदयसे जो आत्मामें कुटिलभाव–कपटभाव उत्पन्न होता है उसे माया कहते हैं । इस मायासे अतिशय धोखा देना आदि स्वभाव जीवमे उत्पन्न होते है । ऐसे परिणामोसे तिर्यंचायुका आस्रव जीवको होता है ॥ १६३–१६४ ॥

---

१ आ. मोहनीयानुत्सिक्तत्वम् २ आ देशिता ३ आ. प्रियत्वम्या ४ आ. तैर्यग्योनस्य सर्वज्ञैरायुषः कारणम्

नाम्नोऽशुभस्य विज्ञेयमित्येतत्कारणं पुनः । विपरीतं शुभस्याहुरागमाम्भोधिमध्यगाः[1] ।। १७०
सद्दर्शनविशुद्धिश्च विनीतत्वमनिन्दनम्[2] । व्रतेषु सर्वथा शीलेष्वतीचारविवर्जनम् ।। १७१
अभीक्ष्णज्ञानसंवेगौ शक्तितस्त्यागतापसी । तथा साधुसमाधिश्च वैयावृत्त्यं सुनिर्मलम् ।। १७२
अर्हदाचार्यसद्भक्तिर्भक्तिर्बहुश्रुते[3] तथा । जिनागममहाभक्तिः षडावश्यककारिता ।। १७३
मार्गप्रभावना जैनवचोवत्सलता परा । इति तीर्थकरत्वस्य कारणानि भवन्ति च ।। १७४
व्यस्तानि च समस्तानि चिन्त्यान्येतस्य कारणम् । तारतम्येन जायन्ते विहितानि महात्मनाम् ।।

ऐसा मिथ्या उपदेश देकर उसे मिथ्यामार्गमे लगाना विसंवादन है। मनकी अस्थिरता होनेसे श्रद्धानमे और चारित्रमे दृढता उत्पन्न नही होना, व्रतधारणकी प्रतिज्ञामे वारंवार परिवर्तन होना, प्रतिज्ञाको छोड वैठना इत्यादि कार्योसे अशुभनाम कर्मका आस्रव होता है। अशुभनाम कर्मके आस्रव जिनसे आते हैं ऐसे जो योगवक्रतादिक कारण है उनसे विपरीत अर्थात् शरीर, मन वचनोकी सरलता होना, दुसरोको जो मिथ्यामार्गमे लगे हुए है उन्हे सन्मार्गमे-रत्नत्रयमार्गमे लगाना, सम्यग्दर्शनके साथ स्थिरचित्तता होना, प्रतारणा-स्वभावका सर्वथा अभाव होना इत्यादिक अच्छे कारणोसे शुभनाम-कर्मास्रव जीवमे आते है ।। १६९–१७० ।।

[तीर्थकरत्व नामास्रवके कारण ।]– १ सम्यग्दर्शनमे विशुद्धि–जिनेश्वरने कहे हुए निष्परिग्रहरूप मोक्षमार्गमे जो रुचि होना वह दर्शन-विशुद्धि है । २ विनीतत्व–मोक्षके साधनरूप सम्यग्ज्ञानादिकोमे तथा सम्यग्ज्ञानादिकोकी प्राप्ति जिनसे होती है ऐसे गुरु आदिकोमे अपनी योग्यताके अनुसार प्रशसनीय सत्कार-आदर करना । ३ व्रत और शीलमे अतिचाररहित प्रवृत्ति करना अर्थात् अहिंसादिक व्रतोमे तथा उनके पालनार्थ कोपादिकोके त्यागरूप शीलोमे निर्दोप प्रवृत्ति करना । ४ अभीक्ष्णज्ञानसवेग–जीवादि पदार्थोका तथा स्वस्वरूपका बोध करानेवाले सम्यग्ज्ञानमे हमेशा लवलीन होना तथा ससारदु:खोसे सदा भयभीत रहना । ६-७ यथाशक्ति दान देना–आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान देना । अपनी शक्ति न छिपाते हुए रत्नत्रयमार्गके अविरुद्ध तप करना । ८ साधुसमाधि–जैसे भाडागारमे आग लगनेपर उसको बुझाते है, वैसे साधु अनेक व्रत और शीलोका समूहरूप होनेसे वहुत उपकारी है, इसलिये उनके तपमे कुछ कारणोसे सकट उपस्थित होनेपर उनका तप सकट हटाकर निर्विघ्न करके उसकी धारणा करना । ९ वैयावृत्त्य–गुणिजनोपर दु ख आनेपर निर्दोप उपायसे वह दूर करना । १०-११ अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति–अर्हन्तके तथा आचार्यके गुणोमे अनुराग रखना । १२ बहुश्रुतभक्ति–स्वपरमतोके ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठीके गुणोमे अनुरक्त रहना। १३ जिनागम-महाभक्ति–जिनप्रणीत सिद्धान्तागममे परिणाम विशुद्ध अनुराग होना । १४ आवश्यकापरिहाणि–सामायिक, प्रतिक्रमणादिक छह कर्तव्योमे यथाकाल अर्थात्

---

१ आ. पारगा. २ आ. अनिन्दितम् ३ आ. रुद्भते ४ आ. वहुश्रुतवतस्तथा ।

परनिन्दात्मनो नित्यं प्रशंसाकरणं सदा । सद्गुणोच्छादनं तावदसद्गुद्भावनं परम् ॥ १७६
यः करोति नरो नीचो निजत्वोच्चैकवाञ्छया । नीचैर्गोत्रं स बध्नाति कुधीर्धीरविवर्जितः ॥ १७७
तद्विपर्ययतः प्राणी गुणोत्कृष्टेषु वत्सलः । सगुणो निर्मदः स स्यादुच्चैर्गोत्रस्य साधनम्[2] ॥ १७८
विघ्नस्य कारणं घोरं घोरदुःखप्रदायकम् । यः करोति नरो दीनः सोऽन्तरायसमन्वितः ॥ १७९
आयुःकर्मविमुक्तानि सप्तकर्माणि देहिनाम् । युगपत्क्षणतस्तस्मान्नास्रवन्त्ययतात्मनाम् ॥ १८०

जिसका जो काल नियत है, उसमें वह कार्य करना आवश्यकापरिहाणि है । १५ मार्गप्रभावना– ज्ञान, तप, जिनपूजा और विद्या आदिकोंके द्वारा धर्म प्रकाशित करना । १६ प्रवचनवत्सलता– गाय जैसे बछडेपर स्नेह करती है वैसा साधर्मिकोंपर प्रेम करना । ऐसे ये सोलहकारण तीर्थकरत्व प्राप्तिके हेतु है । ये व्यस्त अथवा समस्त कारण उत्तमतया तरतमरूपतासे चिन्तनमे लाने चाहिये ऐसा महात्माओंने कहा है ॥ १७१–१७५ ॥

[नीचगोत्रके आस्रवहेतु ।] – परनिंदा-दोष वास्तविक हो अथवा न हो तोभी उसको प्रगट करनेकी जो इच्छा उसे निन्दा कहते है । दूसरोके विद्यमान दोष प्रगट करना अथवा झूठे दोष कहना परनिंदा है । आत्मप्रशसा–गुण प्रगट करनेका अभिप्राय होना प्रशसा है । अपनेमे गुण न होते हुएभी मै सत्य बोलता हू, प्रामाणिक हू, इत्यादिक गुणोका वर्णन करना स्वप्रशसा है। दूसर लोगोमे गुण होनेपरभी उनके गुणोको ढक देना और अपनेमे गुण न होनेपरभी उनको प्रगट करना, उनकी वाहवा करना नीच गोत्रास्रवके कारण है । जो मनुष्य स्वयकी उच्चत्वकी इच्छासे उपर्युक्त कारणोको करता है, गभीरता रहित वह कुमति नीचगोत्रका बध कर लेता है ॥१७६–१७७॥

[उच्चगोत्रके आस्रव कारण ।] – जो नीचगोत्रके कारण कहे है, उनके विपरीत कारणोसे उच्चगोत्रके आस्रव जीवमे आते है। अर्थात् आत्मनिन्दा, परप्रशसा, परसद्गुणोद्भावन और स्वसद्गुणाच्छादन ऐसे कारणोसे उच्चगोत्रके आस्रव आते है । तथा जो अपनेसे गुणोसे अधिक श्रेष्ठ है उनके ऊपर स्नेह करना, उनके साथ विनयवृत्तिसे रहना, कदाचित् स्वय विज्ञानादि गुणोसे उत्कृष्ट होनेपरभी उनसे गर्वरहित होना ऐसे कारणोसे उच्चगोत्रके आस्रव आते है ॥ १७८ ॥

[अन्तरायास्रवके कारण ।] – जो दान, लाभ, भोग, उपभोग और शक्तिमें घोर विघ्न उत्पन्न करता है, उसे ऐसे कुकार्यसे घोर दु.ख प्राप्त होता है । जो दीन–अज्ञान मनुष्य ऐसे दानादिकोमें विघ्न करता है, वह अन्तरायकर्मसे युक्त होता है ॥ १७९ ॥

[एक समयमे कितनी कर्मप्रकृतियोका आस्रव होता है इस प्रश्नका उत्तर ।] – जिनको आयुकर्मका बध हो चुका है उनको उसके बिना बाकीके सात कर्मोका निरतर बध होता है । तथा जिनको आयुकर्मका बध नहीं हुआ है उनको एकक्षणमे आठोही कर्मोका बध होता है । तथापि

---

१ आ. निजोच्चत्वस्य २ आ. भाजनम्

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादाश्च तथा पुनः । कषायाश्च[1] ततो योगा गदिता बन्धहेतवः ॥ १८१
मिथ्यात्वं पूर्वमाख्यातं क्रियायां[2] बन्धकारणम् । हिंसादिषु प्रवृत्तिर्या साऽभाष्यविरतिर्बुधैः ॥१८२
कुशलेष्वनादरो यस्तु प्रमादः स निगद्यते । कपाया. पूर्वमुक्ताः स्युः सर्वे बन्धस्य कारणम् ॥ १८३
मनोवाक्कायकर्मादियोगाश्चापि निवेदिताः । आस्रवे ते च बन्धस्य हेतुभूता भवन्त्यमी ॥ १८४
यद्यप्युक्तं हि मिथ्यात्वं पूर्वं किञ्चित्तथापि तत् । बन्धप्रस्तावतश्चात्र निगदामि विशेषतः ॥ १८५
मिथ्यात्वं द्विविध प्रोक्तं स्वभावादुपदेशतः । मिथ्याकर्मोदयाज्जात स्वाभाविकमुदीरितम् ॥ १८६
परोपदेशतो निन्द्यं तत्त्वश्रद्धानलक्षणम् । उपदेशजमाख्यातं[3] मिथ्यात्वं तच्चतुर्विधम् ॥ १८७
क्रियावादा[4] क्रियावादे तथा चाज्ञानिकं पुनः । वैनयिकं ततो दुष्टं चतुर्थं कथयन्ति तत् ॥ १८८
अशीतिशतभेद तत्क्रियामिथ्यात्वमुच्यते । अक्रियागतभेदाः स्युरशीतिश्चतुरुत्तरा ॥ १८९

जो प्रदोपादि-कार्योंसे ज्ञानावरणादि सर्व कर्मप्रकृतियोका प्रदेशबध नियम नही है । तोभी वे प्रदोपादिक ज्ञानावरणादिके अनुभाग बधके लिये अवश्य कारण होते हैं ॥ १८० ॥

[बधके कारण ।] – मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, पुनः कपाय और योग के बवके कारण कहे गये है । मिथ्यात्व जोकि बधका कारण है, उसका वर्णन क्रियाओमे किया है । हिंसादिकोमे जो प्रवृत्ति होती है उसको विद्वानोने अविरति कहा है । तथा कुशल कृत्योमे–पुण्यकारक कार्योमे ध्यान–स्वाध्यायादिकोमे अनादर रहना प्रमाद है । कपायोका वर्णन पूर्वमे किया गया है । सब कषाय बधके कारण है । मन वचन और शरीर इनकी प्रवृत्तियाही योग है इनकाभी वर्णन पूर्वमे आस्रवके प्रकरणमे आया है । ये मिथ्यादर्शनादिक सब कारण आस्रव और बधमे कारणभूत है ॥ १८१–१८४ ॥

[मिथ्यात्वके दो भेद ।] – यद्यपि मिथ्यात्वका पूर्वमे थोडासा वर्णन किया है तोभी अब बधप्रकरणमे इसका विशेषत' मै कथन करता हू ॥ १८५ ॥

मिथ्यात्वकर्मके स्वभावसे और उपदेशसे दो भेद कहे है । मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो निन्द्यतत्त्वोका श्रद्धान होता है वह स्वाभाविक मिथ्यात्व है और उपदेशसे–कुगुरुके द्वारा किये गये कुतत्त्वोके उपदेशसे जो निद्यतत्त्वोके प्रति श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह उपदेशज मिथ्यात्व कहा जाता है । इसके आचार्योंने चार भेद कहे है । क्रियावाद, अक्रियावाद, आज्ञानिक और वैनयिक ऐसे मिथ्यात्वके चार भेद है ॥ १८६–१८८ ॥

[चार मिथ्यात्वोके उत्तर भेद ।] – क्रियामिथ्यात्वके एकसौ अस्सी भेद है । अक्रियामिथ्यात्वके चौरासी भेद है । आज्ञानिक मिथ्यात्वके सदुसठ भेद है और वैनयिकके निश्चयसे बत्तीस भेद है । पुन. सबके भेद मिलकर तीनसौ तिरेसठ भेद होते है । ये सब भेद जीवोंके बधके कारण है ॥ १८९ ॥

१ आ. तथा २ आ. तत्क्रिया ३ आ औपदेशिक ४ आ क्रियावदक्रियावच्च

सप्तषष्टिर्मता भेदास्तथा चाज्ञानिनश्च ते । द्वात्रिंशद्भेदभिन्नं स्याद्वैनयिकमिति ध्रुवम् ॥ १९०
इति मिथ्यात्वभेदाः स्युः सर्वे समुदिता. पुन. । त्रिषष्टित्रिशतीसंख्या जीवानां बन्धहेतव. ॥ १९१
विपरीतमथैकान्तं संशयाज्ञानिके तथा । वैनयिकं च पञ्चैते भेदा वा तस्य निश्चिता. ॥ १९२
ब्रह्मात्मकमिदं सर्वं नित्यानित्यैकमेव च । ऐकान्तिकमतं कान्तं मिथ्यात्वे बन्धकारणम् ॥ १९३
यः सग्रन्थः स निर्ग्रन्थः केवली कवलाशनः । विपरीतमहामिथ्यादृष्टिरेवं वदन्त्यपि ॥ १९४
सम्यग्दर्शनसज्ज्ञानचारित्रैर्मोक्ष इत्यपि । तथा न वेद स ज्ञेयो दृष्टिरज्ञानगोचर· ॥ १९५
प्रमाणनयनिर्णीतं तथा सर्वज्ञभाषितम् । ज्ञात्वापि संशयानानां तत्स्यात्साशयिक ध्रुवम् ॥ १९६
देवाः सर्वेऽपि धर्माश्च सर्वशास्त्राणि तद्विदः । वैनयिकी समा· सर्वे पश्यंतीति दुराशय. ॥ १९७

[अथवा मिथ्यात्वके पांच भेद ।] — विपरीतमिथ्यात्व, एकान्तमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, अज्ञानमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व ऐसे मिथ्यात्वके पाच भेद हैं ॥ १९२ ॥

[एकान्तमिथ्यात्वका स्वरूप ।] — यह सर्व जगत् ब्रह्ममय है, जो कुछ दीखता है वह ब्रह्मके सिवाय कुछ नहीं है, ऐसा जो आग्रह उसे एकान्तमिथ्यात्व कहते है । वस्तु यही है अथवा ऐसीही है दूसरी नहीं है ऐसा जो आग्रह उसे एकान्त कहते है । वस्तु नित्यही है ऐसा आग्रह अथवा वस्तु अनित्यही है ऐसा आग्रह होना एकान्तमिथ्यात्व है । यह ऊपरसे कान्त-सुदर दीखता हैं परतु मिथ्यात्वप्रकृति का बध करनेवाला है ॥ १९३ ॥

[विपरीत मिथ्यात्वका स्वरूप ।] — विपरीत मिथ्यादृष्टि जीव, जो परिग्रहसहित है, उसे निर्ग्रंथ समझते हैं । केवली अनत सुखी होनेपरभी वे कवलाहार ग्रहण करते हैं ऐसा बोलते हैं ॥१९४॥

[अज्ञानमिथ्यात्व ।] — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका कारण है, परतु जो वैसा नहीं समझता है वह अज्ञानमिथ्यादृष्टि है ॥ १९५ ॥

[सशयमिथ्यात्व] — सर्वज्ञसे कहा हुआ जीवादिकतत्त्वस्वरूप प्रमाण और नयोंसे निश्चित सत्य सिद्ध हुआ है ऐसा जानकरभी मनमे सशय धारण करनेवालोंका वह निश्चयसे सांशयिक मिथ्यात्व है ॥ १९६ ॥

[वैनयिक मिथ्यात्व ।] — सब देव, सब धर्म, सर्व शास्त्र उनके जानकार विद्वान् ये सब समान है ऐसा समझता है । ऐसा दुष्ट अभिप्राय धारण करनेवाला वैनयिकमिथ्यात्वी समझना चाहिये ॥ १९७ ॥

---

१ आ. चाज्ञानिकस्य ते २ आ. नित्यत्व वानित्यत्वमेव वा ३ आ. ऐकान्तिकमत [illegible]कान्तकारणम् ४ आ. पश्यतीह

तथ्यं न वेति सन्देहैर्दृष्टिः संशयगोचरा । सन्ति मिथ्यादृशः पंचाप्येते वन्धस्य हेतवः ॥ १९८
ततश्चत्वार एवामी त्रिषु सासादनादिषु । विरताविरते मिश्रं प्रमादाः सकषायकाः ॥ १९९
योगाश्च सन्ति वन्धस्य कारणं भवधारणम् । प्रमादाश्च कषायांश्च तथा योगा इति त्रयम् ॥ २००
प्रमत्तसंयतस्यास्ति तद्वन्धस्यैककारणम् । अप्रमादादिकानां हि चतुर्णां द्वौ निवेदितौ ॥ २०१
कषायाश्च तथा योग इत्येतौ शान्तकल्मषैः । एक एवमतो योगस्त्रयाणां वन्धकारणम् ॥ २०२
शान्तक्षीणकषायैकयोगकेवलिनां पुनः । अयोगिनां न सोऽप्यस्ति वन्धहेतुः क्रिया न च ॥ २०३
अत एव महात्मानः सिद्धिभाजो भवन्त्यमी । कषायत्वादयं जीवः कर्मयोग्यांश्च पुद्गलान् ॥ २०४

ये पाच प्रकारके दुरभिप्राय मिथ्यात्वबंधके कारण है । तथा मिथ्यात्वगुणस्थानमे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग पाच बधकारण है । सासादन, मिश्र और असयत सम्यग्दृष्टि ऐसे तीन गुणस्थानोमे मिथ्यात्व नहीं होनेसे अविरति, प्रमाद, कपाय और योग ये चार बंधके कारण है ॥ १९८–१९९ ॥

विरताविरत नामक पाचवे गुणस्थानमे मिश्र अर्थात् अविरति विरतिसे मिश्र है और बाकीके प्रमादादि तीन बधके कारण है । अर्थात् प्रमाद, कपाय, और योग ये तीन बंधके कारण जीवको भवधारण करनेवाले है । प्रमत्तसयत नामक छठे गुणस्थानवाले मुनीश्वरको प्रमाद, कपाय और योग ये तीन बधकारण है । अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसापराय ऐसे चार गुणस्थानवर्ती मुनियोको योग और कपाय बधके कारण है । उपशान्तकषाय, क्षीणकपाय और सयोगकेवली इन तीन गुणस्थानवर्ति मुनीश्वरोको एक योगही बधका कारण है, ऐसा जिनका पापकर्म शान्त हुआ है ऐसे गणधर कहते है । अयोगकेवलगुणस्थानवर्ती मुनीश्वरको योगभी बंधका कारण नहीं है; क्योकि वहा कुछभी क्रिया नहीं है । इसीलिये बधका अभाव होनेसे ये महात्मा मुक्तिके भोगनेवाले होते हैं ॥ २००–२०३ ॥

[कपाय बंधका कारण है ।] – जीव कषाययुक्त होनेसे कर्मरूप परिणमन को धारण करने योग्य पुद्गलोको–विस्रसोपचयको जब ग्रहण करता है, तब बध होता है, ऐसा बधरहित जिनेश्वरने प्रतिपादन किया है ॥ २०४ ॥

स्पष्टीकरण– जीव कपाययुक्त कैसे होता है ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं, कि कर्मसे जीव कपाययुक्त होता है । जो कर्मरहित है उसे कषायलेप नहीं है । तथा जीव और कर्मका अनादि सबंध है । यदि यह सबंध बीचमेही होता है तो सबधके पूर्वमे आत्मा शुद्ध था । वह अशुद्ध कैसे हो गया ? बंध आदिमान् माननेपर आत्यन्तिक शुद्धि धारण करनेवाला आत्मा सिद्धके समान यदि है तो उसको बन्ध न होगा । अत. जीव कथंचित् मूर्तिक है और कर्मका संबध अनादि है

---

१ इत्येतौ तीर्थकृन्मतं

आदत्ते स यतो बन्धः सर्वबन्धविवर्जितैः । अहस्तोऽपि स गृह्णाति तानायुःकर्मयोगतः ॥ २०५
जठराग्निवशाद्यद्वदाहारमुपढौकते[1] । आद्यः प्रकृतिबन्धोऽसौ द्वितीयः स्थितिरिष्यते ॥ २०६
अनुभागस्तृतीयश्च प्रदेशादिश्चतुर्थक. । स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता सा द्वेधा कथिता जिनैः ॥ २०७
मूलोत्तरप्रभेदेन गुडादौ मधुरादिवत् । ज्ञानावृत्यादिभेदेन मूलप्रकृतिरष्टधा ॥ २०८
शतमष्टाधिकं तस्माच्चत्वारिंशत्तदुत्तरा । पञ्च ज्ञानावृते. सन्ति नवैता दर्शनावृते. ॥ २०९

ऐसा मानना योग्य है । जैसा वस्तुस्वरूप है वैसाही उसको जानना सम्यग्ज्ञान है । मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषायोंसे आत्मा गीला होकर सर्व भवमे तीव्रमन्दमध्यादि योगविशेषोंसे सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही ऐसे अनतानत प्रदेशयुक्त पुद्गलोके स्कंध, जो कि कर्मपरिणतियोग्य है, उनके साथ अविभागरूपसे मिल जाता है–सयुक्त होता है ऐसी आत्माकी जो अवस्था होती है उसको बंध कहना चाहिये ॥ २०५ ॥ (सर्वार्थसिद्धिटीका सकषायत्वात् सूत्र)

जैसे लोग जठराग्निकी तीव्रमन्दतादिकोके अनुरूप आहार ग्रहण करते हैं, वैसे यह आत्मा हातके बिनाही आयुष्यके सबधसे युक्त होकर उन कर्मयोग्य पुद्गलोको ग्रहण करता है ॥ २०६ ॥

[बधके भेद ।] – पहिला प्रकृतिबध, दूसरा स्थितिबध, तीसरा अनुभागबध और चौथा प्रदेशबध है ॥ २०७ ॥

स्पष्टीकरण – प्रकृति शब्दका अर्थ ' स्वभाव ' है । जैसे निम्बका स्वभाव कटुक है। गुडका स्वभाव मधुर है। वैसे ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोके स्वभाव इस प्रकार है–ज्ञानावरणका स्वभाव पदार्थोका बोध नहीं होने देना । दर्शनावरण–पदार्थोका अनालोचन अर्थात् पदार्थ है ऐसा सामान्य अवलोकनभी नहीं होने देनेवाला स्वभाव धारण करना । वेदनीय–सुख दुःखका अनुभव देनेका स्वभाव वेदनीयका है । दर्शनमोहका स्वभाव तत्त्वार्थमे अश्रद्धा उत्पन्न करना है। चारित्रमोहका स्वभाव असयम उत्पन्न करनेवाला है। आयुष्यका स्वभाव भवधारण है अर्थात् जीवको जो मनुष्यादि अवस्था प्राप्त होती है उसमे कुछ कालतक आत्माको रोकना स्वभाव है। नारकी, पशु, मनुष्य, देव ऐसे नाम निर्माण करनेका स्वभाव नामकर्मका है। यह उच्च है, यह नीच है, ऐसा कहलानेवाला गोत्रका स्वभाव है। दानलाभादिकमे विघ्न करना अन्तरायका स्वभाव है। यह प्रकृतिबध मूलप्रकृतिबध और उत्तरप्रकृतिबध ऐसे दो प्रकारका है। जैसे गुडका स्वभाव मधुर होता है तथा उस गुडके अनेक भेद होते है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ऐसे प्रकृतिके आठ भेद है। और इनके उत्तरभेद एकसौ अड़तालीस होते है ॥ २०८ ॥ (सर्वार्थसिद्धिटीका ' आद्यो ज्ञानेति ' सूत्रपरकी)

[उत्तरप्रकृति भेद ।] – ज्ञानावरणादिके भेद इस प्रकार है–ज्ञानावरणके मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययावरण और केवलज्ञानावरण ऐसे पाच भेद है। दर्शनावरणके चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-

[1] आ. उपढौकितम् ।

द्वे एव वेदनीयस्य मोहस्याप्यष्टविंशतिः । चतस्रश्चायुषो ज्ञेया नाम्नस्त्रिनवतिः पुनः ॥ २१०
द्वे गोत्रस्य पुनश्च स्तोऽन्तराये पञ्च[1] ता मताः । कालस्यावस्थितिस्तेषां स्थितिमाहुर्जिनेश्वराः ॥२११
सा च सिद्धान्ततो ज्ञेया नैवात्र ग्रन्थगौरवात् । कर्मणां यो विपाकस्तु सोऽनुभागो निगद्यते ॥ २१२

निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, और स्त्यानगृद्धि । वेदनीयके सातवेदनीय और असातवेदनीय । मोहनीयके मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, अनतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ । अप्रत्याख्यानके चार क्रोधादिक, प्रत्याख्यानके तथा सज्वलनके चार क्रोधादिक हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ऐसे मोहनीयके अठ्ठावीस भेद है । आयुके नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु ऐसे चार भेद है । नामकर्मके गति, आदिक तिरानवे भेद है । उच्चगोत्र, नीचगोत्र ऐसे गोत्रके दो भेद है । अन्तरायके दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ऐसे पाच भेद है । इन एकसौ अडतालीस प्रकृतियोका स्पष्टीकरण ग्रथकारने ग्रथगौरवके भयसे नहीं किया है । उनका खुलासा सिद्धान्तग्रंथोमे किया है । वहासे जानना चाहिये ॥ २०९–२१० ॥

[स्थितिबधका स्वरूप ।] – एकसौ अडतालीस कर्म कुछ मर्यादित कालतक आत्मामे रहते है, उनका रहना स्थितिबध है । स्थितिके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे भेद है; जिनका सविस्तर निरूपण आगमग्रंथसे जानना चाहिये । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय ऐसे चार कर्मोंका स्थितिबध तीस कोटिकोटि सागरोपमका है । मोहनीयका सत्तर कोटिकोटि सागरोपम स्थितिबध है । नामकर्मका वीस कोटिकोटि सागरोपम है । गोत्रकर्मका वीस कोटिकोटि सागरोपम है और अन्तरायका तीस कोटिकोटि सागरोपमका है । यह उत्कृष्ट स्थितिबध कहा है । जो कर्म आत्मामे बध जाता है वह आबाधाकालको छोडकर अपना फल अपनी स्थिति जितनी कालकी है उतने कालतक आत्माको देता है । जघन्य स्थितिबध–ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मकी जघन्य स्थिति सूक्ष्मसापराय गुणस्थानमे अन्तर्मुहूर्तकी है । मोहनीयकी अनिवृत्ति बादर साम्पराय गुणस्थानमे अन्तमुहूर्तकी है । आयुकी सख्यातवर्षवाले तिर्यच और मनुष्योमे जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्तकी है । वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्तकी है और उसका बध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमे होता है । नामगोत्रकी दशमे गुणस्थानमे आठ मुहूर्तकी जघन्य स्थिति है । मध्यमस्थितिबध असख्य प्रकारका है आगममे उसका खुलासा है, वहासे समझ लेना चाहिये । ग्रथगौरव होगा इसलिये यहा नहीं लिखा है ॥ २११ ॥ (सर्वार्थसिद्धिटीका अध्याय आठवा)

[अनुभागबध और प्रदेशबध ।] – विशिष्ट और नाना प्रकारोका जो फलानुभव आत्माको कर्मसे प्राप्त होता है उसको अनुभागबंध कहते है और वह कर्मोंका जैसा नाम है उसके अनुसार होता है, जैसा ज्ञानावरणका फल ज्ञानाभावरूप होता है, दर्शनावरणका फल दर्शनशक्तिको

१ आ. द्वे गोत्रस्य च पञ्चैव ह्यन्तरायाश्रिता मताः

स प्रदेशगतो वन्धः प्रदेश.[1] परिपठ्यते । यो विशेषोऽस्य बन्धस्य स श्रीसर्वज्ञगोचरः[2] ॥ २१३
स कथं कथ्यते बन्धो नृकीटेन मयाधुना । आस्रवस्य निरोधोऽयं संवरः स मतः सताम् ॥ २१४
द्रव्यभावप्रभेदेन सोऽपि द्वेधा भवेदिह । संसारैकनिमित्तानां क्रियाणां विनिवर्तनम् ॥ २१५
भावसंवरमाख्यान्ति मुनीन्द्रा कृतसंवराः । तन्निरोधे च तत्पूर्वकर्मपुद्गलविच्युतिः ॥ २१६
आत्मनस्तु स विज्ञेयो यतीन्द्रैर्द्रव्यसंवर । समितस्य च गुप्तस्यानुप्रेक्षानुरतस्य[3] च ॥ २१७

प्रगट न होने देना है। इत्यादि। सपूर्ण आत्मप्रदेशोमे अनतानत सूक्ष्म कर्मप्रदेशोका सर्व भवोमे एक क्षेत्रावगाही जो योगविशेषोसे बंध होता है उसे प्रदेशबध कहते है। योगविशेषसे आत्मा कर्मोको ग्रहण करता है। वे कर्म सब सूक्ष्मही होते है, उन कर्मके स्कन्धोमे पाच वर्ण, पाच रस, दो गध और चार स्पर्श--शीत, उष्ण स्निग्ध, रूक्ष ऐसे चार होते है। ये कर्मस्कध आठ प्रकारोके कर्म प्रकृतियोके योग्य रहते है ॥ २१२--२१३ ॥

इस प्रदेशबधका जो विशेष है वह सर्वज्ञका विषय है। मैं मनुष्यकीटक हू, मुझसे वह बध इस समय छद्मस्थावस्थामे--अज्ञानावस्थामे कैसा कहा जायगा? तात्पर्य यह है कि ये, चार प्रकारके बध अवधिज्ञानी, मन.पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियोको प्रत्यक्ष प्रमाणके विषय है अर्थात् इनका स्वरूप वे प्रत्यक्ष ज्ञानसे जानते है। और उन्होने जो आगम कहा है, उससे इन बधके स्वरूपका ज्ञान किया जाता है अर्थात् अनुमानसे उनका स्वरूप जाना जाता है ॥ २१४ ॥

[सक्षेपसे सवरवर्णन ।] -- आस्रवका जो निरोध है, वह सज्जनोको मान्य ऐसा संवर नामका पदार्थ है। इसके यहा द्रव्यसवर और भावसंवर ऐसे दो भेद है।

स्पष्टीकरण--नवीन कर्मका आत्मामे आगमन होना आस्रवतत्त्व है और वह आगमन जिससे रुकता है ऐसे तत्त्वका नाम सवरतत्त्व है। यह सवरतत्त्व आस्रवका प्रतिपक्षी है, इसलिये आस्रवके लक्षणसे सवरका लक्षण बिलकुल उलटा है ॥ २१५ ॥

[भावसवरका स्वरूप ।] -- संसारके मुख्यनिमित्त ऐसी जो मन वचन शरीरोकी प्रवृत्तिया--चेष्टाये होती है उनका निवारण करनेवाला जो आत्माका निर्मल परिणाम उसका नाम भाव सवर है, ऐसा जिन्होने नये कर्मोका निरोध किया है ऐसे मुनीन्द्र कहते है ॥ २१६ ॥

[द्रव्यसवरका स्वरूप] -- उनके निरोधसे अर्थात् नया कर्म जिनसे आता है ऐसी मनवचन शरीरकी चेष्टाओका निरोध करनेसे तत्पूर्वक जो कर्मका आना होता था वहभी रुक जाता है। यतीन्द्रोने उसको द्रव्यसवर जाना है ॥ २१७ ॥

नये कर्म आत्मामे आनेका रुक जाना द्रव्यसवर है, मनवचनशरीरकी जिन चेष्टाओसे कर्म आता था उनका आगमन न होने देनेवाले जो आत्मामे निर्मल समित्यादिक परिणाम होते हैं उनको भाव-

१ आ. प्रदेशपरिकल्पनम् २ आ. श्रीसर्वज्ञस्य गोचरः ३ आ परस्य च

सच्चारित्रवतः पुंसः संवरो जायते क्षणात् । परीषहजयेनासौ दशधा धर्मकारणः ॥ २१८
सुनिर्जरायुतस्यैव संवरो जायते परः । ये केचिद्धेतवः सन्ति संवरस्य विधायिनः ॥ २१९
तपसो निर्जरायास्तान्कियतो निगदाम्यहम् । धाष्ट्र्यमेवमिदं सर्वं मदीयं यज्जिनागमे ॥ २२०
इदं करोमि नो वेदमिति वाचो निवर्तनम् । उक्तं युक्तमयुक्तं वा मदीयं मुनिपुङ्गवाः ॥ २२१
श्रुत्वा भवन्तु सर्वेऽपि सर्वदैवाधिकक्षमाः । आगमोऽनन्तपर्यायः कथ्यतेऽनन्तसद्गुणैः ॥ २२२
श्रीमत्समन्तभद्रादिगणेशैर्न तु मादृशैः । पद्मसेनादयो ये तु श्रीमेदार्यान्वये परम् ॥ २२३
बभूवुस्तत्प्रसादेन मच्चेतोऽप्यत्र भक्तिमत् ।

सवर कहते है । जो ईर्यासमित्यादिक समितियोको पालता है, मनोगुप्त्यादिक गुप्तियोका धारक है, अनित्यादिक बारह अनुप्रेक्षाओमे तत्पर होता है, तथा जो सम्यक्चारित्रको धारण करता है, ऐसे पुरुषको–यतिराजको तत्काल सवर होता है उनके पास नये कर्म नहीं आते है । यह संवर परीष-हजयसे होता है तथा उत्तम क्षमादिक दशधर्मोका पालन करनेसे होता है । तथा जो अविपाका निर्जरासे युक्त है ऐसे मुनीश्वरको उत्कृष्ट सवर प्राप्त होता है ॥ २१८ ॥

संवरको उत्पन्न करनेवाले जो कोई हेतु है, तथा निर्जराको करनेवाले जो तपश्चरण हेतु रूप है उनका मै कितना वर्णन कर सकूगा । अर्थात् सवरके और निर्जराके समग्र कारणोका वर्णन करनेमे मै असमर्थ हू ॥ २१९ ॥

जो जिनागममे है, वही मैने कहा है । अत मेरा यह कहना सब हृदयमे धारण करना चाहिये । उसमे मै यह हृदयमे धारण करूगा और यह नहीं करूगा ऐसा भाषण बोलना छोड देना चाहिये ॥ २२० ॥

[मुनिश्रेष्ठोके प्रति ग्रथकारकी क्षमा याचना ।] – मेरा युक्तियुक्त वचन सुनकर हे मुनिश्रेष्ठ ! आप सब सदैव मुझपर अधिक क्षमा धारण करे । अर्थात् मै आपसे क्षमा याचना करता हू क्योकि मेरे वचन सदोषभी होगे और निर्दोषभी होगे मै कुछ नही समझता हू ॥ २२१ ॥

[समन्तभद्राचार्यकी प्रशसा ।] – अनतगुणवाले श्रीसमन्तभद्र गणधरसे अनतपर्यायोका प्रतिपादन करनेवाला आगम कहा गया है परतु मुझ सरीखोके द्वारा ऐसा विशाल आगम नहीं कहा जायगा ॥ २२२ ॥

[पद्मसेनादिकाचार्योमे मेरा मन भक्तियुक्त है ।] – महावीरप्रभुके श्रीमेदार्य नामके गणधरकी गुरुपरंपरामे पद्मसेनादिक आचार्य हुए है । उनकी कृपासे मेरा मनभी इस आगममे भक्तियुक्त हुआ है ॥ २२३ ॥

श्रीमत्सामन्तभद्रं वचनमिति बुधः श्रीतिमन्तर्विनीतो॥
धृत्वा संवृत्य कर्माण्यखिलभवभवोद्भूति हेतोर्निशल्यः।
योऽभूच्छ्रीवीरसेनो विबुधजनकृताराधनोऽगाधवृत्तिः ॥
तस्माल्लब्धप्रसादे मयि भवतु च मे बुद्धिवृद्धौ विशुद्धिः ॥ २२४॥
सो'ऽयं श्रीगुणसेनसयमधरप्रव्यक्तभक्तिः सदा।
सत्प्रीतिं तनुते जिनेश्वरमहासिद्धान्तमार्गे नर.॥
भूत्वा सोऽपि नरेन्द्रसेन इति वा यास्यत्यवश्यं पदम्।
श्रीदेवस्य समस्तसाधुमहितं तस्य प्रसादात्ततः[2]॥ २२५

इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे पण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते[3] अजीवतत्त्वआस्रवतत्त्व-बन्धतत्त्वनिरूपणं नवमोऽध्याय॰ ॥

यह श्रीसमन्तभद्र स्वामीका वचन है ऐसा समझकर, अन्तःकरणसे नम्र होकर उस प्रिय वचनको धारण कर तथा अनेक भवोंमें उत्पत्ति होनेके कारण ऐसे संपूर्ण कर्मोका संवर करके जो शल्यरहित हुए हैं, विद्वज्जनोंके द्वारा आराधना की जानेपरभी जिनका स्वभाव गंभीरही है ऐसे श्रीवीरसेनआचार्यसे मुझे प्रसाद प्राप्त हुआ है, इसलिये मेरी बुद्धिकी वृद्धिमें निर्मलता प्राप्त हो॥२२४॥

श्रीगुणसेन नामक संयमधारी आचार्यमें जिसने अतिशय व्यक्त ऐसी भक्ति हमेशा की है वह मनुष्य जिनेश्वरके महासिद्धान्तमार्गमें उत्तम प्रीति करता है तथा वहभी नरेन्द्रसेनके समान होता है और श्रीगुणसेन आचार्यके प्रसादसे संपूर्ण साधुओंसे पूज्य श्रीदेवसेन आचार्यके पदको अवश्य प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य यह है, कि नरेन्द्रसेन आचार्यके गुरु गुणसेन थे उनकी भक्ति करनेसे नरेन्द्रसेना-चार्यको श्रीदेवसेन आचार्यके पट्टपर अभिषेक हुआ वे देवसेनपट्टके अधीश बने ॥ २२५ ॥

* पण्डिताचार्य श्रीनरेन्द्रसेन विरचित सिद्धान्तसार-संग्रहग्रंथमें अजीवतत्त्व, आस्रवतत्त्व और बंधतत्त्वका निरूपण करनेवाला नवमा अध्याय समाप्त हुआ। *

---

१ आ. योऽयं २ आ. प्रसादादतः ३ आ इति श्रीसिद्धान्तसारसङ्ग्रहे आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते नवमोऽध्यायः

दशमोऽध्यायः।

निर्जीर्यते यया कर्म प्राणिना भववर्तिना। निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया कालेनोपक्रमेण च ॥ १
या च कालकृता सेयं मता साधारणा जिनैः। सर्वेषां प्राणिनां शश्वदन्यकर्मविधायिनी ॥ २
या पुनस्तपसानेकविधिनात्र विधीयते। उपक्रमभवा सेयं सर्वेषां नोपजायते ॥ ३
येन तप्त्वा नरः कर्मपुद्गलान्प्रविमुञ्चति। पुटापकाग्निसन्तप्तहेमवत्तत्तपो मतम् ॥ ४
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं तदुदीरितम् षड्विधं बाह्यमन्यच्च तथैव मुनिपुङ्गवैः ॥ ५
वृत्तिसंख्यावमोदर्यमुपवासश्चतुर्विधः। रसत्यागो विविक्तं तच्छय्यासनमथापरम् ॥ ६
कायक्लेशश्च तद्बाह्यं षट्प्रकारमिदं तपः। कथयन्ति जिनाधीशाः कर्मणः क्षपणक्षमम् ॥ ७

दसवा अध्याय।

[निर्जराके दो भेद।] — ससारमे रहा हुआ प्राणी जिसके द्वारा कर्मकी निर्जरा करता है-कर्म अपनेमेसे थोडा थोडा निकालकर नष्ट करता है उसको निर्जरा कहते है। वह कालके द्वारा और उपक्रमके द्वारा होती है अर्थात् सविपाका निर्जरा और अविपाका निर्जरा ऐसे निर्जराके दो भेद होते है ॥ १ ॥

कालकृतनिर्जरा जिसे सविपाका निर्जरा कहते हैं। उसे जिनेश्वरोने साधारण निर्जरा नाम दिया है। अर्थात् वह सपूर्ण प्राणियोको हमेशा होनेवाली और हमेशा अन्यकर्मोंको जीवमे लानेवाली है। तात्पर्य यह है, कि कर्मका उदय होकर कर्म अपना फल देकर निकल जाता है परतु उसी समय आत्मा रागद्वेषवश होता है और बहुतसे नये कर्मोका सग्रह तत्काल उसमे होता है। यह निर्जरा चतुर्गतिके सर्व प्राणियोको होती है ॥ २ ॥

[अविपाका निर्जरा] — कर्मका उदयकाल प्राप्त होनेके पूर्वही अनेक प्रकारके तपश्चरणोसे उदयमे लाकर उसको आत्मासे अलग करना अविपाका निर्जरा है। इस निर्जराके समयमे आत्मा रागी–द्वेषी–मोही नहीं होता, जिससे नया कर्म आत्माभे प्रविष्ट नहीं होता। ऐसी निर्जराको औपक्रमिकी निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा सभी जीवोको नहीं होती। अर्थात् वीतराग मुनियोको यह निर्जरा होती है ॥ ३ ॥

[तप शब्दकी निरुक्ति अर्थात् अन्वर्थता।] — मूसके अग्निमे सन्तप्त हुए सोनेसे इतर धातुका मिश्रण और मल नष्ट होता है, वैसे जिससे तप्त होकर मनुष्य कर्मपुद्गलोको छोड देता है वह तप है, अर्थात् तपसे मनुष्य सतप्त होनेसे कर्ममल नष्ट होता है ॥ ४ ॥

[तपके दो भेद।] — बाह्यतप और अभ्यंतर तप ऐसे तपके दो भेद कहे हैं। बाह्यतपके छह भेद हैं तथा अभ्यतर तपकेभी छह भेद है, ऐसा श्रेष्ठ मुनियोने कहा है। वृत्तिसख्यान,

---

१ आ. तप्तो

भिक्षार्थिनो मुनेरत्र तद्गृहैः परिसंख्यया । वर्तनं वृत्तिसंख्यानं कथयन्ति कथाविद. ॥ ८
अथाशाया निवृत्त्यर्थं एकागारादिचिन्तनम् । यत्रैव कुरुते साधुर्वृत्तिसंख्या नु सा मता ॥ ९
तोपसंयमसिद्ध्यर्थं शमस्वाध्यायकारकम् । निद्रादोपापहं साधोरवमोदर्यमीर्यते ॥ १०
विपयेभ्यो निवृत्त्याशु संयमस्तिमितात्मनः । अक्षप्रशमनार्थं च सूपवासो निगद्यते ॥ ११

अवमोदर्य, चतुर्विध उपवास, रसत्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ऐसा छह प्रकारका बाह्य तप कहा है। यह तप कर्मका क्षय करनेवाला है ऐसा जिनेश्वर कहते है ॥ ५–७ ॥

[वृत्तिपरिसंख्यान तपकी निरुक्ति ।] – भिक्षाग्रहण करनेकी इच्छा रखनेवाले मुनि दाताओंके घरोंका प्रमाण कर उनमेंसे किसी एक घरमें आहार लेते हैं उनके इस तपका नाम वृत्तिपरिसंख्यान है: ऐसा तप कथाको जाननेवाले मुनि कहते है ॥ ८ ॥

स्पष्टीकरण – एक घर, सातघर, एक गली, आधा गाम आदिमें आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करके आहार लेना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। यह गृहविपयक वृत्तिपरिसंख्यान हुआ। इसी प्रकार दातृविपयक, पात्रविपयक आदि परिसंख्यानभी इसी तपमें समाविष्ट होते हैं। अमुक दाताने आहार दिया तो मैं ग्रहण करूंगा, अमुक पात्रमें–सोनेके पात्रमें, चांदीके पात्रमें इत्यादि पात्रमें आहार मिलेगा तो ग्रहण करूंगा इत्यादि प्रतिज्ञाको–संकल्पको वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं ॥ ८ ॥ (अनगारधर्मामृत अ. ७ वा श्लो. २६)

आशाका त्याग करनेके लिये ऊपरके श्लोकमें जैसा कहा है, उसके अनुसार जो साधु एक घर सात घर आदिका संकल्प करता है, उसका यह वृत्तिसंख्यान नामक तप है ॥ ९ ॥

[अवमोदर्य तप करनेके हेतु ।] – जिसमें थोडा अन्न खानेसे पेट पूर्ण नहीं भरता, खाली रहता है ऐसे तपको अवमोदर्य तप कहते हैं। यह तप संतोपकी प्राप्तिके लिये संयमसिद्धिके लिये, किया जाता है। यह तप वातादिक दोपोंका प्रशमन करके स्वाध्यायकी सिद्धि करता है, निद्राके दोपभी इस तपसे दूर होते है साधुके इस तपको अवमोदर्य कहते है ॥ १० ॥

स्पष्टीकरण – पुरुपका आहार बत्तीस घास (ग्रास) प्रमाण है और स्त्रियोंका आहार अट्ठाईस घास प्रमाण होता है। इस आहारमेंसे इकतीस तीस आदिको लेकर एक घासतक जो आहार लेना वह सब अवमोदर्य तप है। (अनगारधर्मामृत अ. ७ वा श्लो. २२ वा)

[अनशन तप] – पंचेंद्रियोंके विपयोंसे निवृत्त होकर संयमकी स्थिरताके लिये और इंद्रियोंका प्रशम होनेके लिये उपवास तप कहा है ॥ ११ ॥

१ आ. तद्वृत्तेः २ आ. पाका ३ आ. सम ४ आ. अक्षाण्युपवसन्त्यस्यो ५ आ. स

नियम्य करणग्रामं तप्त्वा देहमशेषतः । कर्मात्मनोः पृथक्त्वं[1] न कर्तुमेनं विना क्षमः ॥ १२
इन्द्रियाणां महावीर्य[2]विनिवृत्त्यर्थमेव च । घृतादिवृष्यवस्तूनां त्यागो रसविवर्जनम् ॥ १३
विविक्तेषु प्रदेशेषु स्वाध्यायध्यानवृद्धये । यच्च शय्यासनं साधोः पञ्चमं तत्तपो महत् ॥ १४
आतापनमहायोगो वृक्षमूलाधिवासना । साधोर्निरावृतस्यापि कायक्लेशो महानयम् ॥ १५
बाह्यत्वं बाह्यभूतस्यापेक्षयास्य तपस्विनः । कथयन्ति मनोरोधादान्तरं हि तथेतरत् ॥ १६
प्रायश्चित्तं विनीतत्वं वैयावृत्त्यमनिन्दितम् । स्वाध्यायश्च तनूत्सर्गो ध्यानमन्तर्गतं तपः ॥ १७

यदि यह उपवास तप नहीं किया जायगा तो इंद्रियोका समूह अपने स्वाधीन नहीं रहेगा। इन्द्रियोका समूह स्वाधीन करके संपूर्ण देहको संतप्त कर कर्म और आत्माको भिन्न करनेके लिये उपवासके बिना कोई समर्थ नहीं है ॥ १२ ॥

[रसत्याग तप ।]– इंद्रियोका जो विशाल सामर्थ्य है उसको घटानेके लिये घी, दही, गुड, तेल आदिक रसोका, जोकि वीर्यवर्धक है त्याग करना रसविसर्जन–रसत्याग नामक तप है॥१३॥

[विविक्तशय्यासनत्याग ।] – स्वाध्याय और ध्यानमे वृद्धि होनेके लिये जहा जन्तुपीडा नही होती ऐसे एकान्तस्थानोमे जो सोना और बैठना वह महान् पाचवा तप है॥ १४ ॥

[कायक्लेश तप ।] – सपूर्ण परिग्रह त्यागी–दिगबर मुनीश्वर आतापन नामक महायोग धारण करते है तथा वृक्षमूलाधिवास नामक महायोग धारण करते है उनका वह महान् कायक्लेश नामक तप है ॥ १५ ॥

स्पष्टीकरण – ग्रीष्मके दिनोमे पर्वतके ऊपर खडे होकर तप करना और सूर्यका आताप सहन करना आतापन योग है। वर्षाकालके दिनोमे वृक्षतलमे बैठकर जलवृष्टिआदिक क्लेश सहन करना तथा शरीरखेद सहन करना कायक्लेश तप है। सुखासक्ति नष्ट करनेके लिये, धर्म प्रभावनाके लिये और देहदु:ख सहन करनेके लिये यह तप मुनि करते है।

[तपके बाह्यत्व और अन्तरगत्वकी सिद्धि।] – अनशनादि तपोमे तपस्वियोको बाह्यभूत जो आहारादि पदार्थ उनके त्यागादिकी अपेक्षा होती है इस लिये अनशनादिक तप बाह्यतप कहे जाते है। प्रायश्चित्तादि तपोको अतरंगतप कहते हैं, क्योकि उनमे मनको स्वाधीन करना पडता है। तथा अनशनादिक तप परप्रत्यक्ष होते है इसलिये भी उनको बाह्यतप कहते है। तथा अन्य-धर्मीय साधु और गृहस्थभी अनशनादिक तप करते है इसलियेभी इनको बाह्य तप कहना चाहिये॥१६॥

[अन्तरगतपके भेद ।] – प्रायश्चित्त, विनीतत्व–विनय, प्रशसनीय वैयावृत्य, स्वाध्याय कायोत्सर्ग और ध्यान ये छह तप अन्तरंग तप है ॥ १७ ॥

१ आ. कः २ आ. दर्प

नमस्कृत्य महावीर मेदार्यं च गणेश्वरम् । वीरसेनं च वक्ष्यामि प्रायश्चित्तं कियत्स्वतः ॥ १८
प्रायः प्राणी करोत्येव यत्र चित्तं सुनिर्मलं । तदाहुः शब्दसूत्रज्ञाः प्रायश्चित्तं यतीश्वराः ॥ १९
सति दोषे न चारित्रं कर्माभावो न तद्विना । निर्वृतिस्तदभावे न तस्माद्व्रतमनर्थकम् ॥ २०
अत एव प्रकुर्वन्ति तदेवादौ महत्तपः । प्रायश्चित्तमकुर्वाणो न नरः शुद्धिमृच्छति ॥ २१
प्रायश्चित्तविधिं शुद्धमजानानो गणी पुनः । स्वात्मानं दूषयत्येव शिष्यं च प्रतिवर्तिनम् ॥ २२
गुरुमासस्तथा भिन्नमासो लघ्वादिमासकः । पञ्चकल्याणभेदश्च भवन्त्येते सुनिर्मलाः ॥ २३
पञ्च चाम्लानि पूतानि नीरसाहारपञ्चकम् । एकस्थानानि पञ्चेति पुरुमण्डलपञ्चकम् ॥ २४
क्षपणानि तथा पञ्च सर्वैः संमीलितैर्भवेत् । पञ्चकल्याणकं नाम विशुद्धेः कारणं परम् ॥ २५
कालक्षेत्रे तथा भावद्रव्यसत्त्वाद्यपेक्षया । स एव सान्तर. प्राज्ञैर्गुरुर्मासो निगद्यते ॥ २६

[प्रायश्चित्ततपका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा ।] – श्रीमहावीरप्रभुको, मेदार्य नामक गणधरजीको और श्रीवीरसेन आचार्यको नमस्कार करके मै खुद कुछ प्रायश्चित्त तपका वर्णन करता हूं ॥ १८ ॥

[प्रायश्चित्तकी निरुक्ति ।] – जिसमे प्रायः प्राणी अपने चित्तको–मनको निर्मल बनाता है, ऐसे तपको शब्दसूत्रके ज्ञाता मुनीश्वर प्रायश्चित्त कहते है ॥ १९ ॥

[प्रायश्चित्तको प्रथम स्थान क्यो ?] – यदि दोष उत्पन्न होगे तो चारित्र नहीं रहता और चारित्रके विना कर्मका नाश नहीं होगा और कर्मोका अभाव नही होनेपर मोक्षसुखकी प्राप्ति नहीं होती और व्रतोका पालन व्यर्थ होगा इसलिये मुनीश्वर वही तप प्रथमतः करते है । प्रायश्चित्ततप नहीं करनेवाला मनुष्य दोषोका अभाव न होनेसे शुद्ध नहीं होगा । परिणाम निर्मल नहीं होगे ॥ २०–२१ ॥

[प्रायश्चित्तके अज्ञाता आचार्य ।]– प्रायश्चित्तकी विधि और शुद्धि न जाननेवाला आचार्य अपने कोभी तथा अपना अनुसरण करनेवाले शिष्यकोभी दोषयुक्त करता है ॥ २२ ॥

[प्रायश्चित्तोके नाम ।] – गुरुमास, भिन्नमास, लघुमास, पञ्चकल्याण ये प्रायश्चित्तके प्रकारोके नाम है और ये प्रायश्चित्त अतिशय निर्मल है ॥ २३ ॥

[पचकल्याण प्रायश्चित्तका स्पष्टीकरण ।] – पाच आचाम्लभोजन–काजीमिश्रित भात, पांच नीरस आहार, पाच एकस्थान, पाच पुरुमडल–काजी भोजन तथा पाच क्षमण–उपवास ये सब मिलकर पचकल्याणक होता है और यह पचकल्याणक नामक प्रायश्चित्त विशुद्धिका उत्तम कारण है ॥ २४–२५ ॥

जहा पानी बहुत है ऐसा प्रदेश, जिसमे कम वर्षा होती है ऐसा प्रदेश, काल-ग्रीष्म, वर्षा हिमकाल-क्षेत्र भाव-परिणाम, द्रव्यसत्त्व शरीरका सामर्थ्य इत्यादिकोकी अपेक्षासे जब उपर्युक्त पच-

---

१ आ. मिच्छति २ आ. भेदा ३ आ. लघुमासा. ४ आ. लघुमासो

आचाम्ले क्षपणे वापि नीरसे वापि शोधिते । अन्तराये तथैवासौ यो विरम्यं विधीयते ॥ २७
एकैकेषु च पञ्चैपु सर्वेष्वपगतेषु च । भिन्नमासः स एव स्याद्विभिन्नवहुकल्मषः ॥ २८
उपवासैस्त्रिभि. प्रोक्तमपि कल्याणकं बुधैः । एकैकेनाथवा तेषु निरन्तरकृतेषु तत् ॥ २९
नवधा सुनमस्कारैस्तनूत्सर्गैर्विनिर्मितैः । एतै द्वादशभिस्तावद्दुपवासः प्रजायते ॥ ३०
पादोनं काञ्जिकाहारात्पादैकः पुरुमण्डलात् । अर्ध निर्विकृतेस्तस्य स्यादेकस्थानतस्तथा ॥ ३१
मनोवाक्कायगुप्त. सन्नष्टोत्तरशतं जपेत् । योऽपराजितमाप्नोति स भव्यः प्रोषधं फलम् ॥ ३२
दोषः कालस्तथा क्षेत्रं छेदो भुक्तिः पुमानिति । षोढा विधिर्भवत्यत्र ज्ञातव्यः स मनीपिभिः ॥

कल्याणक प्रायश्चित्त कुछ कालके अन्तरसे किया जाता है तब विद्वान् उस प्रायश्चित्तको गुरुमास प्रायश्चित्त कहते है ॥ २६ ॥

पाच आचाम्ल, पाच उपवास, पाच नीरस भोजन, इनमेसे कुछ कम यदि किया जाता है अथवा पाचोमेसे एक एक कम यदि किया जाय तब उसको भिन्नमास कहते है । यह भिन्न मास प्रायश्चित्त वहुत पापोका नाश करता है ॥ २७–२८ ॥

तीन उपवास करनेपरभी कल्याण प्रायश्चित्त होता है ऐसा विद्वानोने कहा है । अथवा एक आचाम्लभोजन, एक नीरस भोजन, एक एकस्थान, एक पुरुमडल और एक उपवास निरन्तर करनेपरभी वह कल्याण नामक प्रायश्चित्त होता है ॥ २९ ॥

एक कायोत्सर्गमे नौ पचनमस्कार होते है और एकसौ आठ वार पंचनमस्कारोका जप करनेसे उपवास होता है । अर्थात् बारह कायोत्सर्गोका एक उपवास कहा है ॥ ३० ॥

काञ्जिकाहार करनेका जो फल है वह फल एकासी वार पंचनमस्कारका जप करनेसे प्राप्त होता है । तथा एकस्थानसे जो फल मिलता है वह चौवन वार पचनमस्कारका जप करनेसे प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

[एक प्रोषधका फल ।] – मन वचन और शरीरकी एकाग्रताकर जो भव्य एकसौ आठ वार पचनमस्कार मत्रका जप करता है उसे एक प्रोषध अर्थात् एक उपवासका फल प्राप्त होता है। अर्थात् एक प्रोषधसे जितनी कर्मनिर्जरा होती है उतनी कर्मनिर्जरा १०८ वार पंच मत्र जपनेसे प्राप्त होती है ॥ ३२ ॥

इस प्रायश्चित्तके प्रकरणमें जो छह बातें विद्वानोको जानना आवश्यक है वे इसप्रकार है–दोष. काल, क्षेत्र, छेद–प्रायश्चित्त, भुक्ति और पुरुष–दोषी। दोष–अपराध, काल ग्रीष्मादिकाल, क्षेत्र–जलप्राय. शुष्क, साधारण ऐसे देश, छेद-प्रायश्चित्त, भक्ति-प्रायश्चित्त लेनेवालेका निर्मल परि-

---

१ आ. विश्रम्य २ आ. नाथवैतेषु ३ आ. स्तत्तत्सर्गो ४ आ. विनिर्मितैः ५ आ. स तैः ६ आ. पादोन ७ आ. प्रोषधं ८ आ. दोष काल तथा क्षेत्र

निमित्तादनिमित्ताच्च दोषस्याचरण द्विधा । अष्टौ भङ्गा पुनः सन्ति द्वयोरपि विभाविताः ॥ ३४
सहेतुकोऽपरस्तस्य सकृत्कारी तथेतरः । सानुवीचिर्विपक्षोऽस्य सप्रयत्नोऽप्रयत्नक ॥ ३५
एवमष्टौ विकल्पा स्यु सनिमित्तानिमित्तयो । सर्वे समिलिताः सन्ति षोडशैते जिनागमे ॥ ३६
अन्येऽपि बहवो भङ्गाः सन्त्यत्रागमवर्णिता । ज्ञात्वा तांस्तारतम्येन छेदं दद्याद्यतीश्वरः ॥ ३७
परिहर्तुमशक्यत्वाच्छोध्यते[1] यत्पुनः पुनः । परिस्पन्दादितद्दोषात्कायोत्सर्गेण शुध्यति ॥ ३८
अन्नपानादिहेतूत्थं यच्च दूषणमल्पकम् । तस्मादपि विशुद्ध्यन्ति कायोत्सर्गान्मुनीश्वराः[2] ॥ ३९
अप्रतिलेखितस्पर्शे तथा कंडूयनादिषु । मलोत्सर्गादिके वापि कायोत्सर्गेण[3] शुध्यति ॥ ४०

णाम, भुक्ति--आहार और दोषी पुरुप--इन बातोको विचारमे जो लेते है वे योग्य और आगममान्य होते है । अन्यथा अज्ञानसे प्रायश्चित्त देना योग्य नहीं है ॥ ३३ ॥

जो दोप मुनियोके द्वारा किया जाता है वह निमित्तसे या अनिमित्तसे होता है इस प्रकारसे दोपके दो भेद होते है । निमित्तजात-दोप और अनिमित्तजात--दोष । इन दोनोकेभी पुनः आठ आठ भेद होते है ऐसा आचार्योंने प्रगट किया है ॥ ३४ ॥

सहेतुक -- हेतुपूर्वक दोष करना, अहेतुक--हेतुके बिनाही दोप करना, एकबार दोप करना, अनेकबार दोप करना, सानुवीचि--विचार करके दोप करना, अविचारसे करना, प्रयत्न पूर्वक दोप करना और अप्रयत्नपूर्वक दोप करना, इस प्रकार निमित्त और अनिमित्तके आठ आठ दोप होते है । सब मिलकर सोलह प्रकार जिनागममे कहे है । अन्यभी बहुतसे भग अर्थात् दोपोके प्रकार हो सकते हैं जिनको आगममे वर्जित माना है । उन सब दोपोको जानकर यतीश्वर अर्थात् आचार-तारतम्यसे प्रायश्चित्त देवे ॥ ३५--३७ ॥

कायोत्सर्गसे निवृत्त होनेवाले दोष । कोई दोष ऐसे होते हैं, कि उनका परिहार--त्याग करना अशक्य होता है । इसलिये पुनः पुन. उनका प्रायश्चित लेकर उन दोपोसे शुद्ध होना पडता है । जैसे गमनागमन करना पडता है और उसमे असावधानतासे दोप होते है । ऐसे दोपोंका परिहार कार्योत्सर्गसे होता है ॥ ३८ ॥

अन्नपानादि कारणोसे जो अल्पसा दोप उत्पन्न होता है उससेभी मुनीश्वर कायोत्सर्ग करके शुद्ध होते है । जो वस्तु पिच्छिकासे नहीं स्वच्छ की है, उसको स्पर्श होनेपर कायोत्सर्गसे शुद्धि होती है । तथा शरीरके खुजानेसे जो दोप होता है वह कायोत्सर्गसे शुद्ध होता है । मलोत्सर्गादिकमे शौचको जाना, मूत्र करके आना आदिक दोपनिराकरणके लिये कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है ॥३९--४०॥

स्पष्टीकरण -- अन्न पानादिकके दोषमे पच्चीस उच्छ्वासतक कायोत्सर्ग करना चाहिये ।

आ. भा. १ सेव्यते २ यतीश्वराः ३ कायोत्सर्गे विशोधनम्

तृणलोष्टादिकच्छेदे स्तोके वा हस्तकर्मणि । कायोत्सर्गमितो दण्डो मनोमासिकसेवनात् (?)[1] ॥ ४१
मृत्तिकायवगोधूममुद्गमाषादिमर्दने । हरितत्रसकायानां संघट्टेऽपि तनूत्सृतिः ॥ ४२
उध्दूलितपदस्तोये तोयलिप्तपदोऽथवा । पांसुमध्ये विशेद्यस्तु तस्य स्यात्पुरुमण्डलम् ॥ ४३
यस्तु कर्दमलिप्ताङ्घ्रिर्जले विशति संयतः । कल्याणपञ्चकं तस्य जायते शुद्धिहेतवे ॥ ४४
आर्द्रैकतृणविच्छेदे छिन्ने वानंतकायिके । आचाम्लादि दिशेद्दंडं एकस्थानं द्वितीयके ॥ ४५
अनंतकायिनो ज्ञेयाः सूरणस्नुहिमूलिकाः[2] । अन्ये वा स्युर्गडूच्याद्या बहवोऽनंतकायिकाः ॥ ४६
यस्य मूलेषु शाखायां पत्रे वा सन्ति सर्वदा । अनन्तकायिनो जीवा म्रियन्ते तद्विघाततः ॥ ४७

तृण, मट्टीका ढेला, आदिक पदार्थ हाथसे तोडने फोडने पर तथा हाथसे कुछ अन्य काय करनेपर कायोत्सर्ग मात्र दण्ड है अर्थात् कायोत्सर्ग करनेसे शुद्धि होती है। ('मनोमासिक सेवनात्' इसका अर्थ हमारे ध्यानमे नहीं आता है) ॥ ४१ ॥

मट्टी, जौ, गेहू, मूग, उडद आदि धान्योका मर्दन करनेपर हरी–सचित्त वनस्पति और त्रसकायके आपसमे सघट्ट–मुनिके हाथ आदिके द्वारा होनेपर कायोत्सर्गसे शुद्धि होती है ॥४२॥

[पुरुमंडल प्रायश्चित्तका दोष ।] – जिसके पाव धूलीसे भरे हुए है ऐसा मुनि पानीमे चला जाय अथवा पानीसे जिसके पाव भीगे है ऐसा मुनि धूलीमे प्रवेश करे तो पुरुमडल नामक प्रायश्चित्तसे वह शुद्ध होता है। अर्थात् वह काजीभोजन करनेसे शुद्ध होता है ॥ ४३ ॥

कीचडसे जिसके पाव भर गये है–लिप्त हुए है ऐसा मुनि यदि जलमे प्रवेश करेगा तो उसकी शुद्धिके लिये कल्याणपचक नामका प्रायश्चित्त है। अर्थात् वह मुनि जिससे जिह्वा और मन विकारयुक्त न हो ऐसा आहार करे, जिसको निर्विकृति आहार कहते है। पुरिमडल आहार, आचाम्ल आहार–भात और इमलीका पानक खावे, एक स्थान करे और उपवास करे। एक निर्विकृति आहार, एक पुरुमडल आहार–काजी भोजन, एक आचाम्ल आहार, एक एकस्थान और एक उपवास ऐसे पाच प्रकारको कल्याणपचक प्रायश्चित्त कहते है ॥ ४४ ॥

यदि मुनि गीली घास तोडेगा अथवा अनतकायिक वनस्पति तोडेगा तो आचार्य उसे आचाम्लाहारका प्रायश्चित्त और एकस्थानका प्रायश्चित्त देवे ॥ ४५ ॥

[अनतकायिक वनस्पति और उसका लक्षण ।] – सूरण, स्नुही–तीन धारवाली नागफणी नामक वनस्पति, मूलक, गडूची–गिलोय आदि शब्दसे कुमारी आदिक अनेक अनतकायिक वनस्पति हैं। जिसके मूलमें, शाखामे और पत्रोमे सर्वदा अनतकायिक जीव रहते है और उनके ऊपर आघात करनेमे–प्रहार करनेसे–मूल, शाखा, पत्रके ऊपर आघात करनेसे वे जीव मरते है ॥४७॥

---

१ मनोमासिकसेवने २ आ. मूलिका.

व्यापत्तौ त्रसजीवस्य सप्रमादाप्रमादयोः । एकं कल्याणकं तद्वा नीरसाहारपञ्चकम् ॥ ४८
पञ्चकल्याणकं दण्डे तस्मिन्नाभीक्ष्ण्ययोगतः । व्यापन्ने सति पञ्चाक्षे दर्पात्कल्याणपञ्चकम् ॥ ४९
पीठादिचलने वास्मिन्व्यापन्ने सति जायते । निःप्रमादवतश्छेद एककल्याणपञ्चकम् ॥ ५०
वसतद्वारदेशे चेत्पञ्चाक्षो दृश्यते मृतः । तन्निर्गतप्रविष्टानामेककल्याणकं भवेत् ॥ ५१
गृहस्थसंयतेभ्यो वा न यत्र कथिते सति । वृश्चिकादौ हतेऽन्येन क्षमणं पञ्चक क्रमात् ॥ ५२
अनेनैव क्रमेणाऽपि सर्पादौ निहते सति । प्रयत्नेन तु कल्याण मासिक वा प्रयत्नतः ॥ ५३
यतीनामतियत्नेन विपीति प्रतिपादिते । अन्येन निहते तस्मिन्विशुद्ध समितो यत. ॥ ५४
भिपगादेशतो वह्नेः प्रज्वालनप्रतिव्यथम् । अनापृच्छयातुर कुर्वन्पञ्चकल्याणभाग्भवेत् ॥ ५५
कारणे ननु गृह्णाति हरीतकीवचादिकान् । यदि न दुष्यति तदा साधुरिति वाचो विपश्चिताम् ॥

[त्रसजीवके नाशका प्रायश्चित्त ।] असावधानतासे एक त्रसजीवका घात यदि मुनि करे तो उसे एक कल्याण नामक प्रायश्चित्त है अर्थात् एक निर्विकृति, एक पुरुमडल, एक आचाम्ल, एक एकस्थान और एक उपवास । और अप्रमाद अवस्थामे त्रसजीवका घात यदि मुनिसे हो जाय तो पांच नीरसाहार ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त आचरे ॥ ४८ ॥

मुनि प्रमादरहित है परतु पीठादिके चलनेसे अथ अकस्मात् कोई जीव मर जाय तो एक कल्याणपचक नामका प्रायश्चित्त है जिसका ऊपर उल्लेख आया है ॥ ४९ ॥

वसतिकासे बाहर निकलते समय अथवा वसतिकामे प्रवेश करते समय यदि वसतिका द्वारदेशमे पञ्चेन्द्रिय जीव मरा हुआ देखा जाय तो एक कल्याणक प्रायश्चित्त है अर्थात् निर्विकृति आदिक पाचोमेसे कोईभी प्रायश्चित्त जो आचार्य बतावे मुनि उसका आचरण करे ॥ ५०--५१॥

[बिच्छुके नाशका प्रायश्चित्त ।] -- गृहस्थ अथवा मुनियोने बिछु आदिक जन्तु यत्न-पूर्वक पकडो ऐसा नहीं कहा और किसीने उसका घात किया तो गृहस्थ और मुनिको क्रमसे पाच उपवासका प्रायश्चित्त है ॥ ५२ ॥

इसी प्रकारसे सर्पादिकोका घात कोई करे तो प्रयत्न पूर्वक उसको छोड दो ऐसा कहने-परभी यदि कोई मारेगा तो कल्याणनामक प्रायश्चित्त है और अप्रयत्नपूर्वक घात किया होगा तो मासिक प्रायश्चित्त है अर्थात पचकल्याण नामक प्रायश्चित्त है । यतियोने अतिशय प्रयत्नपूर्वक विपयका प्रतिपादन किया अर्थात् बहुत सावधनतासे बिच्छु, सर्प आदिक प्राणीका रक्षण कर उसे छोड दो ऐसा कहनेपरभी यदि किसीने उनको मार डाला तो मुनिको प्रायश्चित्त नहीं है, क्योंकि मुनि विशुद्ध है समितियुक्त है ॥ ५४ ॥

वैद्यकी आज्ञासे अग्निको बुझाना, आदि करे और रोगी मुनिको इस विषयमे कुछभी न पूछे तो मुनि पञ्चकल्याण प्रायश्चित्तको ग्रहण करे ॥ ५५ ॥

कुछ कारणसे हर्र, वचा आदिक यदि मुनि ग्रहण करे तो वह निर्दोष है ऐसा विद्वान् कहते है ॥ ५६ ॥

वीजपूरकविल्वादिग्रहणेन तु शुद्ध्यति । एककल्याणकेनैव यदि कारणमाश्रित. ॥ ५७
कन्दर्पकौतुकुच्ये वा स्तोके मिथ्या प्रजल्पने । मिथ्याकारेण शुद्धः स्यान्निषिद्धे मलसर्जने ॥ ५८
द्वादश योजनान्येष वर्षाकालेऽभिगच्छति । यदि सङ्घस्य कार्येण तदा शुद्धो न दुष्यति ॥ ५९
यदि वादविवादः स्यान्महामतविघातकृत् । देशान्तरगतिरतस्मान्न च दुष्टो वर्षास्वपि ॥ ६०
धातुवादेऽथवा गन्धयुक्ते रसविपर्यये । सधर्मैरेककल्याणं दर्शनान्मासिकं परैः ॥ ६१
चित्तमैथुनसेवायां मिथ्याकारेण शुद्ध्यति । तत्र तीव्राभिलाषेण मासिकं लभते मुनिः ॥ ६२
मैथुनस्योपसेवायां यतीनां दण्ड इष्यते । मासांस्तु चतुरो यावदेकान्तरितभोजनात् ॥ ६३

किसी कारणसे बीजपूर–बिजौरा, बेलफल आदिका ग्रहण यदि मुनि करे, तो वह एक कल्याणसेही शुद्ध होता है ॥ ५७ ॥

[मिथ्याकारसे शुद्धि ।] – कदर्पवचन–रागके उद्रेकसे प्रहासमिश्रित अशिष्ट वचन-प्रयोग, कौत्कुच्य–हसीपूर्वक भाण्डवचन बोलना, भौहे आखे आदिकके अभिनयके साथ हसीपूर्वक भाण्डवचन बोलना, थोडासा झूठ वचन बोलना ऐसे कार्य यदि मुनिके द्वारा होंगे तो मिथ्याकारसे शुद्धि होगी अर्थात् मेरा यह कार्य अयोग्य हुआ ऐसा वह बोले । तथा निषिद्ध स्थानपर यदि मलमूत्र-क्षेपण मुनि करे तो मैने यह कार्य मिथ्या किया है, ऐसा वचन बोले, जिससे अपनी निंदा व्यक्त होती है ॥ ५८ ॥

[सघकार्यके लिये वर्षाकालमे गमन प्रायाश्चित्तयोग्य नही ।] – वर्षाकालमे संघके कार्यके लिये यदि मुनि बारह योजन तक कहीं जायगा तो वह प्रायश्चित्तहि नहीं है । यदि वाद विवादसे महासघका नाश होनेका प्रसग हो तो वर्षाकालमेभी देशान्तरमे जाना दोषयुक्त नहीं है ॥ ५९–६० ॥

[धातुवादादिक कथनमे प्रायश्चित्त ।] – धातुवादका कथन–उपदेश करनेपर तथा गधादिक तयार करनेका उपदेश, पारदका शोधन मारणका उपदेश करनेपर एक कल्याण और मासिक प्रायश्चित्त देना चाहिये । उपर्युक्त उपदेश देते हुए मुनिको साधर्मिक देखे तो उपदेश देनेवालेको एक कल्याण नामक प्रायश्चित्त और अन्य धर्मियोके द्वारा देखे जाय तो मासिक प्रायश्चित्त देना चाहिये ॥ ६१ ॥

[मैथुनसेवाका प्रायश्चित्त ।] – मनमे मैथुन सेवाका विचार आनेसे मिथ्याकारसे शुद्धि होती है । और उसमे तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो गई तो मासिक नामक प्रायश्चित्त है ॥ ६२ ॥

[मैथुनसेवन दोषके लिये प्रायश्चित्त ।] – यदि मुनि मैथुनसेवन करे तो उनको यह दण्ड है–चार महिनेतक एकान्तरित भोजनका प्रायश्चित्त है । अर्थात् एक दिन भोजन करे, दूसरे दिन उपवास करे, ऐसी प्रायश्चित्त विधि सतत चार महिने तक करनी चाहिये; तब इस दोषका परिहार होता है ॥ ६३ ॥

हरिदङ्कुरगर्ताम्बुमृत्तिकाजन्तुसङ्कुले । पथि गच्छन्विशुद्धः स्यान्मार्गाभावे प्रयत्नत. ॥ ६४
विद्यमानेऽपि चेन्मार्गे तानेव यदि लङ्घते । प्रमादाल्लभते दण्ड कल्याणपञ्चकं यति ॥ ६५
ज्ञानादिमदमत्तो यः स्वयूथ्यानपमन्यते । पञ्चकल्याणतः शुद्धिस्तस्यावश्यं प्रजायते ॥ ६६
क्षणध्वस्तकषायो योऽमिथ्याकाराद्विशुद्ध्यति । अहोरात्रेण कल्याणं मासिकं लभते तत ॥ ६७
तर्कव्याकरणादीनां ज्योतिर्गणितछन्दसां । महाकाव्यादिशास्त्राणां शिक्षायै यदि सेवते ॥ ६८
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं पार्श्वकवर्तिनः । मिथ्याकारो मतस्तस्य पञ्चकल्याणमन्यथा ॥ ६९
मार्यमाणान्विलोक्यासून्पञ्चक लभते नरः । भिन्नमासोऽथवानिदान्म्रियमाणान्सरोगिण ॥ ७०
यूकादिमत्कुणादीनां धारणे स्यात्प्रतिक्रमः । तैश्च क्रीडापरस्यास्ति शुद्धि. कल्याणपञ्चकात् ॥ ७१

जिस मार्गमे हरे अकुर ऊगे हुए खड्डे है, पानी, किचड और जन्तु है, ऐसे मार्गसे मुनि यदि प्रयत्नपूर्वक यानी जीवोका रक्षण करते हुए दूसरा निर्जन्तुक मार्ग न हो तो गमन करे वह विशुद्ध प्रायश्चित्त योग्य नहीं ॥ ६४ ॥

और वैसा विशुद्ध मार्ग होनेपरभी यदि मुनि अकुर, पानी, जतु आदिको उल्लघते हुए गमन करे तो प्रमादगमन करनेसे कल्याणपचक नामका प्रायश्चित्त ग्रहण करे ॥ ६५ ॥

[ज्ञानादिमदसे साधर्मिकका अपमान करनेसे प्रायश्चित्त ।] – ज्ञानादि गर्वसे साधर्मिकोका अपमान करनेवाले मुनिकी ' पच कल्याण ' प्रायश्चित्तसे शुद्धि अवश्य होती है ॥ ६६ ॥

[कषाय करनेवालेको प्रायश्चित्त ।] – कषाय उत्पन्न होकर जल्दी यदि नष्ट हो जावेगा तो वह मुनि मिथ्याकारसे शुद्ध होता है । यदि अहोरात्रतक कषाय रहेगा तो कल्याण–पचकल्याण प्रायश्चित्त और अहोरात्रसेभी अधिक कालतक कषाय रहेंगे तो ' मासिक ' प्रायश्चित्त है ॥६७॥

[तर्कादि अध्ययन पार्श्वस्थादि मुनियोसे करनेसे प्रायश्चित्त ।] – तर्क, व्याकरणादिक, ज्योतिष, गणित, छद.शास्त्र महाकाव्यादि शास्त्रोका अध्ययन दर्शनज्ञानचारित्रके सन्निध रहनेवाले पार्श्वस्थ मुनिके पास यदि किया जायेगा तो उसका प्रायश्चित्त 'मिथ्याकार' है। अन्यथा पार्श्वस्थ मुनिसे भिन्न अन्य कोई अन्यधर्मी साधुके पास अध्ययन करे तो ' पचकल्याण ' प्रायश्चित्त धारण करना चाहिये ॥ ६८–६९ ॥

[प्राणीको मारते हुए जो देखे तो वह प्रायश्चित्तार्ह है]– कोई प्राणीको मारता है और कोई मुनि उनको देखता है तो उसको कल्याणपचक प्रायश्चित्त है। और मरते हुए रोगीको कोई मुनि देखे तो भिन्नमास प्रायश्चित्त उसको है अथवा यदि वह निदा करे तो दोपरहित होता है ॥७०॥

जू, खट्मल आदिक छोटे जन्तुओको मुनि पकडे तो प्रतिक्रमणसे शुद्ध होता है। और यदि वह मुनि उनसे क्रीडा करेगा तो कल्याणपचकसे उसकी शुद्धि होती है ॥ ७१ ॥

आ. भा. १ सूरिसूर्यो न दूष्यति ।

शय्यागारादिकस्यापि सधर्मणां कृते कृतौ । कर्तुर्वात्सल्यतो यत्तन्नास्ति दोषो मनागपि ॥ ७२
वन्दारु शुद्ध एवासौ पार्श्वस्थगणिनो गणी । संघमेलापकेऽन्यत्र मासिकं दण्डमश्नुते ॥ ७३
राजादिराजलोकानां स्नेहमुत्पादयन्नपि । नैव दुष्टो गणी कश्चित्सङ्घपालनहेतुतः ॥ ७४
अभ्युत्थानादिकं कुर्वन्गृहस्थेष्वन्यलिङ्गिषु । दीक्षादिकारणाच्छुद्धो मासिकं चान्यथा भजेत् ॥ ७५
राजासन्नासनस्थोऽपि धर्मादेः कारणाश्रयात् । अभ्युत्थानेऽथवा तस्य सूरिसूर्यो न दुष्यति ॥ ७६
भूपत्याद्याः समागत्य पूजयन्ति यतीश्वरम् । पूजितस्य च तैर्गर्वे मासिकं तस्य जायते ॥ ७७
निषद्यासेवनं मिथ्याकारेच्छा-सुनिमन्त्रणं । यो न कुर्वन्नरस्तस्य पुरुमण्डलमीरितम् ॥ ७८

[साधर्मिकोको शय्या और वसतिका देनेमे प्रायश्चित्तका अभाव ।] - तृणकी शय्या, फलककी शय्या तथा वसतिका साधर्मिकोंके लिये कोई दे अथवा करे तो वात्सल्यभाव होनेसे शय्यादिक देनेवालेको प्रायश्चित्त दोष हैही नहीं ॥ ७२ ॥

संघमे सब मुनियोका समूह होनेसे पार्श्वस्थ गणीको यदि आचार्य वदन करे तो वह शुद्धही है परतु जब अकेले पार्श्वस्थ आचार्यको वंदन करे तो वह मासिक प्रायश्चित्तको योग्य है ॥७३॥

[सघपालनार्थ राजस्नेह करनेवाले आचार्य निर्दोष है ।] — राजादिक और उनके सेवकोका स्नेह रखनेवाले आचार्य दोषी नहीं है, क्योकि वे सघका पालन राजादिकोंके साथ स्नेह रखनेसे होगा ऐसा उद्देश मनमे रखकर वैसा स्नेह पालन करते है ॥ ७४ ॥

कोई गृहस्थ दीक्षा आदि कार्यके लिये आया है, तो उसका अभ्युत्थानादिक यदि करे तो वह दोषी नही है और अन्यधर्मीय साधु दीक्षा ग्रहणके लिये आया हो तो उसकाभी आदर करनेमे आचार्य दोषी नहीं है । यदि इन कारणोंके विना आचार्य आदर करे ऊठकर खडे होना आदि विनय करे तो वह मासिक प्रायश्चित्तके योग्य है ॥ ७५ ॥

राजा आसनपर बैठा है और धर्मादिक कारणसे आचार्य राजाकी सभामे आये और राजा आदरके लिये आसनसे ऊठनेपर अथवा न ऊठनेपर आचार्यको दोष नहीं है । राजा, मत्री आदिक आकर आचार्यकी पूजा करनेसे मेरी पूजा राजादिक करते हैं ऐसा गर्व यदि आचार्य करे तो उनको मासिक प्रायश्चित्त है ॥ ७६–७७ ॥

जो साधु निषद्यासेवन नही करता है अर्थात् जहा जैन मुनि समाधिमरण करते है उस स्थानकी वदना नही करता हैं, जो मिथ्याकार, इच्छाकार और निमत्रण नहीं करता है-नहीं बुलाता है उसको पुरुमडल नामक प्रायश्चित्त होता है ॥ ७८ ॥

१ आ. छेद २ आ. त्वप ३ आ. नृपाद्याः ४ आ सेविका

उष्णकाले जघन्यं स्याद्वर्षाकाले तु मध्यमं । उत्कृष्टं शीतकाले तत्प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ७९
चतुर्थं ग्रीष्मकाले स्यात्षष्ठं[1] हि स्याद्घनागमे । प्रदेयं शीतकाले स्यादष्टमं[2] च विशोधनम् ॥ ८०
शरद्वसन्तो ग्रीष्मश्च त्रयोऽमी गुरवो मताः । प्रावृट्शिशिरहेमन्ता लघवो लघुकर्मभिः ॥ ८१
इति कालविभागेन तपो देयं मनीषिभिः । अन्यथा दातुरप्येतत्प्रायश्चित्त प्रजायते ॥ ८२
अनूपं कथ्यते क्षेत्रं सिन्ध्वादिमलयादिकम् । जाङ्गल जलसंयुक्तं समुद्रान्तं त्रसाधिकम् ॥ ८३
भक्तयुग्मापयुक्तावत्पञ्चमं सक्तुयुग्मतम् । रसधान्यपुलाकं च यवाग्वाद्युपभोजनम् ॥ ८४
सूरणादिमहाकन्दप्रचुरं कन्दयुग्मतम् । तन्मनाग्मूलिनीपूर्वं मूलयुग्मूलभुङ्मतम् ॥ ८५
क्षेत्राणि च दशैतानि ज्ञातव्यानि विशेषतः । समस्तवस्तुसात्म्यात्स्यात्सौम्यं साधारण मतम् ॥ ८६

[कालकी अपेक्षासे प्रायश्चित्त वर्णन ।] – उष्णकालमे जघन्य प्रायश्चित्त है । वर्षाकालमे मध्यम प्रायश्चित्त है और शीतकालमे उत्कृष्ट प्रायश्चित्त है ॥ ७९ ॥

ग्रीष्मकालमे एक उपवासका प्रायश्चित्त वर्षाकालमे दो उपवास और शीतकालमे तीन उपवासका प्रायश्चित्त देना चाहिये ॥ ८० ॥

शरत्काल, वसन्त और ग्रीष्म ये तीन ऋतुकाल गुरु है और वर्षाऋतु, शिशिरऋतु और हेमन्तऋतु ये लघु-कार्यसे लघु है ॥ ८१ ॥

ऐसे काल विभागके अनुसार विद्वान् आचार्य मुनियोको प्रायश्चित्त देवे । परतु काल-विभागका विचार न करते हुए आचार्य यदि प्रायश्चित्त देने लगे तो वेही प्रायश्चित्तार्ह हो जाते है ॥ ८२ ॥

[दश क्षेत्रोके नाम ।] – जलप्राय क्षेत्रको अनूप कहते है जैसे सिधु, मलयादिक देश । जाङ्गलक्षेत्र वह है जो जलसयुक्त है । समुद्रके समीपका प्रदेश त्रसाधिक रहता है, त्रसजीवोसे भरा हुआ होता है । जहा भात और उडद ये धान्य प्रचुर उत्पन्न होते है ऐसा चौथा क्षेत्र, पाचवा क्षेत्र सत्तु-धान्यके उपयोगका होता है । छठा क्षेत्र रसधान्य और पुलाक धान्यसे युक्त है । यव और गोधूम–गेहूँ इन धान्योका जहाके लोक भोजन करते है ऐसा सातवा क्षेत्र । सूरणादि महाकदोसे भरा हुआ क्षेत्र जिसे कन्दयुक् कहते है वह आठवा क्षेत्र है । जहा मूलकादिक विपुल उत्पन्न होते है ऐसे क्षेत्रको मूलयुक् कहते है । जहा लोग मूलकादि पदार्थ भक्षण बहुत करते है उसको मूलभुक् कहते है । ये दश क्षेत्र विशेषतासे समझने चाहिये, क्योकि ये दशक्षेत्र समस्तवस्तुओका सात्म्य धारण करते है अर्थात् इनका भक्षण करनेसे मनुष्योको सुख होता है । जो आहार और पान प्रकृतिके विरुद्ध होनेपरभी बाधक नहीं होते है, सुखके लिये कारण होते है उनको सात्म्य कहते है । ऐसे आहार-पानको सौम्य और साधारणभी कहते है ॥ ८३–८६ ॥

---

१ अष्टम हि घनागमे २ षष्ठमेव

शैत्यं यत्र रसाधिक्यभोजनं वा सुभोजनम् । तत्रोत्कृष्टं भवेत्तावच्छोधनं मुनिभिर्मतम् ॥ ८७
उष्णे चापि तथा रूक्षे हीनं देयं मनीषिभिः । यत्तु मध्यं[1] प्रदीयेत प्रायश्चित्तं च मध्यमे ॥ ८८
उत्कृष्टाहारयुक्तानामुत्कृष्टं तत्तपो मतम् । मध्यमाहारयुक्तानां ईषदूनं तदेव हि ॥ ८९
रूक्षाल्पभुक्तियुक्तानां क्षीणानामतिरूक्षिणाम् । प्रायश्चित्तं भवेन्नित्यं क्षमणेन विवर्जितम ॥ ९०
चिरं यो दीक्षया गर्वी प्रायश्चित्तं च दीयते । तपोवलीति गर्वेण गर्वितोऽपि तथा भवेत् ॥ ९१
छेदे वितीर्यमाणेऽपि मृदुर्यो हर्षमश्नुति[2] । वन्द्योऽहमित्यनेनास्मिन्निति नैतेन शुद्धयति ॥ ९२
परिज्ञाय यथादोषं दातव्यानि मनीषिभिः । अकुर्वाणस्तपः प्राज्यं न शुध्येद्गुरुवाक्यतः ॥ ९३
अकुर्वाणस्तपः प्राज्यमश्रद्धो गुरुवाक्यतः । अश्रद्धावानयं घोरशोधनेनैव शुद्धयति ॥ ९४

[उत्कृष्ट प्रायश्चित्त कहा देना चाहिये ?] – जिस क्षेत्रमे शीत जादा है और जहाका भोजन दूध, घी, गुड, खाड इत्यादि रसप्रचुर होता है अथवा जहाका भोजन उत्तम होता है वहां मुनिओको उत्कृष्ट प्रायश्चित्तका उपयोग करना चाहिये ऐसा कहा है। उष्ण क्षेत्रमे और रूक्ष क्षेत्रमे विद्वानोको जघन्य प्रायश्चित्त देना चाहिये। मध्यमक्षेत्रमे मध्यम प्रायश्चित्त देना योग्य है ॥८७–८८

[आहारकी अपेक्षासे प्रायश्चित्त वर्णन ।] – उत्कृष्टाहार जो करते है उनको उत्कृष्ट तप–प्रायश्चित्त देना चाहिये । मध्यम आहार करनेवालोको वही उत्कृष्टतप–प्रायश्चित्त किन्तु कुछ कम प्रायश्चित्त देना चाहिये । रूक्ष और अल्पभोजन करनेवालोको-अर्थात् अशक्त मुनियोको अतिरूक्ष प्रायश्चित्त देना चाहिये, अर्थात् असमर्थोको उपवासरहित प्रायश्चित्त देना चाहिये ॥ ८९–९० ॥

[गर्व करनेवालेभी प्रायश्चित्तार्ह है ।] – जिसको दीक्षा लेकर वहुत दिन हुए है और जो अपनेको पुराना साधु समझकर गर्व करता है, वह प्रायश्चित्तयोग्य है । उसको प्रायश्चित्त देना चाहिये तथा जो अपने तपःसामर्थ्यका गर्व करता है वह तपोगर्वी मुनिभी प्रायश्चित्त योग्य है ॥९१॥

छेद–प्रायश्चित्त देनेपरभी जो मृदु मुनि–कोमलाचार पालनेवाले मुनि हर्षयुक्त होता है। मै इस प्रायश्चित्तसे वन्दनीय हुआ हू ऐसा अभिमान धारण करता है, वह उस प्रायश्चित्तसे शुद्ध नहीं होता ॥ ९२ ॥

दोषोको जानकर विद्वान् आचार्य प्रायश्चित्त देवे। उत्कृष्ट तप नहीं करनेवाला गुरुदत्त प्रायश्चित्तसे शुद्ध नही होता है ॥ ९३ ॥

जो उत्तम तप नहीं करता और जो गुरुके वचनोपर श्रद्धा नहीं करता वह श्रद्धारहित मुनि घोर प्रायश्चित्तसेही शुद्ध होता है ॥ ९४ ॥

[1] आ. यत्तु म [illegible] मतं क्षेत्र तत्र म[illegible] प्रदीयते । [2] आ. सप्रायश्चित्तमश्नुति ।

प्रियधर्मादिकाञ्ज्ञात्वा पञ्चाशत्पुरुषान्सदा । प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं यथोक्तं मुनिपुङ्गवै. ॥ ९५
अज्ञान[1]पि बहु ज्ञात्वा जिनागमनिवेदितान् । पुरुषान्दीयते दण्डो विविधागमपारगै ॥ ९६
आलोचना प्रतिक्रान्तिस्तद्द्वयं त्याग एव वा । व्युत्सर्गश्च तपश्छेद. परिहारोऽभिरोचनम् ।
मूलं वापि दशैतानि शोधनानि जिनागमे ॥ ९७
शोधयितुं न यो दोषः शक्यते तपसापि वा । दीक्षा विच्छिद्यते तेन छिन्नताम्बूलपत्रवत् ॥ ९८

जिनको धर्मप्रिय है ऐसे पचास पुरुषोको (?) जानकर मुनिश्रेष्ठ सदा आगमोक्तप्रायश्चित्त श्रद्धारहित मुनिको देवे ॥ ९५ ॥

नाना प्रकारके आगमके पारगामी मुनि जिनागममे कहे हुए अनेक अज्ञ पुरुषोको जानकर प्रायश्चित्त देवे ॥ ९६ ॥

[प्रायश्चित्तके दशभेद ।] – आलोचना–आलोचनाके दस दोषोका त्याग कर गुरुको अपने प्रमाद दोष कहना आलोचना है । प्रतिक्रमण–यह मेरा दोष मिथ्या हो जावें ऐसा कहकर दोष दूर करना । तदुभय–दोष होनेपर प्रतिक्रमण और आलोचना दोनोके द्वारा जो नष्ट किये जाते है उन्हे तदुभय कहते है । विवेक–जिनके ऊपर ममत्व उत्पन्न हुआ है ऐसे अन्नपानादिक त्यागना विवेक है । अथवा अप्रासुक पदार्थ विस्मृतिसे ग्रहण किये जानेपर अथवा (त्याग किये हुवे) प्रासुक पदार्थका ग्रहण किया गया तो उसका स्मरण पूर्वक त्याग करनाभी विवेक है । मलमूत्रादि क्षेपण करते हुए जो दोष हुए है उनके निराकरणार्थ जो शरीरके ऊपर ममत्व छोडकर अन्तर्मुहूर्तादि कालपर्यन्त कायोत्सर्ग करना उसे व्युत्सर्ग तप कहते है । तप – कुछ अपराधोके क्षालनार्थ उपवास, आचाम्ल, निर्विकृति आदिक विधि करना वह तप प्रायश्चित्त है । छेद–अपराध होनेपर दीक्षामेंसे दिन, पक्ष, मास आदिक कम किये जाते है वह छेद प्रायश्चित्त है । मूल-पार्श्वस्थादिक मुन्याभासरूप अवस्था प्राप्त होनेसे संपूर्ण दीक्षा नष्ट होकर पुन· दीक्षा देना मूलप्रायश्चित्त है । परिहार-पक्ष मासादिक कालमर्यादाकी अपेक्षासे संघसे दूर करना परिहार कहते है । पारंचिक–अनेक महापराध करनेपर जो चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघसे यह महापापी है यह जिनमतबाह्य है इसको वन्दन मत करो ऐसी घोषणा देकर अनुपस्थापना नामक प्रायश्चित्त देकर देशसे निकाला जाता है वह मुनिभी स्वधर्मरहितक्षेत्रमे जाकर आचार्यसे दिया हुआ प्रायश्चित्तका पालन करता है । ऐसे दस प्रायश्चित्त जिनागममे कहे है । विद्वान आचार्य दोषानुसार जानकर अपराधीको प्रायश्चित्त देवे ॥ ९७ ॥

[दीक्षाच्छेद कब किया जाता है ?] – जो दोष तपश्चरणसेभी निवारित नहीं किया जाता–दूर नहीं होता ऐसे दोषसे दीक्षा छेदी जाती है अर्थात् वह दोष दीक्षाकोभी नष्ट करता है । जैसे पानीसे भीगा हुआ ताम्बूलपत्र सड जाता है वैसे कोई दोष मुनियोकी दीक्षाको नष्ट करता है ॥९८॥

---

१ आ. अन्यानपि बहून्ज्ञात्वा इत्यपि पाठ. ।

आचार्यगणमुत्सृज्य भ्राम्यत्येको महीतले । यावत्क्रियामजानानस्तावद्दीक्षास्य छिद्यते ॥ ९९
पार्श्वस्थगणसंयुक्तः षण्मासान्यो व्यवस्थितः । तपस्तस्य भवेदूर्ध्वं छेद एव निगद्यते ॥ १००
न त्वन्यत्र पुनस्तस्य व्रतारोपणमीर्यते । श्रामण्योक्ता गुणा यस्य नश्यन्ति कार्त्स्न्यतोऽथवा ॥ १०१
आर्यिकासंयतानां च गृहस्थानामहेतुकम् । अभ्युत्थानं करोत्यस्य प्रायश्चित्तं भवेत्पुनः ॥ १०२
जिनसूत्रापरिज्ञानादुत्सूत्रं वर्णयेत्पुनः । स्वच्छन्दस्य भवेत्तस्य मूलदण्डो विधानतः ॥ १०३
अत एव महात्मानो जिनसिद्धान्तवेदिनः । उपवासे परायत्तास्तपः कुर्वन्त्यहर्निशम् ॥ १०४
तत्पार्श्वस्थावसन्नैककुशीलमृगचारिषु । ये गृहीतव्रतास्तेषां दातव्यं मूलमेव च ॥ १०५

आचार्योंका गण छोडकर वह दोषी मुनि अकेला पृथ्वीपर विहार करता है, जबतक वह क्रिया नहीं जानता, नहीं करता तबतक उसकी दीक्षा छेदी जाती है ॥ ९९ ॥

पार्श्वस्थगण – भ्रष्ट मुनिसमूहके साथ जो मुनि छह महिनोंतक रहते हैं उनकी दीक्षा छेदी जाती है और यह छेदनामक प्रायश्चित्त है ॥ १०० ॥

जिसके मुनिपदयोग्य सब गुण नष्ट हुए हैं अथवा जिसके कुछभी गुण नहीं है उसको पुनः व्रतारोपण नहीं दिया जाता ॥ १०१ ॥

आर्यिका, असंयमी तथा गृहस्थ आनेपर विनाहेतु जो अभ्युत्थान करता है उस आचार्यको प्रायश्चित्त कहा है ॥ १०२ ॥

जिनसूत्रका ज्ञान न होनेसे जो उत्सूत्र प्रतिपादन करता है, उस स्वच्छन्द मुनिको [illegible] विधिसे मूलदण्ड देना चाहिये । अर्थात् उसको पुनः दीक्षा देनी चाहिये ॥ १०३ ॥

[illegible] जो [illegible] हैं और जैन-सिद्धान्तके वेत्ता होते हैं वे उपवासमें अधीन होकर हमेशा तपश्चरण करते हैं ॥ १०४ ॥

जो पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और मृगचारीके पास दीक्षाग्रहण करते हैं उनको मूल-प्रायश्चित्त देना चाहिये अर्थात् पुनः दीक्षा देनी चाहिये ॥ १०५ ॥

पार्श्वस्थ—जो वसतिकामें आसक्त रहता है, उपकरणोंसे उपजीविका करता है और [illegible] पास रहता है ।

[illegible] क्रिया पालनमें आलस्य युक्त होता है । जिनवचनोंको नहीं जानता है, जिसने [illegible] चारित्रको नष्ट किया है और क्रियाओंमें आलस्ययुक्त है ।

[illegible] गुण और [illegible] करनेवाला ।

[illegible] होकर विहार करनेवाला, और जिनवचनोंको दूषित [illegible] ॥

आसादनं प्रकुर्वाणास्तीर्थेशगणयोरपि । श्रुतं जैनमतिक्रामन्भूयः पारञ्चिको भवेत् ॥ १०६
साधूनां श्रावकाणां च मूलोत्तरगुणेषु यत् । व्रतभङ्गेषु भग्नेन कथयामि यथागमम् ॥ १०७
मूलोत्तरगुणोपेते साधौ यत्नवति स्थिरे । वधे दण्डतनूत्सर्गा भवन्तीन्द्रियसङ्ख्यया ॥ १०८
अस्थिरस्यास्य जायेत कायोत्सर्गविशोधनम् । प्राणादिसङ्ख्ययोत्पन्ने वधे एकेन्द्रियादिनाम ॥१०९
अप्रयत्नवतस्तस्य स्थिरस्येन्द्रियसङ्ख्यया । उपवासा भवन्त्येव प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥ ११०
अस्थिरस्यास्य जायन्ते ह्युपवासा विशोधनम् । प्राणादिसंख्यया जाते वधे चैकेन्द्रियादिषु ॥ १११
अथवा जायते दण्डः क्षेत्रकालाद्यपेक्षया । योऽयं तमपि वक्ष्यामि श्रीगुरूणां प्रसादतः ॥ ११२
तदैकेन्द्रियजीवानां द्वादशानां वधे सति । उपवासो भवेत्साधोः शोधनं शुद्धिवर्तिनः ॥ ११३
स षड्भिर्द्वीन्द्रियैः साधोश्चतुर्भिस्त्रीन्द्रियैः पुनः । निहतैर्जायते दण्ड. सत्यमेकोपवासतः ॥ ११४

[पारचिक प्रायश्चित्तका वर्णन ।] — जो मुनि तीर्थकरोका, गणधरोका और गणका आसादन—अपमान करता है, जैनागमको उल्लघता है—विरुद्ध प्रवृत्ति करता है, राजस्त्री आदिका सेवन करता है वह मुनि पारचिक प्रायश्चित्तके योग्य है ॥ १०६ ॥

[मूलगुण और उत्तर गुणोके दोषोमे प्रायश्चित्त—वर्णन ।] — साधु और श्रावकोके जो मूलगुण और उत्तर गुण है, उनमे व्रतोके प्रभेदोका जो भग होता है—व्रतनाश होता है, उसके लिये आगमानुसार मै प्रायश्चित्तका वर्णन करता हू ॥ १०७ ॥

मूलगुण और उत्तर गुणोसे युक्त साधुके द्वारा यदि हिंसा हुई तो इद्रियसख्याके अनुसार उतने कायोत्सर्ग करने चाहिये ॥ १०८ ॥

जो साधु व्रतोमे अस्थिर है उसको कायोत्सर्गका प्रायश्चित्त है । अर्थात् एकेन्द्रियादि जीवोका वध होनेपर उनके प्राणसख्याके अनुसार कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ १०९ ॥

जो प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता है ऐसे अस्थिर साधुको विशुद्धिके लिये इन्द्रियसख्याके अनुसार उपवास करने चाहिये ॥ ११० ॥

अप्रयत्नवान् और अस्थिर ऐसे साधुको एकेन्द्रियादिकोका वध होनेपर प्राणादि सख्याके अनुसार उपवास करना चाहिये ॥ १११ ॥

अथवा क्षेत्रकालादिकोकी अपेक्षासे जो प्रायश्चित्त दिया जाता है उसकाभी श्रीगुरुके प्रसादसे मैं वर्णन करता हू ॥ ११२ ॥

शुद्धिमे रहनेवाला जो साधु है उससे यदि बारह एकेन्द्रिय जीवोका वध होवे तो एक उपवास प्रायश्चित्त है ॥ ११३ ॥

छह द्वीन्द्रिय जीव और चार त्रीन्द्रिय जीव इनका वध होनेसे एक उपवासका प्रायश्चित्त है ॥ ११४ ॥

---

१ आ. व्रत भग्नेषु भग्नेन ।

एकेन्द्रियेषु षट्त्रिंशन्मृतेष्वत्र प्रजायते । प्रायश्चित्तं प्रतिक्रान्तिः षष्ठमेकं निरन्तरम् ॥ ११५
द्वीन्द्रियेषु तथा चैवमष्टादशसु कथ्यते । त्रीन्द्रियेष्वेतदेव स्याद्द्वादशसु मृतेषु च ॥ ११६
चतुरिन्द्रियजीवेषु नवसु प्रणिगद्यते । पञ्चेन्द्रिये तदेकस्मिञ्जायते निःप्रमादिनाम् ॥ ११७
साधूनां श्रावकाणां च स्त्रीबालादिगवादिनाम् । विघाते जायते दण्डस्तं वक्ष्यामि यथागमम् ॥
साधुघाते भवेद्दण्डो मासान्द्वादश यावतः । षष्ठषष्ठोपवासेन नैरन्तर्येण सर्वथा ॥ ११९
श्रावकस्य तु घातेऽस्य षण्मासान् षष्ठषष्ठतः । पारणाविधिना सर्वे प्राणिनो दोषहारिणः ॥ १२०
बालघाते भवन्त्येते त्रयो मासा निरन्तराः । सार्द्धो मासश्च षष्ठैः स्यात्स्त्रीसामान्यविघातिनाम् ॥
दिवसाश्च प्रजायन्ते त्रयोविंशतिरेव च । षष्ठोपवासतो दण्डो गवादीनां विशोधेतः[1] ॥ १२२

छत्तीस एकेन्द्रिय जीवोंका घात होनेपर प्रतिक्रमण और दो उपवास निरंतर करने चाहिये ॥ ११५ ॥

द्वीन्द्रिय जीव अठारह और त्रीन्द्रिय जीव बारह इनका घात होनेपर यही प्रायश्चित्त है। (प्रतिक्रमण और दो उपवास) ॥ ११६ ॥

चतुरिन्द्रिय जीव नौ और पचेन्द्रिय जीव एक इनका मरण प्रमादरहित साधुके द्वारा होनेपर प्रतिक्रमण और दो उपवास का प्रायश्चित्त है ॥ ११७ ॥

[साधु आदिके घातका प्रायश्चित्त ।] – साधु, श्रावक, स्त्री, बालक, गाय आदिका घात होनेपर जो प्रायश्चित्त है उसका वर्णन आगमानुसार मैं करता हूं ॥ ११८ ॥

[साधुघातका प्रायश्चित्त ।] – साधुका घात करनेपर निरन्तर दो दो उपवास बारह महिनोंतक करना चाहिये । अर्थात् दो उपवासके अनंतर पारणा फिर दो उपवास पुनः पारणा ऐसा क्रम एक वर्षतक करनेसे साधुघातका प्रायश्चित्त पूर्ण होकर विशुद्धि होती है ॥ ११९ ॥

[श्रावकघातका प्रायश्चित्त ।] – श्रावकघात करनेपर छह महिनोंतक दो उपवासके अनंतर पारणा, दो उपवासके अनंतर पारणा ऐसा उपवास विधि करना चाहिये जिससे श्रावकघातक पापमुक्त होकर शुद्ध होता है ॥ १२० ॥

[बालघात और स्त्रीघातका प्रायश्चित्त ।] – बालघात करनेपर निरंतर तीन मासतक दो उपवासके अनंतर पारणा करनी चाहिये और स्त्री सामान्यका घात करनेपर साडेतीन महिनोंतक निरन्तर दो उपवास और पारणा, दो उपवास और पारणा ऐसा प्रायश्चित्तका क्रम करनेसे शुद्धि होती है ॥ १२१ ॥

[गाय आदि पशुघातका प्रायश्चित्त।] – गाय वगैरह प्राणियोंका घात करनेपर तेईस दिनोंका प्रायश्चित्त करना चाहिये अर्थात् दो दो उपवास और पारणा करना चाहिये ॥ १२२ ॥

---

१ आ. विधानत. ।

षण्मासान्यावदेतत्स्याद्दण्डः पाषण्डघातिनः । तद्भक्तानां त्रयोमासान् षष्ठयोगाद्विशोधनम्[1] ॥ १२३
साधोर्यो[2]ऽसौ विघाते स्यात्तद्योनीनां तथा क्रमात् । कथ्यते मुनिभिर्मान्यैः शोधनं शुद्धिहेतवे ॥
तृणभक्षविघाते स्युरुपवासाश्चतुर्दश । सिंहव्याघ्रादिजीवानां घाततोऽपि त्रयोदश ॥ १२५
मयूरकुक्कुटादीनां द्वादश स्युर्विघाततः । एकादशोपवासाश्च सर्पजातिवधे सति ॥ १२६
शुद्धिर्दशोपवासैः स्यात्सरटादिवधे सति । मत्स्यकच्छपपूर्वाणां विघातान्नवभिस्तकै ॥ १२७
नीचै[3]पैशुन्ययुक्तो यो ह्यनृतं परिभाषते । प्रत्यक्षं वा परोक्ष वा गणात्तस्य वहिः कृतिः ॥ १२८

[पापण्डिघात और तद्भक्तघातका प्रायश्चित्त ।] — पापण्डी अर्थात् भस्मधारी भिक्षु, कापालिक, परिव्राजक आदि अन्य धर्मीय साधुओका घात करनेपर छह महिनोतक दो दो उपवास पूर्वक पारणा करनी चाहिये । और उनके भक्तोका—माहेश्वर आदिकोका घात करनेपर तीन महिनोतक दो दो उपवास पूर्व पारणा करे तथा जो स्त्रीभक्त है, उनका घात होनेसे डेढ मासतक दो दो उपवासोके अनतर धारणा करनी चाहिये ॥ १२३ ॥

[आर्यिकाघातका प्रायश्चित्त ।] — जैन मुनिओका घात करनेसे जो प्रायश्चित्तका क्रम कहा है वह प्रायश्चित्त—क्रम आर्यिकाओका घात करनेमे समझना चाहिये । इस प्रकार मान्य मुनियोने शुद्धिके लिये शोधन—प्रायश्चित्त कहा है ॥ १२४ ॥

[तृणभक्षक और मासभक्षक पशुओके घातका प्रायश्चित्त ।] — तृणभक्षकपशु—हरिण, खरगोश, बकरा आदि प्राणियोका घात करनेसे चौदह उपवासोका प्रायश्चित्त है । अर्थात् एक उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा इस क्रमसे चौदह उपवासोका प्रायश्चित्त करना चाहिये । सिंह, व्याघ्र, आदि हिंस्र प्राणियोका घात करनेसे तेरह उपवास पारणापूर्वक करने चाहिये अर्थात् एकान्तरोपवास पूर्वक तेरह उपवास और तेरह पारणा करना चाहिये ॥ १२५ ॥

[मयूरादिके घातका प्रायश्चित्त ।] — मोर, मुर्गा, कबूतर, तीतर आदि पक्षियोके घातसे बारह एकान्तरोपवास करने चाहिये । और सर्पके जातिका वध किया जानेसे ग्यारह उपवास एकान्तरपूर्वक करने चाहिये ॥ १२६ ॥

गिरगिट आदिकोका नाश करनेसे एकान्तरपूर्वक दस उपवास करना चाहिये । एक उपवास, एक पारणा ऐसा क्रम दसवे उपवास तक करना चाहिये । तथा मछली, कछुवा, मगर आदि जलचर प्राणियोके घातसे नौ उपवास और नौ पारणाये करनी चाहिये । इस प्रकार अहिंसाव्रतका प्रायश्चित्त निरूपण किया है ॥ १२७ ॥

[असत्यभाषणका प्रायश्चित्त ।] — जो साधु नीच दुष्टतायुक्त—निंदायुक्त असत्य बोलता है वह चाहे प्रत्यक्ष बोले किंवा परोक्षतासे बोले उसको गणसे बाहर करना चाहिये । नीच, दुष्टता

१ आ. विशोधकम् । २ आ. सार्वो मारो । ३ आ नीचै. पैशुन्ययुक्तो यो । म (मोगाएन) प्रश्न नीचपैशुन्य ह्यनृत परिभाषते ।

जल्पतस्तस्य शृण्वाना ये तिष्ठन्ति समीपगाः । तस्य दोषस्य तद्भागं चतुर्थं प्राप्नुवन्ति च ॥ १२९
यो गृह्णाति[1] परस्यार्थं यतीनां मध्यवर्त्यपि । स गृहस्थोपधिः सोऽयं षण्मासक्षपणैः शुचिः ॥ १३०
स्वप्ने[2] मैथुनसेवी च मद्यमांसाशनोऽपि वा । उपवासेन शुद्धः स्यात्स प्रतिक्रमणेन सः ॥ १३१
कन्दर्पोद्रेकमायाति रामारूपावलोकनात् । सोऽयमालोचनायुक्तः कायोत्सर्गेण शुद्ध्यति ॥ १३२
परिग्रह[3]ग्रहग्रस्तो य. सदा जायते यदि । मूलं तस्य समायाति न याति परमां गतिम् ॥ १३३
मिथ्या[4]दृष्टिजनानां यः करोति कलहं पुनः । बहूपवाससंयुक्तं मौनं तस्य प्रदीयते ॥ १३४
मुनि[5]मध्यगतो यस्तु हस्ताभ्यां कुरुते कलिम् । तस्य षष्ठेन षण्मासान्प्रायश्चित्तमुपाश्रितः ॥ १३५
असंयतजनानां हि बोधने विहिते सति । नृत्ये गाने च साधूनामष्टमं दण्ड इष्यते ॥ १३६

युक्त असत्यभाषण बोलनेवाले साधुके पास उसका भाषण सुनते हुए जो मुनि तिष्ठते है । वे भी उसके असत्यभाषण दोषका चतुर्थांश दण्ड प्राप्त करते है ॥ १२८–२९ ॥

[अचौर्यव्रतका प्रायश्चित्त ।] – जो मुनियोके बीचमे रहनेपरभी दूसरोका धन ग्रहण करता है वह गृहस्थका परिग्रहग्रहण करता है ऐसा मुनि छह मासतक उपवास और पारणा करके पवित्र होता है ॥ १३० ॥

[ब्रह्मचर्यव्रतका प्रायश्चित्त ।] – जो साधु स्वप्नमे–अर्थात् निद्रामे मैथुनसेवन करता है किंवा मद्यपान और मासाशन करता है वह प्रतिक्रमणपूर्वक उपवाससे शुद्ध होता है । जो साधु स्त्रीका रूप देखकर कामोद्रेकको प्राप्त होता है वह आलोचनायुक्त होकर कायोत्सर्गसे शुद्ध होता है ॥ १३१–१३२ ॥

[परिग्रहत्यागका प्रायश्चित्त ।] – जो साधु हमेशा परिग्रहोसे ग्रस्त रहता है उसको मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है अर्थात् उसे पुनर्दीक्षा धारणका प्रायश्चित्त है । ऐसा परिग्रहयुक्त साधु उत्तम गतिको-मुक्तिको प्राप्त नहीं होता है ॥ १३३ ॥

[मिथ्यादृष्टिसे कलह करनेका प्रायश्चित्त ।] – जो मिथ्यादृष्टि–जनोसे कलह करता है उस मुनिको अनेक उपवाससहित मौनका प्रायश्चित्त आचार्य देते है । मुनियोके बीचमे जो मुनि हाथोसे कलह करता है उस पापीको छह महिनोंतक दो उपवासपूर्वक पारणाका प्रायश्चित्त है ॥ १३४–१३५ ॥

[निद्रामेसे उठाना, नृत्य और गायन आदिका प्रायश्चित्त ।] – जो साधु असयमी लोगोको निद्रामेसे जगाता है, तथा साधुओकोभी निद्रामेसे जगाता है तथा तुम गाओ, नाचो ऐसा बोलता है उसको निरतर तीन उपवासका प्रायश्चित्त है ॥ १३६ ॥

---

१ आ द्वितीय. २ आ. तृतीय ३ आ चतुर्थ ४ आ. पञ्चम ५ आ. गण

चतुर्विधस्य संघस्य योऽपराधान्निभाषते । अभाष्योऽवन्दनीयश्च स गणो गणकोऽथवा ॥ १३७
स्वाध्यायापेक्षया साधुः सेवते यदि यत्नतः । औद्देशिकं ततस्तस्मात्प्रतिक्रान्ति. स शुद्धयति ॥
दु.शीलक्रोधमिथ्यात्वमानमायाविलैः सह । विहारे पञ्चकल्याणं जायते शुद्धिहेतवे ॥ १३९
अर्हदाचार्यसाधूनामुपाध्यायस्य वा पुनः । अवर्णे वा प्रमादेन क्षमणेन विशुद्धयति ॥ १४०
क्रोधेन गर्वतो वापि कृते तेषां विनिन्दने । कर्तुर्मिथ्यादृशो नास्ति दण्डः संसारभागिनः ॥ १४१
शिलायां भूमिदेशे वा जङ्घाया जठरेऽपि वा । विलिख्य पठतः सूत्रं प्रायश्चित्तं प्रजायते ॥ १४२
अश्रावकगृहे भुक्तिं कुर्वन्वा च्युतधर्मिणः । सोपस्थानचतुर्थेन शुद्धत्यज्ञानतो यतिः ॥ १४३
अनाभोगान्मुहुस्तस्य मासिको दण्ड इष्यते । आभोगेन तु यात्येष मूलभूमिं नराधम. ॥ १४४

[संघापराध प्रगट करनेवालेको प्रायश्चित्त ।] – चार प्रकारका सघ–ऋषि, यति, मुनि, और अनगार यह चार प्रकारका सघ है अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका ऐसा चार प्रकारका संघ है। इनके जो मुनि दोष प्रगट करता है उसके साथ कोई नहीं बोले, तथा उसकी वन्दनाभी नहीं करे, तथा गणसे उसको निकाल देना चाहिये। यदि दूसरे गणमे वह जायगा तो उससेभी उसको हटाना चाहिये। यदि वह पश्चात्तापसे सतप्त होकर 'हे भगवन् मुझे प्रायश्चित्त दीजिये ऐसा कहेगा तो चातुर्वर्ण्य श्रमणसघमे उसकी विशुद्धि करनी चाहिये ॥ १३७ ॥

[औद्देशिक प्रायश्चित्त ।] – यदि कोई मुनि स्वाध्यायकी अपेक्षासे उद्देशादिक दोषोका सेवन करता है तो वह प्रतिक्रमणसे शुद्ध होगा ॥ १३८ ॥

[मिथ्यात्वी–साधुके साथ विहारसे प्रायश्चित्त ।] – दु.शील, क्रोधी, मिथ्यात्वी, मानी और मायावी ऐसे मनुष्योंके साथ साधु विहार करे तो उसकी शुद्धिके लिये पचकल्याण प्रायश्चित्त कहा है ॥ १३९ ॥

[अर्हदादिकोंके अवर्णवादका प्रायश्चित्त ।] – अर्हन्त, आचार्य, साधु अथवा उपाध्याय इनके ऊपर प्रमादसे जो मुनि अवर्णवाद करता है–दोष न होते हुएभी दोषारोपण करता है वह एक उपवाससे शुद्धि प्राप्त करता है। क्रोधसे अथवा गर्वसे उनकी निंदा यदि साधुने की तो ससारमे घूमनेवाले उस मिथ्यादृष्टिको प्रायश्चित्त नही है ॥ १४०–१४१ ॥

[शिलादिकोंमे सूत्र लिखनेवालेको प्रायश्चित्त ।] – शिलापर, भूमिपर, जांघोपर और पेटपर कोई साधु सिद्धान्तसूत्र लिखकर यदि उसे पढता है उसको प्रायश्चित्त है अर्थात् शिला और भूमिपर सूत्र लिखनेसे उपवास प्रायश्चित्त है तथा उदरादिकपर लिखनेमे आलोचना प्रायश्चित्त है ॥ १४२ ॥

[अश्रावकोंके यहां आहारका प्रायश्चित्त ।] – जो श्रावक नहीं है ऐसे मिथ्यादृष्टि–लोगोंके घरमे तथा जो धर्मच्युत है ऐसे लोगोंके घरमे अज्ञानसे यदि मुनि आहार लेंगे तो प्रतिक्रमणके साथ

१ आ. चतुर्वर्णस्य २ आ. औद्देशिकादिक ३ आ. प्रतिक्रान्तेः ४ आ. अवर्णादौ ५ आ. दर्पतो।

ज्ञानोपकरणं किञ्चिद्दीयमानं महौषधम् । निषेधयेत्प्रमादेन पञ्चकल्याणमश्नुते ॥ १४५
तदेव च मुहुः साधोरावासमथवा पुनः । प्रत्याख्यातुर्भवेन्नित्यं मासिकं शोधनं मुनेः ॥ १४६
चाण्डालेन समं स्याच्चेच्छुप्तिर्यस्य प्रमादतः । पञ्चकल्याणकेनासौ शुद्धः स्यादिति निश्चितम् ॥
ब्राह्मणक्षत्रियाणां च वैश्यानां च प्रकल्पते । जैनी मुद्रा निहीनाय दत्ता पापाय जायते ॥ १४८
मूलोत्तरगुणेष्वेषु साधूनां यानि कानिचित् । प्रायश्चित्तानि तानीह ज्ञातव्यानि जिनागमात् ॥
वस्त्रप्रक्षालनात्तावदार्यिकाणां विशोषणम् । वस्त्रयुग्ममतिक्रम्य तृतीये मूलमिष्यते ॥ १५०
अपिनार्ययुता (?) नित्यकल्पिता शून्यकारिणी । आज्ञाविवर्जिता देशान्निःसार्या या विधर्मिणी ॥

उपवासका प्रायश्चित्त लेना चाहिये । अनाभोगसे अप्रगटरूपसे वारवार यदि मुनि आहार लेगे तो उनको मासिक प्रायश्चित्त है और आभोगसे–प्रगटरूपसे यदि बार बार आहार लेगे तो मूलभूमि नामक प्रायश्चित्तको पात्र है–मूलभूमि प्रायश्चित्तमे दिवसादि रूपसे दीक्षाच्छेद होता है ॥ १४३–१४४॥

[ज्ञानोपकरण और औषधनिषेधका प्रायश्चित्त ।] – ज्ञानका उपकरण अर्थात् शास्त्र और औषध देनेवालोका जो साधु प्रमादसे निषेध करेगा वह पचकल्याण प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है । यदि उसी ज्ञानोपकरणका और औषधका वारवार निषेध करनेवाले साधुको मासिक प्रायश्चित्त देना चाहिये तथा यतिको आवास–वसतिका देनेका कोई साधु निषेध करता है तो उसकोभी वही मासिक प्रायश्चित्त देना चाहिये ॥ १४५–१४६ ॥

[चाण्डाल – स्पर्शका प्रायश्चित्त ।] – प्रमादसे जिस साधुको चाण्डालसे स्पर्श होगा उसको–साधुको पचकल्याण तपसे शुद्धि होती है ऐसा निश्चित है ॥ १४७ ॥

[जैनदीक्षाके अधिकारी ।] – जैनी मुद्रा–दिगम्बर दीक्षाधारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योकोही योग्य है । इनसे जो हीन शूद्रादिक है उनको यदि दीक्षा दी जायगी तो दीक्षादाता प्रायश्चित्तयोग्य होता है ॥ १४८ ॥

[अवशिष्ट प्रायश्चित्त आगमसे जानो ।] – मूलगुण और उत्तरगुणोमे साधुओके लिये जो अन्य कुछ प्रायश्चित्त कहे है वे जिनागमसे जानना चाहिये ॥ १४९ ॥

[वस्त्रप्रक्षालनका प्रायश्चित्त ।] – यदि आर्यिका वस्त्रप्रक्षालन अप्रासुक जलसे करेगी तो उसे एक उपवासका प्रायश्चित्त है । आर्यिका अपने पास दो वस्त्र धारण करे । दोसे अधिक धारण करनेपर मासिक प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि होगी ॥ १५० ॥

जो आर्यिका आज्ञापालन नहीं करती अर्थात् अपनी गणिनीकी आज्ञा नहीं मानती और जिसने धर्मत्याग किया है अर्थात् जो स्वच्छंदचारिणी हुई है, जिनशासनका त्याग किया है (अप-नार्ययुता नित्यकल्पिता शून्यकारिणी इस पदका अर्थ हमको मालूम नहीं है) जो आर्यिका यतिके

---

१ आ प्रक्षालने । २ आ. अपनापयुता नित्य कल्पैः स्तन्यकारिणी ।

यतिना सह या वाच्यं गतार्या–नामधारिका । हा हा कष्टं वचोऽप्यस्या[1] महापापमिति[2] श्रुतम् ॥
तस्मान्नामापि[3] न ग्राह्यमुभयोरनयोरिह । अन्येनापि प्रयुक्तेऽस्मिन्पिधातव्ये श्रुती क्षणात् ॥ १५३
रजसो दर्शनाच्छुद्धिरार्याणां क्षमणैरथ । चतुर्भिर्नीरसाहारैर्यथाशक्त्या प्रजायते ॥ १५४
चतुर्थे दिवसे तस्या मौनेनावश्यका क्रिया । मता पश्चाद्गुरोः पार्श्वे व्रतं ग्राह्यं पुनस्तया ॥ १५५
मासे मासे च भङ्गः स्याद्रामाणां रजसा व्रते । अत एव न शुद्ध्यन्ति स्त्रियो हीनमयच्युताः ॥
स्नानं हि त्रिविधं प्रोक्तं व्रतान्मन्त्रजलात्पुनः । तोयात्स्नानं गृहस्थानां यतीनां व्रतमन्त्रतः ॥ १५७
एकादशविधाः सन्ति श्रावका गुणभेदतः । तेषामागमतः किञ्चिच्छोधनं निगदाम्यहम् ॥ १५८
आद्यो दर्शनमात्रेण द्वितीयो व्रतयुक्तितः । सामायिकी तृतीयः स्याच्चतुर्थः प्रोषधी पुनः ॥ १५९
सचित्ताहारनिर्मुक्तो दिनब्रह्मचरः पुनः । ब्रह्मचारी सदान्यश्च निरारम्भोऽपरिग्रहः ॥ १६०

साथ निंदाको--अपकीर्तिको प्राप्त हुई है वह केवल आर्यिका नाम धारण करनेवाली है, वह भावार्यिका नहीं रही। भावार्यिकाके गुण उसमे कुछभी नहीं हैं। अरेरे उसका नामभी महाकष्टकारक है। उसका नामश्रवणभी महापापका कारण है। इसलिये उन दोनोंका नामभी नही ग्रहण करे। यदि किसीने उनके नामका उच्चारण किया तो अपने दो कान हाथोसे ढकने चाहिये ॥ १५१–१५३ ॥

[रजस्वला आर्यिकाकी शुद्धि ।] – रजके दीखनेपर आर्यिकाकी शुद्धि चार उपवासोंसे अथवा चार नीरस आहारोसे होती है। अपनी शक्तिके अनुसार आर्यिका चार उपवास करे अथवा चार नीरसाहार करे। चौथे दिन वह मौनसे सामायिक, प्रतिक्रमणादिक करे तदनन्तर गुरुके पास व्रतारोपण–व्रतग्रहण करना चाहिये। रजोधर्मसे प्रतिमास स्त्रियोके व्रतोका नाश होता है। अतः रजोदर्शनके समय वे शुद्ध नहीं होती ॥ १५४–१५६ ॥

[स्नानके तीन प्रकार ।] – स्नानके व्रतस्नान, मंत्रस्नान और जलस्नान ऐसे तीन भेद है। जलसे स्नान गृहस्थ करते है और मुनियोंका स्नान व्रतोंसे और मंत्रोंसे होता है॥१५७॥

[श्रावकोंके प्रायश्चित्तोका वर्णन ।] – गुणोकी अपेक्षासे श्रावकोंके ग्यारह प्रकार है। आगमके अनुसार उनका प्रायश्चित्त सक्षेपसे मै करता हू ॥ १५८ ॥

पहिला श्रावक दर्शन–सम्यग्दृष्टिधारक है। और वह मूलगुणोको निरतिचार पालता है। उसको दर्शन–प्रतिमाधारक कहते है। दूसरी व्रतप्रतिमा है। इसका धारक श्रावक अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोका पालक होता है। तिसरी प्रतिमा धारण करनेवालेको सामयिकी कहते है। वह त्रिकाल सामायिक करता है। चौथी प्रतिमा प्रोषधोपवास है। इसका धारक श्रावक अष्टमी चतुर्दशीको धारणा और पारणासहित उपवास कर अपना इन दिनोका समय सामायिक, धर्मध्यान, धर्मोपदेशमे बिताता है। पाचवी प्रतिमाका श्रावक सचित्ताहार वर्ज्य करता है। कच्चे फल, शाक भाजी, आदि नहीं खाता। छठी प्रतिमाधारक श्रावक दिवाब्रह्मचारी रहता है। अर्थात् दिनमें

---

१ आ वचोऽप्यस्या। २ आ. पापमपि। ३ न स्यान्नामापि नग्राह्यम्।

निरनुज्ञस्तथोद्दिष्टवर्जी वर्यो निगद्यते । एकादश मता जैने शासने श्रावका इति ॥ १६१
यतीनामर्धदण्डः स्यात्तेषामन्तद्वयोरपि । तस्याप्यर्धं त्रये तरयाप्यर्ध षण्णामुदीरितम् ॥ १६२
श्रावकाणां विशेषेण प्रायश्चित्तं जिनागमात् । परिज्ञाय प्रदातव्यं नान्यथा मुनिपुङ्गवैः ॥ १६३
ये तु जीवाश्रिताः सन्ति भावास्तीव्रादयः पुनः । तद्वशाद्बहुधा देयं शोधनं शुद्धिहेतवे ॥ १६४
पूर्वाचार्यैः प्रणीतं यत्प्रायश्चित्तमनेकधा । तदंशांशो मयाप्यत्र तत्प्रासादान्निवेदितः ॥ १६५
यद्यत्र जायते किञ्चिद्विरुद्ध श्रीजिनागमात् । न मे दोषो यतः किञ्चिन्न जानामि विशेषतः ॥१६६
केवलं जिनराद्धान्तश्रद्धानावाप्तिहर्षत. । स्तोतुमेनं तदालम्बाद्यदृच्छावचनोऽभवम् ॥ १६७

ब्रह्मचर्यका पालन करता है। सातवी प्रतिमावाला पूर्ण ब्रह्मचारी होता है। जिसमे हिंसा होती है ऐसे आरभका पूर्ण त्यागी आठवी प्रतिमावाला होता है। उसको निरारंभ श्रावक कहते है। बाह्य दश प्रकारोके परिग्रहोका त्याग करनेवाला नवमी परिग्रहत्याग प्रतिमाका पालक श्रावक है। आरभ, परिग्रह और विवाह आदिक ऐहिक कर्मोमे पुत्रादिकोको जो श्रावक सम्मति नही देता है वह अनुमतित्यागी श्रावक है। उद्दिष्ट आहारका त्यागी जो श्रावक उसे उद्दिष्टाहारत्यागी कहते है। इस प्रकार जैनशासनमे ग्यारह प्रकारके श्रावक होते है ॥ १५९–१६१ ॥

[श्रावक प्रायश्चित्तकी व्यवस्था।]– जो यतियोको प्रायश्चित्त दिया जाता है उसका आधा प्रायश्चित्त दसवी व ग्यारहवी प्रतिमावालोको है। इनके प्रायश्चित्तसे आधा प्रायश्चित्त सातवी, आठवी और नौमी प्रतिमावालोको है। और इनके प्रायश्चित्तसे आधा प्रायश्चित्त पहिली प्रतिमासे छठी प्रतिमावालोको होता है ॥ १६२ ॥

श्रेष्ट मुनियोको श्रावकोका जो विशेष प्रायश्चित्त है यह जिनागमसे जानकर देना चाहिये। विना जाने देना योग्य नहीं है ॥ १६३ ॥

जीवके आश्रयसे तीव्र मदमध्यमादिक भाव होते है और जिन्होसे दोषोमे तीव्र मदादिक भेद होते है और उनसे प्रायश्चित्तभी अनेक प्रकारके कोमल मृदु आदि भेदवाले होते है। ऐसे प्रायश्चित्त शुद्धिके लिये देने चाहिये ॥ १६४ ॥

पूर्वाचार्योने जो प्रायश्चित्त अनेक प्रकारोसे लिखा है उसके अशका अश मैने इस प्रकरणमे पूर्वाचार्योके प्रसादसे कहा है ॥ १६५ ॥

[ग्रथकारकी लघुता] – इस प्रायश्चित्तका वर्णन करते समय मुझसे जिनागमके विरुद्ध कुछ लिखा गया होगा। परतु मेरा वह दोष नही है, क्योकि मै कुछ विशेष नही जानता हूं॥१६६॥

केवल जिनसिद्धान्तके ऊपर श्रद्धा करनेसे जो मुझे आनद प्राप्त हुआ है। उसके आश्रयसे मैने जिनसिद्धान्तकी स्तुति करनेके लिये कुछ वचन कहे है ॥ १६७ ॥

अतुलसत्त्ववतां सुमहात्मनां चरितमेतदनिन्द्यमनेकधा ।
कथयितुं न हि सम्प्रति साधवो धृतधियः किमुताचरितुं पुनः ॥ १६८
असमसंयमनाय जिनेश्वरव्रतमिदं हृदये विधृतं सताम् ।
भवति निर्वचनीयपदप्रदं कृतवतां बत तत्किमिहोच्यते ॥ १६९
॥ इति श्रीसिद्धान्तसारसङ्ग्रहे पण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते निर्जराप्रायश्चित्तनिरूपणं दशमोऽध्यायः ।

[प्राचीन मुनियोंके चारित्रका पालन करनेमें आजके मुनि असमर्थ हैं ।] – अनुपम धैर्य और सामर्थ्य धारण करनेवाले महापुरुषोंका चारित्र प्रशंसनीय और अनेक प्रकारका है । आज स्थिर बुद्धिवाले आजके साधु उस चारित्रके कथनमें समर्थ नहीं है फिर आचरण करनेमें वे कैसे समर्थ होंगे ? ॥ १६८ ॥

असम संयम–अनुपम चारित्रके लिये जिन सज्जनोंने यह जिनेश्वरका व्रत हृदयमें धारण किया है, उनको यह व्रत अनिर्वचनीय अकथनीय उत्कृष्ट पद देनेवाला है । परंतु जो यह व्रत धारण किये हुये हैं उनको जो पद प्राप्त होगा उसकी महिमा यहाँ कौन कह सकता है ? ॥१६९॥

* श्रीपंडिताचार्य श्रीनरेन्द्रसेनविरचित–सिद्धान्तसारसंग्रहमें निर्जरा और प्रायश्चित्तका वर्णन करनेवाला दसवा अध्याय समाप्त हुआ । *

---

२ आ इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

एकादशोऽध्यायः ।

दर्शनज्ञानचारित्रोपचारप्रविभेदतः । सूरिसूर्या जगुः पूतं विनयं तं चतुर्विधम् ॥ १

शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं श्रद्धानं यदहर्निशम् । तत्त्वतत्त्वार्थदृष्टीनां विनयो दर्शनस्य सः ॥ २

ज्ञानस्य ज्ञानयुक्तस्य वहुमानमनेकधा । स्मरणाभ्यासपूजाद्यैर्ज्ञानस्य विनयो भवेत् ॥ ३

चारित्रस्य तथा तावत्तद्वतो वहुभेदतः । स्मरणं पूजनं दक्षैश्चारित्रविनयोऽकथि ॥ ४

आचार्यादिषु दृष्टेषु यावत्काल विधीयते । अभ्युत्थानाभिगम्यादि यत्सोऽध्यक्षौपचारिकः ॥ ५

आचार्यादिष्वदृष्टेषु सर्वदा गुणकीर्तनम् । कुर्वन्ति यदमी भव्याः स परोक्षौपचारिकः ॥ ६

आचार्याध्यापकादीनां वैयावृत्यमनिन्दितम् । दशधाभाणि सूत्रज्ञैर्वहुधा पुण्यकारकम् ॥ ७

स्वयं चरन्ति एवास्मिन्नन्यानाचारयन्ति ये । पञ्चधानेकधाचारमाचार्यास्ते भवन्त्यमी ॥ ८

ग्यारहवा अध्याय ।

[विनयतपका वर्णन ।] — पूज्य अर्हदादि व्यक्तियोका और सम्यग्दर्शनादिक सद्गुणोका आदर करना विनय है । इस पवित्र तपके दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय ऐसे चार भेद आचार्यसूर्योने कहे है ॥ १ ॥

[दर्शनविनय ।] — जीवादिक सप्ततत्त्व और उनके ऊपर श्रद्धा करनेवाले साधर्मिक व्यक्तिके ऊपर अहोरात्र अर्थात् हमेशा शकादि-दोपरहित जो श्रद्धा करना वह दर्शनविनय है ॥ २ ॥

[ज्ञानविनयका लक्षण ।] — सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञानयुक्त मुनियोका अनेक प्रकारसे स्मरणपूजन आदिक करना वह ज्ञान विनय है ऐसा दक्ष मुनियोने कहा है ॥ ३ ॥

[चारित्रविनय ।] — चारित्रका और चारित्रके धारक पुरुपोका अनेक प्रकारसे दक्ष-चतुर पुरुपोसे स्मरण पूजन किया जाता है उसे चारित्र विनय कहा है ॥ ४ ॥

[प्रत्यक्षोपचार विनय, परोक्षोपचार विनय ।] — आंचार्यादिक दृष्टिगोचर होनेपर आदरसे ऊठना, उनका स्वागत करना, हाथ जोडना इत्यादिक आदर यावत्काल किया जाता है उसको अध्यक्षोपचार अर्थात् प्रत्यक्षोपचार विनय कहते है ॥ जब आचार्यादि परोक्ष है ऐसे समय उनका भव्यजीव गुणकीर्तन करते है वह परोक्षऔपचारिक विनय है ॥५—६ ॥

[दसप्रकारका वैयावृत्य ।] — शरीरकी क्रियाओसे और औपवादिकसे जो उपासना करना वह वैयावृत्य हैं । उसके आचार्यवैयावृत्य, उपाध्यायवैयावृत्य आदि दस प्रकार है । यह प्रशंसनीय वैयावृत्य अनेक प्रकारोसे पुण्यकारक है ऐसा सिद्धान्तसूत्रके ज्ञाता आचार्य कहते है ॥ ७ ॥

१ आचार्य — जो पाच प्रकारोके आचारोमे स्वय प्रवृत्ति करते हैं और जो दूसरोको-शिष्योको प्रवृत्त करते हैं वे आचार्य है । ये आचार्य दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, चारित्राचार

---

१ आ ज्ञान दर्शनेति । २ आ. पुण्यकारणम् ।

उपेत्याधीयते येभ्यो मोक्षार्थं शास्त्रमुत्तमम् । उपाध्याया भवन्त्येते ज्ञानध्यानधना. सदा ॥ ९
धर्मादेशं[1] न कुर्वन्ति परेभ्यो वितरन्ति न । ये दीक्षां[2]मात्मन. सिद्धिं साधयन्तीति साधव ॥ १०
घोरवीरतपोयुक्तस्तपस्वी स निगद्यते । शिक्षा[3]शील. सुशैक्षोऽसावर्जिकाक्षुल्लकादिक. ॥ ११
रुजाक्लान्तशरीरोऽसौ[4] ग्लान इत्यभिधीयते । योऽयं सुचिर[5]सन्तान. साधूनां स गणो मतः ॥ १२
दीक्षाचार्यस्य या शिष्यसन्ततिस्तत्कुलं मतम् । श्रवणादिचतुर्वर्णसर्[6]त्यायः सङ्घ उच्यते ॥ १३
लोकानां सम्मतो यस्तु मनोज्ञः स निगद्यते । इत्येषां हि दशाना तद्वैयावृत्यमुदीरितम् ॥ १४
वाचना प्रच्छनाम्नायोऽनुप्रेक्षा धर्मदेशना । स्वाध्यायः पञ्चधा ज्ञेयः सदा स्वाध्यायकारिभि ॥ १५

और तप आचार इन पाच प्रकारके आचारोको और उनके भेदप्रभेदोको स्वयं आचरते हैं तथा शिष्यादिकोको उनके आचारमे प्रवृत्त कराते है ॥ ८ ॥

२ उपाध्याय – जिनके पास जाकर मोक्षके लिये उत्तम-निर्दोष रत्नत्रय प्रतिपादक शास्त्रका अध्ययन किया जाता है तथा जिनके पास ज्ञान और ध्यानरूपी धन सदा रहता है ऐसे मुनीश्वरको उपाध्याय कहते है ॥ ९ ॥

३ साधु – जो मुनि दूसरोको धर्मोपदेश नहीं देते है और जो दीक्षा नहीं देते हैं, जो आत्मध्यान करके आत्मसिद्धिके मार्गमे लगे हैं वे साधु मुनि है ॥ १० ॥

४ तपस्वी – जो घोरवीर तप करते हैं वे तपस्वी मुनि है।

५ शैक्ष्य – शास्त्राभ्यास करनेवाले आर्यिका, क्षुल्लिका, आदिकोको शैक्ष्य कहते है।

६ ग्लान – रोगोसे जिनका शरीर थक गया है कृश हुआ है वे ग्लान-मुनि हैं।

७ गण – साधुओका जो दीर्घकालीन समूह अर्थात् वृद्धमुनियोका जो समूह उसे गण कहते है।

८ कुल – दीक्षा देनेवाले आचार्यका जो शिष्यसमुदाय उसको कुल कहते है।

९ सघ – ऋषि, मुनि, यति, अनगार ऐसे चार प्रकारके मुनि अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनका समूह सघ है ॥ ११–१३ ॥

१० मनोज्ञ- वक्तृत्वादि गुणोसे शोभनेवाले लोकमान्य विद्वान् मुनिको मनोज्ञ कहते है। ऐसे दस प्रकारके मुनियोकी औषधसे और शरीरचेष्टासे जो शुश्रूषा करना वह वैयावृत्य है। रोग, परिषह, मिथ्यात्व आदिक सकट आनेपर उनको औषधादिकसे दूर करना वैयावृत्य है ॥ १४ ॥

[स्वाध्यायतपके भेद ।] – वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मदेशना ऐसे स्वाध्यायके पाच भेद सदा स्वाध्याय करनेवाले मुनियोको जानने योग्य है ॥ १५ ॥

---

१ आ. धर्माख्यानं २ आ. दीक्षाद्या ३ आ. भिक्षाशीलस्तु भैक्षोऽ ४ आ. यो ५ आ. र्घ्यचिर ६ आ. मेलापः ।

सन्देहहन्तृशास्त्रस्यानुवादो[1] वाचना मता । ससन्देहे[2]परिप्रश्नः प्रच्छनार्थदृढाय वा ॥ १६
निश्चितार्थस्य शास्त्रस्य मनोऽभ्यासः सतां मतः । यो वाचो[3]सावनुप्रेक्षा भवदुःखविनाशिनी ॥ १७
परिघोषविशुद्धं यत्परिवर्तनमुत्तमम् । तदाम्नाय इति प्राज्ञाः कथयन्ति यतीश्वराः ॥ १८
महाधर्मकथानां यत्प्रख्यापनमनारतम् । धर्माख्यानं मतं तद्धि संसारासातशातनम् ॥ १९
सर्वेभ्यो[4] यद्व्रतं मूलं स्वाध्यायः परमं तपः । यतः सर्वव्रतानां हि स्वाध्यायो मूलमादितः[5] ॥ २०
स्वाध्यायाज्जायते ज्ञानं ज्ञानात्तत्त्वार्थसङ्ग्रहः । तत्त्वार्थसङ्ग्रहादेव श्रद्धानं तत्त्वगोचरम् ॥ २१
तन्मध्यैकगतं पूतं तदाराधनलक्षणम् । चारित्रं जायते तस्मिंस्त्रयीमूलमयं मतम् ॥ २२
प्रशस्ताध्यवसायस्य स्वाध्यायो वृद्धिकारणं । तेनेह प्राणिनां निन्द्यं सञ्चितं कर्म नश्यति ॥ २३

ज्ञानकी भावनासे आलस्यका त्याग करना स्वाध्याय है ।

१ वाचना–संदेह दूर करनेवाले शास्त्रका अनुवाद कहना ।

२ पृच्छना–मनमे उत्पन्न हुए संदेहको दूर करनेके लिये जो प्रश्न करना उसको पृच्छना कहते है अथवा जो अभिप्राय मनमे निश्चित किया है उसको पुष्ट करनेके लिये प्रश्न करना ।

३ अनुप्रेक्षा–जिसका अर्थ निश्चित जाना है ऐसे शास्त्रका जो मनसे अभ्यास करना उसे सज्जनोको मान्य अनुप्रेक्षा कहते है ।

४ आम्नाय–घोषशुद्धतासे शास्त्रको अच्छी तरह बार बार पढना आम्नाय है ऐसा विद्वान् यतीश्वर कहते है ।

५ धर्मदेशना–लोकोद्धारक ऐसे महान् जैनधर्मका जो हमेशा उपदेश करना उसको धर्मदेशना कहते है । वह ससारका दुःख नष्ट करनेवाली है ॥ १६–१९ ॥

[स्वाध्यायकी श्रेष्ठता ।] -- सर्व व्रतोकी अपेक्षासे देखा जाय तो यह स्वाध्यायव्रत मूल माना है । तथा यह स्वाध्याय उत्तम तप है । क्योकि सर्वव्रतोका स्वाध्याय आदिमूल है ॥ २० ॥

स्वाध्यायसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे जीवादिक तत्त्वार्थोंका संग्रह होता है । तत्त्वार्थका सग्रह होनेसे तत्त्वविषयक श्रद्धान होता है । रत्नत्रयके बीचमें पवित्र सम्यग्ज्ञान है और वह ज्ञाना-राधनात्मक है । सम्यग्ज्ञान होनेसे चारित्र होता है अत यह स्वाध्याय रत्नत्रयका मूल माना है ॥ २१–२२ ॥

जो जीवके उत्तम परिणाम होते हैं–शुभ और शुद्ध परिणाम होते है उनकी वृद्धिका कारण स्वाध्यायही है । इस स्वाध्यायसे प्राणियोका निंद्य पूर्वबद्ध कर्म विनष्ट होता है ॥ २३ ॥

---

१ आ. नि.सन्देहस्य २ आ. ससन्देहे ३ आ. योऽसावनुप्रेक्षा ४ आ. सर्वेभ्योऽपि व्रतेभ्योऽयं ५ आदिम

संवेगो जायते यस्मान्मोहध्वान्तविनाशकः। मोहादपगतानां हि क्व संसार. क्व तत्फलम् ॥ २४
स्वाध्यायेन समं किञ्चिन्न कर्मक्षपणक्षमं। यस्य संयोगमात्रेण नरो[1] मुच्येत कर्मणा ॥ २५
यद्दीभिर्भवकोटीभिः व्रताद्यत्कर्म नश्यति। प्राणिनस्तत्क्षणादेव स्वाध्यायात्कथितं बुधैः ॥ २६
पदार्थांस्थूलसूक्ष्मांश्च यन्न जानाति मानव.। तज्ज्ञानावृतिमाहात्म्यं नात्मभावो हि तादृशः ॥ २७
आजन्म मृत्युपर्यन्तं तपः कुर्वन्तु साधव.। नैकस्यापि पदस्येह ज्ञानावृतिपरिक्षयः॥ २८
सर्वशास्त्रविदो धीरान्गुरूनाश्रित्य कुर्वतः। स्वाध्यायं तत्क्षणाच्छुद्धे पदार्थानवगच्छति ॥ २९
तपोवृद्धिकरश्चासौ स्वाध्यायः शुद्धमानसैः। कथ्यतेऽनेकधा तावदतीचारविशुद्धितः ॥ ३०
चित्तमर्थनिलीनं स्याचक्षुरक्षरपङ्क्तिषु। पत्रेऽस्य संयमः साधोः स स्वाध्याय. किमुच्यते ॥ ३१

इस स्वाध्यायसे सवेग–ससारसे भय उत्पन्न होता है जिससे मोहरूप अधकारका नाश होता है। और जो मोहसे दूर भाग गये है अर्थात् जिनका मोह नष्ट हुआ है उनका ससार कहासे रहेगा और उसका फलभी कैसे प्राप्त होगा ? ॥ २४ ॥

[स्वाध्याय कर्मनाशक है।] – स्वाध्यायके समान कोईभी अन्य तप कर्मक्षय करनेके लिये समर्थ नहीं है। इस स्वाध्यायके सयोगमात्रसे मनुष्य कर्मसे मुक्त होता है ॥ २५ ॥

[व्रत और स्वाध्यायमे महान् अन्तर है।] – जो कर्म खिपानेके लिये कोट्यवधि भव तक मनुष्यको व्रत धारण करने पडते हैं वह प्राणीका कर्म स्वाध्यायसे तत्काल नष्ट होता है ऐसा बुद्धिमंतोने कहा है ॥ २६ ॥

जब कि मनुष्य स्थूल और सूक्ष्म पदार्थोंको नही जानता है वह सब ज्ञानावरणकाही माहात्म्य है। ज्ञानके बिना स्वपरपदार्थोंका विचार करनेवाला दूसरा आत्मभाव नहीं है। अर्थात् शक्ति आदिक आत्मगुणोमे यह विचार नहीं है। जन्मसे मरणतक साधु तपश्चरण करे परतु किसीभी तपसे एक पदकेभी ज्ञानावरण कर्मका क्षय नहीं होता ॥ २७–२८ ॥

संपूर्ण शास्त्रोके ज्ञाता ऐसे धीर गुरुका आश्रय लेकर स्वाध्याय करनेवाले मनुष्य तत्काल शुद्ध पदार्थोंको जानता है ॥ २९ ॥

यह स्वाध्याय तप तपोमे वृद्धि करनेवाला है। इससे व्रतोके अतिचार शुद्ध होते हैं अर्थात् नष्ट होते है। शुद्धचित्तवाले विद्वानोने इस स्वाध्यायके अनेक भेद कहे है ॥ ३० ॥

[स्वाध्यायमे सब इद्रिया तत्पर होती हैं।] – साधुका चित्त अर्थमे एकाग्र होता है और ग्रथके पत्रमे जो अक्षरोकी पक्तिया होती है उनमे उसकी आखे लगती है। इसलिये स्वाध्यायसे चित्त और नेत्रको संयम प्राप्त होता है ऐसे स्वाध्यायका हम कैसे वर्णन कर सकेंगे ? ॥ ३१ ॥

१ नरो मुञ्चति कर्मणः

श्रद्धावान्यदि सत्साधुः स्वाध्यायं कुरुते सदा। परः[1]स्याद्ध्यानवान्वे[2]गात्स याति परमां गतिम् ॥ ३२
साधुसंहननस्येह यदे[3]काग्रनिरोधनम्। चित्तस्यान्तर्मुहूर्तं स्याद्ध्या[4]नमाहुर्मनस्विनः ॥ ३३
आर्तं रौद्रं मतं ध[5]र्मं शुक्लं चापि चतुर्विधम्। ध्यानं भवति जीवानां शुभाशुभगतिप्रदम् ॥ ३४
शस्ताशस्तादिभेदेन तद्द्वेधा पुनरीरितम्। आद्ये प्रशस्तमेवेदं परे शस्तं सुनिमलम् ॥ ३५
यत्प्रशस्तं तदेवेह मोक्षहेतुनिवेदितम्। अप्रशस्तं पुनर्गीतं संसारस्यैककारणम् ॥ ३६
विषकण्टकशत्रूत्थबाधाविच्युतिचिन्तनम्। अमनोज्ञभवं चैतदाद्यमार्तं निगद्यते ॥ ३७
माद्यन्मित्रकलत्रादिधनधान्यादिलब्धये। संकल्पो यस्तु तज्ज्ञेयं मनो[6]ज्ञाख्यं द्वितीयकम् ॥ ३८

[स्वाध्यायसे मोक्षकी प्राप्ति।] -- श्रद्धावान् होकर यदि साधु हमेशा स्वाध्याय करेगा। तो वह उत्तम ध्यानवान् होगा अर्थात् वह आत्मस्वरूपके चिन्तनमे तत्पर और कुशल होगा जिससे वह शीघ्रही उत्तम गतिको--मोक्षको प्राप्त होगा ॥ ३२ ॥

[ध्यानतपका वर्णन।] -- जो उत्तम संहननवाला है अर्थात् वज्रर्षभनाराचसहनन, वज्रनाराचसहनन और अर्धनाराचसहननका धारक है ऐसे विद्वानको अन्तर्मुहूर्ततक ध्यानतप होता है। अर्थात् उसका मन एक पदार्थपर स्थिर होकर अन्तर्मुहूर्तकालतक उसका विचार करता है। अन्य सब पदार्थोसे अलग होकर एक पदार्थमे मन निश्चल होना एकाग्रचिन्तानिरोध है। अनेक पदार्थोमे मन भ्रमण करता है और उनका बोध आत्माको होता है उस बोधको ज्ञान कहते है परतु वह ज्ञान जब अग्निकी स्थिर ज्वालाके समान एकही विषयपर स्थिर होता है तब उसे ध्यान कहते है ॥३३॥

[ध्यानके भेद।] -- आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, और शुक्लध्यान ऐसे ध्यानके चार भेद है। ये जीवोको अशुभगति देनेवाले और शुभगति देनेवाले है। इनकेही प्रशस्त ध्यान और अशस्त ध्यान ऐसे दो भेद कहे है। जो ध्यान पापास्रवके कारण है उन्हे अशस्त ध्यान कहते हैं। ये अशस्तध्यान जीवको नरक तिर्यग्गतिके कारण है और प्रशस्तध्यानसे जीवको सुगतिकी प्राप्ति होती है और सपूर्ण कर्मका क्षय होनेसे मोक्षप्राप्ति होती है। पहिले दो ध्यान अर्थात् आर्त-ध्यान और रौद्रध्यान अप्रशस्तही है। और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान निर्मल है। इसलिये वे मोक्षके कारण है तथा प्रशस्त है। जो अप्रशस्त ध्यान है ससारके मुख्य कारण है ॥ ३४--३६ ॥

[अमनोज्ञ सयोगज आर्तध्यान।] -- विष, कण्टक, शत्रु इनसे जो पीडाये उत्पन्न होती है उनसे पीडित होकर ये पीडाये कब दूर हो जावेगी ऐसा जो संतत चिन्तन वह अमनोज्ञ--अनिष्ट सयोगज नामका पहिला आर्तध्यान है ॥ ३७ ॥

[मनोज्ञ--वियोगज आर्तध्यान।] -- हर्षयुक्त मित्र, पत्नी, आज्ञाधारक पुत्र इत्यादिकोकी तथा धनधान्यादिकोकी प्राप्ति मुझे होवे, ऐसा जो मनमे संतत सकल्प उत्पन्न होता है उसे मनोज्ञ

१ आ. पदस्थध्यान २ आ. योगात् ३ आ. यदेकाग्रे निरुन्धनम् ४ आ. तद्ध्यान ५ आ. धर्म्यं ६ मनोनार्त

वातपित्तादिसंभूतविकाराणां समागमे । तस्यापायविकल्पो यस्तृतीयं समुदाहृतम् ॥ ३९
अनागतपदार्थस्य प्राप्त्यर्थं चित्तकल्पनम् । निदानाख्यं तुरीयं स्यादार्तो यान्ति भवं भुवि ॥४०
चतुर्विधमिदं तावदार्तध्यानं प्रजायते । प्रमत्तसंयतान्तानां जीवानामतिदुःखदम् ॥ ४१
वधे बन्धे च सर्वस्वहृतौ दुष्टमिमं कदा । मारयामीति संकल्पो हिंसारौद्रं निगद्यते ॥ ४२
अनेनानृतवाक्येन वधं बन्धं गमिष्यति । दुष्टात्मेति मनोरोधो रौद्रं चासत्यसंभवम् ॥ ४३
परकीयस्य वित्तस्य ग्रहाद्योपधिचिन्तनम् । स्तेयरौद्रं मतं दक्षैर्दुर्गते कारणं परम् ॥ ४४

वियोगज आर्तध्यान कहते है। प्रिय वस्तुओंको--मित्रादिकोंको मनोज्ञ कहते है उनका वियोग होनेसे जो संक्लेश मनमे पैदा होकर मित्रादिकोंकी, धनधान्यादिकोंकी कब प्राप्ति होगी ऐसा चिन्तन होना है ॥ ३८ ॥

[वेदनाजात आर्तध्यान ।] -- वातपित्तादिकोंसे जो शरीरमे रोग और बाधायें उत्पन्न होती हैं उनसे मुझे कब मुक्ति मिलेगी ऐसा जो चिन्तन होता है वह वेदनासयोगज आर्तध्यान है ॥ ३९ ॥

[निदाननामक आर्तध्यान।] –अनागत पदार्थ–भावी राज्यादिक, स्वर्ग आदिक सुखोंकी प्राप्तिकी आशा करना निदान है। भोगोंकी इच्छा करनेवाला मनुष्य उसकी प्राप्तिके लिये मनकी एकाग्रता सतत करता है । ऐसे ध्यानका नाम निदान है। यह चौथा ध्यान है। ऐसे चार ध्यानोंसे इस लोकमे भ्रमण करना पडता है ॥ ४० ॥

इस प्रकारसे चार आर्तध्यानोंका वर्णन किया है। यह मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत-सम्यग्दृष्टि, सयतासयत और प्रमत्तसंयत ऐसे छह गुणस्थानवाले जीवोंको होता है। यह ध्यान अतिशय दुःखदायक है ॥ ४१ ॥

विशेषता–पाच गुणस्थानोतक असयम परिणाम होनेसे ये चार आर्तध्यान होते हैं परन्तु प्रमत्त गुणस्थानमे निदानको छोडकर तीन आर्तध्यान कदाचित् प्रमादके उदयसे होते हैं।

[हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान ।] – इस दुष्टने वध, बंध, सर्वस्वहरण किया है अत इस दुष्टको मै कब मारूगा ऐसा जो सतत चिन्तन होता है वह हिंसानद नामक रौद्रध्यान है॥४२॥

[अनृतानद रौद्रध्यान ।] – यह दुष्टात्मा हमेशा असत्य बोलकर मेरा नाश करता है। इसलिये असत्य भाषणसे यह दुष्टात्मा वधबंधको प्राप्त होगा तो अच्छा होगा ऐसा मनमे विचार करना अनृतानद रौद्रध्यान है ॥ ४३ ॥

[चौर्यानंद रौद्रध्यान ।] – परकीयोंका धन किस उपायसे ग्रहण किया जा सकता है इसका जो बार बार चिन्तन करना उसे चौर्यानद रौद्रध्यान कहते हैं। यह दुर्गतिका मुख्य कारण है ॥ ४४ ॥

१ आर्तमार्तिभवभुवि २ आ. योजयामीति

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दसंरक्षणाय च । क्रूरभावे मनोरोधश्चतुर्थं रौद्रमुच्यते ॥ ४५
संयतासंयतान्तानां जीवानामुपवर्णितम् । चतुर्विधमिदं रौद्रं श्वभ्रभूमिप्रवेशकम् ॥ ४६
आज्ञाविचारणा तस्मादपायविचयः पर. । विपाकविचयश्चान्यः संस्थानविचयः पुनः ॥ ४७
इत्थं चतुर्विधं धर्म्यं धर्माधारैर्निगद्यते । येन प्राप्नोति जीवोऽयं सिद्धिसौख्यं निरन्तरम् ॥ ४८
उपदेष्टुरभावेन मन्दबुद्धितयाथवा । पदार्थानां हि सूक्ष्मत्वात्कर्मोदयवशादथ ॥ ४९
सद्दृष्टान्ताद्यभावेन सर्वज्ञाज्ञाप्रमाणतः । अर्थावधारणं धर्म्यं स्यादाज्ञाविचयः स्फुटम् ॥ ५०

[परिग्रहानद रौद्रध्यान ।] – गध, रूप, रस, शब्द, स्पर्शयुक्त पदार्थोका सग्रह–रक्षणके लिये अतिशय संक्लेश परिणाम होकर उनमे मनकी एकाग्रता होना चौथा रौद्रध्यान है ॥ ४५ ॥

[रौद्रध्यानके स्वामी ।] -- यह चार प्रकारका रौद्रध्यान पहिले गुणस्थानसे पांचवे संयतासंयत गुणस्थानतक होता है और यह नरकभूमिमे प्रवेश करनेवाला है ॥ ४६ ॥

विशेष–अविरत जीवको रौद्रध्यान होना योग्य है, क्योकि वह व्रतरहितही होता है। उसको हिंसादिकोका त्याग नहीं है । परतु जो देशव्रतोको पालता है उसे रौद्रध्यान कैसे होगा? उत्तर-उसकोभी कदाचिद् हिंसादिकोंका आवेश होता है और धन, स्त्री, कुटुबवर्गका संरक्षण करनेसे संक्लेश परिणाम होगे जिससे रौद्रध्यान कदाचिद् हो सकता है । परन्तु वह नरकगति आदिका कारण नहीं होता । क्योकि सम्यग्दर्शनका सामर्थ्य उसको रहता है । सयतको अर्थात् मुनिको रौद्रध्यान नहीं होता । यदि वह होगा तो उसका सयम नष्ट होगा ॥ ४६ ॥ (सर्वार्थसिद्धि हिंसानृतादि सूत्र)

[धर्मध्यानका भेदसहित विवेचन ।] — धर्मध्यानका पहिला भेद आज्ञाविचारणा नामक है । दूसरा भेद अपायविचय है। तीसरा भेद विपाकविचय और चौथा भेद सस्थानविचय है। इस प्रकारसे धर्मके आधारभूत आचार्य धर्म्यध्यानके चार भेद कहते है । जिससे यह जीव निरतर सिद्धिका सुख प्राप्त करता है ॥ ४७–४८ ॥

[आज्ञाविचय धर्मध्यान ।] – उपदेशकका अभाव होनेसे अर्थात् जीवादिक तत्त्वोका यथार्थ स्वरूप कहनेवाले गुरुका अभाव होनेसे, तथा अपनी बुद्धि मद होनेसे, पदार्थोका स्वरूप सूक्ष्म होनेसे तथा कर्मोदय होनेसे, उत्तम निर्दोष दृष्टान्तादिकोका अभाव होनेसे सर्वज्ञके आगमको प्रमाण समझकर जीवादिपदार्थोका निश्चय करना आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है । सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रमाण कर यह वस्तुस्वरूप ऐसाही है, जिनेश्वर अन्यथावादी–असत्यभाषी नहीं है ऐसा मानकर गहनपदार्थोपर श्रद्धान करके जीवादि पदार्थोका निश्चय करना यह आज्ञाविचय है । अथवा स्वत सिद्धान्तके अविरुद्ध जीवादिक पदार्थोको जाननेमें जो प्रवीण है तथा शिष्यादिकोको सिद्धान्तसे अविरुद्ध तत्त्वसमर्थनके लिये तर्क, नय और प्रमाणकी योजना करके निवेदन करनेकी इच्छासे जो

तत्त्वार्थवेदिना[1] वाचा स्वसिद्धान्ताविरोधिना[2] । परं प्रति प्रमाणेन निवेदयितुमिच्छता ॥ ५१
जायते यः स्मृतेः पूतः समन्वाहार इत्यथ[3] । सोऽयमाज्ञाप्रकाशार्थं[4] वरमित्यादिचिन्तनम् ॥ ५२
ये मिथ्यादृष्टयः सर्वे सर्वज्ञाज्ञाबहिःस्थिताः । सम्यङ्मार्गादपेतास्ते दूरमित्यादि चिन्तनम् ॥ ५३
मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रेभ्यश्च्युता अमी । कथं जीवा भवन्त्यत्रेत्यवधारणमुत्तमम् ॥ ५४
अपायविचयो धर्मध्यानमाहुर्मनीषिणः । येनावाप्नोति भव्यात्मा कर्मापायं क्षणादपि ॥ ५५
कर्मणां हि विपाकेन फलानुभवनं प्रति । प्रणिधानं विपाकैकधर्मध्यानं निगद्यते ॥ ५६
लोकसंस्थानचिन्तायां संस्थानविचयो महान् । धर्मध्यानं मतं प्राज्ञैः कर्माष्टकविनाशनम्[5] ॥ ५७
अप्रमत्तान्तजीवानां तद्ध्यानं जायते परम् । अनन्तसौख्यसंप्राप्तिहेतुभूतं महात्मनाम् ॥ ५८
शुक्ले पृथक्त्ववीतर्कमवीचारि[6] द्वितीयकं । सूक्ष्मक्रियैकसम्पाति समुच्छिन्नक्रियं ततः ॥ ५९

वार वार जिनाज्ञाकी-जीवादितत्त्वोंकी चिन्ता करता है उसका वह पवित्र-प्रशस्त आज्ञाविचय नामक पहिला धर्मध्यान है । जिनेश्वरकी आज्ञा प्रकाशित करनेके लिये जो उत्तम चिन्तन है वह आज्ञाविचय है ॥ ४९-५० ॥

[अपायविचय धर्मध्यान ।] – जो मिथ्यादृष्टि है वे सर्वज्ञकी आज्ञाके बाहर रहते हैं, अर्थात् सर्वज्ञ जिनेश्वरकी आज्ञाको प्रमाण नहीं मानते है, वे यथार्थ मोक्षमार्गसे दूर रहे है इत्यादि चिन्तन करना अपायविचय है । मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे च्युत होकर ये जीव यथार्थ मोक्षमार्गमे कैसे प्रवृत्त होंगे, ऐसा जो वार वार स्मरण करना विद्वान लोग उसे अपायविचय धर्म्यध्यान कहते हैं । इस धर्मध्यानसे भव्यात्माके कर्मोंका अपाय-नाश तत्काल होता है ॥५१-५५॥

[विपाकविचय धर्मध्यान ।] – ज्ञानावरणादि कर्मोका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव आदिक कारणोंसे विपाक-उदय होता है और उसका नानाविध फल मिलता है ऐसा वार वार चिंतन करना विपाकविचय है ॥ ५६ ॥

[लोकसंस्थानविचय ।] – लोककी आकृतिका वार वार विचार करनेको विद्वान लोग संस्थानविचय धर्मध्यान कहते हैं । यह धर्मध्यान आठ कर्मोका विनाश करनेवाला है । यह चार प्रकारका धर्मध्यान अप्रमत्त गुणस्थानतक जीवोंको होता है अर्थात् अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्तसयतोंको होता है। यह चार प्रकारोंका धर्मध्यान महात्माओंको अनतानंत सौख्यकी प्राप्ति करानेमें कारण है ॥ ५७-५८ ॥

[शुक्लध्यानके भेद ।] – शुक्लध्यानमे पृथक्त्ववितर्कसवीचार, एकत्ववितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियासम्पाति, समुच्छिन्नक्रिय ऐसे चार भेद है ॥ ५९ ॥

१ आ. वेदिनो वाथ २ आ. स्वसिद्धन्ताविरोधतः ३ आ. इत्यय ४ आ. आज्ञाविचय उच्यते ५ आ. विनाशकम् ६ आ. अपृथक्त्वादिक च तत् ।

श्रुतकेवलिनः साधोराद्ये शुक्ले तु शोभने। धर्मध्यानं च तस्येति कथयन्ति जिनेश्वराः ॥ ६०
परे द्वे भवतस्तावदतिशुद्धेऽतिनिर्मले। केवलज्ञानयुक्तस्य सयोगायोगिनः पुन. ॥ ६१
यत्पृथक्त्ववितर्कं तत्त्रियोगेषु प्रजायते। एकयोगस्य चैकत्ववितर्कं चारुतान्वितम् ॥ ६२
केवलकाययोगस्य ध्यानं सूक्ष्मक्रियं मतम्। समुच्छिन्नक्रियं तावदयोगस्य महात्मनः ॥ ६३
सवितर्कप्रवीचारमाद्यध्यानं[1] भवेदिह। सवितर्काप्रवीचारं द्वितीयमतिदुर्लभम् ॥ ६४
श्रुतज्ञानं वितर्कः स्यात्प्रवीचारस्तु यः पुनः। अर्थव्यञ्जनसद्योगमक्रान्तिरतिशोभना॥ ६५

विशेष–जैसे मलरहित होनेसे कपडा शुक्ल कहा जाता है, वैसे शुद्ध आत्मस्वरूप परिणति इस ध्यानसे प्राप्त होती हैं। इसलिये इसे शुक्ल कहते है। आत्माकी निर्मलतामे शुक्लगुणकी सदृशता समझकर इस ध्यानको शुक्ल कहते है।

[शुक्लध्यानके स्वामी।] – श्रुतकेवली मुनिराजको पहिले दो उत्तम शुक्लध्यान होते है। धर्मध्यानभी उसी श्रुतकेवली साधुको होता है ऐसा जिनेश्वर कहते है। तीसरा और चवथा शुक्लध्यान निर्मल है और अतिशय निर्मल है, क्योकि सपूर्ण कषाय और घातिकर्मका नाश होनेसे वे उत्पन्न होते है, इसलिये वे ध्यान अत्यत निर्मल और विशुद्ध है। सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनेश्वरको ये दो ध्यान होते है ॥ ६०–६१ ॥

पहिला पृथक्त्ववितर्क-नामक ध्यान तीन योगोके धारकोको होता है। एकत्ववितर्क नामक दूसरा सुदर ध्यान तीन योगोमेसे किसी एक योगके धारकको होता है। केवल काययोगके धारकको तीसरा सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति नामक ध्यान होता है और चौथा समुच्छिन्नक्रिय नामका ध्यान अयोगी महात्माको–चौदहवे गुणस्थान धारक महापुरुषको होता है। विशेष–सकल श्रुतधरको अपूर्वकरणके पूर्वमे चौथे गुणस्थानसे सातवे गुणस्थानतक धर्मध्यान है। अपूर्वकरणसे लेकर उपशातकषायतक चार गुणस्थानोमें पहिला पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यान है। क्षीण कषाय गुणस्थानमे एकत्ववितर्क अवीचार नामक दूसरा शुक्लध्यान है ॥ ६२–६३ ॥

[वितर्क और वीचारका स्पष्टीकरण।] – पहिला पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक ध्यान वितर्कसे युक्त और प्रवीचार युक्त है। और दूसरा शुक्लध्यान अतिशय दुर्लभ है तथा वह वितर्कके साथ होता और अप्रवीचार है ॥ ६४ ॥

श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं और शोभना–निर्मल ऐसी अर्थसक्रान्ति, व्यजनसक्रान्ति और योगसक्रान्ति होती है। अर्थात् पहिले शुक्लध्यानमे वितर्क और विचार होता है। विशेष–श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होना है। मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय–मन.पूर्वक होता है। मतिज्ञानके अनन्तर नो इन्द्रियके प्राधान्यसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यद्यपि ईहादिक

---

१ आ. आद्य

अर्थो ध्येयः सुद्रव्यं वा पर्यायो वा निगद्यते । व्यञ्जनं वचनं योगः कायवाक्चित्तलक्षण ॥ ६६
द्रव्यं विहाय पर्यायं परिहृत्य त्वतोऽपि तत् । द्रव्यं यातीति संक्रान्तिर्द्रव्यस्य कथिता बुधैः ॥ ६७
श्रुतस्य वचनं तावदेकमादाय तत्क्षणात् । गृह्णात्यन्यत्ततोऽप्यन्यद्व्यञ्जनस्येति वर्तनम् ॥ ६८
काययोगं परित्यज्य गृह्णात्याग्रहवर्जितः । योगान्तरं मता सेय योगसंक्रान्तिरुत्तमैः ॥ ६९
यत्परिवर्तनं चैतत्प्रवीचार. स उच्यते । स्वाध्यायाहितसच्चित्ततर्कसामर्थ्यसंभवः ॥ ७०
पृथक्त्वादिति वीचारसामर्थ्यप्रगतं मनः । यस्यापर्याप्तबालस्योत्साहवच्चाव्यवस्थितम् ॥ ७१

मतिज्ञानभी-नोइंद्रियसे उत्पन्न होते है तो भी अवग्रहके विपयकोही वे विशेपतया जानते है। वैसा श्रुतज्ञान मतिज्ञानके विपयकोही यदि जानता तो वह अलग ज्ञान नहीं माना जाता। श्रुतज्ञानका विपय मतिज्ञानसे अपूर्व है। एक घडेको इंद्रिय और मनके द्वारा जानकर उसके जातिके देश, काल, रूप आदिकसे विलक्षण घडेको जो जानता है वह ज्ञान श्रुतज्ञान है। अथवा अनेक प्रकारोसे युक्त अर्थका निरूपण करनेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते है। अथवा इंद्रिय और अनिंद्रयसे एकजीव वा अजीव पदार्थको जानकर उसमे सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अतर, भाव और अल्पबहुत्व आदि प्रकारोसे पदार्थ निरूपण करनेमे जो ज्ञान समर्थ है उसे श्रुतज्ञान कहते है। ऐसे श्रुतज्ञानको यहा वितर्क कहा है-विशेप प्रकारोसे जीवादिक पदार्थोका ऊह करना, व्याप्ति आदिका निर्णय करना वितर्क है। प्रवीचार-अर्थ सक्रान्तिको, व्यजनसक्रातिको और योग सक्रान्तिको वीचार कहते है। परिवर्तनको सक्रान्ति कहते हैं ॥६४-६५॥ (राजवार्तिक प्रथम अध्याय सूत्र मतिश्रुतावधीति)

[सक्रान्तिका स्पष्टीकरण।] — अर्थ-ध्येयवस्तुको अर्थ कहते है। वह ध्येय द्रव्य और पर्यायरूप है। व्यजन-वचन, शब्द, वाक्य आदिको व्यजन कहते हैं। योग-शरीर, वचन और मनकी प्रवृत्तिसे जो आत्मप्रदेशोमे चचलता उत्पन्न होती है उसे योग कहते है। अर्थसक्रान्ति-द्रव्यको छोडकर पर्यायको ध्येय समझकर उसका विचार करना, पर्यायको छोडकर द्रव्यकी चिन्ता करना है। अर्थात् शुक्लध्यानका विपय कभी द्रव्य होता है और कभी पर्याय होता है कभी द्रव्यातर होता है। एक विपयमे स्थिरता नहीं होती । बार बार परिवर्तन होता है। इसको अर्थसक्रान्ति कहते है ॥ ६६-६७ ॥

व्यजनसक्रान्ति — श्रुतका एक वचन लेकर उसका विचार कर फिर अन्य श्रुतवचनका चिन्तन करना, उसे छोडकर तीसरे श्रुतवचनका विचार करना, उसेभी छोडकर चौथे श्रुतवचनका अवलंब करना, ऐसे विचारको व्यजनसक्रान्ति कहते है। आग्रहवर्जित योगिराज काययोगको छोडकर अन्ययोगका आश्रय करते है इसको उत्तम पुरुषोने योगसङ्क्रान्ति माना हैं ॥ ६८-६९ ॥

इस प्रकार इन तीन प्रकारके परिवर्तनोको प्रवीचार कहते है। यह प्रवीचार स्वाध्यायसे उत्तम मनमे उत्पन्न हुए तर्कका फल है ॥ ७० ॥

पहिले शुक्लध्यानमे योगीका मन वीचारके सामर्थ्यसे अधिक उन्नत होता है। परतु जैसे बालकका उत्साह अल्प होता है वैसे उस योगीका मन मोहकर्मप्रकृतियोका शनै. शनै क्षपण

तस्य क्षपयतस्तत्र प्रशमं नयतोऽपि च । मोहस्य प्रकृतीः कुण्ठकुठारात्तरुभेदवत् ॥ ७२
तत्पृथक्त्वसुवीतर्कवीचारं ध्यानमुत्तमम् । जायते जितकर्मौघमघविध्वंसकारिणः ॥ ७३
दुरन्तं मोहजालं तन्निर्मलं निकषन्निह । स एवातिविशुद्धात्मा ज्ञानावृतिनिरुन्धनात् ॥ ७४
स्थितिन्हासक्षयौ कुर्वञ्श्रुतज्ञानोपयोगवान् । अर्थव्यञ्जनयोगानां सत्संक्रान्तिविवर्जनात् ॥ ७५
स्थिरचित्तैकवृत्तिश्च कषायपरिवर्जितैः[1] । वैडूर्यमणिवन्नित्यं [2]निर्मलं हि यतो महान् ॥ ७६
ध्यात्वा निवर्तते नैव तस्य ध्यानं सुनिर्मलम् । यदेकत्ववितर्कं तत्तत्र केवलमश्नुते ॥ ७७
तेन ध्यानाग्निना चैव घातिकर्मेन्धनानि सः । दग्ध्वाप्नोति [3]रुचिं धर्मे कर्मयुक्तः शुभानि च ॥ ७८
स यदान्तर्मुहूर्तायुः शेषकर्मसमस्थितिः । बादरं काययोगं तं परिहृत्यावलम्बते ॥ ७९

अथवा उपशम करता है। जैसे अतीक्ष्ण कुल्हाडीसे वृक्ष शनैः शनैः काटा जाता है वैसे पहिले शुक्लध्यानधारकके द्वारा शनैः शनैः मोहकी प्रकृतिया क्षीण या उपशान्त की जाती है ॥७१–७२॥

यह पृथक्त्ववितर्कवीचार–ध्यान पापनाश करनेवाले योगिसे उत्तमतया किया जाता है और इससे कर्मसमूहका नाश होता है ॥ ७३ ॥

दुसरे शुक्लध्यानको जब योगी प्रारम्भ करता है तब जिसका नाश करना अतिशय कठिन है ऐसा मोहकर्म नष्ट होता है। तथा योगी श्रुतज्ञानोपयोगसे युक्त होकर ज्ञानावरण–कर्मको रोकता है। अर्थात् ज्ञानावरण कर्मकी स्थितिका न्हास प्रथमतः कर अनन्तर उसका नाश करता है। उस समय अर्थसङ्क्रान्ति, व्यञ्जनसङ्क्रान्ति और योगसङ्क्रान्तियोका अभाव होता है ॥ ७४–७५ ॥

[एकत्ववितर्क–ध्यानका विवरण।] -- जब यतिराजकी चित्तवृत्ति प्रथम शुक्लध्यानसे अधिक स्थिर होती है और जब वे कषायरहित होते हैं तब वैडूर्यमणिके समान निर्मल होकर वे नहीं लौटते है अर्थात् दूसरे ध्यानमे वे तत्पर होते है प्रथम ध्यानके तरफ वे नही आते। ऐसे निर्मल-ध्यानको एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यान कहते है। इस शुक्लध्यानसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। इस ध्यानरूपी अग्निसे ज्ञानावरणादि घातिकर्मरूपी इन्धन जलाकर यतिराज अतिशय प्रकाशमान होते है। अघातिकर्मही अब अवशिष्ट रहे है। इसके अनंतर वे केवली भगवान् आयुष्यकर्म जबतक कुछ अवशिष्ट रहा है तबतक विहार करते है ॥ ७६–७७ ॥

उस ध्यानाग्निसे वे मुनि घातिकर्मरूप इन्धनको जलाकर मेघोसे मुक्त हुए सूर्यके समान महाज्योतिको अर्थात् केवलज्ञानको प्राप्त होते है ॥ ७८ ॥

जब योगीके बाकी कर्मोकी स्थिति आयुकर्मके समान अन्तर्मुहूर्त रह जाती है तब बादरकाय–योगको छोडकर योगी सूक्ष्मकाय–योगका अवलम्ब करते है ॥ ७९ ॥

---

१ आ. कषायपरिवर्जितः २ आ निर्मलत्वयुतो महान् ३ महाज्योतिर्मेघमुक्तांशुमानिव

परमेष्ठी परञ्ज्योतिर्ध्यानमास्कन्तुमर्हति । तस्मादुद्ध्वस्तयोगी स समुच्छिन्नक्रियाभिधम् ॥ ८०
सत्सूक्ष्मं काययोगं तं तत्र सूक्ष्मक्रियाभिधम् । प्राणापानादिकस्पन्दक्रियाव्यापारवर्जनात् ॥ ८१
तत्र ध्याने भवत्यस्य सत्सामर्थ्यमयोगिनः । कर्मसंतानविच्छित्तेः कारणं भववारणम् ॥ ८२
यथाख्यातं च चारित्रं तदा तस्य प्रजायते । साक्षान्मोक्षैकसत्तत्त्वहेतुभूतं महात्मनः ॥ ८३
एतन्महातपः पूतं कर्मनिर्जरणक्षमम् । अस्माच्च निर्जरा पूता सैवोपक्रमजा मता ॥ ८४
अथावसरसंप्राप्तं मोक्षतत्त्वं निगद्यते । साक्षाच्च केवलं तस्य हेतुस्तद्घातिनां क्षयात् ॥ ८५
ज्ञानस्यावरणं तावद्दर्शनावरणं तथा । मोहनीयान्तराये च घातिकर्माणि तज्जगु.[१] ॥ ८६

[तीसरा सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यान ।] — जब काययोग सूक्ष्म होता है तब परमेष्ठी, उत्कृष्ट ध्यानरूपी ज्योतिके धारक वे केवली सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान धारण करते हैं। इस ध्यानसे योग सब नष्ट होते हैं और वे ' समुच्छिन्नक्रिया नामक चौथा ध्यान धारण करते है। उस समय श्वासोच्छ्वासादि क्रिया बद होती है। इस ध्यानमे इस अयोगकेवलीका सामर्थ्य बढता है, जो कि कर्मसमूहका नाश करनेवाला और ससार नष्ट करनेवाला है ॥ ८०—८२ ॥

[यथाख्यात-चारित्रकी प्राप्ति ।] — उस समय उस महात्माको साक्षात् मोक्षरूपी उत्तम निर्दोष तत्त्वका कारणरूप यथाख्यात चारित्र प्राप्त होता है। इस प्रकार यह महातप पवित्र और कर्मकी निर्जरा करनेमे समर्थ है। ऐसे तपसे पवित्र निर्जरा होती है। इस निर्जराको उपक्रमजा निर्जरा कहते है। उपक्रम शब्दका अर्थ तप होता है। उससे होनेवाली निर्जराको उपक्रमजा कहते है। इस निर्जराकेद्वारा कर्म उदयमे आनेके पूर्वकालमेही तपश्चरणके सामर्थ्यसे उदीर्ण करके उदयावलीमे प्रवेशित किया जाता है, और आम्र आदिके फलकी पक्वताके समान उपभोगमे लाया जाता है। यथाख्यात चारित्र सपूर्ण मोहकर्मके क्षयसे और उपशमसे आत्मस्वभावमे जो स्थिरता प्राप्त होती है वह यथाख्यात चारित्र है। चौथे ध्यानसे योग पूर्ण नष्ट होते है और आत्मामे अपूर्व स्थिरता प्राप्त होती है। इसलिये इसमे पूर्णता प्राप्त होती है ॥ ८३—८४ ॥ (राजवार्तिक अ. ९ वा)

[मोक्ष-तत्त्वका निरूपण ।] — अब सरल—अनंतसौख्ययुक्त मोक्षतत्त्वका प्रतिपादन किया जाता है। उस मोक्षप्राप्तिका कारण साक्षात्केवलज्ञान है और वह घातिकर्मोके क्षयसे होता है ॥ ८५ ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग ये पाच बधनकारण। (इनका स्वरूप पूर्वमे कहा गया है) इनका जब नाश होता है, तब आत्मामे नवीन कर्मबंध होना पूर्णतया रुक जाता है, तथा पुराने कर्म उदयमे आकर तथा उनकी उदीरणा होकर नष्ट होते है। उनकी निर्जरा होती है। तब

१ आ. ते जगुः

वन्धहेतोरभावेन निर्जरायाश्च सर्वथा । सर्वकर्मविमोक्षोऽयं मोक्षोऽभाणि पुरातनै. ॥ ८७
शरीरेण[1] विमुक्तस्य कलङ्करहितस्य च । आत्मनोऽनन्तसौख्यादिभावान्तरमयं पुनः ॥ ८८
कर्माष्टकविनिमुक्तास्त्रिलोकाग्रव्यवस्थिता. । अनन्तसुखनिर्मग्ना भाविनं कालमासते ॥ ८९
ये ते सिद्धाः प्रयच्छन्तु मम भक्तिमतोऽचिरात् । सिद्धि विशोध्य कर्माणि कुक्षेत्रपतितस्य च ॥
अज्ञानेनापि यत्प्रोक्तं श्रीसिद्धान्तमतं[2] कियत् । तत्तदाराधनायैव निर्गुणां ख्यातिमीप्सुना[3] ॥ ९१
अगाधस्त्वागमाम्भोधिः श्रीसर्वज्ञनिवेदितः । गौतमादिगणेन्द्रैर्योऽवगूढः स कथं पुनः ॥ ९२
मादृशैर्दुरभिप्रायैर्दुष्टकालसमर्स्थितैः[4] । नृकीटैः शक्यते ज्ञातु सदुपाध्यायवर्जितै ॥ ९३
केवलं सांप्रतं जाते[5] दुःषमाकालयोगतः । म्लेच्छान्ते भारते क्षेत्रे जैनी वागतिदुर्लभा ॥ ९४

आत्मामे कर्म बिल्कुल नहीं रहता । ऐसी जो कर्मरहित, शुद्ध, अनंतज्ञानादि गुणपरिपूर्ण आत्माकी अवस्था उसे पुरातन महर्षि मोक्ष कहते है ॥ ८६–८७ ॥

उस समय आत्मा औदारिकादि पाचो शरीरोसे रहित होता है । तथा कलक–कर्मरहित होता है । और आत्मा अनन्त सौख्य, अनंत ज्ञान-दर्शन वीर्य सपन्न होता है। पूर्वकी संसारावस्था नष्ट होकर वह उपर्युक्त शुद्ध अवस्थान्तर प्राप्त होता है ॥ ८८ ॥

[सिद्धपरमेष्ठीका स्वरूप ।] – ज्ञानावरणादि आठो कर्मोसे सिद्ध परमेष्ठी रहित होते है । त्रैलोक्यके अग्रभागमे सिद्धशिलापर अन्तिम तनुवातवलयमे वे विराजमान होते है । वे अनन्त सुखोमे सदा निमग्न रहते है । और भावि कालमेभी वे अनन्तसुखीही रहेगे । क्योकि बधके कारण मिथ्यात्वादिक उत्पन्न करनेवाला कर्म अब उनके पास नहीं है । कर्मका अत्यन्त अभाव हो गया है । जैसे बीज जल जानेपर अंकुर उत्पन्न नहीं होता वैसा कर्मबीज नष्ट होनेसे अब ससारांकुर उत्पन्न नहीं होता ॥ ८९ ॥

[ग्रथकारकी सिद्धोको विज्ञप्ति ।] – हे सिद्धपरमेष्ठिन् ! मै कुक्षेत्रमे पडा हू, भक्ति तत्पर ऐसे मेरे कर्मोको नष्ट कर मुझे आप सिद्धिपद दे । हे प्रभो ! निश्चयसे ज्ञानादि गुणोके साथ कीर्तिको चाहनेवाले मैने यह सिद्धान्तका मत अज्ञानसे थोडासा कहा है ॥ ९०–९१ ॥

[आगमसमुद्रका स्वरूपबोध मुझे नहीं है ।] – श्रीसर्वज्ञ महावीरप्रभुने जिसका स्वरूप कहा है, वह आगमसमुद्र अगाध है। उसके तलका स्पर्श करना शक्य नहीं है। ऐसे आगम-समुद्रमे गौतमादि गणेशोने प्रवेश किया है । परतु जो उत्तम उपाध्यायसे–सिद्धान्तज्ञ गुरुसे रहित हैं, तथा पचमकाल, जो कि दुष्ट है, उसमें उत्पन्न हुए है और खोटे ज्ञानसे युक्त हम सरीखे मनुष्य है, उनके द्वारा यह सर्वज्ञ प्रतिपादित आगम जानना शक्य नहीं है ॥ ९२–९३ ॥

[अब जिनवाणीका पाना दुर्लभ है।] – दुःषमाकालके सबधसे यह भारतक्षेत्र म्लेच्छोसे व्याप्त हुआ है । इसमे अब जिनेश्वरकी वाणी प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ हुआ है ॥ ९४ ॥

---

१ आ. अशरीरस्य सतः २ आ. गतं ३ आ. लिप्सया ४ समाश्रितैः ५ आ. याते

गतं शीलं गतं ज्ञान गतं दानं गतं तप । गतं शौचं गतं सत्यं गतं ध्यान गता क्रिया ॥ ९५
भव्यानामपि चित्तानि धर्मादपगतानि च । जैनी मुद्रापि दु प्राप्या यस्मिन्कालेऽतिदुर्धरे ॥ ९६
तत्र जातोऽहमत्युच्चै स्थानमानविवर्जितम् । ज्ञानाराधनत किञ्चित्करोम्यस्यानुवर्तनम् ॥ ९७
जिनेन्द्रस्य मतस्यास्याचिन्त्यमाहात्म्यवर्तिनः । श्रद्धानादपि सिद्ध्यन्ति सन्त ससारनिर्गताः ॥ ९८
यदि जैनेश्वरे मार्गे निदानमतिनिन्दितम् । सद्रत्नत्रयलाभो मे तथाप्यस्तु भवे भवे ॥ ९९

ये शृण्वन्ति महाधियः शुभमतं सामन्तभद्रं वचो ।
वैचित्र्यं बहुमानमावहदिद भ्रान्तेर्विमुक्ता जना. ॥

इस कलिकालमे शील-व्रतोका पालन जिनसे होता है ऐसे सदाचार नष्ट हुए है । ज्ञान नष्ट हुआ, दान नष्ट हुआ, और तप नष्ट हुआ, निर्लोभता नष्ट हुई, सत्य चला गया, ध्यान नष्ट हुआ और विनयादिक क्रिया नष्ट हुई ॥ ९५ ॥

[भव्यभी धर्मेमे मद आदर हुए है ।] -- इस कलिकालमे भव्योके चित्तभी धर्मसे हट गये है । यह कलिकाल महाकठिन है । इसमे जिनमुद्राभी प्राप्त होना कठिन है ॥ ९६ ॥

इस कलिकालमे मै उत्पन्न हुआ हू । मै उच्च स्थान और मानसे रहित हू । मै ज्ञानकी आराधना कर इस ज्ञानका कुछ अनुसरण करुगा ॥ ९७ ॥

[जिनमतका श्रद्धान ससारनाशका कारण है ।] -- अचिन्त्यमाहात्म्य धारण करनेवाले इस जिनेद्रमतका श्रद्धान करनेसेभी सज्जन संसारसे पार हो गये है अर्थात् उनका ससार अनतानत कालका नहीं रहा है । अर्द्धपुद्गल कालतक ससारमे अधिकसे अधिक रहकर जीव मुक्त होता है । यद्यपि जिनेश्वरके मार्गमे निदान--भावि सुखोकी आशा करना अतिशय निन्दित माना है तोभी मुझे भवभवमे उत्तम रत्नत्रय लाभ होवे ऐसी मै इच्छा करता हू । निदान यद्यपि ससारवर्धक है परतु वह भोगोकी चाह करनेसे निंद्य है और उससे ससार बढता है । रत्नत्रयलाभ, बोधिलाभ आदिकी चाह ससारवर्धक नहीं है, क्योकि वह प्रशस्त निदान है ॥९८--९९ ॥

[समन्तभद्रका वचन मुक्तिका कारण है ।] -- जैनमत अर्थात् शास्त्र और अतिशय आदरको उत्पन्न करनेवाला, नानाविषयोका प्रतिपादन जिसमे है ऐसा समन्तभद्र मुनिराजका वचन जो महाबुद्धिमान् पुरुष सुनते है वे भ्रान्तिसे रहित हो जाते है । कलासमूहमे अतिशय कुशल ऐसे वे पुरुष दो तीन भव धारण करके सुखसे--मुक्तिके सुदर नगरमे शीघ्र प्रवेश करते है ॥ १०० ॥

---

१ आ. मान

अप्यत्यन्तकलाकलापकुशलाः सम्प्राप्य द्वित्रान्भवान् ।
सौख्येनाशु विशन्ति वैभवयुताः सिद्धेः पुरं सुन्दरम् ।। १००
यो जिनशासनभक्तिं मनसा वचसा च कायतो वापि ।
कुरुते तस्य समीहितसिद्धिस्त्वचिरेण कालेन ।। १०१
इति श्रीपण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते चतुर्विधध्यानं मोक्षतत्त्वनिरूपणं
एकादशोऽध्यायः ।

[जिनशासन--भक्तिसे इच्छित सिद्धि होती है।] -- जो पुरुष मनसे, वचनसे, और शरीरसेभी जिनशासनमे भक्ति करता है उसे शीघ्रही इच्छित सिद्धि होती है ।। १०१ ।।

* श्री पण्डितनरेन्द्रसेनाचार्य--विरचित सिद्धान्तसार--संग्रहमे मोक्षतत्त्वका निरूपण करनेवाला ग्यारहवा अध्याय समाप्त हुआ। *

---

१ आ. इति सिद्धान्तसारसङ्ग्रहे आचार्य श्रीनरेन्द्रसेनविरचिते एकादशोऽध्याय. समाप्तः।

द्वादशोऽध्यायः ।

प्रणिपत्य गुरून्पञ्च पञ्चकल्याणभागिनः । आराधनां प्रवक्ष्यामि पञ्चमज्ञानहेतवे[1] ॥ १
दर्शनज्ञानचारित्रतपःपञ्चगुरूनिति । आराध्य जीव एवायं भव्यस्त्वाराधको भवेत् ॥ २
उपसेवा क्रिया पूता यामीषामतिभक्तित । भव्यजीवस्य साभाणि [2]जिनैराराधना घना ॥ ३
तत्त्वार्थाभिरुचिः पूता दर्शनं तद्विबोधनम् । ज्ञानं भवति चारित्रं यत्सावद्यनिवर्तनम् ॥ ४
यत्त्रयीविषये वर्ये महोद्योगः प्रजायते । कायक्लेशावहोऽसह्यस्तत्तपस्तापकारणात् ॥ ५
घातिकर्मक्षयावाप्तकेवलज्ञानसंपदः । पूजामर्हन्ति सर्वेभ्यस्तेऽत्रार्हन्तः प्रकीर्तिताः ॥ ६
प्रविधूताष्टकर्माणः प्राप्ताष्टगुणसंपदः । स्वस्वरूपस्थिता नित्यं सिद्धास्ते सिद्धिभागिनः ॥ ७

बारहवां अध्याय ।

गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष ऐसे पचकल्याणोंके न्द्रादिदेवकृत महोत्सवोके धारक अर्हदादि पचपरमेष्ठियोको वन्दन करके मै पाचवे ज्ञानके लिये—केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिये मै आराधना कहता हू ॥ १ ॥

[आराध्य और आराधक ।] -- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और पंचपरमेष्ठियोकी वन्दना ये आराध्य है और यह भव्यजीवही उनका आराधक अर्थात् आराधना करनेवाला है ॥ २ ॥

[आराधना ।] -- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और पचपरमेष्ठियोकी स्तुति इनकी अतिशय भक्तिसे जो पवित्र सेवा करना वह भव्यजीवकी दृढ आराधना है ऐसा जिनेश्वरने कहा है ॥ ३ ॥

जीवादिक तत्त्वार्थोपर जो पवित्र रुचि है वह सम्यग्दर्शन है । जीवादिक पदार्थोका जो ज्ञान, उसको सम्यग्ज्ञान कहते है । तथा हिंसादि पापोसे जो परावृत्त होना—हिंसादिकोका त्याग करना सो चारित्र है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप, तीन श्रेष्ठ विषयोंमें जो महान् प्रयत्न किया जाता है तथा उष्णकाल, वर्षाकालमे परीषह सहन किया जाता है वह तप आराधना है । यह आराधना कर्णके समान है । अर्थात् जैसा नौकाका कर्ण नौकाको चलानेमे सहायक है, वैसी यह तप आराधना सम्यग्दर्शनादि आराधनाओको प्रबल बनानेमे सहायक है ॥ ५ ॥

[अर्हत्परमेष्ठीका स्वरूप ।] -- जिन्होने घातिकर्मका क्षय करके केवलज्ञानसम्पत्ति प्राप्त की है, जो इद्र धरणेन्द्र, चक्रवर्ति आदिकोसे पूजा योग्य है, वे अर्हन्त कहे गये है । वे आराधने योग्य हैं ॥ ६ ॥

[सिद्धपरमेष्ठियोका स्वरूप ।] -- जिन्होने ज्ञानावरणादि आठ कर्मोका नाश किया है और जिनको ज्ञानादि आठ गुणोकी प्राप्ति हुई है जो अपने स्वरूपमे नित्य स्थित है, जिनको पुन-

१ आ. पञ्चज्ञानैकहेतवे २ आ. जैनै

आचारज्ञाः समाचारमन्येषां कथयन्ति ये । आचार्यास्ते भवन्त्यत्र गुरवो गरिमान्विताः ॥ ८
मोक्षार्थं मोक्षसच्छास्त्राण्यन्यानध्यापयन्ति ये । ज्ञानध्यानधना नित्यमुपाध्याया भवन्त्यमी ॥ ९
अन्येभ्यो नैव यच्छन्ति दीक्षां तीव्रतपस्विन । साधयन्ति स्वसिद्धिं ये साधवस्तेऽत्र कीर्तिता ॥
भव्यैराराधनायां तेऽप्याराध्याः परमेष्ठिनः । तैरेवाराधितैः सर्वमन्यदाराधितं भवेत् ॥ ११
भव्य. क्षान्तिकरो[1] नित्यं हिताहितविचारकः । जिनशासनसिद्धान्तवेदी श्राद्ध. सुसंयतः ॥ १२
मात्तन्मित्रकलत्राद्या भवभ्रान्तिविधायका' । सर्वेऽप्यमी न मे किञ्चिदिति यो हृदि मन्यते ॥

वस्था प्राप्त हुई है वे सिद्ध परमेष्ठी आराधनेके लिये योग्य है । विशेष–ज्ञानावरणादि आठ कर्मोका नाश होनेसे जो आठ गुण प्राप्त हुए हैं उनके नाम–अनंतज्ञान, अनतदर्शन, अव्यावाध, सम्यक्त्व, सौक्ष्म्य, अवगाहन, अगुरुलघु और अनतवीर्य ॥ ७ ॥

[आचार्य परमेष्ठीका स्वरूप ।] – जो पाच प्रकारके ज्ञानादि आचारोका पालन करते है और जो उसके ज्ञाता है, दस प्रकारके इच्छाकारादि समाचारोका शिष्योको वोध करते हैं वे आचार्य परमेष्ठी है । वे माहात्म्यके धारक प्रभावी गुरु है । विशेष–आचारवत्वादिक आठ गुण, वारह तप, दस स्थितिकल्प और छह आवश्यक ऐसे छत्तीस गुण आचार्यके कहे हैं ॥ ८ ॥

[उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप ।] – जो ज्ञान और ध्यानरूप धनके स्वामी हैं, जो मोक्षप्राप्तिके लिये शिष्योको मोक्षप्रद उत्तम सिद्धान्तशास्त्र हमेशा पढाते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी है ॥९॥

[साधुपरमेष्टीका स्वरूप ।] – जो अन्योको–श्रावक श्राविकाओको दीक्षा नहीं देते, जो तीव्र तपश्चरण करते हैं और जो अपनी सिद्धिको आत्मसिद्धिको-रत्नत्रयको साधते है वे इस लोकमे साधु कहे गये हैं ॥ १० ॥

भव्यजीव सम्यग्दर्शनादिक चार आराधनाओमे पचपरमेष्ठियोकी आराधना करे । क्योकि इनकी आराधना करनेसे सव अन्य आराधित होते है । अर्थात् सम्यग्दर्शनादिक चार आराधनाये पचपरमेष्ठियोकी आराधना करनेसे आराधित होती है । क्योकि इनका वैयावृत्त्य करना, इनका उपदेश हुआ आचार-चारित्र पालना, इनके ऊपर श्रद्धान करना आदिक वातोके पालनसे चारो आराधनाओंका पालन हो जाता है ॥ ११ ॥

[भव्यका स्वरूप ।] – भव्य क्षमाशील होता है । सदा अपने हिताहितका विचार करता है । जिनशासनके सिद्धान्तको वह जानता है, पचपरमेष्ठियोपर श्रद्धा करता है । और उत्तम निर्दोष संयम पालन करता है–जितेन्द्रिय होता है ॥ १२ ॥

[भव्य जीवकी चिन्तना अर्थात् अनुप्रेक्षाये ।] – वह भव्य उन्मत्त मित्र, पत्नी आदिक पदार्थ संसारभ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले हैं । ये सभी मेरे कुछ सवधी नहीं है, ऐसा हृदयमे समझता

---

१ आ. क्षान्तिपरो

शरदभ्रसमाकारं जीवनं यौवनं धनम् । आराध्य च वनं नित्यमित्थं यस्य सदा मतिः ॥ १४
मुक्त्वा जैनेश्वरं धर्मं शरणं मम गच्छतः । दुर्गतिं नोपजायन्ते पुत्राद्या वेत्ति यस्त्वद. ॥ १५
पञ्चप्रकारसंसारसरणं सरता मया । दु.खान्याप्तान्यनन्तानि ह्यधर्मादिति वेत्ति य. ॥ १६
सुख वा यदि वा दु.खं सुगतिं वाथ दुर्गतिम् । एक एवाभिगच्छामि न सम्बन्धभवा. परे ॥ १७
यो जानाति महाप्राज्ञः शरीरमपि नान्तरम् । मदीयं यत्र किं तत्र धनधान्यादिकं पुनः ॥ १८
सप्तधातुमयं चास्थिचर्मनद्ध कुसंस्थिति । शरीरं क्षणविध्वंसि धर्म एव हि शाश्वत. ॥ १९
मनोवाक्कायकर्मेति योगोऽसावास्रवो महान् । कर्मास्रवत्यनेनेति यो जानाति स तत्त्ववित् ॥ २०

है । यह जीवन, तारुण्य और धन शरत्कालके मेघके समान है । अब मुझे वनही आराध्य है-सेवने योग्य है ऐसी उस भव्यकी बुद्धि होती है । ऐसा विचार कर वह धनादिकसे विरक्त होता है ॥ १४ ॥

दुर्गतिको जानेवाले मुझको जिनेश्वरका धर्म छोडकर अन्य पुत्रादिक शरण नहीं है अर्थात् जिनधर्मही मेरा दुर्गतिसे रक्षण करनेवाला है ॥ १५ ॥

संसारानुप्रेक्षा—पाच प्रकारके ससारमे भ्रमण करनेवाले मुझे अधर्मसे अनन्त दु.ख प्राप्त हुए है ऐसा भव्य मनमे विचार करता है ॥ १६ ॥

सुख अथवा दु.ख, सुगति अथवा दुर्गतिको मै अकेलाही जाऊगा । मेरे सबधसे उत्पन्न हुए पुत्रादिक मेरे साथ सुखी और दु:खी नही होगे । सुगति अथवा दुर्गतिमे मेरे साथ चलेंगे ऐसा नहीं ॥ १७ ॥

जो महाबुद्धिवान् पुरुष अपने अतिशय अभिन्न शरीरकोभी यह मेरा है ऐसा नहीं समझता है, वह धन-धान्यादिक पदार्थ, जो सर्वथा भिन्न है, अपने कैसे मानेगा ? ॥ १८ ॥

यह शरीर रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र ऐसे सात धातुओसे बना हुआ है । अस्थि और चर्मसे बधा हुआ है । इसकी आकृतिभी कुत्सित है । यह शरीर क्षणविध्वंसि-क्षणविनाशी है परन्तु धर्मही नित्य है ॥ १९ ॥

मन, वचन और शरीरसे होनेवाली जो आत्माके प्रदेशोकी चचलता उसे योग कहते है । यह योगही महान् आस्रव है । कर्मोके आगमनका द्वार होनेसे इसे आस्रव कहते है । इस योगसे कर्म आत्मामे आजाता है । इस आस्रवतत्त्वको जो जानता है वह तत्त्ववेदी है ॥ २० ॥

जो उत्तम क्षमा मार्दवादि दश धर्मोका पालन करनेमे तत्पर रहता है, जिसका मन तपमे नित्य तत्पर रहता है, जो कर्मोको अपनेमे नहीं आने देता है, वह बुद्धिमान् इस प्रकार

१ आ आराध्यारावन २ आ एवेह ३ आ. कर्मस्त्रोगो ४ आ. सुनन्दिनि

दशधर्मरतो नित्यं तपस्तन्निष्ठमानसः । संवृणोति च कर्माणि यस्त्वेवं चिन्तयेद्बुधः ॥ २१
मिथ्यात्वाराधनायुक्तः कर्म बध्नाति चेतनः । निर्जीर्यते पुनस्तेन सम्यक्त्वाद्युपसेवनात् ॥ २२
लोकः सर्वोऽपि जीवेन कर्मणां वशवर्तिना । अवगाह्य विमुक्तोऽस्ति यस्येति हृदि वर्तते ॥ २३
वैभवं सर्वलोकानां सुलभं भववर्तिनाम् । श्रीजिनेन्द्रमहाधर्मलब्ध[1]बोधिस्तु दुर्लभा ॥ २४
इत्थं परात्मविज्ञानं यस्य स्यादनिवारितम् । तं सदा[2]त्मानमाख्यान्ति सम्यगाराधकं जिनाः ॥ २५
पञ्चैव मरणान्याहुः साराधा[3]रा यतीश्वराः । शुभाशुभगतिर्येभ्यो जानन्तीह विचक्षणाः ॥ २६
आद्यं केवलिनः प्रोक्तो मृत्युः पण्डितपण्डितः । साधूनां संयमोक्तानां पण्डितं मरणं पुनः ॥ २७

विचार करता है कि यह आत्मा मिथ्यात्वकी आराधनासे युक्त होकर कर्म बांधता है। परतु जब यह आत्मा सम्यक्त्वकी सेवा करता है तब बधे हुए कर्मकी निर्जरा करता है ॥ २१–२२ ॥

यह जीव कर्मवश होकर सपूर्ण लोकको अपने जन्मसे व्याप्त करके छोड देता है ऐसा विचार इस संयतके मनमे सदा रहता है ॥ २३ ॥

ससारमे भ्रमण करनेवाले सपूर्ण मनुष्योंको सर्व प्रकारका वैभव प्राप्त होता है, परंतु जिनेन्द्रके महाधर्मसे होनेवाली रत्नत्रयकी प्राप्ति, जिसको बोधि कहते हैं, वह अतिशय दुर्लभ है ॥२४॥

इस प्रकारसे जिसको अपने स्वरूपकी और परपदार्थोंका ज्ञान हुआ है, तथा जो अनिवारित है अर्थात् परको आत्मा समझकर जिसके मनमे अब कभीभी भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होगी, जो परको परही मानता है, उसमे आत्मीय-बुद्धिको धारण नहीं करता है ऐसे आत्माकोही जिनेश्वर सदात्मा-प्रशस्त आत्मा और वही उत्तम आराधक है ऐसा कहते है ॥ २५ ॥

[मरणोके पाच भेद ।] – सार–रत्नत्रय जिनको आधार है अथवा रत्नत्रयके आधारभूत मुनीश्वर मरण पाच प्रकारसे हैं ऐसा कहते है तथा विद्वज्जन उन मरणोसे शुभाशुभगति जानते हैं ॥ २६ ॥

विशेष – उत्पन्न हुए पदार्थका नाश होना मरण है। देवपना, पशुपना, नारकीपना और मनुष्यपना ऐसे पर्यायोका नाश होना मरण है। पूर्व आयुके नाशसे जीव मरता है और अन्य आयुके उदयसे वह नया पर्याय–देव मनुष्यादि पर्याय धारण करता है। ऐसे मरणके आचार्योंने पाच भेद कहे है। १ पण्डितपण्डित-मरण, २ पण्डितमरण, ३ बालपण्डित-मरण, ४ बालमरण और ५ बालबाल मरण।

[पण्डितपण्डित मरण और पण्डित मरण ।] – क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शनादि नव केवल लब्धिके धारक ऐसे केवलिके मरणको पण्डितपण्डित–मरण कहते है। जिनको सयमी कहा है ऐसे साधुओंको अर्थात् महाव्रत, गुप्ति और समितियोंके पालकोंको सयमी मुनि कहते है। इनके

---

१ आ. लब्धिर्बोधिः २ आ. महात्मान ३ आ. सारोद्धारयतीश्वराः

संयतासंयतानां तद्बालपण्डितसंज्ञिकम् । बालं[1] चासंयतस्येह सम्यग्दृष्टेर्निवेदितम् ॥ २८
मिथ्यादृष्टिजनानां तत्पञ्चमं बालबालकम् । जायतेऽनन्तदुष्टैकमरणं[2] भवधारिणाम् ॥ २९
लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालेनैवं[3] तु कर्मणाम् । क्षयं कृत्वा शिवं याति केवली तदिहादिमम् ॥ ३०
समाराधयतोऽनर्घं[4] सद्रत्नत्रयमुत्तमम् । सत्समाधियुतस्येह साधोर्मृत्युः स पण्डित ॥ ३१

मरणका नाम पण्डितमरण है। स्पष्टीकरण–ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपोमे जिनको सीमातीत पाण्डित्य प्राप्त हुआ है, उनको पण्डित कहते है अर्थात् अनंतज्ञान, अनत दर्शन, अनतसुख और अनतशक्ति आदिक प्राप्त हुए, वे केवलिजिन पण्डितपण्डित कहे जाते है। इनसे भिन्न जो है उनको पण्डित कहते हैं अर्थात् प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसयत आदिसे लेकर क्षीणकपाय गुणस्थानतक जो साधु-मुनि है उनको ‘पण्डित’ कहते हैं। पण्डा–रत्नत्रय-परिणत बुद्धिको पण्डा कहते है, ऐसी बुद्धि जिसको उत्पन्न हुई है वह पण्डित है। मुनियोमे रत्नत्रय-पण्डितबुद्धि होनेसे वे पण्डित कहे जाते है ॥ २७ ॥

[बालपण्डित मरण और बालमरणका विवेचन ।] – सयतासयतके मरणको बालपण्डित मरण कहते है। श्रावक जो अणुव्रतके धारक है, अर्थात् दर्शनादि-प्रतिमाओके धारक है उनको सयतासयत कहते हैं। स्थावर जीवके घातरूप असयमसे निवृत्त न होनेसे वे श्रावक बाल कहे जाते है। तथा त्रसजीवोका सरक्षणरूपसयम और रत्नत्रयमे तत्पर होनेसे पण्डित कहे जाते है। असयम होनेसे बाल व रत्नत्रय होनेसे पण्डित ऐसे दो गुणोके धारक होनेसे बालपण्डित कहे जाते हैं।

दर्शनज्ञान ये दो जिनमे है परंतु जो सर्वथा चारित्ररहित है ऐसे असयतसम्यग्दृष्टीके मरणको बालमरण कहते है ॥ २८ ॥

[बालबालमरणका स्वरूप ।] – मिथ्यादृष्टियोके मरणको बालबालमरण कहते है। ससारको धारण करनेवाले जीवोको यह पाचवा मरण अनन्त दोषोंसे भरा हुआ और जिसका साम्य कोई मरण नही कर सकेगा ऐसा मरण है। इस मरणसे मरनेवाला जीव सम्यक्त्वसेभी रहित है, दर्शन और चारित्र तो उसे है ही नहीं। इसलिये मिथ्यादृष्टिको बालबाल कहते है ॥ २९ ॥

[पण्डितपडित मरणवाला मुक्त होता है ।] – अ, इ, उ, ऋ, ऌ ऐसे पाच ह्रस्व-स्वरोका उच्चार करनेमे जितना समय लगता है उतनेमे अघातिकर्मोका क्षय करके केवली भगवान मोक्षको जाते है वह मरण पहिला मरण है ॥ ३० ॥

[पडितमरणका खुलासा ।] – उत्तम, प्रशसनीय और अमूल्य ऐसे रत्नत्रयकी आराधना करनेवाला उत्तम ध्यान युक्त–धर्म ध्यान और शुक्लध्यान युक्त ऐसे साधुका जो मरण वह पडितमरण है ॥ ३१ ॥

१ आ. वा. २ आ दुःखैककारण भवधारगम् ३ आ. नैप स्वकर्मणा ४ आ ऽनर्घ्यं

तदेतत्त्रिविधं प्रोक्तं पण्डितं मरणं यतेः । प्रायोपगमनं चाद्यमिङ्गिनीमरणं पुनः ॥ ३२
भक्तत्यागस्तृतीयं स्यादात्मनः स्वपरस्य च । वैयावृत्त्यस्य सापेक्षं सद्गतेः कारणं परम ॥ ३३
प्रायोपगमनं यत्तद्वैयावृत्त्यविवर्जितम् । स्ववैयावृत्यसापेक्षमिङ्गिनीमरणं मतम् ॥ ३४
काले संन्यस्य वेगेन सर्वग्रन्थविवर्जित. । आराधयन्गुरून्पञ्च म्रियते वालपण्डितः ॥ ३५
संन्यासादिविनिर्मुक्तमाकस्मिकविघाततः । शुद्धदृष्टेर्भवेन्मृत्युरतद्वालो गदितो बुधैः ॥ ३६

[पडितमरणके तीन भेद ।] – यतिका यह पडितमरण तीन प्रकारका है। प्रायोपगमन मरण, इगिनीमरण, भक्तत्याग-मरण । इंगिनीमरणवाला केवल अपने वैयावृत्त्यकीही अपेक्षा करता है अर्थात् आहारका त्याग करके स्वयं उठता बैठता है अन्योका साहाय्य नहीं चाहता । इसमे तीसरा मरण जिसको भक्तत्यागमरण कहते है वह अपने और अन्योंके वैयावृत्त्यकी अपेक्षा रखता है ।

भक्तत्यागमरणको भक्तप्रतिज्ञा कहते है । भक्त शब्द आहारका वाचक है और प्रतिज्ञा शब्दका अर्थ प्रत्याख्यान त्याग ऐसा है । जिसमे क्रमश आहारका त्याग किया जाता है ऐसे मरणको भक्तप्रतिज्ञा मरण कहते है ॥ ३२–३३ ॥

[प्रायोपगमन और इंगिनीमरणका विवरण ।] – प्रायोपगमन मरण वैयावृत्त्यसे रहित होता है और इगिनीमरण स्ववैयावृत्यकी अपेक्षा करता है । प्राय अर्थात् अनशन-आहारोका त्याग करना । पादोपगमन ऐसाभी इस मरणका नाम है । इसका खुलासा–पावोसे गमन करना अर्थात् अपने सघका त्याग कर उस संघसे निकलकर योग्य स्थानका आश्रय लेना । अथवा प्रायोग्य–ससार नाशके लिये योग्य ऐसे सस्थान और सहननके गमन प्राप्तिसे जो मरण किया जाता है उसको प्रायोग्य मरण कहते है। इगिनीमरण–स्ववैयावृत्यकी अपेक्षा करता है। इंगिणी शब्द अपने अभिप्रायका वाचक है। अपने अभिप्रायके अनुसार स्वयंही स्वत.की शुश्रूषा कर जो मरण किया जाता है उसे इंगिनी मरण कहते है । परिचारक मुनिकी शुश्रूषा इसमे क्षपक नहीं चाहता है ॥ ३४ ॥

[बालपण्डित–मरणका विवरण ।] बालपण्डित पचमगुणस्थानी क्षुल्लकादिक, प्रतिमाधारी श्रावक अतकालमे रागद्वेषादिकोका त्याग कर सपूर्ण परिग्रहोसे रहित हो जाता है। और पंचपरमेष्ठीयोंकी आराधना करके मरण प्राप्त करता है ॥ ३५ ॥

[बालमरणका स्वरूप ।] – सन्यासादिकोसे रहित आकस्मिक कुछ प्रहारादिक होनेसे जो शुद्ध सम्यग्दृष्टिका मरण होता है वह बालमरण है ऐसा सुज्ञोने कहा है ॥ ३६ ॥

१ आ. यत. २ आ. पादो ३ आ. स्तृतीयः ४ पादो ५ पण्डितात् ६ आ. तद्बाल गदित

आर्तरौद्रवतां मृत्युर्जायते बहुदु:खत: । सर्वेषां बालबालानां मरणं कथयन्ति ते ॥ ३७
आवीचिमरणं चान्यत्समयं समयं प्रति । आयुष: संक्षयात्प्रोक्तं मुनीन्द्रैर्हतकल्मषै: ॥ ३८
भुज्यमानायुषश्चान्ते मृत्युस्तद्भवसंभव: । कथ्यते श्रीजिनाधीशैरनेकगुणसंयुतै: ॥ ३९
येनैव यो मृत पूर्वं तेन तस्य पुनर्भवेत् । मृत्युर्वाचधिनामानं तमुशन्ति यतीश्वरा ॥ ४०
येन पूर्वं मृतस्तेन न मृत्युर्जायते पुनः । यस्मात्तन्मरणं प्राहुराद्यन्तमिह रूढित: ॥ ४१
मायामिथ्यानिदानादिशल्यैर्यन्मरणं भवेत् । सशल्यमरणं तद्धि दुष्टं दुर्गतिकारणम् ॥ ४२
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमुत्सृज्य जायते । मरणं तत्समुत्सृष्टं दु:खपाथोधिवर्धकम् ॥ ४३
गृद्धपृष्ठभवो मृत्यु: कथ्यते यस्य जायते । हस्त्यादेरुदरस्थस्य महादु:खविधायक: ॥ ४४
घ्राणादिकनिरोधेन यो मृत्युर्भववर्तिनाम् । विप्रासमरणं तद्धि कथयन्ति कथाविद: ॥ ४५

[बालबालमरणका स्वरूप ।] – आर्तध्यानसे और रौद्रध्यानसे अतिशय दु:खित होकर जो मरण होता है वह सब बालबालोंका मरण है ऐसा कहते हैं ॥ ३७ ॥

[आवीचिमरण तथा तद्भव मरण ।] – प्रत्येक समयमें जो आयुका क्षय होता रहता है उसको, नष्ट किया है पाप जिन्होंने ऐसे मुनीश्वरोंने आवीचिमरण कहा है। वर्तमानकालमें जिस आयुष्यका प्राणी उपभोग ले रहा है उसको भुज्यमान आयु कहते हैं। उसका अन्त होनेपर जो मृत्यु आती है वह तद्भवमरण है, ऐसा अनेक गुणोंसे संयुक्त श्रीजिनेन्द्रोंने कहा है ॥ ३८–३९ ॥

[अवधिमरण ।] – जो जिस मरणसे पूर्वभवमें मरा था उसी मरणसे वह पुन: इस भवमेंभी यदि मरेगा तो उसके इस मरणको यतीश्वर अवधिनामका मरण कहते हैं ॥ ४० ॥

[आद्यन्तमरणका स्वरूप ।] – जिस मरणसे प्राणी पूर्वभवमें मरा था उस मरणसे पुन: मरण न होना उसको रूढिसे आद्यन्त मरण कहते हैं ॥ ४१ ॥

[सशल्यमरणका विवरण ।] – माया, मिथ्यात्व और निदान आदि शल्योंसे जो मरण होता है उसको सशल्य मरण–शल्यभाव-सहित मरण कहते हैं और वह दुष्ट तथा दुर्गतिप्राप्तिका कारण है ॥ ४२ ॥

[समुत्सृष्ट–मरणका विवरण ।] – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्रका त्याग करके जो मरण होता है उसको समुत्सृष्ट मरण कहते हैं। यह मरण दु:खरूपी समुद्रको बढानेवाला है ॥ ४३ ॥

[गृद्धपृष्ठ–मरण ।] – हाथी आदिके पेटमें घुसकर जो मृत्यु होती है उसको गृद्धपृष्ठ मरण कहते हैं, यह मरण महान् दु:खको उत्पन्न करता है ॥ ४४ ॥

[विप्रास मरण ।] – नाक, कण्ठ आदि दबाकर-श्वासोच्छ्वासका निरोध कर जो संसारी जीवोंका मरण होता है वह विप्रास मरण है ऐसा उसका यथार्थस्वरूप जाननेवाले विद्वान कहते है ॥ ४५ ॥

१ आ. बालबाल तन्मरण २ आ रूढये ३ आ. मनन ४ आ यस्

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयेसंक्लिष्टयोगतः । मृत्युर्भवति जीवानामप्रशस्तः स एव हि ॥ ४६
पार्श्वस्थादिकरूपेण वलाकामरणं मतम् । सप्तदशेति सन्त्यत्र मरणानि शरीरिणाम् ॥ ४७
ज्ञात्वेति विबुधेनात्र त्यक्त्वासाधूनि सर्वथा । धीरेण च निजप्राणास्त्याज्याः पण्डितमृत्युना ॥ ४८
अधीरेणापि मर्तव्यं प्राणिनामायुषः क्षये । तस्माद्धैर्यवता प्राणसर्जनं दुःखभर्जनम् ॥ ४९
जैनराद्धान्तसूत्राणामभिप्रायेण धीधनाः । क्रियाकाण्डं प्रकुर्वन्ति तानि वक्ष्येऽधुना ततः ॥ ५०
अर्हो लिङ्गं च शिक्षा च विनयं च तथा पुनः । समाध्यनियतावासौ परिणामस्ततः परम् ॥ ५१
उपधेर्वर्जनं श्रेणिसमारोहणमुत्तमम् । तपसो भावना पूता सल्लेखनमनिन्दितम् ॥ ५२
दिशा परस्परं क्षान्तिरनुशासनमुत्तमम् । चर्या च मार्गणा चेति सुस्थितः स्वसमर्पणम् ॥ ५३
परीक्षाराधनायाश्च निर्विघ्नेनावलोकनम् । आपृच्छा प्रतिपृच्छा च गुरोरालोचना पुनः ॥ ५४

[अप्रशस्त मरण ।] — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमे संक्लेश परिणाम उत्पन्न होकर जो मृत्यु होती है वह अप्रशस्त मरणही है ॥ ४६ ॥

[वलाकामरण ।] — पार्श्वस्थादिक रूपसे जो मरण प्राप्त होता है उसे वलाका मरण कहते है अर्थात् पार्श्वस्थादिक जो मुन्याभास है उनके स्वरूपमे मरण होना, भ्रष्ट मुनि होकर मरण करना वलाकामरण है । इस प्रकार यहां सत्रह प्रकारके मरणोका वर्णन किया है ॥ ४७ ॥

वालबाल मरणादिक मरण असाधु है अर्थात् ससारमे घुमानेवाले है ऐसा समझकर विद्वान् धीर व्यक्ति उनका त्याग कर अपने प्राण पण्डितमृत्युसे छोडे ॥ ४८ ॥

[धैर्यसे मरण दुःख नाशक है ।] — आयुष्य जव समाप्त होता है तब धैर्यगलित होनेपरभी मरनाही पडता है । इसलिये धैर्यवान् लोगोका जो मरण है वह दु.खको जलानेवाला है । तात्पर्य–धैर्यसे प्राणत्याग करनाही श्रेष्ठ है ॥ ४९ ॥

[क्रियाकाण्डका वर्णन ।] — जैन सिद्धान्तसूत्रोके अनुसार विद्वज्जन (मुनि) क्रियाकाण्ड करते है इसलिये उस क्रियाकाण्डका अब मै वर्णन करता हू ॥ ५० ॥

[सविचारभक्तप्रत्याख्यानके सूत्रोका विवरण ।] — अर्ह, लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि, अनियतावास [अनियतविहार] परिणाम, उपधित्याग, उत्तम श्रेणिसमारोहण, पवित्र तपकी भावना, प्रशसनीय सल्लेखना, दिशा, परस्परक्षान्ति, (क्षमा) उत्तमअनुशासन, चर्या, मार्गणा, सुस्थित, स्वसमर्पण, परीक्षा, निर्विघ्नतासे अवलोकन करना, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, आलोचना, गुणदोपालोचना पवित्र सस्तरोपस्था, निर्यापकगण, प्रकाशन, अवहानि, प्रत्याख्यान, पुनः क्षमा, क्षमण, सारण, शुद्धि, कवच, समता, ध्यान, लेश्या, फल, वास और देहत्याग । इन सूत्रोके अनुसार आराधना करनी चाहिये ।

१ आ. त्रये २ आ वालाक ३ आ धैर्यवता ४ आ. परः

शय्या च संस्तरोपर[१]था निर्यापकगणस्तथा । प्रकाशना च हानिश्च प्रत्याख्यानं क्षमा पुनः ॥ ५५
क्षमणं सारणा शुद्धिः कवचः समता पुनः । ध्यानं लेश्या फलं वासो देहत्यागस्ततः परम् ॥ ५६
आराधना विधातव्या ह्येतत्सूत्रानुसारतः । अन्यथा जायते जन्तु[२]र्मिथ्यात्वाराधनाधमः ॥ ५७

यदि ऐसा नहीं किया जायगा, इनसे उलटा क्रियाकाण्ड किया जायेगा, तो वह यति-श्रावक आराधक मिथ्यात्वकी आराधनासे अधम होगा ॥ ५१-५७ ॥

इन चालीस सूत्रपदोका स्पष्टीकरण इस क्रमसे है-

१ अर्ह - सविचारभक्त प्रत्याख्यानके योग्य व्यक्तिको अर्ह कहते है । जो मुनि अथवा गृहस्थ उत्साह और बलसे युक्त है, जिसको मरणकाल अकस्मात् प्राप्त नहीं हुआ है और जिसका विधिपूर्वक परगणमे विहार होता है तथा वहा जाकर आहारका और कषायोंका त्याग विधिपूर्वक करता है ऐसे साधु तथा गृहस्थके मरणको भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं अर्हप्रकरणमे उपर्युक्त लक्षणोंका व्यक्ति सल्लेखनाके योग्य है ।

२ लिंग - शिक्षा, विनय, समाधि वगैरह क्रिया भक्तप्रत्याख्यानकी सामग्री है । उस सामग्रीका यह लिंग योग्य परिकर है । सर्व परिकर सामग्री जुडनेपर जैसे कुंभकार घट निर्माण करता है, वैसे योग्य व्यक्तिभी साधन सामग्री पाकर सल्लेखना कार्य करता है । लिङ्ग शब्दका अर्थ चिह्न होता है । सपूर्ण वस्त्रोका त्याग अर्थात् नग्नता, लोच-हाथसे केश उखाडना, शरीरपरसे ममत्व दूर करना अर्थात् कायोत्सर्ग करना, प्रतिलेखन प्राणिदयाका चिह्न अर्थात् मयूरपिच्छिको हाथमें धारण करना इस तरह चार प्रकारका लिंग है ।

३ शिक्षा - शास्त्राध्ययन । ज्ञानके बिना विनयादिक करना अशक्य है, अतः शास्त्राध्ययन करना चाहिये । जिनेश्वरका शास्त्र पापहरण करनेमें निपुण है; अत उसको पढना चाहिये ।

४ विनय - मर्यादा पालन करना । गुरुओंकी उपासना करना ।

५ समाधि - मनको एकाग्र करना, मनको शुभोपयोगमे अथवा शुद्धोपयोगमें एकाग्र करना ।

६ अनियतावास - अनियत ग्राम, पुरादिक स्थानोमे रहना ।

७ परिणाम - अपने कर्तव्यका सदा विचार करना ।

८ उपधित्याग - परिग्रहका त्याग करना ।

९ श्रेणिसमारोहण - उत्तरोत्तर शुभपरिणामोंकी उन्नति करना ।

१० भावना - परिणामोमे संक्लेश नहीं उत्पन्न होनेका अभ्यास करना ।

११ सल्लेखना - शरीर और कषायोको कृश करना ।

१ आ. सस्तरः दूतो २ आ. जन्तो.

१२ दिशा – आचार्यने अपने स्थानपर स्थापित किया हुआ शिष्य जो परलोकका उपदेश करके मोक्षमार्गमे भव्योको स्थिर करता है, जिसको बालाचार्य कहते है, यह शिष्य आचार्यके समान गुणोका धारक होता है।

१३ परस्पर क्षान्ति -- अन्योन्य क्षमाकी याचना करना।

१४ अनुशासन -- आगमके अविरुद्ध उपदेश देना।

१५ चर्या -- अपना सघ छोडकर परगणमे--अन्यसघमे गमन करना।

१६ मार्गणा -- रत्नत्रयकी विशुद्धि करनेमे समर्थ अथवा समाधिमरण करनेमे समर्थ ऐसे आचार्यको ढूंडना, शोधना।

१७ सुस्थित -- परोपकार करनेमे तथा स्वकीय आचार्यपद-योग्य कार्य करनेमे प्रवीण गुरुको सुस्थित कहते है।

१८ स्वसमर्पण -- आचार्यके चरणमूलमे गमन करना, आचार्यके स्वाधीन होना।

१९ परीक्षा – गण, शुश्रूषा करनेवाले मुनि समाधिमरणाराधक, उत्साहशक्ति, आहारकी अभिलाषा इत्यादिककी परीक्षा करना।

२० निर्विघ्न अवलोकन – आराधनामे विघ्न उपस्थित होनेसे आराधनाकी सिद्धि नहीं होती है। अत· उसकी निर्विघ्नताके लिये राज्य, देश, गाव, नगर वगैरहका शुभाशुभावलोकन।

२१ आपृच्छा–यह आराधक भक्तप्रत्याख्यानके लिये आया है इसके ऊपर अनुग्रह करना योग्य है या नहीं ऐसा सघसे प्रश्न करके उनसे सम्मति प्राप्त करना।

२२ प्रतिपृच्छा–परिचारक मुनियोकी सम्मति मिलनेपर एक आराधकको स्वीकारना।

२३ आलोचना–गुरुके आगे अपने पूर्वापराध कहना।

२४–२५ गुणदोष–आलोचनाके गुणदोषोका वर्णन करना।

२६ सस्तरोपस्था–समाधिमरण साधनेके लिये आराधककी योग्य वसतिका निवास। सस्तर–अर्थात आराधकके लिये आगमोक्त शय्या।

२७ निर्यापकगण–आराधकको समाधिमरण साधनेमे सहायता करनेवाले आचार्यादिक।

२८ प्रकाशन–आहारको दिखाना।

२९ अवहानि–क्रमसे आहारका त्याग करना।

३० प्रत्याख्यान–तीन आहारोका त्याग।

३१–३२ क्षमा क्षमण–आचार्यादिकोको क्षमाकी याचना करना तथा दूसरोके किये हुए अपराधोकी क्षमा करना।

३३ सारणा–दु खसे पीडित हुए और मोहसे बेसुध हुए मुनिराजको सावधान करना–सचेत कर देना।

असाध्ये च महाव्याधौ दुर्भिक्षे वातिदारुणे । उपसर्गप्रवृत्तौ वा साधुर्योग्यः प्रजायते ॥ ५८
गृहीत्वा लिङ्गमत्युद्घं कृत्वा शान्तं मनोऽधिकम् । सर्वसंगपरित्यागो विधातव्यः प्रयत्नतः ॥ ५९
मृत्योर्भीति परित्यज्य स्थिरचित्तेन धीमता । शुभैकभावनायां हि स्थातव्यं शुभलेश्यया ॥ ६०

३४ शुद्धि-समाधिमरणके लिये उद्युक्त हुए मुनिराजको आचार्य उपदेश देते है ।

३५ कवच-जैसे कवच-बखतर सैकडो बाण पडनेपर उत्पन्न हुए दु.खोसे वीर पुरुषको बचाता है, वैसे आचार्यका किया हुआ धर्मोपदेश आराधकको दुःखोसे बचाता है । चतुर्गतिमें पूर्वभवमें आराधकके आत्माने दुःसह दु.खोका अनुभव लिया है, परतु वह सब व्यर्थ हुआ । वह दुःखसहन आत्म-हितकारी नहीं हुआ । परंतु हे आराधक इस समय जो दु ख तेरे द्वारा सहा जा रहा है वह तेरे कर्मकी निर्जरा करेगा । वर्तमान दुःखोको नष्ट करके अतीन्द्रिय, निश्चल, उपमारहित, बाधारहित सुख देगा। इस प्रकार कहा हुआ आचार्यका उपदेश आराधकके दु'खोका नाश करनेवाला होनेसे कवचके तुल्य है।अतः इसको कवच नाम देना योग्यही है । जैसे किसी तेजस्वी बालका शौर्यगुण सूचित करनेके लिये उसमे सिंह शब्दका आरोपण करते है वैसे यहाभी कवचगुणोका अध्यारोपण उपदेशमे करके उसको कवच शब्दसे गौरवित किया है ।

३६ समता-जीवित, मरण, लाभ, हानि, सयोग, वियोग, सुख और दु ख इनमें रागद्वेषोंका त्याग करके उपेक्षाबुद्धि धारण करना ।

३७ ध्यान-अन्यपदार्थोसे चित्तको हटाकर उसको एकविषयमे नियुक्त करना ।

३८ लेश्या-मनवचन और शरीरके व्यापार कषाययुक्त होना ।

३९ फल-आराधनासे प्राप्त हुए साध्यको फल कहते हैं ।

४० देहत्याग-आराधकका देह छोडना । इस प्रकार भक्त प्रत्याख्यानके चालीस अधिकारोका सक्षिप्त विवेचन किया है । इसका विस्तृत विवेचन मूलाराधनामे पाठक देखे ॥५१-५७॥

[सल्लेखनाधारण करने योग्य परिस्थितिका वर्णन ।] -- जब किसी साधुके सयमसमुदायको नष्ट करनेवाला और महाप्रयत्नसेभी जिसकी चिकित्सा न हो सके ऐसा रोग होनेसे वह भक्तप्रत्याख्यानके योग्य होता है । जिसमे जीनेकी सभावना नहीं है ऐसा अतिशय भयकर दुर्भिक्ष पडनेपर, या देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यचकृत उपसर्ग होनेपर साधु सल्लेखनाके लिये योग्य होता है ॥५८॥

ऐसी परिस्थितिमे अत्यन्त श्रेष्ठ-महान्-जिनलिंग धारण कर, तथा मन अधिक शान्त करके सपूर्ण परिग्रहोका त्याग प्रयत्नसे करना चाहिये ॥ ५९ ॥

मृत्युका भय हृदयसे निकाल देना चाहिये । जिसका स्थिरचित्त हुआ है, ऐसे विद्वान् मुनिवर्यको शुभलेश्या धारणकर (पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओको शुभलेश्या कहते हैं। इनके लक्षण गताध्यायमे दिये है) शुभभावनाओमेही तत्पर रहना चाहिये ॥ ६० ॥

१ आ. मरणस्य भय त्यक्त्वा

आरावनामहाशास्त्रवाचनादत्तमानसैः । स्थातव्यं श्रीजिनागारे भव्यनिर्यापकान्विते ॥ ६१
असंक्लिष्टा च संक्लिष्टा भावना द्विविधा मता । संक्लिष्टां च परित्यज्य भावयेदपरां बुधः ॥ ६२
संसर्गाःसन्ति ये केचिद्रागद्वेषस्य बृंहकाः । वर्जनीया भवन्त्येतैः संक्लिष्टा भावना यतः ॥ ६३
कन्दर्पकौत्कुचौलादि[1] भावयञ्जायते यदि[2] । कन्दर्पभावनोपेतो ह्यपेतः शुभसन्ततेः ॥ ६४
ज्ञानस्य ज्ञानयुक्तस्य धर्माचार्यस्य साधुषु । मायाद्यवर्णवादी स्यात्किल्विषी[3] भावनान्वितः ॥ ६५

[सल्लेखनाधारक जिनमदिरमे रहें ।] – आराधना-महाशास्त्रके पढनेमे जिन्होने अपना मन एकाग्र किया है, ऐसे मुनियोको (सल्लेखना धारक मुनिको) भव्य और निर्यापक जिसमे है ऐसे श्रीजिनमदिरमे निवास करना चाहिये ॥ ६१ ॥

[भावनाके भेद ।] – असक्लिष्ट-भावना और सक्लिष्ट-भावना ऐसे भावनाके दो भेद है. परतु सक्लिष्टभावनाओको छोडकर असक्लिष्टभावनामे विद्वान् मुनि स्थिर रहें–शुभ और शुद्ध भावनाओका हमेशा चिन्तन-अभ्यास करे ॥ ६२ ॥

रागद्वेषको वृद्धिंगत करनेवाले जो संग–मिथ्यादृष्टि कामी आदि पुरुषोकी संगति है उसे त्यागना चाहिये । यदि इनका त्याग नहीं किया जायेगा तो इनसे संक्लिष्ट भावनाओकी प्रसूति होगी ॥ ६३ ॥

[कन्दर्पभावनाका लक्षण ।] – कंदर्प–प्रीतिकी उत्कटतासे–तीव्रस्नेहसे हास्यसहित असभ्य वचन बोलना, भडवचन बोलना कदर्पवचन है । अतिशय रागवश होकर, हसकर दूसरोके प्रति शरीरके असभ्य अभिनयके साथ असभ्य वचनोचार करना कौत्कुच्य है, कुचाल है इत्यादि भावनाओका यदि कोई साधु चिंतन करता है तो वह कन्दर्पभावनाओंसे युक्त है । ऐसी भावनाओसे वह शुभकार्योंसे और शुभपरिणामोसे दूर होता है ॥ ६४ ॥

[किल्विषभावनाका स्वरूप ।]– जो मुनि ज्ञानका, ज्ञानयुक्त केवली भगवतका, धर्मका तथा उसका प्रतिपादन करनेवाले गणधरादि श्रुतकेवलियोका, उपाध्याय मुनियोका और रत्नत्रयानायक साधुओंका अवर्णवाद प्रगट करता है अर्थात् उनमें दोष न होते हुएभी दोष दिखाता है तथा जो ज्ञानमें-श्रुतज्ञानमे कपट करता है अर्थात् जो उसमे प्रेम तो नहीं रखता है; परतु ऊपरसे विनय करता है वह ज्ञानविषयक मायावी है । केवलियोंमें मानो आदर दिखा रहा हैं परतु मनमे उनकी दया करना जिसे पसन्द नहीं है वह केवलिविषयक मायावी है । चारित्रको धर्म कहते है इस धर्मकी मैं अतिशय भक्ति करता हू ऐसा बाह्य धर्माचारसे लोगोंको दिखाता है, परतु मनमे धर्मके प्रति जिसका अनादर अरुचि है, वह धर्म मायावी है । आचार्य, उपाध्याय और साधुओकी ऊपरसे भक्ति करता है,

---

१ आ. कौत्कुच्यादि २ आ. यतिः ३ आ. कैल्विषी

हृद्यास्वादनिमित्तं[1] यो मन्त्रतन्त्रादितत्परः । आभियोगिकनिन्द्यायां भावनायां स जायते ॥ ६६
अनुबद्धमहारोषो बद्धवैरः सविग्रहः । सुतीव्रतपसा युक्तोऽप्यासुरीभावनावह ॥ ६७
अप्रपन्नं जिनेन्द्रेण समुन्मार्गं प्रकाशयन् । मोहेन मोहयंल्लोकं योऽयं संमोहभावकः ॥ ६८
इत्यादिभावनोपेतो यस्तीव्रैस्तपसां[2][3] युतः । देवदुर्गतिमाप्नोति तद्वते भवभागिह ॥ ६९
ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यादि भावयेत्[4] । प्रशस्तभावनोपेतो[5] य. स याति शुभां गतिम् ॥ ७०

परंतु हृदयमे उनके प्रति अरुचि रखता है वह आचार्यविषयक, उपाध्यायविषयक और साधुविषयक मायावी है । ऐसी भावनाओसे युक्त मुनिको किल्विषभावनावाला मुनि कहते हैं ॥ ६५ ॥

[अभियोगि–भावनाका स्वरूप ।]– मृष्ट आहारके आस्वादनके लिये जो मत्रतत्रादिकोमे तत्पर रहता है, जो इन्द्रियसुखके लिये मत्रतत्रादिक करता है, वह अभियोगिकनामक निन्द्य-भावनासे युक्त है ऐसा समझना चाहिये ॥ ६६ ॥

[आसुरीभावनावाले साधुका स्वरूप ।] – जिसका महाकोप अन्य भवमेभी जानेवाला है ऐसे महाकोपी मुनिको अनुबद्धमहारोप धारण करनेवाला मुनि कहते हैं । तथा जो कलह करता है, तथा जो सक्लेशपरिणाम धारण करता हुआ तीव्र तप करता है वह आसुरीभावनाओंका धारक मुनि माना जाता है ॥ ६७ ॥

[संमोहभावनावाले मुनिका स्वरूप ।] – जिसने जिनेश्वरका बताया हुआ मोक्षमार्ग नही माना है अर्थात् जिससे रत्नत्रयमार्गमे दूषण दिखाये जाते है ऐसे मोहसे–मिथ्यात्वसे जो लोगोको मोहित करता है तथा आप्ताभासो–हरिहरादिको द्वारा चलाया हुआ यज्ञमें पशुवध करना धर्म है इत्यादि कुमार्गोंको प्रगट कर जो लोगोको मोहित करता है वह मुनि समोहभावनावाला समझना चाहिये ॥ ६८ ॥

जो मुनि कान्दर्पी आदिक भावनाओसे युक्त होकर तीव्र तपश्चरण करता है वह देव-दुर्गतिको प्राप्त होता है । अर्थात् मरणोत्तर कदर्प जातिके देवोंमे, आभियोग्य देवोंमे, तथा किल्वि-षिक देवोमे यानी हीनदेवोमे जन्म लेता है ॥ ६९ ॥

[प्रशस्त भावनायुक्त मुनिको शुभगतिकी प्राप्ति ।] – उपर्युक्त कुभावनाओंसे भिन्न जो शुभभावनाये हैं उनकी भावना करनेवाला मुनि प्रशस्त भावनावाला है । अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप और वीर्य आदिक गुणोका आदर, मनन करनेवाली भावनाओंमे जो तत्पर रहता है उसको प्रशस्त–शुभगतिकी प्राप्ति होती है । अर्थात् वह इन्द्र सामानिकादि श्रेष्ठ देवोमे जन्म लेता है ॥ ७० ॥

१ आ. गृद्ध्या २ आ. यतिः ३ आ तपोयुत. ४ आ. भावयन् ५ आ. उत्तमभावनोपे

एवमागमतः सर्वं ज्ञातव्यं तत्त्ववेदिभिः । न ह्यत्रावगतं किञ्चिद्यतः सारं प्रगृह्यते ॥ ७१
अत्र युक्तमयुक्तं वा मयाज्ञानेन भाषितम् । सन्तः संशोध्य शृण्वन्तु सौजन्यमिति संश्रिताः ॥ ७२
सत्यं मधुरमाख्यान्ति ह्यमृतादिरसं बुधाः । एवं सुजनवाक्यस्य माधुर्यमपरं कियत् ॥ ७३
अनर्घ्यं मणिनैर्मल्यं जडस्यापि भवेदिह । अजाड्यस्वच्छवृत्तीन सौजन्येन कथं सताम् ॥ ७४
ये सन्तः सर्वदा सन्ति साधवः शुभसंयुताः । ते साधर्म्यं समालोक्य हृष्यन्ति न गुणैर्मम ॥ ७५
सन्तः श्रीजिनराद्धान्तनामतोऽप्यतिवत्सलाः । भवन्ति किं पुनर्यत्र किञ्चिच्चित्रं निशम्यते ॥ ७६
ये तु दुर्जनभावेन भवन्ति भविनो भुवि । ते च सर्वे[3] स्वभावेन दूषयन्ति दुराशयाः ॥ ७७
विषाद् दुःखमवाप्नोति सत्यं प्राणी सुदुःसहम् । दुर्जनादाप्तदुःखस्यानन्तभागो न तत्पुनः ॥ ७८

तत्त्वोके ज्ञाताओको आगमसे सर्व जानना योग्य है। मेरे पास ऐसा कुछ विशेष ज्ञान नहीं जहासे आप बुद्धिमान् पुरुष सारग्रहण करेंगे ॥ ७१ ॥

[ग्रथकारकी नम्रता ।] -- इस सिद्धान्तसारसग्रह ग्रंथमे अज्ञानी ऐसे मुझसे जो कुछ युक्तियुक्त अथवा अयुक्त कहा गया हो उसे सौजन्यबुद्धिका आश्रय करनेवाले सज्जन सशोधन करके सुने। अर्थात् यह ग्रथ युक्तियुक्त है या अयुक्त है इसका निर्णय करे। दोपको त्यागकर गुणग्रहण करे ॥७२॥

[सज्जनोके वचन अमृतके समान है ।]-- बुध-विद्वज्जन अमृतादिके समान जिसका रस है--स्वाद है ऐसा मधुर सत्य भाषण बोलते है। सज्जनोका भाषण अत्यंत मधुर है ऐसा हम कहते हैं। इससे अधिक हमसे क्या कहा जा सकता है ॥ ७३ ॥

जिनमे जाड्य--मूर्खता--अज्ञान नहीं है तथा जिनकी मनोवृत्ति निर्मल--निष्कपट है ऐसे सज्जनोकी सज्जनतासे जो जड--अचेतन है ऐसे रत्नकी निर्मलता क्या अनर्घ्य--अमूल्य--श्रेष्ठ हो सकती है? कदापि नही ॥ ७४ ॥

जो सज्जन सर्वदा शुभविचारोसेयुक्त ऐसे साधुस्वभावको धारण करते है वे यहभी हमारे समान है ऐसा समझकर हर्षित होते है। परतु इसमे मेरा कुछ गुण कारण नहीं है। अर्थात् उनकाही सज्जनता गुण होनेसे वे हर्षित होते हैं ॥ ७५ ॥

सज्जनगण श्रीजिनसिद्धान्तके नामसेभी अतिशय आल्हादित होते है। इसमे क्या आश्चर्य है? ॥ ७६ ॥

[दुर्जनोका स्वभाव ।]-- जो प्राणी इस जगतमे दुष्टोका स्वभाव धारणकर उत्पन्न होते है वे सब अपने दुरभिप्रायसे स्वाभाविकतया सबको बिगाडनेका प्रयत्न करते है ॥ ७७ ॥

प्राणी विषसे सुदुःसह दुःखको प्राप्त होते हैं, यह बात सत्य है। परतु दुर्जनके सगसे जो दुःख होता है उसका वह अनन्तवा भाग है अर्थात् दुर्जनसंगका दुःख विषसे उत्पन्न होनेवाले दुःखसे अनन्तगुणित अधिक है ॥ ७८ ॥

१ आ मेव. २ आ. अधिरुश्रितः ३ आ. सर्वे

वह्निर्दहति संस्पर्शाद्दुर्जनो दर्शनादपि । कथं वह्निसमं निन्द्यं कथयन्ति महाधिय. ॥ ७९
सर्पा व्याघ्रा गजाः सिंहा वश्या जगति धीमताम् । तेषामपि न ते दुष्टा दुर्जना वशवर्तिनः ॥८०
भवन्ति दवदग्धा ये फलिता[1] पुष्पिताः पुनः । दुष्टदावाग्निदग्धानां प्ररोहोऽपि न दृश्यते ॥ ८१
मन्त्रतन्त्रप्रयोगेण कालदष्टोऽपि जीवति । दुष्टसर्पप्रदष्टा ये न ते जीवन्ति जातुचित् ॥ ८२
भिषग्वरविधानेन गदाद्धगतो नर. । दुष्टवाक्यविकाराणां चिकित्सापि न विद्यते ॥ ८३
यदि वाग्देवता जैनी प्रसादं कुरुते नर. । गुणान्दोषांश्च शक्नोति वक्तुं सदसतोरिह ॥ ८४
दुष्षमा[2]कालयोगेऽस्मिञ्ज्ञानवानिति गर्वित. । य.स्यात्सोऽस्तु सतां मध्ये[3] सोऽहं मूर्खोऽस्मि केवलम् ॥
पुरा जाताः केचित्सकलभुवनाभासिमतय. । ततस्त्रिज्ञानाढ्याः कति कतिचनाङ्गेषु निपुणाः ।
इदानीं ते देशादपि लवलवाङ्गैकचतुराः । चरन्तो मन्यन्ते त्रिभुवनमपाण्डित्यमहह ॥ ८७

अग्नि स्पर्शसे आदमीको जलाता है परंतु दुर्जन दर्शनसेही मनुष्यको जलाता है। महाबुद्धिमान् पुरुष उस निंद्य दुष्टको क्या अग्निसमान समझते है ? अर्थात् अग्निसेभी दुर्जन अधिक दु.खदायक है ॥ ७९ ॥

सर्प, वाघ, हाथी, सिंह ये जगतमे बुद्धिमानोके वश होते है परतु दुष्ट दुर्जन उनकेभी (बुद्धिमानोकेभी) वश नहीं होते है ॥ ८० ॥

जो वृक्ष अग्निसे दग्ध हुए है वे पुनः पुष्पित और फलोसे लद जाते है परतु दुर्जन रूपदावाग्निसे जले हुए पुरुष तो भस्मही हो जाते है, उनका अकुरभी दृष्टिगोचर नहीं होता कृष्णसर्पसे डसा हुआ मनुष्य मत्रप्रयोगसे तथा तत्रप्रयोगसे पुन. जीवित होता है परतु जो दुर्जनरूप सर्पसे डसे हुए है वे कदापि नहीं जीयेंगे ॥ ८१–८२ ॥

उत्तम वैद्यके इलाजसे मनुष्य रोगसे रहित होता है परतु दुष्टोका उपदेश सुनकर जिसमे विकृति पैदा हुई है उसके लिये चिकित्सा नहीं है अर्थात् दुष्ट उपदेशसे बिगडा हुआ मनुष्य सज्जन नहीं होता है ॥ ८३ ॥

यदि जिनेश्वरके मुखसे उत्पन्न हुई सरस्वती देवता प्रसाद देगी अर्थात् जिसके ऊपर प्रसन्न होगी वह मनुष्य सज्जन दुर्जनोके गुण और दोषोका विवेचन करनेमे समर्थ होगा ॥ ८४ ॥

[पचमकालका दोष ।] – पचमकालका सयोग प्राप्त कर ज्ञानवान मनुष्य सज्जनोके समूहमे अतिगर्वयुक्त होता है लेकिन मै तो वास्तविक मूर्ख हू ॥ ८५ ॥

पूर्वकालमे चतुर्थकालमे सपूर्ण जगतको प्रकाशित करनेवाली मति जिनकी थी ऐसे महापुरुष अर्थात् केवली भगवान होते थे । तदनतर मति श्रुत और अवधिज्ञानके धारक हुए तदनतर कुछ कुछ अगोमे निपुण ऐसे आचार्य हुए । अब उन अगकाभी कुछ भागका भाग और उनकाभी आधा भाग जाननेमे चतुर ऐसे लोक इस जगतमे है इतना तुच्छज्ञान होनेपरभी ये सपूर्ण त्रैलोक्यको अपने सामने अपण्डितोसे भरा हुआ समझ रहे है ॥ ८६–८७ ॥

१ आ. नरे २ आ. दुःखमा ३ आ. मान्यः

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिपद्यानि ।

श्रीवर्धमानस्य जिनस्य जातो मेदार्यनामा दशमो गणेशः ।
श्रीपूर्णतल्लान्तिकदेशसंस्थो यत्राभवत्स्वर्गसमा धरित्री ॥
कल्पोर्वीरुहतुल्याश्च हारकेयूरमण्डिताः ।
जाता झाटा (लाटा) स्ततो जातः संघोऽसौ झाट (लाट) वागडः ॥ ८८
श्रीधर्मसेनोऽजनि तत्र संघे दिगम्बरः श्वेततरैर्गुणैः स्वैः ।
व्याख्यासु दन्तांशुभिरुल्लसद्भिर्वस्त्रावृतो वा प्रतिभासते स्म ॥
भञ्जन्वादीन्द्रमानं पुरि पुरि नितरां प्राप्नुवन्नुद्घमानम् ।
तन्वञ्शास्त्रार्थदानं कृतिरुचिरुचिरं सर्वथा च्छिन्निदानम् ॥ ८९
विद्यादर्शोपमानं दिशि दिशि विकिरन्स्वं यशो योऽसमानम् ।
तस्माच्छ्रीशान्तिषेणः समजनि सुगुरुः पापधूलीसमीरः ॥
यत्रास्पदं विदधती परमागमश्रीरात्मन्यमन्यत सतीत्वमिद विचित्रम् ।
वृद्धा च संततमनेकजनोपभोग्या श्रीगोपसेनगुरुराविरभूत्स तस्मात् ॥ ९०

[कवि प्रशस्ति मेदार्य गणधर ।] -- श्रीवर्धमान जिनेश्वरके मेदार्य नामक दसवे गणधर हुए। उनका देह लक्ष्मीसे पूर्ण और उत्तम सामुद्रिक चिह्नोसे युक्त था। वे प्रभु मेदार्य जहाँ हुए वह भूमि स्वर्गके समान थी।

[लाट और लाटबागड संघ ।] – वहा हार-केयूर-भूषणोसे मंडित कल्पवृक्षके समान लाट हुए और उनसे लाट बागड सघ उत्पन्न हुआ ॥ ८८ ॥

[श्रीधर्मसेन मुनिराज ।] – उस लाट बागड सघमे श्रीधर्मसेन नामक दिगम्बर मुनि उत्पन्न हुए। वे जब आगमकी व्याख्याओका प्रतिपादन करते थे उस समय वे अपने अतिशय शुभ्र गुणोसे तथा चमकनेवाले दन्तकिरणोसे मानो वस्त्रसे आच्छादित हुएसे दीखते थे।

[शान्तिषेण गुरु ।] – प्रत्येक नगरमे वादियोके इन्द्रोका अर्थात् अन्यमतीय महाविद्वानोका मान तोडनेवाले, ग्रथरचनाकी कातिसे सुदर ऐसे शास्त्रार्थके सारको सर्वत्र फैलानेवाले, निदान शल्यको नष्ट करनेवाले, सरस्वतीका मानो निर्मल दर्पण है ऐसा अपना अनुपम यश परमार्थतया सर्व दिशाओमें फैलानेवाले ऐसे शान्तिषेण मुनि धर्मसेन यतिसे उत्पन्न हुए है। जो कि पापरूपी धूलीको उडानेमें वायुके समान थे और सद्गुरु थे।

[गोपसेन गुरु] – इस शान्तिषेण मुनिराजमे वसनेवाली परमागमरूप लक्ष्मी वृद्ध होकरभी हमेशा अनेक जनोसे उपभोगी जाती थी, तथापि वह अपनेको पतिव्रता समझती थी यह बडा आश्चर्य है। परिहार–शान्तिषेण मुनिमे परमागमका ज्ञान अतिशय बढ गया था। वे अपना आगमज्ञान अनेक लोगोको देते थे, उनका वह ज्ञान पवित्र था, ऐसे शान्तिषेण गुरुसे गोपसेन नामक गुरु–आचार्य उत्पन्न हुए हैं ॥ ८९–९० ॥

उत्पत्तिस्तपसां पदं च यशसामन्यो रविस्तेजसाम् ।
आदिः सद्वचसां विधिः श्रुतरमासान्निध्यनिःश्रेयसाम् ॥
आवासो गुणिनां पिता च शमिनां माता च धर्मात्मनाम् ।
अज्ञातः कलिना जगत्सु बलिना श्रीभावसेनस्ततः ॥ ९१
ख्यातस्ततः श्रीजयसेननामा जातस्तपःश्रीक्षतदुष्कृतौघः ।
सत्तर्कविद्यार्णवपारदृश्वा विश्वासगेहं करुणास्पदानाम् ॥
आचार्यः प्रशमैकपात्रमसमः प्रज्ञादिभिः स्वैर्गुणैः।
पट्टे श्रीजयसेननामसुगुरोः श्रीब्रह्मसेनोऽजनि ॥ ९२
यज्जल्पाम्बुधिमध्यमग्नवपुषः शश्वद्विकल्पोर्मिभिः ।
जल्पाकाः परवादिनोऽत्र विकलाः के के न जाताः क्षितौ ॥
तस्मादजायत गणी गुणिनां वरिष्ठो भव्याम्बुजप्रतिविकासनपद्मबन्धुः ।
कन्दर्पदर्पदलने भुवनैकमल्लो विख्यातकीर्तिरवनौ कविवीरसेनः ॥ ९३

[श्रीभावसेन यतिराज ।] -- गोपसेन आचार्यसे भावसेन यतिराज उत्पन्न हुए । वे तपोंका उत्पत्तिस्थान थे । यशोंका निवासगृह थे । दूसरे सूर्यके समान तेजका आश्रय थे । शुभ सुंदर [illegible]नोंको वे आदि थे अर्थात् शुभ सुंदर उपदेश वे भव्यजनोंको देते थे । श्रुतलक्ष्मीका सानि[illegible] धारण करनेवाले निःश्रेयस्का–मोक्षमार्गका वे निधि थे । वे गुणियोंके आश्रयदाता, शम धारण करनेवाले मुनियोंके पिता और धर्मात्माओंके लिये माताके समान थे । इस जगतमें बलवान् कलीको [illegible] ज्ञान नहीं था ऐसे भावसेन मुनि श्रीगोपसेन गुरुसे प्रगट हुए ॥ ९१ ॥

[श्रीजयसेन गुरु ।] – तपोलक्ष्मीके द्वारा जिन्होंने पापसमूह नष्ट किया है, जो निर्दोष तर्कविद्यारूप समुद्रके पारगामी थे और करुणाके स्थानरूप मुनिजनोंके लिये विश्वासगृह थे [illegible] प्रसिद्ध जयसेन नामक गुरु भावसेन मुनीश्वरके अनंतर हुए ।

[ब्रह्मसेन गुरु ।] – श्रीजयसेन नामक सद्गुरुके पट्टपर श्रीब्रह्मसेन नामक मुनि[illegible] हुए, जो कि प्रशमके अद्वितीय पात्र थे । तथा स्वसमयज्ञान, परसमयज्ञान और न्यायादिक [illegible] ज्ञान इत्यादि गुणोंसे शोभते थे । निर्दोष जल्परूप समुद्रमें उनका देह मग्न हुआ था [illegible] विकल्परूप तरंगोंको धारण करते थे । उनके सामने इस भूतलपर जल्पितवाद करनेवाले कौन कौन अन्यमतीय विद्वान् वादसामर्थ्यसे हीन नहीं हुए हैं ? ॥ ९२ ॥

[कवि वीरसेन ।] – जो भव्यकमलोंको विकसित करनेके लिये [illegible] मदनका गर्व दलित करनेमें जगतमें अद्वितीय मल्ल हैं, जो गुणियोंमें [illegible] भूतलमें प्रसिद्ध है ऐसे श्रीवीरसेन आचार्य ब्रह्मसेन गुरुसे उत्पन्न हुए अर्थात् [illegible]सेन उनके पट्टपर आरूढ हुए ॥ ९३ ॥

श्रीवीरसेनस्य गुणादिसेनो जातः सुशिष्यो गुणिनां विशेष्यः ।
शिष्यस्तदीयोऽजनि चारुचित्तः सद्दृष्टिचित्तोऽत्र नरेन्द्रसेन. ॥
गुणसेनोदयसेनौ जयसेनो संबभूवुरतिवर्याः ।
तेषां श्रीगुणसेनः सूरिर्जातः कलाभूरिः ॥ ९४
आदुष्षमानिकटवर्तिनि कालयोगे, नष्टे जिनेन्द्रशिववर्त्मनि यो बभूव ।
आचार्यनामनिरतोऽत्र नरेन्द्रसेनः । तेनेदमागमवचो विशदं निबद्धम् ॥ ९५

❀ इति [1]श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे पण्डिताचार्यनरेन्द्रसेनाचार्यविरचिते द्वादशोऽध्यायः । ❀

समाप्तोऽयं सिद्धान्तसारसंग्रहः ।

[गुणसेन मुनि और नरेन्द्रसेन ।] – श्रीवीरसेनाचार्यके शिष्य गुणसेन हुए जिनमें शास्त्राभ्यासकी विशेषता थी। तथा गुणसेनसूरिके नरेन्द्रसेन नामक शिष्य हुए, उनका चित्त सुंदर था अर्थात् कोपादिकषायोसे दूर था और जिनवाणीके ज्ञानसे भूषित था तथा वे सम्यग्दृष्टि थे।

[गुणसेन, उदयसेन और जयसेन आचार्य ।] – श्रीवीरसेनसूरीके शिष्य गुणसेन, उदयसेन और जयसेन सूरि हुए। उनमे श्रीगुणसेन सूरि अनेक कलाओके धारक हुए ॥ ९४ ॥

[सिद्धान्तसार–सङ्ग्रह ग्रंथके कर्ता श्री नरेन्द्रसेनाचार्य ।] – दुष्षमाके निकटवर्ति कालके योगसे श्रीजिनेश्वरका कहा हुआ मोक्षमार्ग नष्ट होनेपर जो आचार्योंके नाममे तत्पर है ऐसे नरेन्द्रसेन आचार्य हुए और उन्होने इस विशद आगमवचनकी रचना की अर्थात् 'श्री सिद्धान्तसारसग्रह' ग्रथ रचा है ॥ ९५ ॥

* श्री पण्डिताचार्य श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य विरचित सिद्धान्तसारसङ्ग्रहमे
बारहवा अध्याय समाप्त हुआ । *

---

१ आ इति सिद्धान्तसारसङ्ग्रहे आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते द्वादशोऽध्यायः समाप्त. ।

सिद्धान्तसारसंग्रहे अकाराद्यनुक्रमः

